श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला हिन्दी विभाग पुष्प

श्रीमद् असग महाकवि विरचित

श्री शान्तिनाथ पुराण

ग्रन्थमाला सम्पादक :

१ स्व० डॉ० हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.,

२ स्व० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ, उपाध्ये, कोल्हापुर

३ श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री, वाराणसी

*

हिन्दी अनुवादक :

श्रीमान् डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर

प्रकाशक :

श्रीमान् शेठ लालचन्द हिराचन्द

जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर

 * [मूल्य : १५) रु०

प्रकाशकीय निवेदन

*

यह शांतिनाथ पुराण ग्रंथ चरणानुयोगका अनुपम ग्रंथ है। ग्रंथकर्ता असग कवि ने इस ग्रंथमें शांतिनाथ भगवान का चरित्र अति विस्तार से निरूपित किया है।

स्व० श्रीमान् डॉ० ए० एन० उपाध्ये इन्होंने इस ग्रंथके प्रकाशन के लिये मूल प्रेरणा दी। श्रीमान् साहित्याचार्य डॉ० पं० पन्नालालजी जैन इनको इस ग्रंथका अनुवाद करने की प्रार्थना की। उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। इस प्रकार यह ग्रंथ निर्माण करनेमें उनका अपूर्व सहयोग मिला।

इस ग्रंथका प्रकाशन श्रीमान् पाँचूलालजी जैन कमल प्रिन्टर्स मदनगंज किशनगढ़ इन्होंने अपने प्रेस में अतीव सुचारु रूप से अति शीघ्र काल में छपकर प्रकाशित करनेमें सहयोग दिया इसलिये उनको हम धन्यवाद अर्पण करते हैं।

अंतमें इस ग्रंथका पठन-पाठन घर-घरमें होकर तीर्थ प्रवृत्ति अखंड प्रवाह से कायम रहे यह मंगल भावना हम प्रगट करते हैं।

भवदीय :

वालचन्द देवचन्द शहा

मंत्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ

जीवराज जैन ग्रंथमाला सोलापुर

श्री जीवराज जैन ग्रंथमाला का परिचय

सोलापुर निवासी श्रीमान् स्व० ब्र० जीवराज गौतमचन्द दोशी कई वर्षोंसे उदासीन होकर धर्मकार्य में अपनी वृत्ति लगा रहे थे। सन् १९४० में उनकी प्रबल इच्छा हुई कि अपनी न्यायोपार्जित संपत्तिका उपयोग विशेषरूपसे धर्म तथा समाज की उन्नतिके कार्यमें लगे।

तदनुसार उन्होंने अनेक जैन विद्वानोंसे साक्षात् तथा लिखित रूप से इस बात की संमतियां संगृहीत की, कि कौनसे कार्यमें अपनी संपत्तिका विनियोग किया जाय।

अन्तमें स्फुट मतसंचय कर लेनेके पश्चात् सन् १९४१ में गीष्मकालमें सिद्धक्षेत्र श्री गजपंथाजी के शीतल वातावरण में अनेक विद्वानोंको आमंत्रित कर, उनके सामने ऊहापोह पूर्वक निर्णय करनेके लिये उक्त विषय प्रस्तुत किया गया।

विद्वत्संमेलन के फल स्वरूप श्रीमान् ब्रह्मचारीजीने जैन संस्कृति तथा प्राचीन जैन साहित्यका संरक्षण-उद्धार-प्रचार के हेतु 'जैन संस्कृति संरक्षक संघ' नामकी संस्था स्थापन की। तथा उसके लिये रु० ३०००० का बृहत् दान घोषित किया गया।

आगे उनकी परिग्रह निवृत्ति बढ़ती गई। सन् १९४४ में उन्होंने लगभग दोलाख की अपनी संपूर्ण संपत्ति संघ को ट्रस्ट रूपसे अर्पण की।

इसी संस्थाके अंतर्गत 'जीवराज जैन ग्रंथमाला' द्वारा प्राचीन-संस्कृत-प्राकृत-हिंदी-मराठी ग्रंथोंका प्रकाशन कार्य आज तक अखंड प्रवाह से चल रहा है।

आज तक इस ग्रंथमालासे हिंदी विभागमें ३२ ग्रंथ, कन्नड विभागमें ३ ग्रंथ तथा मराठी विभागमें ४५ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ इस ग्रंथमालाका हिंदी विभाग का ३३ वां पुष्प प्रकाशित हो रहा है।

—प्रकाशक

स्व० ब्र० जीवराज गौतमचन्द दोशी
संस्थापक : जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर

प्रधान सम्पादकीय

जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौनारायण, नौ प्रति नारायण और नौ बलभद्र, इन्हें त्रेसठ शलाका पुरुष कहते हैं। जैसे भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे और उनके पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती थे। जैन और हिन्दु पुराणों के अनुसार इन्हीं भरत चक्रवर्ती के नाम से यह देश भारत कहलाया। प्राय: ये त्रेसठ शलाका पुरुष भिन्न भिन्न ही होते हैं। किन्तु चौबीस तीर्थंकरों में से तीन तीर्थंकर चक्रवर्ती भी हुए हैं। वे तीन तीर्थंकर हैं सोलहवें शान्तिनाथ, सतरहवें कुन्थुनाथ और अठारहवें अरहनाथ। इन तीनों का ही जन्म स्थान हस्तिनापुर था जो आज उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में स्थित है। यह नगर बहुत प्राचीन है। बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के समय में यहां कौरव पाण्डवों की राजधानी थी। भगवान ऋषभदेव के समय में यहां राजा सोम श्रेयांस का राज्य था। उन्होंने ही भगवान् ऋषभदेव को इक्षुरस का आहारदान देकर मुनिदान की प्रवृत्ति को प्रारम्भ किया। इस तरह दीक्षा धारण करने से एक वर्ष के पश्चात् भगवान ऋषभदेव ने हस्तिनापुर में ही वैसाख शुक्ला तृतीया के दिन आहार ग्रहण किया था।

इन त्रेसठ शलाका पुरुषों का चरित आचार्य जिनसेन ने अपने महापुराण में रचने का उपक्रम किया था। किन्तु वे केवल प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती का ही वर्णन करके स्वर्गवासी हुए। तब उनके शिष्य आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में शेष शलाका पुरुषों का कथन संक्षेप में किया और उन्हीं के अनुसरण पर श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने अपना त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित निबद्ध किया।

कविवर असग ने वि० स० ९१० में अपना महावीर चरित रचा था और उसके पश्चात् श्री शान्तिनाथ पुराण रचा है क्योंकि उसकी प्रशस्ति के अन्तिम श्लोक में उसका उल्लेख है। आचार्य गुणभद्र ने भी अपना उत्तरपुराण इसी समय के लगभग रचा था अत: असग के द्वारा उसके अनुसरण की विशेष सम्भावना नहीं है।

जैन परम्परा के चरित ग्रन्थों में उस चरित के नायक के वर्तमान जीवन को उतना महत्त्व नहीं दिया जाता जितना महत्त्व उसके पूर्वजन्मों को दिया जाता है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार यह दिखलाना चाहते हैं कि जीव किस तरह अनेक जन्मों में उत्थान और पतन का पात्र बनता हुआ अन्त में अपना सर्वोच्चपद प्राप्त करता है। तीर्थंकर ने तीर्थंकर बनकर क्या किया, इसकी अपेक्षा तीर्थंकर बनता कैसे है यह दिखलाना उन्हें विशेष रुचिकर प्रतीत होता है। तीर्थङ्कर

के कर्तृत्व से तो पाठक के हृदय में केवल तीर्थंकर पद की महत्ता का ही बोध होता है। किन्तु तीर्थंकर बनने की प्रक्रिया को पढ़कर पाठक को आत्म बोध होता है। उससे उसे स्वयं तीर्थंकर बनने की प्रेरणा मिलती है। यही उन्हें विशेष रूप से अभीष्ट है क्योंकि उनकी ग्रन्थ रचना का प्रमुख उद्देश्य अपने पाठकों को प्रबुद्ध करके आत्म कल्याण के लिय प्रेरित करना होता है।

ईश्वर वादियों की दृष्टि में ईश्वर का जो स्थान है वही स्थान जैनों की दृष्टि में तीर्थंकर का है। किन्तु ईश्वर और तीर्थंकर के स्वरूप और कर्तृत्व में बड़ा अन्तर है। ईश्वर तो अनादिसिद्ध माना गया है तथा उसका कार्य सृष्टि रचना, उसका प्रलय आदि है। वही प्राणियों को नरक और स्वर्ग भेजता है। उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता तक नहीं हिल सकता। किन्तु तीर्थंकर तो सादि सिद्ध होता है। तीर्थंकर बनने से पहले वह भी साधारण प्राणियों की तरह ही अपने कर्म के अनुसार जन्म मरण करता हुआ नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। जब उसे प्रबोध प्राप्त होता है तो प्रबुद्ध होकर अपने पुरुषार्थ के द्वारा उन्नति करता हुआ तीर्थंकर पद प्राप्त करता है और इस तरह वह अन्य जीवों के सामने एक उदाहरण उपस्थित करके उनकी प्रेरणा का केन्द्र बनता है तीर्थंकर होकर भी न वह किसी का निग्रह करता है और न अनुग्रह करता है। वह तो एक आदर्शमात्र होता है। राग द्वेष से रहित होने के कारण न वह स्तुति से प्रसन्न होता है और न निन्दा से नाराज होता है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि तव पुण्यगुणस्मृति र्नः पुनाति चित्त दुरिताञ्जनेभ्यः॥

[बृहत्स्वयंभू स्तो.]

हे जिन, आप वीतराग हैं अतः आपको अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नही। और आप वीत द्वेष हैं अतः निन्दा से भी कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी आपके पुण्य गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पापकी कालिमा से मुक्त करता है अतः हम आपकी पूजा आदि करते हैं।

संसार का कोई प्राणी ईश्वर नहीं बन सकता। किन्तु संसार का प्रत्येक प्राणी तीर्थंकर बनने की योग्यता रखता है और यदि साधन सामग्री प्राप्त हो तो वह तीर्थंकर भी बन सकता है। सभी जैन तीर्थंकर इसी प्रकार तीर्थंकर बने हैं।

भगवान शान्तिनाथ भी इसी प्रकार तीर्थंकर बने थे। उनके इस पुराण में सोलह सर्ग हैं जिनमें से प्रारम्भ के बारह सर्गों में उनके पूर्वजन्मों का वर्णन है और केवल अन्तिम चार सर्गों में उनके तीर्थंकर काल का वर्णन है। प्रत्येक तीर्थंकर के पांच कल्याणक होते हैं गर्भ में आगमन, जन्म, जिनदीक्षा, कैवल्य प्राप्ति और निर्वाण इन्हीं पांच का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है। तीर्थङ्कर

शान्तिनाथ के द्वारा जो धर्मोपदेश कराया गया है वह तत्त्वार्थ सूत्र और उसकी सर्वार्थसिद्धि टीका का ऋणी है ।

रचना बहुत सुन्दर और सरल है । पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य ने उसका हिन्दी अनुवाद भी सुन्दर किया है । इतना ही नहीं, उन्होंने ग्रन्थ के क्लिष्ट संस्कृत शब्दों पर संस्कृत में टिप्पण भी दे दिये हैं, जिनसे संस्कृत प्रेमी पाठक लाभान्वित होंगे ।

जीवराज जैन ग्रन्थमाला सोलापुर से उसका प्रकाशन प्रथमबार हो रहा है आशा है स्वाध्याय प्रेमी पाठक इसे रुचि पूर्वक पढ़ेंगे ।

हम वर्द्धमल प्रिन्टर्स के आभारी हैं जिन्होंने यथाशीघ्र इसका मुद्रण किया है ।

श्री ऋषभ जयन्ती
वी० नि० सं० २५०३

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रस्तावना

सम्पादन सामग्री :—

श्रीशान्तिनाथ पुराण का संपादन निम्नलिखित दो प्रतियों के आधार पर किया गया है।

प्रथम प्रति का परिचय

यह प्रति ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन ब्यावर की है तथा श्रीमान् पं० हीरालाल जी शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुई है। इसमें ११½×५½ इन्च की साईज के ८६ पत्र हैं, प्रति पत्र में पंक्ति संख्या १२ है और प्रत्येक पंक्ति में ४०-४२ अक्षर हैं। दशा अच्छी, अक्षरसुवाच्य हैं। लिपि संवत् १८७६ वि० सं० है। इस प्रति का 'ब' सांकेतिक नाम है।

द्वितीय प्रति का परिचय

यह प्रति श्रीमान् पं० जिनदास जी शास्त्री फड़कुले कृत मराठी टीका के साथ वीर निर्वाण संवत् २४६२ में श्रीमान् सेठ रावजी सखाराम दोशी की ओर से प्रकाशित है। मराठी अनुवाद सहित ३४३ पृष्ठ हैं। शास्त्रा कार खुले पत्रों में मुद्रण हुआ है। माननीय शास्त्रीजी ने ऊपर सूक्ष्माक्षरों में श्लोक दिये हैं और नीचे मराठी अनुवाद। संस्कृत पाठों का चयन शास्त्रीजी ने ऐ० पन्नालाल सरस्वती भवन बम्बई की प्रति के आधार पर किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही प्रति है जो अब ब्यावर के सरस्वती भवन में विराजमान है, क्योंकि ब्यावर से जो हस्तलिखित प्रति मुझे प्राप्त हुई है उसके पाठ प्रायः एक समान हैं।

जैन पुराण साहित्य की प्रामाणिकता :—

जैन पुराण साहित्य अपनी प्रामाणिकता के लिये प्रसिद्ध है। प्रामाणिकता का प्रमुख कारण लेखक का प्रामाणिक होना है। जैन पुराण—साहित्य में प्रमुख पुराण पद्मपुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण तथा हरिवंशपुराण हैं। इनकी रचना करने वाले रविषेणाचार्य, जिनसेनाचार्य गुणभद्राचार्य तथा जिनसेनाचार्य (द्वितीय) हैं। ये जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ उच्च कोटि के उद्भट विद्वान् थे। आदिपुराण के रचयिता जिनसेनाचार्य षट्खण्डागमके टीकाकार रहे हैं। गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन आदि अध्यात्म ग्रन्थों के प्रणेता हैं। जिनसेनाचार्य द्वितीय लोकानुयोग तथा तिलोयपण्णत्ति आदि करणानुयोग के ज्ञाता थे। रविषेणाचार्य का यद्यपि पद्मपुराण के अतिरिक्त दूसरा ग्रंथ उप-

लब्ध नहीं है तथापि पद्मपुराण में जो बीच २ में दर्शन तथा अध्यात्म की चर्चा आती है उससे उनकी प्रौढ़ विद्वत्ता सिद्ध होती है। अधिकांश पुराण ग्रंथ गुणभद्र के उत्तरपुराण पर आधारित हैं। जब मूल प्रणेता प्रामाणिक है तब उसके द्वारा रचित ग्रंथों पर आधारित ग्रन्थ प्रामाणिकता से रहित हों, यह संभव नहीं है। अलंकारों की बात जुदी है पर जैन पुराणों में जो कथा भाग है वह तथ्य घटनाओं पर आधारित है। असंभव तो कल्पनाओं से दूर है।

असग कवि का शान्तिपुराण भी यथार्थ घटनाओं का वर्णन करनेवाला है। इसके बीच २ में आये हुए सन्दर्भ हृदय तल को स्पर्श करनेवाले हैं तथा जैन सिद्धान्त का सूक्ष्म विश्लेषण करने वाले हैं। जैन पुराण साहित्य की नामावली, मैंने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित आदिपुराण प्रथम भागकी प्रस्तावना में दी है उससे प्रतीत होता है कि अब भी अनेक ग्रन्थ अप्रकाशित हैं तथा धीरे २ दीमक और मूषकों के खाद्य हो रहे हैं। आवश्यक है कि इन ग्रन्थों के शुद्ध और सुन्दर संस्करण प्रकाशित किये जावें।

असग कवि

शान्तिपुराण के रचयिता असग कवि हैं। इनके द्वारा विरचित वर्धमान चरित का प्रकाशन मेरे संपादन में जैन संस्कृति-संरक्षक संघ सोलापुर से हो चुका है। शान्तिपुराण पाठकों के हाथ में है। वर्धमान चरित में भाषाविषयक जो प्रौढ़ता है वह शान्तिपुराण में नहीं है क्योंकि वर्धमान चरित काव्य की शैली से लिखा गया है, और शान्तिपुराण, पुराण की शैली से। पुराण शैली से लिखे जाने के कारण अधिकांश अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया गया है तथापि बीच बीच में अन्य अनेक छन्द भी इसमें उपलब्ध हैं। भाषा की सरलता और भाव की गंभीरता ने ग्रन्थ के सौन्दर्य में चार चांद लगा दिये हैं। असग कवि ने अपना संक्षिप्त परिचय इसी शान्तिनाथपुराण के अन्त में दिया है—

इस पृथिवी पर प्रणाम करने के समय लगी हुई मुनियों की चरण रज से जिसका मस्तक सदा पवित्र रहता था, जो मूर्तिधारी उपशम भाव के समान था तथा शुद्ध सम्यक्त्व से युक्त था। ऐसा एक पटुमति नाम का श्रावक था।। १ ।। जो अनुपम बुद्धि से सहित था तथा अपने दुर्बल शरीर को समस्त पर्वों में किये जाने वाले उपवासों से और भी अधिक दुर्बलता को प्राप्त कराता रहता था ऐसा वह पटुमति मुनियों को आहारदान आदि देने से निरन्तर उत्कृष्ट विभूति विशाल पुण्य, तथा कुन्द कुसुम के समान उज्ज्वल यश का संचय करता रहता था ।। २ ।। उस पटुमति की वैरेति नामकी भार्या थी जो निरन्तर ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकार के मुनि समूह में उत्कृष्ट भक्ति रखती थी और ऐसी जान पड़ती थी मानों सम्यग्दर्शन की मूर्तिधारिणी उत्कृष्ट शुद्धि ही हो ।। ३ ।। निर्मल कीर्ति के धारक उन पटुमति और वैरेति के असग नाम का पुत्र हुआ। बड़ा होने पर वह उन नागनन्दी आचार्य का शिष्य हुआ जो विद्वत्समूह में प्रमुख थे, चन्द्रमा की किरणों के

समान जिनका उज्ज्वल यश था और जो पृथ्वी पर व्याकरण तथा सिद्धान्त शास्त्ररूपी सागर के पारगामी थे ।। ४ ।। असग का एक जिनाप नाम का मित्र था वह जिनाप भव्य जीवों का वेश्मीय था अर्थात् भव्य जीव उसका बहुत सम्मान करते थे, जैन धर्म में आसक्त था, शौर्यगुण से प्रसिद्ध होने पर भी वह परलोक भीरु था—शत्रुओं से भयभीत रहता था (पक्ष में नरकादि परभव से भयभीत रहता था) और द्विजाधि नाथ—पक्षियों का स्वामी-गरुड़ होकर भी (पक्ष में ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्यवर्ण में प्रधान होकर भी) पक्षपात (पङ्खों के संचार) से रहित था (पक्ष में पक्षपात से रहित था अर्थात् स्नेह वश किसी से पक्षपात का व्यवहार नहीं करता था) ।। ५ ।। पवित्र बुद्धि के धारक उस जिनाप को व्याख्यान—कथोपकथन अर्थात् नाना कथाओं का श्रवण करना अत्यन्त रुचिकर था तथा पुराणों में भी उसकी श्रद्धा बहुत थी, इसका विचार कर उसका प्रबल आग्रह होने पर असग ने कवित्व शक्ति से रहित होने पर भी इस प्रबन्ध की (शान्तिनाथ पुराण की) रचना की ।। ६ ।। उत्तम अलंकार और नाना छन्दों की रचना से युक्त श्री वर्धमान चरित की रचना कर असग ने साधुजनों के उत्कट मोह की शान्ति के लिये श्री शान्तिनाथ भगवान् का यह पुराण रचा है ।। ७ ।। *

असग ने वर्धमान चरित की प्रशस्ति में अपने पर ममता भाव प्रकट करने वाली संपत् श्राविका का और शान्तिनाथ पुराण की प्रशस्ति में अपने मित्र जिनाप नामक ब्राह्मण मित्र का उल्लेख किया है अतः प्रतीत होता है कि यह, दोनों ग्रन्थों की रचना के समय गृहस्थ ही थे मुनि नहीं । पश्चात् मुनि हुए या नहीं, इसका निर्देश नहीं मिलता । यह चोल देश के रहने वाले थे और श्री नाथ राजा के राज्य में स्थित विरला नगरी में इन्होंने आठ ग्रन्थों की रचना की थी । यतश्च इनकी मातृभाषा कर्णाटक थी, अतः जान पड़ता है कि इनके शेष ६ ग्रन्थ कर्णाटक भाषा के ही हों और वे दक्षिण भारत के किन्हीं भाण्डारों में पडे हों या नष्ट हो गये हों । भाषा की विभिन्नता से उनका उत्तर भारत में प्रचार नहीं हो सका हो । प्राच्य विद्या मन्दिर मैसूर में मैंने देखा है कि वहां यत्र तत्र से संगृहीत कर्णाटक भाषा में लिखित ताड़ पत्रीय हजारों प्रतियां अपठित और अनवलोकित दशा में स्थित हैं । उन सबका अध्ययन होने पर अनेक जैन ग्रन्थों के मिलने की संभावना है । कर्णाटक भाषा का अध्ययन न होने से उत्तर भारत के विद्वान इस विषय की क्षमता नहीं रखते अतः दक्षिण भारत के विद्वानों का इस ओर ध्यान जाना आवश्यक है । प्राच्य विद्या मन्दिर ने यत्र तत्र पाये जाने वाले ग्रन्थों के संग्रह का अभियान शुरु किया है और इसी अभियान के फल स्वरूप उसे हजारों प्रतियां प्राप्त हुई हैं ।

असग ने शान्तिनाथ पुराण में रचनाकाल का उल्लेख नहीं किया है परन्तु वर्धमान चरित में 'संवत्सरे दश नवोत्तर वर्ष युक्ते' श्लोक द्वारा उसका उल्लेख किया है । 'अङ्कानां वामतो गतिः' के

---

* शान्तिनाथपुराण पृष्ठ २५६–२५७

विद्वन्मतानुसार 'शर गर्त का अर्थ ९१० होता और उत्तर का अर्थ उत्तम भी होता है, अतः 'शर-गतोत्तर वर्ष युक्ते संवत्सरे' का अर्थ ९१० संख्यक उत्तम वर्षों से युक्त संवत् में, होता है। विचारणीय यह है कि यह ९१० शकसंवत् है या विक्रम संवत्? यद्यपि दक्षिण भारत में शकसंवत् का प्रचलन अधिक है अतः विद्वान् लोग इसे शकसंवत् मानते आते हैं परन्तु पत्राचार करने पर इतिहास के मर्मज्ञ श्रीमान् डा० ज्योतिप्रसादजी लखनऊ ने अपने ८-१०-७३ के पत्र में यह अभिप्राय प्रकट किया है—

रचना काल ९१० को मैं विक्रम संवत्=८५३ ई० मानता हूं क्योंकि ९५० ई० के पंप पोन्न आदि कन्नड कवियों ने इसकी प्रशंसा की है इनके निवास और पद की चर्चा करते हुए भी उन्होंने लिखा है।

"असग एक गृहस्थ कवि थे" नागनन्दी के शिष्य थे, और आर्यनन्दी के वैराग्य पर इन्होंने *वर्धमान चरित की रचना की। असग मूलतः कन्नड निवासी रहे प्रतीत होते हैं और सम्भव है इनकी* अन्य रचनाओं में से अधिकांश कन्नड भाषा में ही हों। इनके आश्रय दाता तामिल प्रदेश निवासी थे। मद्रास के निकटवर्ती चोलमण्डल या प्रदेश में ही, संभवतया तत्कालीन पल्लव नरेश—नन्दि पोतरस के चोल सामन्त श्रीनाथ के आश्रय में उसकी विरला नगरी में वर्धमान चरित की रचना की थी। एक नागनन्दी का भी उक्त काल एवं प्रदेश में सद्भाव पाया जाता है। श्रवण बेलगोला के १०८ संख्यक शिलालेख से ज्ञात होता है कि नागनन्दी नन्दिसंघ के आचार्य थे।

शान्तिनाथ पुराण—

शान्तिनाथ पुराण में इस अवसर्पिणी युग के सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ भगवान् का पावन चरित लिखा गया है। शांतिनाथजी तीर्थंकर, चक्रवर्ती और कामदेव पद के धारक थे। तीर्थङ्कर पद अत्यन्त दुर्लभ पद है इस पद के धारक समस्त अढ़ाई द्वीप में एक साथ १७० से अधिक नहीं हो सकते (पांच भरत के, पांच ऐरावत के, और १६० विदेह के) अनेक भवों में साधना करने वाले जीव ही इस पद को प्राप्त कर सकते हैं। ग्रन्थकार असग कवि ने शान्ति नाथ के पूर्वभवों का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया है उन पूर्वभवों के वर्णन से यह अनायास विदित हो जाता है कि शान्तिनाथ के जीव ने उन पूर्वभवों में किस प्रकार आत्म साधना कर अपने आपको तीर्थंकर बनाया है। शान्तिनाथ भगवान् के पूर्वभव सहित वर्तमान वृत का वर्णन मैंने इसी ग्रन्थ के विषय सूची स्तम्भ में दिया है अतः इसे पुनरुक्त करना उचित नहीं समझता। यह जीव तीर्थंकर कैसे बनता है अर्थात् तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किस जीव को होता है इसकी चर्चा करते हुए नेमिचन्द्राचार्य ने कर्मकाण्ड में लिखा है कि केवली या श्रुतकेवली के सन्निधान में प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम, क्षायोपशमिक

---

१ पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि।
तित्थयरबंध पारंभया णरा केवलिदुगंते ॥ ९३ ॥

तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन को धारण करने वाला अविरतादि चारगुणस्थानों वाला मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का प्रारम्भ करता है। परमार्थतः सम्यग्दर्शन, तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का कारण नहीं है उसके काल में पाया जानेवाला लोक कल्याणकारी शुभ राग ही बन्ध का कारण है परन्तु वह शुभ राग सम्यक्त्व के काल में ही होता है अतः उपचार से उसे बन्ध का कारण कहा जाता है।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कराने वाली सोलह भावनाओं की चर्चा इसी प्रस्तावना में आगे कर रहे हैं। शान्तिनाथ पुराण में प्रसङ्गोपात्त जैन सिद्धान्त का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र और सर्वार्थसिद्धि के आधार पर किया गया है। प्रमुख रूप से इसके पन्द्रहवें और सोलहवें सर्ग में जैन सिद्धान्त का वर्णन विस्तार से हुआ है। प्रथमानुयोग की शैली है, कि उसमें प्रकरणानुसार सैद्धान्तिक वर्णन का समावेश किया जाता है, प्रमेय की अपेक्षा जिनसेनाचार्य का हरिवंश पुराण प्रसिद्ध है उसमें उन्होंने क्या लोकानुयोग, क्या सिद्धान्त, क्या इतिहास—सभी विषयों का अच्छा समावेश किया है। शान्तिनाथ पुराण में भी उसी शैली को अपनाया गया है जिससे यह न केवल कथा ग्रन्थ रह गया है किन्तु सैद्धान्तिक ग्रन्थ भी हो गया है।

प्रसङ्गवश इसमें अनेक सुभाषितों का संग्रह है। अर्थान्तरन्यास या अप्रस्तुत प्रशंसा के रूप में कवि ने संग्रहणीय सुभाषितों का संकलन किया है। ये सुभाषित अन्य कवियों के नहीं किन्तु प्रसग कवि के द्वारा ही विरचित होने से मूल ग्रन्थ के अङ्ग हैं। एक दो स्थलों पर दार्शनिक चर्चा भी की गई है। दान के प्रकरण में दाता देय तथा पात्र का विशद व्याख्यान किया गया है। इन सुभाषितों का सर्गवार संचय प्रस्तावना के अनन्तर स्वतन्त्र स्तम्भ में दिया जा रहा है।

कवि का संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार है अतः कहीं भी भाषा शैथिल्य का दर्शन नहीं होता। अलंकार की विच्छित्ति तथा रीति की रसानुकूलता का पूर्ण ध्यान रखा गया है। द्व्यर्थक श्लोकों में श्लेष का अच्छा प्रयोग हुआ है। ऐसे स्थलों पर मैंने हिन्दी अनुवाद के अतिरिक्त संस्कृत टिप्पण भी लगा दिया है क्योंकि मात्र हिन्दी अनुवाद से कवि के वैदुष्य का परिज्ञान नहीं हो पाता।

तीर्थंकर बन्ध की पृष्ठ भूमि :—

तीर्थंकर गोत्र के बन्ध की चर्चा करते हुए, दो हजार वर्ष पूर्व रचित षट्खण्डागम के बन्ध स्वामित्व विचय नामक अधिकार खण्ड ३, पुस्तक ८ में श्री भगवन्त पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य ने—

'कदिहिं कारणेहि जीवा तित्थयरणाम गोदं कम्मं बंधंति' ॥ ३९ ॥

सूत्र में तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध प्रत्यय प्रदर्शक सूत्र की उपयोगिता बतलाते हुए लिखा है कि 'तीर्थंकर-गोत्र, मिथ्यात्व प्रत्यय नहीं है' अर्थात् मिथ्यात्व के निमित्त से बंधने वाली सोलह

प्रकृतियों में इसका अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि मिथ्यात्व के होने पर उसका बन्ध नहीं पाया जाता। असंयम प्रत्यय भी नहीं है, क्योंकि संयतों के भी उसका बन्ध देखा जाता है। कषाय सामान्य भी नहीं है, क्योंकि कषाय होने पर भी उसका बन्ध व्युच्छेद देखा जाता है अथवा कषाय के रहते हुए भी उसके बन्ध का प्रारम्भ नहीं पाया जाता। कषाय की मन्दता भी कारण नहीं है क्योंकि तीव्रकषाय वाले नारकियों के भी इसका बन्ध देखा जाता है। तीव्रकषाय भी बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि सर्वार्थसिद्धि के देव और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती मनुष्यों के भी बन्ध देखा जाता है। सम्यक्त्व भी बन्ध का कारण नहीं है क्योंकि सभी सम्यग्दृष्टि जीवों के तीर्थंकर कर्म का बन्ध नहीं पाया जाता और मात्र दर्शन की विशुद्धता भी कारण नहीं है क्योंकि दर्शनमोहका क्षय कर चुकने वाले सभी जीवों के उसका बन्ध नहीं पाया जाता, इसलिये तीर्थंकर-गोत्र के बन्ध का कारण कहना ही चाहिए।

इस प्रकार उपयोगिता प्रदर्शित कर—

'तत्थ इमेहिं सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणाम गोदं कम्मं बंधंति ।।४०।।

इस सूत्र में कहा है कि आगे कहे जाने वाले सोलह कारणों के द्वारा जीव तीर्थंकर-नाम-गोत्र को बांधते हैं। इस तीर्थंकर नाम गोत्र का प्रारम्भ मात्र मनुष्यगति में ही संभव होता है। क्योंकि केवल ज्ञान से उपलक्षित जीवद्रव्य का सन्निधान मनुष्य गति में ही संभव होता है, अन्यगतियों में नहीं। इसी सूत्र की टीका में वीरसेन स्वामी ने कहा है कि पर्यायार्थिक नय का अवलम्बन करने पर एक ही कारण होता है अथवा दो भी कारण होते हैं इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिए कि सोलह ही कारण होते हैं।

अग्रिम सूत्र में इन सोलह कारणों का नामोल्लेख किया गया है—

'दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलव पडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तथा तवे साहूणं पासुअ परिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वज्जावच्चजोगजुतदाए अरहंत भत्तीए बहुसुद-भत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ।'

१ दर्शनविशुद्धता २ विनयसंपन्नता ३ शीलव्रतेष्वनतीचार ४ आवश्यकापरिहीणता ५ क्षणलवप्रतिबोधनता ६ लब्धिसंवेगसंपन्नता ७ यथास्थामथथाशक्ति तप ८ साधूनां प्रासुक परित्यागता ९ साधूनां समाधि संधारणा १० साधूनां वैयावृत्य योग युक्तता ११ अरहन्त भक्ति १२ बहुश्रुत-भक्ति १३ प्रवचन भक्ति १४ प्रवचन वत्सलता १५ प्रवचन प्रभावना और अभिक्षण अभिक्षण—

प्रतिसमय ज्ञानोपयोग युक्तता, इन सोलह कारणों से जीव तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का बन्ध करते हैं।

दर्शनविशुद्धता आदि का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

दर्शनविशुद्धता :— तीन मूढताओं तथा शङ्का आदिक आठ मलों से रहित सम्यग्दर्शन का होना दर्शन विशुद्धता है। यहां वीरसेन स्वामी ने निम्नांकित शङ्का उठाते हुए उसका समाधान किया है—

शङ्का :—केवल उस एक दर्शन विशुद्धता से ही तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कैसे संभव है? क्योंकि ऐसा मानने से सब सम्यग्दृष्टि जीवों के तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध का प्रसङ्ग आता है।

समाधान :— शुद्धनय के अभिप्राय से तीन मूढताओं और आठ मलों से रहित होने पर ही दर्शन विशुद्धता नहीं होती किन्तु पूर्वोक्त गुणों से स्वरूप को प्राप्त कर स्थित सम्यग्दर्शन का, साधुओं के प्रासुक परित्याग में, साधुओं की सधारणा में, साधुओं के वैयावृत्य सयोग में, अरहन्त भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति प्रवचन वत्सलता, प्रवचन प्रभावना, और अभिक्षण ज्ञानोपयोग से युक्तता में प्रवर्तने का नाम दर्शन विशुद्धता है। उस एक ही दर्शन विशुद्धता से जीव तीर्थंकर कर्म को बांधते हैं।

२. **विनय संपन्नता :**—ज्ञान, दर्शन और चारित्र का विनय से युक्त होना विनय सम्पन्नता है।

३. **शीलव्रतेष्वनतीचार :**—अहिंसादिक व्रत और उनके रक्षक साधनों में अतिचार-दोष नहीं लगाना शीलव्रतेष्वनतीचार है।

४. **आवश्यकापरिहीणता :**—समता, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग इन छह आवश्यक कामों में हीनता नहीं करना अर्थात् इनके करने में प्रमाद नहीं करना आवश्यकापरिहीणता है।

५. **क्षणलवप्रतिबोधनता :**— क्षण और लव काल विशेष के नाम हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत और शील आदि गुणों को उज्ज्वल करना, दोषों का प्रक्षालन करना अथवा उक्त गुणों को प्रदीप्त करना प्रतिबोधनता है। प्रत्येक क्षण अथवा प्रत्येक लव में प्रतिबुद्ध रहना क्षणलवप्रतिबोधनता है।

६ **लब्धिसंवेगसंपन्नता :**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में जीव का जो समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं। उस लब्धि में हर्ष का होना संवेग है। इस प्रकार के लब्धि संवेग से—सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति विषयक हर्ष से संयुक्त होना लब्धि संवेग संपन्नता है।

७. **यथास्थामतप :**—अपने बल और वीर्य के अनुसार बाह्य तथा अन्तरङ्ग तप करना यथास्थामतप है।

८. साधूनां प्रासुक परित्यागता :—साधुओं का निर्दोष ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा निर्दोष वस्तुओं का जो त्याग दान है उसे साधु प्रासुक परित्यागता कहते हैं ।

९. साधूनां समाधि संधारणा :—साधुओं का सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में अच्छी तरह अवस्थित होना साधु समाधि संधारणा है ।

१०. साधूनां वैयावृत्य योगयुक्तता :—व्यावृत-रोगादिक से व्याकुल साधु के विषय में जो किया जाता है उसे वैयावृत्य कहते हैं । जिन सम्यक्त्व तथा ज्ञान आदि गुणों से जीव वैयावृत्य में लगता है उन्हें वैयावृत्य कहते हैं । उनसे संयुक्त होना वैयावृत्ययोगयुक्तता है ।

११. अरहन्त भक्ति :—चार घातिया कर्मों को नष्ट करने वाले अरहन्त अथवा आठों कर्मों को नष्ट करने वाले सिद्ध परमेष्ठी अरहन्त शब्द से ग्राह्य हैं । उनके गुणों में अनुराग होना अरहन्त भक्ति है ।

१२. बहुश्रुत भक्ति :—द्वादशाङ्ग के पारगामी बहुश्रुत कहलाते हैं, उनकी भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है ।

१३. प्रवचन भक्ति—सिद्धान्त अथवा बारह अङ्गों को प्रवचन कहते हैं, उसकी भक्ति करना प्रवचन भक्ति है ।

१४. प्रवचन वत्सलता—देशव्रती, महाव्रती, अथवा असंयत सम्यग्दृष्टि प्रवचन कहलाते हैं । उनके साथ अनुराग अथवा ममेदंभाव रखना प्रवचन वत्सलता है ।

१५. प्रवचन प्रभावना—आगम के अर्थ को प्रवचन कहते हैं, उसकी कीर्ति का विस्तार अथवा वृद्धि करने को प्रवचन प्रभावना कहते हैं ।

१६. अभिक्षण अभिक्षण ज्ञानोपयोगयुक्तता—क्षण क्षण अर्थात् प्रत्येक समय ज्ञानोपयोग से युक्त होना अभिक्षण अभिक्षण ज्ञानोपयोग युक्तता है ।

ये सभी भावनाएं एक दूसरे से सम्बद्ध हैं इसलिये जहां ऐसा कथन आता है कि अमुक एक भावना से तीर्थंकर कर्म का बन्ध होता है । वहां शेषभावनाएं उसी एक में गर्भित हैं ऐसा समझना चाहिए ।

इन्हीं सोलह भावनाओं का उल्लेख आगे चलकर उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र में इस प्रकार किया है—

'दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ।'

दर्शन विशुद्धि, विनयसंपन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचन वत्सलत्व—इन सोलह कारणों से तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव होता है।

इन भावनाओं में षट्खण्डागम के सूत्र में वरिणत क्रम को परिवर्तित किया गया है। क्षणलव प्रतिबोधनता भावना को छोड़कर आचार्य भक्ति रखी गई है, तथा प्रवचन भक्ति के नाम को परिवर्तित कर मार्गप्रभावना नाम रखा गया है। अभिक्षण अभिक्षण ज्ञानोपयोग युक्तता के स्थान पर संक्षिप्तनाम अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग रखा है। लब्धिसंवेग भावना के स्थान पर 'संवेग' इतना संक्षिप्त नाम रखा है। क्षणलव प्रतिबोधनता भावना को अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग में गतार्थ समझकर छोड़ा गया है, ऐसा जान पड़ता है और ज्ञान के समान आचार को भी प्रधानता देने की भावना से बहुश्रुत भक्ति के साथ आचार्य भक्ति को जोड़ा गया है। शेष भावनाओं के नाम और अर्थ मिलते-जुलते हैं। वर्तमान में षट्खण्डागम प्रतिपादित सोलह भावनाओं के स्थान पर तत्त्वार्थसूत्र प्रतिपादित सोलह भावनाओं का ही प्रचलन हो रहा है।

शलाकापुरुष :—

२४ तीर्थंकर १२ चक्रवर्ती ९ नारायण ९ बलभद्र और ९ प्रतिनारायण ये ६३ शलाकापुरुष कहलाते हैं। इनमें चौबीस तीर्थंकर ही तद्भव मोक्ष गामी होते हैं। चक्रवर्तियों में कोई मोक्ष जाते हैं तो कोई नरक भी। बलभद्रों में कोई मोक्ष जाते हैं तो कोई स्वर्ग। नारायण और प्रतिनारायण नियम से नरकगामी होते हैं। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर पद सातिशय पुण्य शाली है। इसकी महिमा ही निराली है। इसके गर्भस्थ होने के छह माह पूर्व ही लोक में हल चल मच जाती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में दश कोड़ा कोड़ी सागर के प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में यह २४ ही होते हैं। ऐसी अनन्त चौबीसियां हो चुकी हैं और अनन्त चौबीसियां होती रहेंगी। भूत, वर्तमान और भविष्यत् काल की अपेक्षा तीन चौबीसी कहलाती हैं और ५ भरत तथा ५ ऐरावत इन दश क्षेत्रों की तीन काल सम्बन्धी चौबीसी की अपेक्षा तीस चौबीसी कहलाती हैं। भरतैरावत क्षेत्र के तीर्थंकर नियम से पांच कल्याणक वाले होते हैं और इनका आगमन नरक या देवगति से होता है। विदेह क्षेत्र में पांच मेरु सम्बन्धी चार नगरियों में सीमन्धर युगमन्धर आदि २० तीर्थङ्कर सदा विद्यमान रहते हैं। सदा विद्यमान रहने का अर्थ यह नहीं है कि ये सदा तीर्थङ्कर ही रहते हैं मोक्ष नहीं जाते। एक कोटि वर्ष पूर्व की आयु समाप्त होने पर वे मोक्ष जाते हैं और उनके स्थान पर अन्य तीर्थङ्कर विराजमान हो जाते हैं। सीमन्धर आदि नाम शाश्वत हैं अर्थात् उनके स्थान पर जो भी विराजमान होते हैं वे उसी नाम से व्यवहृत होते हैं। इनके अतिरिक्त और भी तीर्थङ्कर हो सकते हैं। उन तीर्थंकरों में तीन और दो कल्याणकों के धारक भी होते हैं। विदेह क्षेत्र में एक साथ अधिक से अधिक १६०

तीर्थङ्कर हो सकते हैं। विदेह क्षेत्र में सदा चतुर्थ काल रहता है अतः मोक्ष मार्ग निरन्तर प्रचलित रहता है परन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल चक्र परिवर्तित होता है अतः इसके तृतीय काल के अन्त और चतुर्थ काल में ही तीर्थंकरों का जन्म होता है। इस युग के प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् वृषभदेव तृतीय काल में उत्पन्न हुए और जब तृतीय काल के तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी थे तब मोक्ष चले गये। शेष तीर्थंकर चतुर्थ काल में उत्पन्न हुए और चतुर्थ काल में ही मोक्ष गये। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी चतुर्थ काल के तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी रहने पर मोक्ष गये थे। तीर्थंकर का तीर्थ उनकी प्रथम देशना से शुरू होता है और आगामी तीर्थंकर की प्रथम देशना के पूर्व तक चलता है। पश्चात् अन्य तीर्थंकर तीर्थ शुरू हो जाता है।

शान्तिनाथ भगवान् भरत क्षेत्र के इस अवसर्पिणी युग सम्बन्धी सोलहवें तीर्थंकर हैं। इनके कितने ही पूर्वभव विदेह क्षेत्र में व्यतीत हुए थे। जैन पुराण कारों ने पूर्वभवों के वर्णन के साथ ही कथा नायक के वर्तमान भवों का वर्णन किया है इससे सहज ही विदित हो जाता है कि इस कथा नायक ने कितनी साधनाओं के द्वारा वर्तमान पद प्राप्त किया है। पूर्वभवसहित कथावृत्त के स्वाध्याय से पाठक के हृदय में आत्मबोध होता है। वह विचारने लगता है कि साधारण जीव जब क्रमिक पुरुषार्थ से इतने महान् पद को प्राप्त कर लेता है तब मैं पुरुषार्थ हीन क्यों हो रहा हूं? मैं भी इसी प्रकार क्रम से पुरुषार्थ कर महान् पद प्राप्त कर सकता हूं और सदा के लिये जन्म मरण के चक्र से उन्मुक्त हो सकता हूँ। जैन सिद्धान्त यह स्वीकृत करता है कि जीवात्मा ही परमात्मा बनता है। ऐसा नहीं है कि जीवात्मा, सदा जीवात्मा ही बना रहता हो और परमात्मा अनादि से परमात्मा ही होता हो। उसके पूर्व उसकी जीवात्मा दशा नहीं होती।

शान्तिनाथपुराण :—

इस शान्तिनाथ पुराण की रचना कवि ने वर्धमान चरित की रचना के पश्चात् की है। जैसा कि ग्रन्थ के अन्त में स्वयं उन्होंने निर्देश किया है।

> चरितं विरचय्य सन्मतीयं सदलंकार विचित्रवृत्तबन्धम् स पुराणमिदं व्यधत्त शान्तेरसगः साधुजनप्रमोहशान्त्यै ॥ ४१ ॥

अच्छे अच्छे अलंकार और नाना छन्दों से युक्त वर्धमान चरित की रचना कर असग ने साधुजनों का व्यामोह शान्त करने के लिये शान्तिनाथ का यह पुराण रचा।

इसमें १६ सर्ग हैं तथा २३५० श्लोक हैं जिनमें शार्दूल विक्रीडित ३२ वंशस्थ १ उत्पल माल हारिणी ३ प्रहर्षिणी १ इन्द्रवंशा १ वियोगिनी १ वसन्त तिलका १ और मालिनी २ शेष अनुष्टुप् छन्द हैं। रचना सरल तथा सुबोध होने पर भी श्लेषोपमा आदि अलंकारों के प्रसङ्ग में दुरूह हो गई है। संस्कृत टिप्पण देकर ऐसे प्रसङ्गों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हिन्दी अनुवाद मूलानुगामी है।

अन्तिम सर्गों में जैन सिद्धान्त का विशद वर्णन है। जहां संभव दिखा वहां तुलनात्मक टिप्पण भी दिये गये हैं। प्रारम्भ में विषय सूची स्तम्भ में शान्तिनाथ पुराण का कथासार दिया गया है। एक बार मनोयोग पूर्वक विषय सूची पढ़ लेने से ही ग्रंथ का कथावृत्त हृदयंगत हो सकता है। अंत में श्लोकानुक्रमणिका दी है। वर्धमान चरित में पारिभाषिक भौगोलिक, व्यक्तिवाचक और साहित्यिक विशिष्ट शब्दों का कोष दिया था पर पुराण ग्रंथों में उसका उपयोग कम होता है और निर्माण में श्रम अधिक होता है इसलिये इसमें वह नहीं दिया गया है।

आभार प्रदर्शन :—

शुद्ध पाठ के निर्धारण तथा हिन्दी अनुवाद में वयोवृद्ध एवं अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी पं० जिनदास जी शास्त्री फडकुले सोलापुर के मराठी अनुवाद सहित संस्करण से सहायता प्राप्त हुई है अतः उनका आभारी हूं। इसका प्रकाशन जैन संस्कृति संरक्षक संघ (ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थ माला) सोलापुर की ओर से हो रहा है इसलिये उसके मन्त्री सौजन्य मूर्ति श्री बालचन्द्रजी शहा का आभारी हूं। मेरा जीवन व्यस्तताओं से भरा है फिर भी दैनिक चर्या के निष्पादन से जब कभी जो समय शेष बच जाता है उसका उपयोग जिनवाणी की उपासना में कर लेता हूं। इसी के फल स्वरूप इस पुराण का संपादन और अनुवाद हो सका है। ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुसार मैंने अनुवाद आदि में सावधानी तो रखी है पर फिर भी अनेक त्रुटियों का रह जाना संभव है। दूर होने के कारण मैं प्रूफ नहीं देख सका हूं। इसका दायित्व प्रेस के स्वामी ने ही निभाया है। अतः इन सब त्रुटियों के लिये मैं विद्वज्जनों से क्षमा प्रार्थी हूं।

वर्णीभवन-सागर
६-३-१९७७

विनीत
पन्नालाल साहित्याचार्य

सुभाषितसंचय

प्रथम सर्ग

'सर्वज्ञस्यापि चेद्वाक्यं नाभव्येभ्योऽभिरोचते ।
प्रबोधोपहतो कोऽन्यो ब्रूयात्सर्वमनोरमम्' ॥ ५ ॥
'न हि सन्तोष मायान्ति गुणिनोऽपि गुणार्जने' ॥ ३४ ॥
'कृतागसो ऽपि वध्यस्य यः प्रहन्ति स्म न प्रभुः ।
दण्डये महति वा क्षुद्रे शक्तस्यैव क्षमा क्षमा' ॥ ३७ ॥
'श्रेयसे हि सदा योगः कस्य न स्यात्महात्मनाम्' ॥ ८८ ॥
'विषयी कः सचेतनः' ॥ ६६ ॥

द्वितीय सर्ग

'विधेरिव सुदुर्बोधं चेष्टितं नीति शालिनः' ॥ ४ ॥
'नाभि गच्छति कार्यान्तं सामदान विवर्जितः ।
समर्थोऽपि विना दोर्भ्यां कस्तालमधिरोहति' ॥ ६ ॥
'तृणायापि न मन्यन्ते दानहीनं नरं जनाः ।
तृणार्थं वाहयन्त्युच्चैर्निर्दानमिति दन्तिनम्' ॥ ७ ॥
'यो गुण प्राति लोम्येन विजिग्राहयिषुः परम् ।
स पातयति दुर्बुद्धिस्तरुं स्वस्योपरि स्वयम्' ॥ १६ ॥
'यद्यस्याभिमतं किञ्चित् स तदेवाव गच्छति' ॥ ३४ ॥
'तुल्या शक्तिमतो याञ्चा हस्त्यारूढस्य भिक्षया' ॥ ३८ ॥
'धीरो हि नयमार्गवित्' ॥ ४२ ॥
'अन्तः शुद्धो विजिह्मो वा लक्ष्यते कार्य सन्निधौ' ॥ ५५ ॥
'प्रज्ञोत्साह बलोद्योग धैर्य शौर्य क्षमान्वितः ।
जयत्येकोऽप्यरीन्कृत्स्नान्किं पुनर्द्वौ सुसंगतौ' ॥ ५६ ॥
'प्रत्यक्षा हि परोक्षापि कार्यसिद्धिः सुमेधसाम्' ॥ ५७ ॥
'गुणिनो हि विमत्सराः' ॥ ५८ ॥
'तत्कलत्रस्य वाल्लभ्यं पिता स्निह्यति यत्सुते' ॥ ७१ ॥

'वृद्धैः किं नावसीयते' ।। ८१ ।।
'प्रयासो हि परार्थोऽयं महतामेव केवलम् ।
सारभूतान् किमर्थं वा मणीन्धत्ते पयोनिधिः' ।। ८८ ।।

तृतीय सर्ग

'तिर्यञ्चो हि जडा शयाः' ।। १० ।।
'जननीं जन्म भूमिं च प्राप्य को न सुखायते' ।। ४२ ।।

चतुर्थ सर्ग

'अनिमित्तं सतां युद्धं तिरश्चामिव किं भवेत् ।। ८ ।।
'प्रभोः क्षान्तिः स्त्रियो लज्जा शौर्यं शस्त्रोप जीविनः ।
'विभूषणमिति प्राहुर्वैराग्यं च तपस्विनः' ।। ३७ ।।
'क्षमावान् न तथा भूम्या यथा क्षान्त्या महीपतिः ।
क्षमा हि तपसां मूलं जनयित्री च संपदाम्' ।। ३८ ।।
'सुजीर्णमन्नं विचिन्त्योक्तं सुविचार्य च यत्कृतम् ।
प्रयाति साधुसख्यं च तत्कालेऽपि न विक्रियाम् ।। ३९ ।।'
'बालस्त्री भीति वाक्यानि नादेयानि मनीषिभिः ।
जलानि वाऽप्रसन्नानि नादेयानि घनागमे ।। ४० ।।'
'कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिस्तदनुगामिनी ।
तथापि सुधियः कार्यं प्रविचार्यैव कुर्वते ।। ४३ ।।'
'संसर्गेण हि जायन्ते गुणा दोषाश्च देहिनाम्' ।। ५४ ।।
'कन्यका हि दुराचारा पित्रोः खेदाय जायते' ।। ५६ ।।
'न हि वैरायते क्षीबो द्विपोऽपि मृगविद्विषि ।। ६० ।।'
'प्रश्रयो हि सतामेकमग्राम्यं भूरिभूषणम् ।। ६१ ।।'
'क्वापि भूत्वा कुतोऽप्येत्य गुणवान् लोकमूर्धनि ।
विदधाति पदं वार्क्षः सुरभिः प्रसवो यथा ।। ६२ ।।'
'आरोप्यतेऽश्मा शैलाग्रं कृच्छ्रात् संप्रेर्यते सुखात् ।
ततः पुंसां गुणाधानं निर्गुणत्वं च तत्समम् ।। ६३ ।।'
'द्विषतोऽपि परं साधुर्हितायैव प्रवर्तते ।
किं राहुममृतैश्चन्द्रो ग्रसमानं न तर्पयेत् ।। ६६ ।।'
'केनापि शशपाशैः किं गृहीतोऽस्ति मृगाधिपः ।। ७८ ।।'

पञ्चम सर्ग

'को हि नाम महासत्त्वः पूर्वं प्रहरति द्विषः ।। ८ ।।'

'कस्यचित्कृच्छ्रसाहाय्यं न हि सर्वैर्विधीयते ।। २३ ।।'

'को हि मृत्योः पलायते ।। ३१ ।।'

'न महान् कृच्छ्रसाहाय्यं परकीयं प्रतीक्षते ।। ६४ ।।'

'स्फुरन्तं तेजसा शत्रुं सहते को हि सात्त्विकः ।। ८० ।।'

षष्ठ सर्ग

'ता धन्यास्ता महासत्त्वा यासां वाच्यतया विना ।
यौवनं समतिक्रान्तं ताः सत्यं कुलदेवताः ।। ४९ ।।'

'सुखं हि नाम जीवानां भवेच्चेतसि निर्वृते ।। ५० ।।'

'कलङ्कक्षालनोपायो नान्योऽस्ति तपसो विना ।। ५१ ।।'

'निर्वाच्यं जीवितं श्रेयः सुखं चानुज्झितक्रमम् ।
खण्डनारहितं शौर्यं धैर्यं चार्थेनिरासकम् ।। ५५ ।।'

'सर्वसङ्गपरित्यागान्नापरं परमं सुखम् ।
तृष्णाप्रपश्यतो नान्यन्नरकं घोर मुच्यते ।। ६५ ।।'

'भव्यता हि परा भूषा सत्त्वानां सत्त्वशालिनाम् ।। ११६ ।।'

सप्तम सर्ग

'स्त्रीजनोऽपि कुलोद्भूतः सहते न पराभवम् ।। ८७ ।।'

अष्टम सर्ग

'आचारो हि समाचष्टे सदसच्च नृणां कुलम् ।। ४२ ।।'

'कामग्रहगृहीतेन विनयो हि निरस्यते ।। ६७ ।।'

'दह्यमाने जगत्यस्मिन् महता मोहवह्निना ।
विमुक्तविषयासङ्गाः सुखायन्ते तपोधनाः ।। १७६ ।।'

नवम सर्ग

'भजते नो विशेषज्ञो वर्णमात्रेण निर्गुणम् ।। ५१ ।।'

दशम सर्ग

'अविचाराग संक्लिष्टो बंभ्रमीति भवान्तरे।
विचारवैराग्यसंयुक्तः सिद्धयत्यविकलस्थितिः ॥ ८३ ॥'

'जैनं विश्वजनीनं हि शासनं दुःखनाशनम् ॥ ८४ ॥'

'परमं सुखमभ्येति निगृहीतेन्द्रियः पुमान् ।
दुःखमेव सुखव्याजाद्विषयार्थी निषेवते ॥ १०४ ॥'

'आपदामिह सर्वासां जनयित्री पराऽक्षमा ।
तितिक्षैव भवेन्नृणां कल्याणानां हि कारिका ॥ १०५ ॥'

एकादश सर्ग

'साधुः स्वार्थालसो नित्यं परार्थनिरतो भवेत् ।
स्वच्छाशयः कृतज्ञश्च पापभीरुश्च तथ्यवाक् ॥ ८२ ॥'

'भूयते हि प्रकृत्यैव सानुक्रोशैर्महात्मभिः ।
केनान्तर्गन्धितोयेन संसिक्ताश्चन्दनद्रुमाः ॥ ११३ ॥'

'अक्षान्त्या सर्वतः क्षुद्रो व्याकुलीक्रियते जनः ।
सदोन्मार्गप्रवर्तिन्या भूरेणुरिव वात्यया ॥ ११४ ॥'

असत्कृत्याप्यहो पश्चादनुशेते कुलोद्भवः ॥ ११७ ॥'

'पुत्रो हि कुलदीपकः ॥ १४० ॥'

'जन्मान्तर सहस्राणि विरहः प्राणिनां प्रियैः ।
कर्मपाकस्य वैषम्यात्स्यात्साम्याच्च समागमः ॥ १४२ ॥'

द्वादश सर्ग

'कर्मभिः प्रेर्यमाणः सन् जीवो गति चतुष्टये ।
निर्विशन् सुखदुःखानि बम्भ्रमीति समन्ततः ॥ १६ ॥'

'संसारोत्तरणोपायो नान्योऽस्ति जिन शासनात् ।
भव्येनैवाप्यते तच्च नाभव्येन कदाचन ॥ १७ ॥'

'महान्तो नाम कृच्छ्रेऽपि नैवाकार्यं प्रकुर्वते ॥ ३१ ॥'

'केषां मनः सकालुष्यं कषायैर्न विधीयते ॥ ४२ ॥'

'अनेकरागसंकीर्णं घनलग्नमपि क्षणात् ।
मानुष्यं यौवनं वित्तं नश्यतीन्द्रधनुर्यथा ॥ ९८ ॥'

'सर्वं दुःखं पराधीनमात्माधीनं परं सुखम् ॥ १०६ ॥'

'कर्मपाथेय मादाय चतुर्गति महाटवीम् ।
आत्माध्वगः सदा भ्राम्यन् सुखदुःखानि निर्विशेत् ॥ १०९ ॥'

त्रयोदश सर्ग

आर्द्रसंपर्कतः केषां नापयाति रुक्षःस्थितिः ॥ ४० ॥'

चतुर्दश सर्ग

'दुःसहो हि मनोभवः ॥ १५८ ॥'
'परप्रार्थनया प्रेम यन्नूवैतत्स्कियच्चिरम् ॥ १६३ ॥'

विषय सूची

प्रथम सर्ग

इसी संदर्भ में चक्रवर्ती की सुन्दरता का वर्णन है । चक्रवर्ती गायिकाओं को देख बहुत प्रसन्न हुआ । उनके साथ वार्तालाप कर उसने उन्हें सम्मानित किया । तदनन्तर चक्रवर्ती दमितारि ने अमित दूत को आज्ञा दी कि इन गायिकाओं को कनकश्री पुत्री को सौंप दो । वही इनकी सब व्यवस्था तथा देखभाल करेगी ।	७५–१०० ।	३२–३५

चतुर्थ सर्ग

तदनन्तर वृद्ध कञ्चुकी ने एक दिन राज सभा में जाकर चक्रवर्ती दमितारि को सूचना दी कि हे राजराजेश्वर ! ध्यान से सुनिये । कन्या कनकश्री के अन्तःपुर में जो गायिकाएं थी, वे गायिकायें नहीं थी । उनके छद्मवेष में राजा अपराजित और अनन्तवीर्य थे । अपराजित ने कन्या कनकश्री को प्रभावित कर अनन्तवीर्य के अधीन कर दिया है और दोनों भाई कन्या को विमान में चढ़ाकर आकाश मार्ग से चल दिये हैं । पीछा करने पर उन्होंने कहा है कि हमने चक्रवर्ती से युद्ध करने के लिये ही कनकश्री का अपहरण किया है । युद्ध के लिये चक्रवर्ती को भेजो । जब तक चक्रवर्ती नहीं आता तब तक हम विजयार्ध पर्वत से एक पद भी आगे नहीं जावेंगे ।	१–१० ।	३६–३७
कञ्चुकी के मुख से यह सुनकर चक्रवर्ती ने तत्काल सभा बुलायी और सभासदों से यह सब घटना कही । सुनते ही सभासदों का क्रोध भड़क उठा और वे युद्ध के लिये तैयार हो गये । महाबल आदि योद्धाओं ने अपनी युद्धोत्कण्ठा प्रकट की । उनकी उत्कण्ठा देख सुमति मन्त्री ने कहा—	११–३२ ।	३७–३९
इस अवसर पर क्षमा से व्यवहार करना चाहिये । सब से पहले उनके पास दूत भेजना आवश्यक है उसके वापिस आने पर ही युद्ध करना चाहिए । सुमति मंत्री की संमति को मान्यता देते हुए चक्रवर्ती ने अपराजित और अनन्तवीर्य के पास अपना प्रीतिवर्धन नामका दूत भेजा । दूत ने जाकर विनयपूर्वक निवेदन किया परन्तु उसका कुछ भी प्रभाव उन पर नहीं पड़ा । उन्होंने युद्ध की ही आकांक्षा प्रकट की । प्रीतिवर्धन के वापिस आने पर युद्ध की तैयारियां होने लगी ।	३३–१०२ ।	३९–४६

पञ्चम सर्ग

चक्रवर्ती की अपरिमित सेना आगे बढ़ी आ रही थी। धूलि से आकाश भर गया था। सेना के योद्धा बहुत उछल कूद कर रहे थे पर ज्योंही अपराजित की गंभीर दृष्टि सेना पर पड़ी त्योंही उनकी उछल कूद बंद हो गई। सब सैनिक अपराजित पर प्रहार करने लगे परन्तु अपराजित ने इस वीरता से उनका सामना किया कि रणक्षेत्र मृतकों से भर गया। भगदड़ मच गई। दमितारि के प्रमुख योद्धा महाबल ने भागते हुए सैनिकों का स्थिरीकरण किया परन्तु अपराजित के सामने कोई टिक नही सका। महाबल भी मारा गया। अन्त में चक्रवर्ती स्वयं युद्ध के लिये आगे आया।	१-९०	४७-५६
चक्रवर्ती को आता देख अनन्तवीर्य ने अपने अग्रज अपराजित से कहा कि इसके साथ युद्ध करने की मुझे आज्ञा दीजिये। अपराजित की आज्ञा पाकर अनन्त वीर्य ने दमितारि के साथ युद्ध किया। अन्त में क्रुद्ध होकर दमितारि ने अनन्तवीर्य पर चक्ररत्न चलाया परन्तु वह चक्ररत्न प्रदक्षिणा देकर अनन्तवीर्य के दक्षिण कंधे को अलंकृत करने लगा। उसी चक्ररत्न से दमितारि मारा गया। विजय लक्ष्मी से सुशोभित अनन्तवीर्य का आलिङ्गन कर अपराजित ने बड़ा हर्ष प्रकट किया। अपराजित बलभद्र और अनन्तवीर्य नारायण के रूप में उद्घोषित हुए।	९१-११७	५६-५९

षष्ठ सर्ग

तदनन्तर बलभद्र अपराजित ने पिता के मरण सम्बन्धी शोक और लोकापवाद से संतप्त कनकश्री को सान्त्वना देकर दमितारि का अन्तिम संस्कार किया और भयभीत अवशिष्ट विद्याधरों को अभयदान दिया।	१-४	६०
पश्चात् अपराजित ने भाई अनन्तवीर्य और चक्रवर्ती की पुत्री कनकश्री के साथ विमान में आरूढ हो अपने नगरकी ओर प्रस्थान किया। बीच में विमान अकस्मात् रुक गया। जब अपराजित ने नीचे आकर विमान के रुकने का कारण जानना चाहा तब भूतरमण अटवी के	५-१२	६०-६१

सप्तम सर्ग

अष्टम सर्ग

नवम सर्ग

पूर्वोक्त अच्युतेन्द्र स्वर्ग से चयकर कनक चित्रादेवी के गर्भ से वज्रायुध नामका पुत्र हुआ । वज्रायुध बड़ा सुन्दर और बलवान् था । राजा क्षेमंकर ने वज्रायुध को युवराज बनाया । वज्रायुध ने लक्ष्मी मति कन्या के साथ विवाह किया । मेघनाद का जीव जो अच्युतस्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था, वहां से चय कर वज्रायुध और लक्ष्मीमति के सहस्रायुध नामका पुत्र हुआ । सहस्रायुध ने सातसौ कन्याओं के साथ विवाह किया ।	२२-४०	१०३-१०६
इतने में वसन्त ऋतु आ गई उसका साहित्यक वर्णन ।	४१-७०	१०६-१०९
वसन्त ऋतु में वन क्रीडा करने के लिये सहस्रायुध अपने अन्तःपुर के साथ देवरमण वन को गया । वहां वन क्रीडा के अनन्तर वह जल क्रीडा के लिये वापिका में उतरा । स्त्रियों के साथ जब वह जलकेलि कर रहा था तब पूर्व भव के वैरी विद्युद्दंष्ट्र ने आकाश मार्ग से जाते हुए उसे देखा । क्रोध वश उसने उसे नागपाश से बांध दिया और वापिका को शिला से ढक दिया परन्तु सहस्रायुध ने अंगड़ाई लेकर नागपाशों को तोड़ दिया और बांयें हाथ से शिला को अलग कर दिया । भावी चक्रवर्ती के वीर्य और साहस को देखकर वह देव भाग गया ।	७१-८८	१०९-१११
सहस्रायुध की कीर्ति सर्वत्र फैल गई । नगरवासियों ने उसका अत्यधिक सत्कार किया इसी के बीच क्षेमङ्कर महाराज संसार से विरक्त हो उठे जिससे उन्हें संबोधने के लिये लौकान्तिक देव आये । युवराज वज्रायुध ने पिता का सिंहासन प्राप्त किया । क्षेमङ्कर महाराज ने दीक्षा कल्याणक का अनुभव कर उसी नगर के उद्यान में दीक्षा धारण कर ली ।	८९-१००	१११-११२
वज्रायुध शान्ति से राज्य संचालन करने लगे ।	१०१-१०५	११२-११३
तदनन्तर विवाद की इच्छा रखने वाला कोई विद्वान् वज्रायुध की सभा में आया । वज्रायुध ने उसके प्रश्न सुन कर उनका युक्ति युक्त समाधान किया । वह विद्वान एक देव था परीक्षार्थ आया था । वज्रायुध के पाण्डित्य से प्रसन्न होकर चला गया ।	१०६-१५८	११३-११६

दशम सर्ग

एकादश सर्ग

उपरिम ग्रैवेयक से चय कर मेघरथ नामका पुत्र हुआ और सहआयुध का जीव कान्तप्रभ नामका अहमिन्द्र, इन्हीं घनरथ की दूसरी रानी प्रीतिमती के दृढरथ नामका पुत्र हुआ। दोनों भाईयों में अटूट प्रेम था। दोनों के उत्तम कन्याओं के साथ विवाह हुए।

क बार राजा घनरथ पुत्रों के साथ क्रीडा करते हुए राजसभा में विराजमान थे। वहां के मुर्गे परस्पर लड़ रहे थे, कोई किसी से हारता नहीं था। यह देख राजा घनरथ ने अपने पुत्र मेघरथ से इसका कारण पूछा। उत्तर में मेघरथ ने उन मुर्गों के पूर्व भव तथा उनके लड़ाये जाने का कारण बताया। — १८–६४ । १३७–१४१

मुर्गों को लड़ाने वाले विद्याधर अपने पूर्व भव सुनकर बहुत प्रसन्न हुए और राजा घनरथ तथा युवराज मेघरथ के अत्यन्त कृतज्ञ हुए। उन्होंने अपना वैरभाव छोड़ दिया। — ६५–७२ । १४१–१४२

राजा घनरथ तीर्थंकर थे अतः लौकान्तिक देवों ने उन्हें तप कल्याणक के लिये संबोधित किया। — ७३–७६ । १४२

राजा मेघरथ राज्य पद पर आरूढ़ हुए। किसी समय दो भूतजाति के देवों ने इनका उपकार मानकर उनसे अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन करने की प्रार्थना की। राजा ने उनके सहयोग से अढ़ाई द्वीप के चैत्यालयों के दर्शन किये। — ७७–९४ । १४२–१४४

एक बार राजा मेघरथ अपनी प्रियाओं के साथ देवरमण वन में गये। वहां स्मरण करते ही दो भूतों ने आकर नृत्य आदि के द्वारा इनका मनोविनोद किया। अकस्मात् वह पर्वत हिलने लगा तो घनरथ ने बाएं पैर के अंगूठे से उसे दबा दिया। उसी समय एक विद्याधरी पति की भिक्षा मांगती हुई उनके सामने आयी। राजा ने पैर का अंगूठा ढीला कर लिया जिससे उसके नीचे दबा हुआ विद्याधर आकर अपनी चपलता की क्षमा मांगने लगा। रानी प्रियमित्रा के कहने से राजा घनरथ ने उस विद्याधर के पूर्व भव सुनाये जिससे वह बहुत नम्र हुआ। तीर्थंकर घनरथ केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये। — ९५–१५६ । १४४–१५०

द्वादश सर्ग

एक बार राजा मेघरथ ने कार्तिक मास का शुक्ल पक्ष आने पर नगर में जीव दया की घोषणा कराई और स्वयं तेला का नियम लेकर अष्टाह्निक पूजा करते हुए मन्दिर में बैठ गये । किसी समय राजा मेघरथ राजसभा में बैठे थे उसी समय एक कबूतर 'रक्षा करो रक्षा करो' चिल्लाता हुआ इनकी शरणमें आया और उसके पीछे एक बाज पक्षी आया । बाज ने मनुष्य की बोली में कहा कि आप कैसे सर्वदयालु हो सकते हैं जब कि मैं भूख से व्याकुल हो रहा हूं । यह मेरा भोज्य है इसे मुझे खाने दीजिये । इसके उत्तर में राजा मेघरथ ने दान के भेद, देने के योग्य पदार्थ और पात्र आदि का अच्छा उपदेश दिया तथा कबूतर और बाज के पूर्वभवों का वर्णन कर उन्हें निर्वैर कर दिया । उन पक्षियों के मनुष्य की बोली में बोलने का कारण भी बतलाया कि एक सुरूप नामका देव इन्द्र की सभा में मेरी दयालुता की प्रशंसा सुन कर परीक्षा के लिये आया है । इसी देव ने इन पक्षियों को मनुष्य की बोली दी है । यह सुन कर देव अपने असली रूप में प्रकट हुआ और पारिजात के फूलों से घनरथ की पूजा कर कृत कृत्य हुआ । — १-६२ । १५१-१५७

तेला का उपवास समाप्त होने पर राजा मन्दिर से अपने भवन गये । एक समय दमधर नामक मुनिराज ने राजा मेघरथ के घर में प्रवेश किया । राजा ने भक्ति भाव से उन्हें आहार दान दिया जिससे देवों ने पञ्चाश्चर्य किये । — ६३-७१ । १५७-१५७

एक समय राजा मेघरथ रात्रि में प्रतिमायोग से विराजमान होकर आत्म-ध्यान कर रहे थे । इन्द्र ने उन्हें परोक्ष नमस्कार किया । इन्द्राणी ने पूछा कि आपने किसे नमस्कार किया है ? इन्द्र ने राजा मेघरथ की बड़ी प्रशंसा की । उसी समय दो देवियां-अरजा और विरजा पृथिवी पर आकर उनकी परीक्षा के लिये शृङ्गार चेष्टाएं करने लगीं परन्तु वे ध्यान से विचलित नहीं हुए । तब देवाङ्गनाओं ने असली रूप में प्रकट होकर उनकी स्तुति की । — ७२-८४ । १५७-१५६

एक बार रानी प्रिय मित्रा के अन्तःपुर में दो सुन्दर स्त्रियोंने भेंट भेजकर प्रार्थना की कि हम लोग आपकी सुन्दरता देखने के लिये आई हैं। प्रिय मित्रा ने कहलाया कि मैं स्नान से निवृत्त हो वस्त्राभूषण पहिनकर आती हूँ तब तक प्रेक्षागृह में बैठें। आज्ञानुसार स्त्रियां बैठ गईं। जब प्रियमित्रा उनके समक्ष आई तब उन स्त्रियों ने कहा कि आपकी वह सुन्दरता अब नहीं दिखाई देती जिसे हम लोगों ने पहले देखा था। रूपह्रास की बात सुनकर रानी प्रियमित्रा को आश्चर्य हुआ। उसने यह घटना राजसभा में राजा मेघरथ को सुनायी। राजा ने रानी की ओर देखकर मानव शरीर की अस्थिरता का वर्णन किया और स्वयं संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। नन्दिवर्धन पुत्र को राज्य देकर वे अनेक राजाओं के साथ साधु हो गये। प्रियमित्रा रानी भी सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षा लेकर आर्यिका बन गई।	८५-१२७	१५९-१६२
मुनिराज घनरथ की तपस्या का वर्णन। मुनिराज घनरथ ने दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया और अन्त में एक मास का प्रायोपगमन संन्यास धारण कर सर्वार्थ सिद्धि में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। राजा घनरथ के भाई दृढ़रथ भी तपस्या कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए।	१२८-१७०	१६२-१६७

त्रयोदश सर्ग

जम्बूद्वीप भरत क्षेत्र में कुरु देश है उसकी शोभा निराली है। उसीमें हस्तिनापुर नामका नगर है।	१-२०	१६८-१७१
हस्तिनापुर के राजा विश्वसेन थे और उनकी रानी का नाम ऐरा था। राजा विश्वसेन नीतिज्ञ शासक थे। उनके राज्य में प्रजा सब प्रकार से सुखी थी। घनरथ का जीव-सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्र जब पृथिवी पर आने के लिये उद्यत हुआ तब हस्तिनापुर में छहमाह पूर्व से ही देवकृतरत्नवर्षा होने लगी। इन्द्र की आज्ञा से दिक्कुमारी देवियां ऐरा माता की सेवा करने लगी। माता ऐरा ने सोलह स्वप्न देखे। राजा विश्वसेन ने उनका फल बताते हुए कहा कि तुम्हारे तीर्थंकर पुत्र उत्पन्न हो गया। भाद्रमास के शुक्लपक्ष की सप्तमीतिथि को	२१-८०	१७१-१७८

घनरथ के जीव अहमिन्द्र ने सर्वार्थसिद्धि से चयकर रानी ऐरा के गर्भ में प्रवेश किया। इन्द्र ने गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

तदनन्तर ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र में प्रातः काल शान्तिनाथ भगवान् का जन्म हुआ। इन्द्रों के आसन कंपायमान हुए। अवधिज्ञान से शान्तिजिनेन्द्र का जन्म जानकर वे चतुर्णिकाय के देवों के साथ जन्म कल्याण महोत्सव के लिये हस्तिनापुर आये। इसी संदर्भ में देवों के आगमन का वर्णन। इन्द्र ने तीन प्रदक्षिणाएं देकर राजभवन में प्रवेश किया। इन्द्राणी प्रसूतिका गृह में माता के पास मायामय बालक सुला कर जिन बालक को ले आयी। इन्द्र उन्हें ऐरावत हाथी पर विराजमान कर पाण्डुक शिला पर ले गया। वहां उनका जन्माभिषेक हुआ। इन्द्राणी ने वस्त्राभूषण पहिनाये। देव सेना के नगर में वापिस होने पर बड़ा उत्सव हुआ। जिन बालक की उत्कृष्ट विभूति देख कर सब प्रसन्न हुए। जन्मकल्याणक का उत्सव समाप्त कर देव लोग यथा स्थान चले गये। ८१–२०५ । १७८–१९०

चतुर्दश सर्ग

शान्तिनाथ जिनेन्द्र का बाल्यकाल प्रभावना पूर्णरीति से बीतने लगा। तदनन्तर दृढरथ का जीव भी सर्वार्थ सिद्धि से चय कर इन्हीं राजा विश्वसेन की दूसरी स्त्री यशस्वती के चक्रायुध नामका पुत्र हुआ। दोनों भाइयों में प्रगाढ़ स्नेह था। पच्चीस हजार वर्ष का कुमार काल व्यतीत होने पर राजा विश्वसेन ने शान्तिनाथ को राज्यलक्ष्मी का शासक बनाया। वे नीतिपूर्वक राज्यशासन करने लगे। देवोपनीत भोगों का उपभोग करते हुए उनके पच्चीस हजार वर्ष बीत गये। १–२८ । १९१–१९४

तदनन्तर एक दिन शान्ति जिनेन्द्र राजसभा में विराजमान थे। उसी समय शस्त्रों के अध्यक्ष ने आयुधशाला में चक्ररत्न के प्रकट होने का समाचार कहा। इसी संदर्भ में चक्ररत्न की दिव्यता का साहित्यिक वर्णन आयुधशाला के अध्यक्ष ने किया। शान्ति जिनेन्द्र ने नियोगानुसार चक्ररत्न की पूजा की। देवों ने आकाश में प्रकट होकर शान्ति २९–२०१ । १९४–२१३

जिनेन्द्र के चक्रवर्ती होने की घोषणा की। शान्तिजिनेन्द्र चतुरङ्गिणी सेना के साथ दिग्विजय को निकले। दिग्विजय का विस्तृत वर्णन। इसी बीच में संध्या, रात्रि के तिमिर, चन्द्रोदय, तथा सूर्योदय आदि का प्रासङ्गिक वर्णन।

पञ्चदश सर्ग

चक्रवर्ती के सुख का उपभोग करते हुए जब शान्ति जिनेन्द्र के पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हो गये तब वे संसार से निवृत्त हो अपने आपको मुक्त करने की इच्छा करने लगे। सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी वैराग्य भावना को वृद्धिगत किया। भगवान् ने नारायण नामक पुत्रको राज्य देकर ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा कल्याणक के लिये देव नाना वाहनों पर चढ़ कर आये। भगवान् ने ऊपर की ओर मुखकर लोकाग्रभाग में विराजमान सिद्ध परमेष्ठियों को नमस्कार कर पञ्च मुष्टियों द्वारा केशलोंच कर सब परिग्रह का त्याग कर दिया। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान तथा सब ऋद्धियां प्राप्त हो गईं। १-३२ । २१४-२१७

तदनन्तर सहस्राम्रवन में नन्दिवृक्ष के नीचे शुद्ध शिला पर आरूढ होकर उन्होंने शुक्लध्यान के द्वारा घातिया कर्मों का क्षय किया और उसके फलस्वरूप पौषशुक्ला दशमी के दिन अपराह्णकाल में केवलज्ञान प्राप्त किया। अनन्त चतुष्टय से उनकी आत्मा प्रकाशमान हो गई। देवों ने समवसरण की रचना की। गन्धकुटी में शान्तिजिनेन्द्र अन्तरीक्ष विराजमान हुए और चक्रायुध आदि मुनिराज तथा अन्य देव बारह सभाओं में बैठे। ३३-६३ । २१७-२२०

इन्द्र की प्रार्थना के उत्तर स्वरूप उन्होंने दिव्यध्वनि के द्वारा सम्यग्दर्शन, उसके सराग और वीतराग भेद, साततत्त्व, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण, मतिश्रुत आदि ज्ञान तथा उनके भेद, नैगम संग्रह आदि नय, औपशमिक आदि भाव तथा उनके भेदों का निरूपण किया। ६४-१२६ । २२०-२२७

साथ ही अजीव तत्त्व का वर्णन करते हुए उसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल द्रव्य का स्वरूप बताया। शान्तिनाथ भगवान् १२७-१४१ । २२७-२२९

षोडश सर्ग

श्री शान्तिनाथ पुराण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमदसगमहाकविविरचितम्

श्रीशान्तिनाथपुराणम्

श्रियं समग्रलोकानां [1]पायिनीमन[2]पायिनीम् । बिभ्रतेऽपि नमस्तुभ्यं वीतरागाय शान्तये ॥१॥
अशेषभव्यसत्त्वानां संसारार्णवतारणम् । भक्त्या रत्नत्रयं नौमि विमुक्तिसुखकारणम् ॥२॥
लीलोत्तीर्णाखिलामेयविपुलज्ञेयसागरान् । इन्द्राभ्यर्च्यानृषीन्वन्दे शुद्धान्गणधरादिकान् ॥३॥

---

* मंगलाचरण *

भवदु:खदावानलदलन को जो सजल वारिद हुए,
जो मोहविभ्रमयामिनी के दमन को दिनकर हुए ।
समता सुधा की सरस वर्षा के लिये जो शशि हुए,
जयवंत हों जग में सदा वे शान्ति, सुख देते हुए ।।

जो समस्त लोकों की रक्षक तथा अविनाशी लक्ष्मी को धारण करने वाले होकर भी वीतराग हैं—रक्षा सम्बंधी राग से रहित हैं ऐसे आप शान्ति जिनेन्द्र के लिये नमस्कार हो ।।१।। जो समस्त भव्यजीवों को संसार समुद्र से तारने वाला है तथा मोक्षसुख का कारण है उस रत्नत्रय की मैं भक्ति द्वारा स्तुति करता हूं ।।२।। जिन्होंने समस्त अपरिमित विस्तृत ज्ञेय रूपी समुद्र को लीला पूर्वक पार कर लिया है, जो इन्द्रों के द्वारा पूज्य हैं, तथा शुद्ध हैं ऐसे गणधरादिक मुनियों को नमस्कार करता हूं ।।३।।

शान्तं शान्तिजिनं नत्वाऽसमेन कविनाकृतम् ।
टिप्पणीभिर्युतं कुर्वे पुराणं शान्तिपूर्वकम् ।।१।।

१. रक्षिणीम् । २. अपायरहिताम् ।

सुमेधोभिः पुरा गीतं पुराणं यन्महात्मभिः । तन्मया शान्तिनाथस्य यथाशक्ति प्रवक्ष्यते ॥४॥
सर्वज्ञस्यापि चेद्वाक्यं नाभव्येभ्योऽभिरोचते । प्रबोधोपहृतः कोऽन्यो ब्रूयात्सर्वमनोरमम् ॥५॥
न कवित्वाभिमानेन न वेलागमनेन वा । मयैतत्कथ्यते किन्तु तद्भक्तिप्रह्वचेतसा ॥६॥
अथास्ति सकलद्वीपमध्यस्थोऽपि स्वशोभया । द्वीपानामुपरीवोच्चैर्जम्बूद्वीपो व्यवस्थितः ॥७॥
तत्र पूर्वविदेहानामस्त्यपूर्वो विशेषकः । सीतादक्षिणतीरस्थो विषयो[1] वत्सकावती ॥८॥
अन्तरार्द्रा[2] विराजन्ते [3]सुमनःस्थितिशालिनः । पादपा यत्र सन्तश्च [4]स्वफलप्रीणितार्थिनः ॥९॥
दृश्यन्ते यत्र कान्तारे छायाव्याजेन तीरजाः । प्रविष्टा दावभीत्येव सरांसि शरणं लताः ॥१०॥
नानारत्नकराक्रान्तं यत्र धत्ते वनस्थलम् । इन्द्रायुधशतच्छन्न[5]प्रावृषेण्याम्बुदश्रियम् ॥११॥
प्रभवन्त्योऽवगाढानां [6]तृष्णां छेत्तुं शरीरिणाम् । सत्तीर्था[7] यत्र विद्यन्ते नद्यो विद्या इवामलाः ॥१२॥

शान्तिनाथ भगवान् का जो पुराण पहले अतिशय बुद्धिमान् महात्माओं के द्वारा कहा गया था वह मेरे द्वारा यथाशक्ति कहा जायगा ॥४॥ जब कि सर्वज्ञ का भी वचन अभव्यजीवों के लिये नहीं रुचता है तब अज्ञान से पीड़ित दूसरा कौन मनुष्य सर्वमनोहारी वचन कह सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥५॥ मेरे द्वारा यह पुराण न तो कवित्व के अभिमान से कहा जा रहा है और न समय व्यतीत करने के लिये । किन्तु शान्ति जिनेन्द्र की भक्ति से नम्रीभूत चित्त के द्वारा कहा जा रहा है ॥६॥

अथानन्तर समस्त द्वीपों के मध्य में स्थित होने पर भी जो अपनी शोभा से सब द्वीपों के ऊपर स्थित हुआ सा जान पड़ता है, ऐसा जम्बूद्वीप है ॥७॥ उस जम्बूद्वीप में सीता नदी के दक्षिण तट पर स्थित एक वत्सकावती नामका देश है जो पूर्व विदेहों का अपूर्व तिलक है ॥८॥ जिस देश में वृक्ष और सत्पुरुष समानरूप से सुशोभित होते हैं क्योंकि जिसप्रकार वृक्ष अन्तरार्द्र—भीतर से आर्द्र-गीले होते हैं उसीप्रकार सत्पुरुष भी अन्तरार्द्र—भीतर से दयालु थे । जिस प्रकार वृक्ष सुमनःस्थितिशाली—फूलों की स्थिति से सुशोभित होते हैं उसी प्रकार सत्पुरुष भी सुमनःस्थितिशाली—विद्वानों की स्थिति से सुशोभित थे और जिसप्रकार वृक्ष अपने फलों से इच्छुक जनों को संतुष्ट करते हैं उसी प्रकार सत्पुरुष भी अपने कार्यों से इच्छुक जनों को संतुष्ट करते थे ॥९॥ जिस देशके वन में तटपर उत्पन्न हुई लताएं प्रतिबिम्ब के बहाने ऐसी दिखाई देती हैं मानों दावानलके भय से सरोवरों की शरण में प्रविष्ट हुई हों ॥१०॥ जहाँ नाना रत्नों की किरणों से व्याप्त वन की भूमि सैकड़ों इन्द्रधनुषों से व्याप्त वर्षाकालीन मेघ की शोभा को धारण करती है ॥११॥ जिस देश में विद्याओं के समान निर्मल नदियाँ विद्यमान हैं क्योंकि जिसप्रकार विद्याए अपने आप में प्रविष्ट—अपनी साधना करने वाले प्राणियों की तृष्णा-आकांक्षा को नष्ट करने में समर्थ होती हैं उसी प्रकार नदियां भी अपने भीतर प्रवेश करने वाले प्राणियों को तृष्णा-प्यास को नष्ट करने में समर्थ थीं और जिसप्रकार विद्याएँ सत्तीर्थ—समीचीन

---

१. देशः । २. अभ्यन्तरं अलीकभागेन क्लिन्नाः पक्षे अन्तःकरणे सकरुणाः । ३. पुष्पस्थितिशोभिनः पक्षे विद्वन्मर्यादाशोभिनः । ४. स्वफलैः जम्बूजम्बीरादिभिः पक्षे स्वकार्यैः प्रीणिताः तृप्तीकृता अर्थिनो यैस्तथाभूताः । ५ वर्षाकालसम्बन्धिमेघशोभाम् । ६ पिपासाम् पक्षे आशाम् । ७ समीचीनजलावतारसहिताः पक्षे सद्गुरुयुक्ताः ।

अच्छिन्नदानसन्ताना[1] चारुवंशा[2] [3]निरंकुशाः । वन्या[4] यत्र विराजन्ते [5]सुराजान इव द्विपाः ॥१३॥
ग्रामिकग्रामसन्नपुण्ड्रेक्षुक्षेत्रसंकटैः । यत्रोपशल्यकैर्ग्रामा दुःप्रवेशविनिर्गमाः ॥१४॥
शरद्घनौघसच्छायैर्गोधनैर्धवलीकृतम् । क्षीरोदस्येव वीचीभिर्यत्रारण्यं विराजते ॥१५॥
अनुल्लङ्घ्या महारत्नाः सुतीक्ष्णझषकोटयः । सागराननुकुर्वन्ति शैला यत्र [6]सविद्रुमाः ॥१६॥
नार्यो यत्र स्वसौन्दर्यैर्ह्रेपयन्ति सुरस्त्रियः । पुष्पेषोः[7] साधनीभूतैर्ललितैरपि विभ्रमैः ॥१७॥
विकाररहिता भूतिर्यौवनं विनयान्वितम् । श्रुतं प्रशमसंयुक्तं शौर्यं क्षान्त्या विभूषितम् ॥१८॥
सर्वः परोपकारार्थो धर्म्ये कर्मणि दक्षता । प्रयत्नपरता नित्यं व्रतशीलाभिरक्षणे ॥१९॥
स्वगुणाविष्कृतौ[8]* लज्जा सौहार्दं निर्व्यपेक्षितम् । दृश्यते चेष्टितं यस्मिन्नीदृशं वसतां सताम् ॥२०॥

(त्रिभिः कुलकम्)

गुरु से सहित होती हैं उसी प्रकार नदियां भी सत्तीर्थ—समीचीन जलावतारों—घाटों से सहित थीं ॥१२॥ जहां पर जंगली हाथी उत्तम राजाओं के समान सुशोभित होते हैं क्योंकि जिसप्रकार जंगली हाथी अच्छिन्नदानसंतान—मदकी अखण्ड धारा से युक्त होते हैं उसीप्रकार उत्तम राजा भी दान की अखण्ड धारा से सहित होते हैं । जिस प्रकार जंगली हाथी चारुवंश—पीठ की सुन्दर हड्डी से सहित होते हैं उसीप्रकार उत्तम राजा भी चारुवंश—सुन्दर अर्थात् निर्मल कुल से सहित होते हैं और जिस प्रकार जंगली हाथी निरंकुश—अंकुश के प्रहार से रहित होते हैं उसीप्रकार उत्तम राजा भी निरंकुश—दूसरों के प्रतिबंध से रहित होते हैं ॥१३॥ जिस देश में ग्रामों के समीपवर्ती प्रदेश, धान्य के खेतों से घिरे हुए निकटवर्ती प्रदेशों से युक्त पौंडा तथा ईख के खेतों से इतने अधिक सघनरूप से व्याप्त रहते हैं कि उनसे ग्रामों में प्रवेश करना और निकलना कष्टसाध्य होता है ॥१४॥ जहां पर शरद् ऋतु के मेघों के आकार गोधन से सफेदी को प्राप्त हुआ वन ऐसा सुशोभित होता है मानों क्षीरसमुद्र के ज्वारभाटों से ही सुशोभित हो रहा हो ॥१५॥ जहां पर पर्वत, समुद्रों का अनुकरण करते हैं क्योंकि जिसप्रकार पर्वत अनुल्लङ्घनीय होते हैं उसीप्रकार समुद्र भी अनुल्लङ्घनीय होते हैं । जिसप्रकार पर्वत महारत्न—बड़े बड़े रत्नों से युक्त होते हैं उसीप्रकार समुद्र भी महारत्न—बड़े बड़े रत्नों से युक्त होते हैं । जिसप्रकार पर्वत सुतीक्ष्णझषकोटि*—अत्यंत तीक्ष्ण संताप की संतति से युक्त होते हैं उसी प्रकार समुद्र भी अत्यन्त क्रूर करोड़ों मगरमच्छों से सहित होते हैं और जिसप्रकार पर्वत सविद्रुम—विविध प्रकार के वृक्षों से सहित होते हैं उसी प्रकार समुद्र भी सविद्रुम—मूंगाओं से सहित होते हैं ॥१६॥ जहां पर स्त्रियां अपने सौन्दर्य के द्वारा तथा कामदेव के साधनभूत अर्थात् काम को प्रज्वलित करने वाले हावभाव विलासों के द्वारा भी देवाङ्गनाओं को लज्जित करती हैं ॥१७॥ विकार से रहित सम्पत्ति, विनय से सहित यौवन, प्रशमगुण से युक्त शास्त्र, क्षान्ति से विभूषित शूर वीरता, परोपकार-

---

१. अखण्डदानसन्ततयः पक्षेऽविरलस्रवन्मदसन्ततयः । २. शोभनकुलाः पक्षे शोभनपृष्ठास्थियुक्ताः । ३. स्वतन्त्राः पक्षे सृणिप्रहाररहिताः । ४. वनेभवाः । ५. सुनृपा । ६. प्रवालसहिताः पक्षे विविधवृक्षयुक्ताः । ७ मदनस्य । ८ स्वगुणप्रकटीकरणे । *सुगुणा वि:कृतौ ब. ।

* 'झषा नागबलायां स्त्री तापमत्स्याटवीषु ना' इति मेदिनी ।

अस्ति लक्ष्मीवतां धाम पुरी यत्र प्रभाकरी । प्रभाकरी[1] प्रभा यस्यां पताकाभिर्निरुध्यते ॥२१॥
यस्यां [2]नाकालयाः सौधैर्निर्जिता नैव केवलम् । महानुभावताधारैः पौरैरपि [3]सुमनसः ॥२२॥
[4]निष्कुटेष्वालवालाम्बुनिमित्तप्रतिबिम्बकैः । पल्लवा[5] इव लक्ष्यन्ते यत्र मूलेष्वपि द्रुमाः ॥२३॥
सौधोत्सङ्गा विराजन्ते राजीवैः संचरिष्णुभिः । यस्यां कृतोपहारैर्वा जंगमैरसितोत्पलैः ॥२४॥
रत्नकुड्येषु संक्रान्तसंचरज्जनमूर्तिभिः । आलेख्यैरिव सप्राणैर्भान्ति यत्र सभालयाः ॥२५॥
[6]अन्तःस्थविबुधैर्यस्यां हाटकामलसारकैः । रम्याः शृङ्गाटका जैनैर्मन्दरैरिव[7] मन्दिरैः ॥२६॥
त्रिलोकीसारसंदोहमेकीकृत्य विनिर्मिताः । धात्रा यदङ्गना नूनं द्रष्टुं स्वमिव कौशलम् ॥२७॥
संचारदीपिका यस्यां भवन्त्याभरणप्रभाः । ※प्रियावासं प्रयान्तीनां नक्तं कृष्णेऽपि योषिताम् ॥२८॥

रूप प्रयोजन से युक्त धन, धार्मिक कार्य में निपुणता, व्रत और शील की रक्षा करने में निरन्तर तत्परता, अपने गुणोंके प्रकट करने में लज्जा और निःस्पृह मित्रता; जहां निवास करने वाले सत्पुरुषों की ऐसी चेष्टा देखी जाती है ॥१८-२०॥

जिस वत्सकावती देश में धनाढ्य पुरुषो के स्थान स्वरूप प्रभाकरी नामकी वह नगरी विद्यमान है जिसमें सूर्य को प्रभा पताकाओं से रुकती रहती है ॥२१॥ जिस नगरी में भवनों के द्वारा न केवल स्वर्ग के भवन जीते गये थे किन्तु महानुभावता—सज्जनता के आधारभूत नगरवासियों के द्वारा देव भी जीते गये थे ॥२२॥ जहाँ घर के बाग बगीचों में क्यारियों के जल में पड़े हुए प्रतिबिम्बों से वृक्ष ऐसे दिखाई देते हैं मानों जड़ में भी वे पत्तों से युक्त हों ॥२३॥ जहां भवनों के मध्यभाग चलते फिरते लाल कमलों से अथवा उपहार में चढ़ाये हुए चलते फिरते नीलकमलों से सुशोभित रहते हैं ॥२४॥ जहाँ के सभागृह रत्नमयी दीवालों में प्रतिबिम्बित होने वाले चलते फिरते मनुष्यों के शरीरों से ऐसे सुशोभित होते हैं मानों सजीव चित्रोंसे ही युक्त हों ॥२५॥ जहाँ के त्रिराहे जिन जैनमन्दिरों से सुशोभित हो रहे थे वे सुमेरुपर्वत के समान थे । क्योंकि जिसप्रकार सुमेरुपर्वत अन्तःस्थविबुध—भीतरस्थित रहने वाले देवों से युक्त होते हैं उसीप्रकार जैनमंदिर भी अन्तःस्थविबुध—भीतर स्थिर रहने वाले विद्वानों से युक्त थे और जिसप्रकार सुमेरुपर्वत सुवर्णरूप निर्मल सारभूत द्रव्य से युक्त होते हैं उसीप्रकार जिनमन्दिर भी सुवर्ण के समान निर्मल ※द्रव्यों से युक्त थे ॥२६॥ जिस नगरी की स्त्रियां ऐसी जान पड़ती हैं मानों अपनी चतुराई देखने के लिये ब्रह्मा ने उन्हें तीन लोक की श्रेष्ठ वस्तुओं के समूह को एकत्रित कर बनाया था ॥२७॥ जिस नगरी में अंधेरी रात्रि में भी पति के घर जाने वाली स्त्रियों के अपने आभूषणों की कान्तियां चलती फिरती दीपिकाएं होती हैं ॥२८॥

---

१. सूर्यसम्बन्धिनी । २. स्वर्गगृहाः । ३. देवाः । ४. गृहारामेषु । ५. पत्रयुक्ताः । ६. अन्तःस्थदेवैः पक्षे अन्तःस्थविद्वद्भिः । ७ मेरुभिरिव ।

※प्रियावास ब० ।

※'सारः स्थान्मज्जनि बले स्थिरांशेऽपि पुमानयम् । सारं न्याय्ये जले वित्ते सार स्याद्वाच्यवद्वरे ॥' इति विश्वलोचनः ।

सुश्लिष्टसन्धिबन्धाङ्गैः[1] प्रसन्नामल[2]वृत्तिभिः । पौरैरापणमार्गस्थैर्या स्थिता नाटकैरिव ॥२९॥
नानामुक्ताप्रवालादिरत्नपूर्णापणश्रियम् । यस्यां वीक्ष्य धनेशोऽपि स्वां भूतिमवमन्यते ॥३०॥
अभूत् पाता पुरस्तस्या राजा स्तिमितसागरः । सागरः [3]स्तिमितो येन गाम्भीर्येण पराजितः ॥३१॥
सत्यत्यागाभिमानानां परां कोटिमधिष्ठितः । यस्तदाधारभूतोऽपि चित्रमेतद्विचेष्टितम् ॥३२॥
सन्नप्यन्यायशब्दोऽसौ लुप्तो येन बलात् क्षितौ । इतीयानेव यस्यासीदन्यायो न्यायशालिनि ॥३३॥
यस्य श्रुताधिकस्यापि नित्योद्योगः श्रुतेऽभवत् । न हि सन्तोषमायान्ति गुणिनोऽपि गुणार्जने ॥३४॥
परैस्तु दुःसहं बिभ्रत्प्रतापमपि भूमिपैः । यः स्वपादजुषां तृष्णां [4]निरासेन्दुरिवापरः ॥३५॥
यत्प्रज्ञा तनुते नीतिं नीतिः पाति धरां धरा । [5]दुग्धे वस्तूनि तैर्येन सर्वे*तीप्स्याः प्रसाधिताः ॥३६॥

जो नगरी नाटकों के समान दिखने वाले नगर वासियों से युक्त थी । क्योंकि जिसप्रकार नाटक सुश्लिष्ट सन्धिबन्धाङ्ग—यथा स्थान विनिविष्ट मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति इन पांच सन्धियों तथा उनके चौंसठ अङ्गोंसे सहित होते हैं उसीप्रकार नगरवासी भी सुश्लिष्ट—अच्छी तरह सम्बन्ध को प्राप्त सन्धिबन्धों—अंगोपाङ्गों के जोड़ो से युक्त शरीरों से सहित थे । जिसप्रकार नाटक प्रसन्नामलवृत्ति—प्रसाद गुण से युक्त निर्मल कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती इन चार वृत्तियों से युक्त होते हैं उसीप्रकार नगरवासी भी प्रसन्नामलवृत्ति—प्रसन्न और निर्दोष व्यवहार से युक्त थे तथा जिसप्रकार नाटक आपणमार्गस्थ—बाजार के मार्ग में स्थित होते हैं—प्रचार के लिये आवागमन के स्थानों पर नियोजित किये जाते हैं उसीप्रकार नगरवासी भी बाजार के मार्गों में स्थित रहते थे—सम्पन्न होने के कारण अच्छे स्थानों पर निवास करते थे ॥२९॥ जहां नाना प्रकार के मोती मूंगा आदि रत्नों से परिपूर्ण बाजार की शोभा को देख कर कुबेर भी अपनी विभूति को तुच्छ समझने लगता है ॥३०॥ उस नगर का रक्षक राजा वह स्तिमित सागर था जिसने गाम्भीर्य गुण के द्वारा निश्चल समुद्र को पराजित कर दिया ॥३१॥ जो राजा सत्य, त्याग और अभिमान का आधारभूत होता हुआ भी उनकी अन्य कोटी को प्राप्त था, यह एक आश्चर्य कारी चेष्टा थी । परिहार पक्ष में सत्य त्याग और अभिमान की उत्कृष्ट सीमा को प्राप्त था ॥३२॥ न्याय से सुशोभित रहने वाले जिस राजा में इतना ही अन्याय था कि उसने यद्यपि अन्याय शब्द विद्यमान था फिर भी उसे पृथिवी पर बल पूर्वक लुप्त कर दिया था । भावार्थ-उसने अन्याय शब्द को पृथिवी से जबरन नष्ट कर दिया था इतना ही उसका अन्याय था ॥३३॥ श्रुत—शास्त्रज्ञान से अधिक होने पर भी जिस राजा का श्रुत के विषय में निरन्तर उद्योग रहता था । यह ठीक ही है क्योंकि गुणी मनुष्य गुणों का संचय करने में संतोष को प्राप्त नहीं होते हैं ॥३४॥ अन्य राजाओं के द्वारा दुःख से सहन करने योग्य प्रताप को धारण करता हुआ भी जो राजा द्वितीय चन्द्रमा के समान अपने चरणों की सेवा करने वाले (पक्ष में अपनी किरणों की सेवा करने वाले) मनुष्यों की तृष्णा—लालसा (पक्ष में प्यास) को नष्ट करता था ॥३५॥ जिसकी बुद्धि नीति को विस्तृत करती थी, नीति पृथिवी का पालन करती थी और पृथिवी

---

१. सुष्ठुसन्धिबन्धोपशोभितशरीरैः पक्षे यथास्थानविनिवेशितगर्भादिपञ्चसन्धिस्थानैः । २. प्रसन्न निर्मलाचारैः पक्षे प्रसाद गुणोपेत निर्दोष कौशिकीप्रभृति वृत्तिसहितैः । ३. निश्चलः । ४. दूरीकरोति स्म । ५ प्रपूरयति ।
*सर्वं तीप्स्याः ब० ।

कृतापराधोऽपि वध्यस्य यः प्रहन्ति स्म न प्रभुः । दण्ड्ये महति वा क्षुद्रे शक्तस्यैव [1]क्षमा [2]क्षमा ॥३७॥
अनाथवत्सले यस्मिन् रक्षति क्षितिमक्षताम् । स्वप्नेऽपि शरणार्थिन्यः प्रजा नासन्महौजसि ॥३८॥
कृपालुः कृपया नूनं [3]आत्मकानपि यो गुणान् । निर्वासितारिभिः सार्धं मालोकान्तमजीगमत् ॥३९॥
स्वनिर्विशेषमालोक्य सद्भृत्येषु निवेशिताः । यस्यान्तरज्ञतां भर्तुः व्यापयन्ति स्म [4]भूतयः ॥४०॥
अथ तस्य प्रजेशस्य प्रजाक्षेमविधायिनः । बभूवतुरुभे जाये [5]सत्याचारविभूषिते ॥४१॥
आसीद्वसुन्धरा[6] पूर्वा क्षान्त्या [7]जितवसुन्धरा । अन्या [8]वसुमतीनाम्ना [9]त्रपावसुमती सती ॥४२॥
नीत्या लक्ष्म्या च भूपालो नैवारमत केवलम् । ताभ्यामपि यथाकालं मनोज्ञाभ्यां मनोरमः ॥४३॥
अजायत वसुन्धर्याः सूनुर्नाम्नाऽपराजितः । कदाचिदपि युद्धेषु यः परैर्न पराजितः ॥४४॥
कुन्दगौरः प्रसन्नात्मा [10]वितन्वन्कुमुदायतिम् । जातमात्रोऽपि यश्चित्रं प्रवृद्धेन्दुरिवाभवत् ॥४५॥

वस्तुओं को पूर्ण करती थी इसप्रकार जिस राजा ने इन बुद्धि आदि के द्वारा सब सहाध्यायियों को अलंकृत किया था ॥३६॥ जो राजा अपराध करने पर भी वध्य पुरुष का घात नहीं करता था सो ठीक ही है क्योंकि दण्ड देने योग्य मनुष्य चाहे बड़ा हो चाहे छोटा, समर्थ मनुष्य की ही क्षमा क्षमा कहलाती है ॥३७॥ अनाथ वत्सल तथा महाप्रतापी जिस राजा के समस्त पृथिवी की रक्षा करने पर प्रजा स्वप्न में भी शरणार्थिनी—शरण की इच्छुक नहीं थी। भावार्थ—उस राजा के राज्य में प्रजा निर्भय होकर निवास करती थी। कोई किसी से भयभीत होकर किसी की शरण में नहीं जाता था ॥३८॥ जान पड़ता है जिस राजा ने दया प्रकट करने के लिये अपने प्रिय गुणों को भी निर्वासित शत्रुओं के साथ लोक के अन्त तक भेज दिया था ॥३९॥ अपने समान देखकर समीचीन सेवकों में प्रदान की हुई सपदाएँ जिस राजा की अन्तरज्ञता को प्रकट करती थीं। भावार्थ—वह राजा सत् और असत् सेवकों के अन्तर को जानता था इसलिये सत् सेवकों को अपने समान समझ कर खूब सम्पत्ति देता था ॥४०॥ अथानन्तर प्रजा का कल्याण करने वाले उस राजा की सती—शीलवती स्त्री के आचार से विभूषित दो स्त्रियां थीं ॥४१॥ उनमें पहली स्त्री वसुन्धरा थी जिसने क्षमा के द्वारा पृथिवी को जीत लिया था और दूसरी स्त्री वसुमती नामकी थी जो पातिव्रत्य धर्म से युक्त तथा लज्जा रूपी धन से सहित थी ॥४२॥ मनोहर राजा, न केवल नीति और लक्ष्मी के साथ रमण करता था किन्तु उन सुन्दर दोनों स्त्रियों के साथ भी यथा समय रमण करता था ॥४३॥ महादेवी वसुन्धरा के अपराजित नामका पुत्र हुआ जो युद्धों में कभी भी शत्रुओं के द्वारा पराजित नहीं होता था ॥४४॥ बड़े आश्चर्य की बात थी कि जो अपराजित उत्पन्न होते ही पूर्णचन्द्रमा के समान था। क्योंकि जिसप्रकार पूर्णचन्द्रमा कुन्द के समान गौरवर्ण होता है उसीप्रकार वह अपराजित भी कुन्द के समान गौरवर्ण था। जिसप्रकार पूर्णचन्द्रमा प्रसन्नात्मा—निर्मल होता है उसीप्रकार वह अपराजित भी प्रसन्नात्मा—आह्लादयुक्त था और जिसप्रकार पूर्णचन्द्रमा कुमुदायति—कुमुदों के उत्तर काल को

---

१. क्षान्तिः । २. युक्ता । ३ प्रियानपि । ४. संपदः । ५. सत्याः शीलवत्या आचारेण विभूषिते । ६ वसुन्धरानाम्नी । ७. पराजितवसुधा । ८. वसुमती नाम्नी । ९. लज्जाधनयुक्ता । १०. कुमुदानां कैरवाणामायतिं पक्षे कुः पृथिवी तस्या मुदो हर्षस्यायतिं वृद्धिम् ।

दुःसहेन प्रतापेन सहजेन समन्वितः । शारदार्क इव [1]श्रीमान्योऽभूत्पद्माभिवृद्धये ॥४६॥
निसर्गसरलैः कान्तैः [2]प्रतीकैर्न केवलम् । गुणैरपि गुणज्ञेन [3]येनातिशयितः पिता ॥४७॥
प्राक् [4]कुशाग्रीयया बुद्ध्या कीर्त्या यस्येन्दुशुभ्रया* । [5]इयत्ता राजविद्यानां दिशां च परिचिच्छिदे ॥४८॥
सहजैव दया यस्य नीतिमार्गविदोऽप्यभूत् । स्वभ्यस्तेनापि शास्त्रेण न स्वभावोऽपनीयते ॥४९॥
सद्वृत्तमखिलं[6] यस्मिन्नेकीभूय महात्मनि । आस्तावकाशमन्येषु क्षुद्रेष्वप्राप्य वासितुम् ॥५०॥
एक एव [7]महासत्त्वो गुणानां धाम योऽभवत् । निर्मलानामनन्तानां रत्नानामिव सागरः ॥५१॥
यद्भुजोद्भूतदुर्वारप्रतापानलतापितम् । अपि चित्रं[8]निरूष्मासीद्विपक्षीभूतराजकम् ॥५२॥
लक्ष्मीकरेणुकालानस्तम्भो यस्य न दक्षिणः । भुजोऽराजत् क्षितेरुच्चैरक्षाशालायितायतिः ॥५३॥
अनेकपपतिर्भूत्वा मदलीलाविवर्जितः* । रराज राजसिंहो यः क्षान्त्यालंकृतविक्रमः ॥५४॥

विस्तृत करता है उसीप्रकार वह अपराजित भी कुमुदायति—पृथिवी के हर्ष की वृद्धि को विस्तृत करने वाला था ॥४५॥ दुःसह तथा सहज प्रताप से सहित जो अपराजित शरद ऋतु के सूर्य के समान शोभायमान होता हुआ पद्माभिवृद्धि—लक्ष्मी की वृद्धि के लिये (पक्षमें कमलों की वृद्धि के लिये) था ॥४६॥ जिस गुणज्ञ अपराजित ने, न केवल स्वभाव से सरल और सुन्दर अवयवों के द्वारा पिता को अतिक्रान्त किया था किन्तु गुणों के द्वारा भी अतिक्रान्त किया था । भावार्थ—अपराजित, शरीर और गुण—दोनों के द्वारा पिता से श्रेष्ठ था ॥४७॥ जिसकी कुशाग्र के समान तीक्ष्ण बुद्धि से राज विद्याओं की और चन्द्रमा के समान धवल कीर्ति के द्वारा दिशाओं की मर्यादा जान ली गयी थी । भावार्थ—वह अपनी बुद्धि से राजविद्याओं का पूर्ण ज्ञाता था तथा उसका निर्मल यश समस्त दिशाओं में छाया हुआ था ॥४८॥ नीतिमार्ग का जानकार होने पर भी जिसकी दया सहज—जन्मजात ही थी सो ठीक ही है क्योंकि अच्छी तरह अभ्यास किये हुए शास्त्र के द्वारा भी स्वभाव दूर नहीं किया जा सकता है । भावार्थ—राजनीति उसकी स्वाभाविक दया को नष्ट नहीं कर सकी थी ॥४९॥ सम्पूर्ण सदाचार अन्य क्षुद्र पुरुषों में रहने के लिये अवकाश न पाकर जिस महान् आत्मा में ही एकत्रित होकर निवास कर रहा था ॥५०॥ जिसप्रकार महासत्त्व—बड़े बड़े जलजन्तुओं से युक्त समुद्र अकेला ही अनन्त निर्मल रत्नोंका स्थान होता है उसीप्रकार महासत्त्व—महापराक्रमी अपराजित अकेला ही अनन्त निर्मल गुणों का स्थान था ॥५१॥ जिसकी भुजाओं से उत्पन्न दुर्वार प्रतापरूपी अग्नि से तपाया हुआ भी शत्रु राजाओं का समूह गर्मी से रहित था, यह आश्चर्य की बात थी (पक्ष में अहंकार से रहित था) ॥५२॥ जो लक्ष्मीरूपी हस्तिनी के बांधने के खम्भा के समान था तथा जिसकी लम्बाई पृथिवी के उत्कृष्ट रक्षाभवन के समान थी ऐसी उसकी भुजा क्या शोभायमान नहीं हो रही थी ? ॥५३॥ जो गजराज होकर भी मद की शोभा से रहित था (पक्ष में अनेक हाथियों का स्वामी होकर भी गर्व की लीला से रहित था) तथा जो राजसिंह—श्रेष्ठसिंह होकर भी शान्ति से सुशोभित पराक्रम से युक्त था (पक्ष में श्रेष्ठ राजा होकर भी जो क्षमा से विभूषित पराक्रम से युक्त था) ॥५४॥

---

१. लक्ष्मी वृद्धये पक्षेकमल वृद्धये २. अवयवैः ३. अतिक्रान्तः ४. कुशाग्रवत्तीक्ष्णया *शुद्धया च । ५. सीमा ६ सदाचारः ७ महापराक्रमः पक्षे विशालजन्तुसहितः, ८. ऊष्मणा रहितम् पक्षे गर्वेण रहितम् *विराजित म० ब० ।

ततो वसुमती सूनुमसूत सुतशालिनी । *यस्मिन्न स्वयमेवासीज्जाते राजापि सुप्रजाः[1] ॥५५॥
अनन्तवीर्यो नाम्नैव नाभूद् भूरिपराक्रमः । यः [2]समुन्मीलिताशेषभूभृद्वंशेन चौजसा ॥५६॥
पालयिष्यति मे बाहुर्दक्षिणः सकलां धराम् । इत्यमंस्त य। सैन्यं [3]पृथुकोऽपि विभूतये ॥५७॥
अधःस्थितस्य लोकानां भोगीन्द्रत्वं कथं भवेत् । अहीनां भर्तुरित्युच्चैर्यो बभाषेऽभिमानतः ॥५८॥
उपायेषु[4] मतो दण्डश्चण्डविक्रमशालिनः । आसीद्वीररसो यस्य रसेषु सकलेषु च ॥५९॥
स्वरूपालोकनायैव वीरलक्ष्म्या [5]सलक्षणः । स्वयं वा निर्मितो नूनं तादृशो मणिदर्पणः ॥६०॥
एकान्तशौर्यशौण्डीर्यश्लाघागर्वितचेतसः । बालक्रीडाऽभवद्यस्य पञ्जरस्थैर्मृगाधिपैः ॥६१॥
शरन्नभस्तलश्यामो यः प्रांशुः शुशुभे परम् । इन्द्रनीलमयो लक्ष्म्याः प्रासाद इव जंगमः ॥६२॥
अभून्नैसर्गिकी प्रीतिस्तयोर्भेदविवर्जिता । यदन्यभवसम्बन्धं ब्रुवाणेवाक्षरैर्विना ॥६३॥

तदनन्तर राजा स्तिमितसागर की दूसरी रानी वसुमती ने पुत्र उत्पन्न किया। जिसके उत्पन्न होने पर न केवल रानी वसुमती, स्वयं ही पुत्र से सुशोभित हुई थी किन्तु राजा भी सुप्रजा—उत्तम संतान से युक्त हुए थे ॥५५॥ विशाल पराक्रम का धारी जो पुत्र नाम से ही अनन्तवीर्य नहीं हुआ था किन्तु समस्त राजवंशों को उखाड़ देने वाले तेज के द्वारा भी अनन्तवीर्य हुआ था ॥५६॥ 'मेरी दक्षिण भुजा ही समस्त पृथिवी का पालन करेगी' इस अभिप्राय से जो बालक होता हुआ भी सेना को विभूति के लिये ही मानता था। भावार्थ—उसे अपने बाहुबल पर विश्वास था सेना को तो वह मात्र वैभव का कारण मानता था ॥५७॥ लोकों के नीचे रहने वाले नागेन्द्र के भोगीन्द्रपन कैसे हो सकता है ? इस प्रकार जो अभिमान वश जोर जोर से कहा करता था। भावार्थ—शेषनाग तो तीनों लोकों के नीचे रहता है अतः वह भोगीन्द्र—भोगी पुरुषों का इन्द्र (पक्ष में नागों का इन्द्र) कैसे हो सकता है ? भोगीन्द्र तो मैं हूँ जो लोकों के ऊपर रहता हूँ इस प्रकार वह अभिमान वश जोर देकर कहा करता था। ५८॥ उग्र पराक्रम से सुशोभित होने वाले जिस अनन्त वीर्य को साम आदि चार उपायों में दण्ड उपाय ही अच्छा लगता था और समस्त रसों में वीर रस ही इष्ट था ॥५९॥ ऐसा जान पड़ता था मानों अपना रूप देखने के लिये वीर लक्ष्मी ने उत्तम लक्षणों से सहित उसप्रकार का मणिमय स्वयं ही निर्मित किया था। भावार्थ—वह अनन्तवीर्य, वीरलक्ष्मी का स्वरूप देखने के लिये मानों स्वनिर्मित मणिमय दर्पण ही था ॥६०॥ एकान्त शूरता, शौण्डीरता तथा प्रशंसा से जिसका चित्त अहंकार से युक्त हो रहा है ऐसे जिस अनन्तवीर्य की बाल क्रीडा पिंजड़ों में स्थित सिंहों के साथ हुआ करती थी ॥६१॥ शरद् ऋतु के आकाशतल के समान श्याम वर्ण, पूरे ऊंचे शरीर को धारण करने वाला जो अनन्त वीर्य, लक्ष्मी के इन्द्रनीलमणि निर्मित चलते फिरते महल के समान अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥६२॥ अपराजित और अनन्तवीर्य में भेद से रहित स्वाभाविक प्रीति थी क्योंकि वह अक्षरों के बिना अन्यभव के सम्बन्ध को मानों कह रही थी ॥६३॥

---

*यस्मिन्नेव ब०। १. शोभनसन्तानयुक्तः २. समुन्मीलिताः समुत्पाटिता अशेषभूभृतां निखिलनृपाणां पक्षे सकल शैलानां वंशाः कुलानि पक्षे वेणवो येन तेन ३. बालकोऽपि सन् ४. सामादिषु ५. शोभन लक्षण सहितः।

प्रसन्नदुर्निरीक्ष्याभ्यां ताभ्यां रेजे स भूपतिः । पूर्णेन्दुभास्करोपेतः पूर्वाचल इवापरः ॥६४॥
अन्यदैत्य[1] सभान्तःस्थं प्रतीहारनिवेदितः । वनपालः प्रणम्यैवं वचो राजानमब्रवीत् ॥६५॥
आस्ते स्वयंप्रभो नाम्ना जिनेन्द्रस्त्रिदशैः समम् । उद्याने भगवांस्तत्र [2]पुष्पिते [3]पुष्पसागरे ॥६६॥
एवमुक्तवते तस्मै दत्त्वासौ पारितोषिकम् । राजा समभ्यगात्तं तु पौरैः सह ससैनिकः ॥६७॥
मानस्तम्भान् विलोक्यार्च्यान् दूरादुत्तीर्य यानतः । राजलक्ष्म्याऽविशद्राजा [4]ससूनुः प्राञ्जलिः सभाम् ॥६८॥
त्रिःपरीत्य तमीशानं [5]सार्वीयं❀ सर्वतोमुखम् । ववन्दे भक्तिशुद्धात्मा स्वं नामाख्याय [6]वेद्यवित् ॥६९॥
धर्मं श्रुत्वा ततः सम्यक् पौरुषेयार्थसाधनम् । प्राव्राजीत्तनये❀ ज्येष्ठे लक्ष्मीं विन्यस्य भूपतिः ॥७०॥
आलोक्य तत्सभान्तःस्थं धरणेन्द्रं महर्द्धिकम् । अज्ञातमार्गसद्भावो निदानमकरोच्च सः ॥७१॥
जाततत्त्वरुचिः साक्षात्तत्राणुव्रतपञ्चकम् । भव्यतानुगृहीतत्वादग्रहीदपराजितः ॥७२॥
हृदयेऽनन्तवीर्यस्य वाक्यं तीर्थकृतोऽपि तत् । नायोग्यत्वात्पदं लेभे पद्मे [7]शोचिरिवैन्दवम्[8] ॥७३॥

प्रसन्न तथा कठिनाई से देखने योग्य उन दोनों पुत्रों से राजा स्तिमितसागर, चन्द्रमा और सूर्य से युक्त दूसरे पूर्वाचल के समान सुशोभित हो रहा था ॥६४॥

किसी समय प्रतीहार-द्वारपाल ने जिसकी सूचना दी थी ऐसे, वनपाल ने आकर सभा के भीतर बैठे हुए राजा को प्रणाम कर इसप्रकार के वचन कहे ॥६५॥ जिसमें शीघ्र ही षड् ऋतुओं के पुष्प लग गये हैं ऐसे पुष्प सागर नामक उद्यान में भगवान् स्वयंप्रभ जिनेन्द्र देवों के साथ विद्यमान हैं ॥६६॥ इसप्रकार कहने वाले वनपाल के लिये पारितोषिक देकर राजा उन जिनेन्द्र को नमस्कार करने हेतु नगरवासी तथा सैनिकों के साथ उनके सन्मुख गया ॥६७॥ पूजनीय मानस्तम्भों को दूर से देख कर राजा वाहन से उतर पड़ा और पुत्रों सहित उसने हाथ जोड़ कर राज लक्ष्मी के साथ सभा में प्रवेश किया ॥६८॥ जिसकी आत्मा भक्ति से शुद्ध थी तथा जो जानने योग्य कार्यों को जानता था ऐसे राजा ने सर्व हितकारी उन चतुरानन स्वयंप्रभ जिनेन्द्र की तीन प्रदक्षिणाएं दीं और अपना नाम प्रकट कर उन्हें नमस्कार किया ॥६९॥ तदनन्तर राजा ने पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले धर्म को अच्छी तरह सुन कर तथा ज्येष्ठ पुत्र को राज्य लक्ष्मी सौंपकर दीक्षा ले ली ॥७०॥ जैन मार्ग के उत्तम भाव को न जानने वाले स्तिमितसागर मुनिराज ने समवसरण के भीतर स्थित महान् ऋद्धियों के धारक धरणेन्द्र को देखकर निदान बन्ध कर लिया— मैं तपश्चरण के फलस्वरूप धरणेन्द्र होऊं ऐसा विचार किया ॥७१॥ जिसे तत्त्वों में श्रद्धा उत्पन्न हुई थी ऐसे अपराजित ने भव्यस्वभाव से अनुगृहीत होने के कारण वहां साक्षात् पांच अणुव्रत ग्रहण किये ॥७२॥

परन्तु अनन्तवीर्य के हृदयमें योग्यता न होनेसे तीर्थंकर भगवान् स्वयप्रभ जिनेन्द्र के भी वह वचन उसप्रकार स्थान नहीं प्राप्त कर सके जिसप्रकार कि चन्द्रमा की किरणें कमल में स्थान प्राप्त नहीं करती हैं ॥७३॥

---

१ अन्यदा एत्य इति सन्धिः २ पुष्पयुक्ते ३ एतन्नामधेये ४ सपुत्रः ५ सर्वहितकरम् ❀ सर्वीयं ब० ६ ज्ञेयज्ञः ❀ तनुजे ब० ७ किरणः ८ चन्द्रसम्बन्धी ।

भूयोभूयः प्रणम्येशं* त्रिःपरीत्यापराजितः । निरगात्सानुजस्तस्मादास्थानात्सह नागरैः ॥७४॥
बाह्यस्थं यानमारुह्य स प्राप नगरीं ततः । स्वामिप्रव्रजनोद्वेगाम्लानशोभासमन्विताम् ॥७५॥
निरानन्दजनोपेतं प्रविश्य नृपमन्दिरम् । सोद्वेगाः सकलाश्चाम्बाः प्रणम्याश्वासयत्स्वयम् ॥७६॥
यथानुरूपं [1]प्रकृतीः सर्वाः सम्मान्य राजवत् । [2]मौलैरनुगतोऽयासीद्धीरः* स्वभवनं शनैः ॥७७॥
तत्रामात्योपरोधेन सार्धं भ्रात्रा [3]यवीयसा । स वासरक्रियाः सर्वाः सालसं निरवर्तयत् ॥७८॥
अथैकदा नरेन्द्रौघैरभिषिक्तोऽपराजितः । वशी राज्यधुरं* भेजे क्रमेणैव न तृष्णया ॥७९॥
सिंहासनसितच्छत्रचामरैः स्वीकृतैरपि । युवराजः स एवासीद्भ्रात्रे दत्त्वाखिलां धराम् ॥८०॥
अदम्यमपि तं धुर्यं स्वद्वितीयं विधाय सः । आयासेन विना कृत्स्ना[4]मधत्त जगतो धुरम् ॥८१॥
अन्तःस्थाराति[5]षड्वर्गजयेन स यथा बभौ । न तथा शरणायातैः [6]परचक्रक्षितीश्वरैः ॥८२॥
अङ्गीकृतैर्यथास्थान[7]मुपायैरेव केवलम् । न व्यजेष्टातिदूरस्थं [8]परलोकं व्रतैरपि ॥८३॥

अपराजित, स्वयंप्रभ जिनेन्द्र को बार बार प्रणाम कर तथा तीन प्रदक्षिणाएं देकर भाई-अनन्तवीर्य तथा नागरिक जनों के साथ उस समवसरण सभा से बाहर निकला ॥७४॥ तदनन्तर बाहिर खड़े हुए वाहन पर सवार होकर वह राजा स्तिमितसागर के दीक्षा लेने सम्बन्धी उद्वेग से मन्दशोभा युक्त नगरी को प्राप्त हुआ । भावार्थ—राजा के दीक्षा लेने से नगरी में शोक छाया हुआ था अतः शोभा कम थी ॥७५॥ हर्ष रहित मनुष्यों से युक्त राज भवन में प्रवेश कर उसने उद्वेग से युक्त समस्त माताओं को प्रणाम पूर्वक स्वयं संबोधित किया ॥७६॥ समस्त प्रजाजनों का राजा के समान यथायोग्य सन्मान कर धीरवीर अपराजित धीरे धीरे अपने भवन की ओर गया । उस समय मन्त्री आदि मूल वर्ग उसके पीछे पीछे चल रहा था ॥७७॥ वहां मन्त्रियों के अनुरोध से उसने तरुण भाई अनन्तवीर्य के साथ अलसाये मन से दिन की समस्त क्रियाएं कीं ॥७८॥

तदनन्तर एक समय राजाओं के समूह द्वारा जिसका अभिषेक किया गया था ऐसे जितेन्द्रिय अपराजित ने वंश परम्परा के क्रम से ही राज्यभार को प्राप्त किया था तृष्णा से नहीं ॥७९॥ उसने यद्यपि सिंहासन, सफेद छत्र और चामरों को स्वीकृत किया था तथापि भाई-अनन्तवीर्य के लिये सम्पूर्ण पृथिवी प्रदान कर दी और स्वयं युवराज ही बना रहा ॥८०॥ यद्यपि राज्यभार को धारण करने वाला अनन्तवीर्य अदम्य था तथापि उसे अपने आपके द्वारा द्वितीय बनाकर—अपना अभिन्न सहायक बनाकर किसी खेद के बिना उसने जगत् के समस्त भार को धारण किया था ॥८१॥ भीतर स्थित काम क्रोध लोभ मोह मद और मात्सर्य इन छह अन्तरङ्ग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से वह जैसा सुशोभित हो रहा था वैसा शरण में आये हुए शत्रु पक्ष के राजाओं से सुशोभित नहीं हुआ ॥८२॥ यथा स्थान स्वीकृत किये हुए सामादि उपायों के द्वारा उसने न केवल अत्यन्त दूरवर्ती परलोक

---

* प्रणम्येन ब० [1] अमात्यप्रभृति जनान् [2] अमात्यादिमूलवर्गः *वीरः ब० [3] तरुणेन *धुरां ब० । [4] धारयामास [5] अन्तःस्थानामरातीनां रिपूणां षड्वर्गः—कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याणां षण्णां वर्गः तस्य जयेन [6] परराष्ट्रनृपतिभिः [7] सामादिभिः [8] शत्रुजनम् पक्षे नरकादिभवम् ।

शक्तित्रयवता¹ तेन बिभूतैकैकशक्तयः । समरे विजिताः शेषा नृपा इत्यत्र का कथा ॥८४॥
पञ्चाङ्गमन्त्रसंयुक्तो² निगृहीतेन्द्रियस्थितिः । आसीत्सिंहासनस्थोऽपि क्षमावानपरो मुनिः ॥८५॥
त्रियोपायप्रिये यस्मिन् क्ष्मां पाति फलितेऽभवत् । दुरारोहे तरावेव दण्डस्यागतिका गतिः ॥८६॥
सर्वग्रन्थे च संशय्य* नीतिशास्त्रविदोऽप्यलम् । तिष्ठते स्म सदाप्यस्मिन्नयमार्गः स मूर्तिमान् ॥८७॥
भ्राता सदर्पितोऽप्यासीत्तत्संसर्गेण नीतिमान् । श्रेयसे हि सदा योगः कस्य न स्यान्महात्मनाम् ॥८८॥
बिभ्राणौ तौ परां लक्ष्मीमविभक्तां विरेजतुः । एककल्पलताक्रान्तकल्पपादपसन्निभौ ॥८९॥
अन्यदाविदितः+ कश्चित्खेचरस्तौ विशांपती । प्रणिपत्याभितो वाग्मीमिति वक्तुं प्रचक्रमे ॥९०॥

—शत्रुसमूह को जीता था किन्तु यथास्थान स्वीकृत किये हुए व्रतों के द्वारा परलोक—नरकादि परलोक को भी जीत लिया था ॥८३॥ उत्साहशक्ति, मन्त्रशक्ति और प्रभुत्वशक्ति इन तीनशक्तियों से युक्त अपराजित ने एक एक शक्ति को धारण करने वाले शेष राजाओं को युद्ध में जीत लिया था इसमें क्या कहना है? भावार्थ—अपराजित उपर्युक्त तीन शक्तियों से सहित था जबकि शेष राजा एक शक्ति-शक्ति नामक एक ही शस्त्र को धारण कर रहे थे अत: उनका जीता जाना उचित ही था ॥८४॥ जो पञ्चाङ्ग—पांच महाव्रतरूपी मन्त्र से युक्त था (पक्ष में सहाय, साधन के उपाय, देशविभाग, कालविभाग और आपत्ति का प्रतिकार इन पाँच अङ्गों से सहित था) तथा जिसने इन्द्रियों की स्थिति को जीत लिया था ऐसा राजा अपराजित सिंहासन पर स्थित होता हुआ भी क्षमा-पृथिवी अथवा शान्ति से युक्त मानों दूसरा मुनि ही था ॥८५॥ साम, दान और भेद ये तीन उपाय ही जिसे प्रिय थे ऐसा अपराजित जब सफलता के साथ पृथिवी की रक्षा कर रहा था तब दण्ड—दण्ड नामक उपाय (पक्ष में फल तोड़ने के लिये फेंके गये डंडे) की गति अन्य उपाय न होने से दुरारोह—अत्यन्त ऊँचे वृक्ष पर ही हुयी थी । भावार्थ—जिस पर चढ़ना कठिन है ऐसे वृक्ष के फल तोड़ने के लिये जिस प्रकार दण्ड—डंडे का उपयोग किया जाता है उसीप्रकार जिसको साम आदि तीन उपायों के द्वारा जीतना संभव नहीं था उसीको जीतने के लिये अपराजित दण्ड—युद्ध नामक उपाय को अङ्गीकृत करता था ॥८६॥ नीतिशास्त्रके अच्छे ज्ञाता भी समस्त ग्रन्थों में संशय कर स्थित देखे जाते हैं परन्तु इस अपराजित में वह नीतिका मार्ग सदा मूर्तिमान् होकर स्थित रहता था । भावार्थ—नीति शास्त्र के बड़े बड़े ज्ञाता भी कदाचित् किसी शास्त्र में संशयापन्न देखे जाते हैं परन्तु वह अपराजित मानों नीति मार्ग की मूर्ति ही था अत: वह कभी भी संशयापन्न नहीं होता था ॥८७॥

यद्यपि उसका भाई अनन्तवीर्य, गर्व से युक्त था तथापि वह उसके संसर्ग से नीतिमान् हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि महात्माओं का सदा योग प्राप्त होना किसके कल्याण के लिये नहीं होता ? अर्थात् सभी के कल्याण के लिये होता है ॥८८॥ अविभक्त उत्कृष्ट लक्ष्मी को धारण करने वाले वे दोनों भाई एक कल्पलता से युक्त कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हो रहे थे ॥८९॥

किसी समय कोई अपरिचित विद्याधर आया और दोनों राजाओं—अपराजित और अनन्तवीर्य को बार बार प्रणाम कर इसप्रकार के वचन कहने लगा ॥९०॥ सार्थक नाम को धारण करने

---

१ उत्साहशक्तिर्मन्त्र शक्तिः प्रभुत्वशक्ति—एतच्छक्तित्रययुक्तेन २ 'सहायाः साधनोपायो विभागो देशकालयोः । विनिपात प्रतीकारः सिद्धि पञ्चाङ्गमिष्यते' ॥ * संसज्य ब० + अन्यदावेदितः ब० ।

चक्रवर्ती सभायामथो दमितारिः सदः स्थितः । नभसोऽवतरन्तं द्रागद्राक्षीन्नारदं मुनिम् ॥९१॥
स नाभ्येति भुवं यावत्तावदुत्थाय विष्टरात् । प्रणम्यायातमर्चित्वा क्रमात्पीठे न्यवीविशत् ॥९२॥
विश्रान्तं च तमप्राक्षीत्तदागमनकारणम् । ततोऽब्रवीन्मुनिः प्रीतः श्रीमन्नाकर्ण्यतामिति ॥९३॥
पुरी प्रभाकरी नाम्ना विदिता भवतोऽपि सा । भ्रातुर्विन्यस्य भूभारं शास्ति तामपराजितः ॥९४॥
अतीतेऽहनि तन्मूले गायतस्ते स्म गायिके । एका किरातिका नाम्ना परा बर्बरिकाभिधा ॥९५॥
आत्मवानपि भूपालस्तद्गीत्या विवशीकृतः । आयान्तं मां च नाद्राक्षीद्विषयी कः सचेतनः ॥९६॥
ततोऽहमागतो योग्ये संघटां गायिके च ते । तवैवोच्चरतोऽन्यन्मे मुनेर्वक्तुमसांप्रतम् ॥९७॥
एवमुक्त्वा गिरं तस्मिन्प्रयाते क्वापि नारदे । [1]निसृष्टार्थं तदर्थं मां [2]प्राहैषीत्स [3]त्वदन्तिकम् ॥९८॥
इत्यागमनमावेद्य ततः [4]सोऽभ्यर्णवर्तिनः । अमात्यस्य करे किञ्चित्समुद्रं[5] [6]प्राभृतं ददौ ॥९९॥
ततो राजा स्वयं दूतमावासाय विसर्ज्य तम् । मन्त्रिणा प्राभृते मुक्ते कृत्स्नां ज्योत्स्नां व्यलोकयत् ॥१००॥
तेनोद्धृतं पुरो हारं नीहारांशुमिवापरम् । अद्राक्षीत्सुचिरं मूर्तं यशोराशिमिवात्मनः ॥१०१॥

वाले दमितारि चक्रवर्ती सभा में बैठे हुए थे कि उन्होंने शीघ्र ही आकाश से उतरते हुए नारद मुनि को देखा ॥९१॥ वे जब तक पृथिवी पर नहीं आ पाये तब तक चक्रवर्ती ने आसन से उठ कर उन्हें प्रणाम किया । आने पर उनकी पूजा की और तदनन्तर क्रम से उन्हे आसन पर बैठाया ॥९२॥ जब नारद जी विश्राम कर चुके तब उनसे उनके आगमन का कारण पूछा । तदनन्तर नारदजी बड़ी प्रसन्नता से कहने लगे—हे श्रीमान् ! सुनिये—॥९३॥

एक प्रभाकरी नाम की नगरी है जो आपको भी विदित है । भाई के ऊपर पृथिवी का भार सौंपकर अपराजित उसका शासन करता है ॥९४॥ पिछले दिन उसके पास दो गायिकाए गा रहीं थीं । उनमें एक का नाम किरातिका था और दूसरी का नाम बर्बरिका ॥९५॥ राजा अपराजित जितेन्द्रिय होने पर भी उनके गायन से विवश हो गये इसलिये उन्होंने आते हुए मुझे नही देखा । ठीक ही है क्योंकि विषय की इच्छा रखने वाला कौन मनुष्य सचेतन रहता है—सुध बुध से युक्त होता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥९६॥ इसलिये मैं आया हूं । वे योग्य गायिकाएं तुम्हारी ही संगति को प्राप्त हों । इसके सिवाय मुझ मुनिका और कुछ कहना अनुचित है ॥९७॥ ऐसा कहकर जब नारदजी कहीं चले गये तब चक्रवर्ती दमितारि ने उन गायिकाओं के लिये मुझ दूत को आपके पास भेजा है ॥९८॥ इस प्रकार आने का समाचार कह कर उस दूतने निकटवर्ती मन्त्री के हाथ में कुछ मुहरबंद भेंट दी ॥९९॥

तदनन्तर राजा ने उस दूत को निवास करने के लिये स्वयं विदा किया और मन्त्री द्वारा मुहरबद भेंट के खोलने पर पूर्ण चांदनी को देखा । भावार्थ—मंत्री ने ज्योंही भेंट को खोला त्योंही पूर्ण चांदनी जैसा प्रकाश छा गया ॥१००॥ मन्त्री द्वारा उठा कर आगे रखे हुए हार को जो कि

---

१ प्रधानदूतं २ प्रेषितवान् ३ त्वत्समीपम् ४ निकटवर्तिनः ५ मुद्रा सहितं ६ उपहारम्

तमुद्वीक्ष्य ययौ मोहं स भ्रात्रा व्यजनादिभिः। सभ्यैर्व्यपोहितो मोहाद् भूयो जातिस्मरोऽभवत् ॥१०२॥
स्वपरस्य च सम्बन्धं स्मरतोर्नाम चात्मनः। प्राग्जन्माराधिता विद्याः प्रादुरासंस्तयोः पुरः ॥१०३॥

❋ शार्दूल विक्रीडितम् ❋

सामन्तान्निखिलान्तरङ्गसमितिं चोत्सार्य दौवारिकै-
र्मूर्च्छाहेतुमुदीरयेति सचिवैरुक्तः स चेत्यब्रवीत्।
मोहं खेचरहारतः प्रगतवानस्मात्तृतीये भवे
[1]प्राध्यायामिततेजसं स्वमतुलं विद्याधराणां पतिम् ॥१०४॥
स्वस्त्रीयोऽयमभूत्प्रसन्नविमलप्रज्ञान्वितो मत्पितु-
स्तत्र श्रीविजयो नृपोऽनुज इति व्याहृत्य तेषां पुरः।
राजेन्द्रः प्रयतो जिनेन्द्र[2]महिमां कृत्वा ततोऽर्घ्यं ददौ
विद्याभ्यः स्वपरोपकारचरितः सत्संपदां वृद्धये ॥१०५॥

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे श्रीमदपराजितविद्याप्रादुर्भावोनाम

प्रथमः सर्गः।

दूसरे चन्द्रमा के समान जान पड़ता था, राजा बहुत काल तक ऐसा देखता रहा मानों अपने यश की मूर्तिनन्त राशि को ही देख रहा हो ॥१०१॥ उस हार को देख कर राजा मोह को प्राप्त हो गया —मूर्च्छित हो गया। भाई तथा अन्य सभासदों ने जब पङ्खा आदि के द्वारा उसे मोह से दूर किया तब उसे पुनः जाति स्मरण हो गया ॥१०२॥ अपने और पर के सम्बन्ध तथा अपने नाम का स्मरण करते हुए उन दोनों के आगे पूर्वजन्म में आराधित विद्याएं प्रकट हो गयीं ॥१०३॥

द्वारपालों के द्वारा सामन्तों और समस्त अन्तरङ्ग समिति को दूर हटा कर मन्त्रियों ने राजा से कहा कि मूर्च्छा का कारण कहिये। राजा कहने लगा कि विद्याधर के हार से मुझे विदित हुआ कि मैं इस भव से तीसरे भव में अमिततेज नामका अनुपम विद्याधर-राजा था ॥१०४॥ प्रसन्न और निर्मल बुद्धि से सहित यह विद्याधर मेरे पिता का भानेज था और मेरा छोटा भाई अनन्तवीर्य वहां श्रीविजय नामका राजा था। इसप्रकार मन्त्रियों के आगे कह कर निज और परका उपकार करने वाले राजाधिराज अपराजित ने जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की। पश्चात् समीचीन सम्पदाओं की वृद्धि के लिये विद्याओं को अर्घ्य दिया ॥१०५॥

इसप्रकार महाकवि असगकवि की कृति शान्तिपुराण में श्रीमान् अपराजित राजा के विद्याएं प्रकट होने का वर्णन करने वाला प्रथम सर्ग समाप्त हुआ।

---

१ चिन्तयित्वा २ 'महिमा' इत्याकारान्तः स्त्रीलिङ्गः शब्दो वर्धमान चरितेऽपि कविना प्रयुक्तः।

द्वितीय सर्गः

卐

अथान्यदा यथाकालं भूमिपालः सहानुजः । मन्त्रशालां [1]विशालाक्षः प्राविशन्मन्त्रिभिः समम् ॥१॥
अध्यास्यासनमुत्तुङ्गं स्वचित्तमिव भूपतिः । अमीषां तद्यथावृद्धं ब्रूते स्मेति नयान्तरम् ॥२॥
गायिकाभ्यर्थनव्याजमनुप्रावोविशन्मयि । दमितारिः किमर्थं वा दूतं रत्नोपदान्वितम् ॥३॥
अत्यन्तगुप्तमन्त्रस्य संवृताङ्गेङ्गित[2]स्थितेः । [3]विधेरिव सुदुर्बोधं चेष्टितं नीतिशालिनः ॥४॥
याच्ञाभङ्गभयात्किं वा तेन रत्नमुपायनम् । ईदृशं प्रहितं लोके लोकज्ञो न हि तादृशः ॥५॥
नाधिगच्छति कार्यान्तं [4]सामदानविवर्जितः । समर्थोऽपि विना [5]दोर्भ्यां कस्तालमधिरोहति ॥६॥
तृणायापि[6] न मन्यन्ते [7]दानहीनं नरं जनाः । तृणार्थं वाहयन्त्युच्चैर्निर्दान[8]मिति* दन्तिनम् ॥७॥

द्वितीय सर्ग

अथानन्तर किसी समय विशाल लोचन तथा दीर्घदर्शी राजा ने छोटे भाई और मन्त्रियों के साथ यथा समय मन्त्रशाला में प्रवेश किया ॥१॥ अपने चित्त के समान उन्नत आसन पर बैठ कर राजा ने इन सब के आगे जो जैसा वृद्ध था तदनुसार इस अन्य नीति का कथन किया ॥२॥ गायिकाओं की याचना का बहाना लेकर दमितारि ने रत्नों की भेंट सहित दूत को मेरे पास किसलिये भेजा है ॥३॥ जिसका मन्त्र अत्यन्त गुप्त है तथा जिसके शरीर और हृदय की चेष्टा संवृत है—प्रकट नहीं है ऐसे उस नीतिज्ञ दमितारि की चेष्टा विधाता की चेष्टा के समान अत्यन्त दुर्ज्ञेय है—कठिनाई से जानने के योग्य है ॥४॥ अथवा याचना भङ्ग होने के भय से क्या उसने ऐसा रत्नों का उपहार भेजा है ? क्योंकि लोक में उसके समान दूसरा लोक व्यवहार का ज्ञाता नहीं है ॥५॥ साम और दान से रहित मनुष्य कार्य के अन्त को प्राप्त नहीं होता सो ठीक ही है क्योंकि समर्थ होने पर भी कौन मनुष्य भुजाओं के बिना ताड़ वृक्ष पर चढ़ सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥६॥ लोग दान रहित मनुष्य को

---

१ दीर्घलोचनः दूरदर्शी च २ इङ्गितं हृच्चेष्टितम् ३ विधातुर्दैवस्य वा ४ साम्ना दानेन च रहितः
५ बाहुभ्याम् ६ 'मन्यकर्मण्यनादरे' इति चतुर्थी ७ त्यागरहितम् ८ मदजलरहितम् 'मदो दानम्' इत्यपरः *दानमपि अ० ।

एतदुपायेन किं सोऽस्मान्स्वीकर्तुमभिवाञ्छति । उत विध्वंसयत्यन्तः प्रविश्य परमार्थतः ॥८॥
परं बिभेति बुद्धात्मा भूपस्याकस्मिकात्प्रियात् । अकालकुसुमोद्बुद्धात्तरोर्वा विक्रियात्मनः ॥९॥
मनस्यन्यद्वचस्यन्यदन्यदेव विचेष्टिते । असद्वृत्तं कलत्रे यज्जिगीषौ तत्प्रशस्यते ॥१०॥
किं [1]विधेयमतोऽस्माभिरत्रेति [2]विरते प्रभौ । अनुज्ञातो दृशा सभ्यैरभ्यधत्तेति [3]सन्मतिः ॥११॥
नीतिसारमुदाहृत्य [4]भवत्यवसिते नयम् । यो ब्रूयादपरः किञ्चित् स सर्वस्त्वत्प्रतिध्वनिः ॥१२॥
तथापि [5]प्रस्तुतस्यास्य वस्तुनो विस्तृतात्मनः । स्वरूपमात्रकं किञ्चित्कथञ्चित्कथ्यते मया ॥१३॥
पुरैवार्जिताशेषविद्याधरमहीभृतः । तस्य पश्चादभूच्चक्रं[6] पुनरुक्तमिव प्रभोः ॥१४॥

तृण भी नहीं मानते—तृण से भी तुच्छ समझने लगते हैं । देखो, दान—मद रहित ऊंचे हाथी को भी लोग तृण खाने के लिये चलाते हैं । भावार्थ—जिस प्रकार लोक में दानरहित—मदरहित हाथी की कोई प्रतिष्ठा नहीं है उसी प्रकार दान रहित—त्याग रहित मनुष्य की भी कोई प्रतिष्ठा नहीं है ॥७॥ इस उपहार रूप दान के बहाने क्या वह हम लोगों को स्वीकृत करना चाहता है—अपने अधीन बनाना चाहता है अथवा भीतर प्रवेश कर—हम लोगों में मिलकर परमार्थ से हमारा विध्वंस करना चाहता है ॥८। असमय में पुष्पित, विकार सूचक वृक्ष से जिसप्रकार ज्ञानी जीव अत्यंत भयभीत होता है उसी प्रकार राजा की आकस्मिक प्रसन्नता से ज्ञानी जीव अत्यंत भयभीत होता है ॥९॥ मन में अन्य, वचन में अन्य और चेष्टा में अन्य, इसप्रकार की जो प्रवृत्ति स्त्री में असदाचार कहलाती है वह जिगीषु राजा में प्रशंसनीय मानी जाती है । भावार्थ—स्त्री के मन में कुछ हो, वचन में कुछ हो और चेष्टा में कुछ हो तो वह स्त्री का दुराचार कहलाता है परन्तु विजिगीषु-जीत की इच्छा रखने वाले राजा के यह सब प्रशंसनीय आचार कहा जाता है ॥१०॥ इसलिये उसके विषय में हम लोगों को क्या करना चाहिये ? यह कह कर जब राजा अपराजित चुप हो रहे तब सभासदों द्वारा नेत्र से अनुज्ञा प्राप्त कर सन्मति मन्त्री इस प्रकार कहने लगा ॥११॥

नीति के सार स्वरूप नय का कथन कर आपके विश्रान्त होने पर जो कोई अन्य पुरुष कुछ कहना चाहता है वह सब आपकी ही प्रतिध्वनि होगी । भावार्थ—आप राजनीति का यथार्थ वर्णन कर चुके हैं अतः किसी अन्य मनुष्य का कथन आपके कथन के अनुरूप ही होगा ॥१२॥ फिर भी इस विस्तृत प्रकृत वस्तु का कुछ स्वरूप मात्र किसी तरह मेरे द्वारा कहा जाता है । भावार्थ—यद्यपि आपके कह चुकने के बाद मेरे कथन की आवश्यकता नहीं है तथापि चूं कि यह वस्तु बहुत विस्तृत है इसलिये इसको कुछ स्वरूप मात्र मैं किसी तरह कहता हूं ॥१३॥ जिसने पहले ही समस्त विद्याधर राजाओं को अपने अधीन कर लिया है ऐसे उस दमितारि प्रभु के पुनरुक्त के समान पीछे चक्ररत्न प्रकट हुआ है । भावार्थ—चक्ररत्न के प्रकट होने का फल समस्त विद्याधर राजाओं को अपने अधीन करना था । परन्तु यह कार्य वह पहले ही कर चुका है अतः पश्चात् चक्ररत्न का प्रकट होना पुनरुक्त के समान है ॥१४॥ बुद्धिमान राजा को पहले इसका अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिये

---

१ कर्तव्यम् २ तूष्णींभवति ३ एतन्नामा मन्त्री ४ त्वयि ५ विचारार्थमुपस्थापितस्य ६ चक्ररत्नम् ।

[illegible] पूर्वं परात्मबलयोः परम् । आधिक्यं देशकालौ च [1]क्षयवृद्धी च धीमता ॥१५॥
यो [2]गुणप्रातिलोम्येन [3]विविग्राहयिषुः परम् । स पातयति वृक्षं हि स्वतरं स्वस्योपरि स्वयम् ॥१६॥
आसीद्विद्याविनीतानामवतंसतिलकोऽपि सन् । उपास्थितः स्वयं वृद्धान्सेवनीयोऽपि यः सताम् ॥१७॥
अन्तरङ्गारिषड्वर्गविजयैकयशोधनः । आज्ञासीत्पुरुषान्गूढान्प्रयोक्तुं स्वपदेषु [illegible] ॥१८॥
बुद्ध्वा [4]परप्रयुक्तानां गूढानां च [5]प्रतिक्रियाम् । व्यधत्त सहजानूनवीर्य[6]शौर्यसमन्वितः ॥१९॥
यः कृत्याकृत्यपक्षैकपरिरक्षापरायणः । आसीत्स्वविषये नित्यं स्वप्रतापोपशोभिते ॥२०॥
ज्ञाता कृत्याकृत्यपक्षस्य परदेशभुवः परम् । उपग्रहविधिज्ञोऽन्यस्तादृशो न भविष्यति ॥२१॥
यः सुसंवृतमन्त्रः [7]सप्तव्यसनवर्जितः । स्वरक्षणपरो नित्यं शूरोऽप्यासीत्समन्ततः ॥२२॥
अनुग्राह्यो मण्डलेशैर्यः [8]षाड्गुण्यप्रयोगवित् । सुदुर्गलम्भोपायानां बोद्धा बुद्धिमतां मतः ॥२३॥
वेत्तासीत्सप्रपञ्चं यः प्रयोगं च बलीयसाम् । शक्त्या सामन्तसंयुक्तो मित्रसंपद्विभूषितः ॥२४॥

कि शत्रु और अपनी सेना में अत्यधिक अधिकता किसकी है ? इसी तरह दोनों के देश काल तथा क्षय और वृद्धि का भी विचार करना चाहिये ॥१५॥ जो राजा गुणों की प्रतिकूलता से शत्रु के साथ विग्रह करना चाहता है वह मूर्ख स्वयं अपने ऊपर वृक्ष गिराता है। भावार्थ—शत्रुके बल की अधिकता, अपने बल की हीनता, शत्रुके देश काल की अनुकूलता; अपने देश काल की प्रतिकूलता तथा शत्रु की वृद्धि और अपनी हानि के रहते हुए भी शत्रु से युद्ध छेड़ता है वह अपने आपको नष्ट करता है ॥१६॥ जो दमितारि विद्या से विनम्र मनुष्यों का तिलक-तिलक वृक्ष (पक्ष में श्रेष्ठ) होता हुआ भी वृक्ष नहीं तथा सत्पुरुषों का सेवनीय होता हुआ भी जो वृद्धजनों की स्वयं सेवा करता था ॥१७॥ अन्तरंग में स्थित काम क्रोध आदि छह शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से यश रूपी धन को धारण करने वाला जो राजा अपने स्थानों में गूढ़ पुरुषों—गुप्तचरों को प्रयुक्त करने की आज्ञा देता था ॥१८॥ जन्म जात पूर्ण वीरता और शूरता से सहित जो राजा शत्रु के द्वारा प्रयुक्त गूढ़ पुरुषों का प्रतिकार करता था ॥१९॥ जो स्वकीय प्रताप से सुशोभित अपने देश में करने योग्य और न करने योग्य पक्षों मे से एक पक्ष की रक्षा करने मे सदा तत्पर रहता था ॥२०॥ शत्रु के देश में होने वाले कृत्य और अकृत्य पक्ष की उपकार विधि को शीघ्रता से जानने वाला उसके समान दूसरा नहीं होगा। भावार्थ—वह दमितारि शत्रु देश में होने वाले करणीय और अकरणीय कार्यों के परिणाम को अच्छी तरह जानता है ॥२१॥ जो अपने मन्त्र को अच्छी तरह छिपा कर रखता है, सप्त व्यसनों से रहित है, निरन्तर आत्म रक्षा में तत्पर रहता है और सब ओर प्रसिद्ध शूरवीर भी है ॥२२॥ जो मण्डलेश्वरों के द्वारा अनुग्राह्य है—सब मण्डलेश्वर जिसके हित का ध्यान रखते हैं, जो सन्धि विग्रह आदि छह गुणों के प्रयोग को जानता है, दुर्गम स्थानों को प्राप्त करने वाले उपायों का जानकार है और बुद्धिमान् जनो को इष्ट है ॥२३॥ जो बलिष्ठ जनो के प्रपञ्च पूर्ण प्रयोग को जानता है, शक्ति

१ हानिलाभौ २ गुणविरोधेन ३ विग्रह विद्वेषं कारयितु मिच्छुः क्षया व० ४ शत्रुप्रेषितानाम् ५ प्रतिकारम् ६ आत्मनोबलं वीर्यं शारीरिक बल शौर्यम् ७ द्यूतादिसप्तव्यसन रहितः ८ 'सन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासन मेव च। द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम्' । एषां षड्गुणाना प्रयोगं यो वेत्ति सः।

सदानुरक्त[1]प्रकृतिः [2]प्रकृत्यैव परंतपः । नित्योदययुतो[3] योऽभूद् भूपो भानुरिव स्वयम् ॥२५॥
ईदृशः स्वसमं सम्यक् त्वामालोक्य समन्ततः । [4]प्रतिलिप्सि सामदानाभ्यां प्राहिणोत्प्रार्थ्य गायिके ॥२६॥
संप्रति प्राभृतं साम त्वया तत्र विधीयताम् । प्रक्रमानुसृतं तस्य पश्चात् प्रतिविधास्यसि ॥२७॥
इत्युक्त्वा विरते तस्मिन्वाग्मी मन्त्रिणि सन्मतौ । क्रुद्धोऽपि निभृताकारोऽनन्तवीर्योऽब्रवीदिदम्* ॥२८॥
नीतेस्तत्त्वमिदं सम्यक्कथमथापि त्वया वचः । [5]अनुत्तरमुदात्तार्थं प्राप्तावसरसाधनम् ॥३०॥
अपि ज्ञाताशेषशास्त्ररहस्यार्थशालिना । त्वया नावेदि यद्भावः प्रभोः प्रष्टुस्तदद्भुतम् ॥३१॥
चक्रवर्त्यादिश्लोकैकं यद्दूतेनेरितं पुरा । बालस्यापि न तद्वाक्यं प्रतिभाति कथं प्रभोः ॥३२॥
आद्यवाक्येन तेनैव युगपद्भेददण्डकौ । अन्तर्लीनावुपन्यस्तौ न हि [6]संविद्रते परे ॥३३॥
यद्यस्याभिमतं किंचित् स तदेवा*वगच्छति । सभायां केनचित्प्रोक्ते वाक्ये नानार्थसंकुले ॥३४॥

से युक्त है, सामन्तों से सहित है तथा मित्ररूप सम्पत्ति से विभूषित है ॥२४॥ जिसका मन्त्री आदि वर्ग सदा अनुरक्त है, जो स्वभाव से ही शत्रुओं को संतप्त करने वाला है तथा जो सूर्य के समान स्वयं नित्य ही उदय-अभ्युदय से युक्त है ॥२५॥ ऐसे उस दमितारि ने सब ओर से आपको अच्छी तरह अपने समान देखकर गायिकाओं को प्राप्त करने के लिये साम और दान के द्वारा दूत भेजा है ॥२६॥ इस समय आपको उसके पास साम रूप उपहार ही प्रेषित करना चाहिये। प्रकरण के अनुरूप जो प्रतिकार अपेक्षित है उसे पीछे कर सकोगे ॥२७॥ इस प्रकार की वाणी कह कर जब सन्मति मन्त्री चुप हो रहे तब अनन्तवीर्य ने यह कहा। अनन्तवीर्य उस समय यद्यपि क्रुद्ध था तथापि अपने आकार को निश्चल बनाये हुए था। भावार्थ—भीतर से कुपित होने पर भी बाहर शान्त दिखायी देता था ॥२८॥

आपने नीति का यह तत्त्व अच्छी तरह कहा है। आपका यह वचन सर्वश्रेष्ठ है, उत्कृष्ट अर्थ से सहित है तथा प्राप्त अवसर को सिद्ध करने वाला है—समयानुरूप है ॥२९॥ यद्यपि आप अच्छी तरह जाने हुए समस्त शास्त्रों के रहस्य से शोभायमान हो रहे हैं फिर भी आपने प्रश्न—कर्ता स्वामी के अभिप्राय को नहीं समझा यह आश्चर्य की बात है ॥३०॥ दूत ने पहले, चक्रवर्ती (प्रथम सर्ग श्लोक ६१) आदि श्लोकों को आदि लेकर जो अहंकार पूर्ण वचन कहे थे वे बालक को भी अच्छे नहीं लगते फिर प्रभु—अपराजित महाराज को अच्छे कैसे लग सकते हैं ॥३१॥

उसने उसी एक प्रथम वाक्य के द्वारा भीतर छिपे हुए भेद और दण्ड उपायों को एक साथ प्रस्तुत किया था। यह दूसरे नहीं जानते ॥३३॥ सभा में किसी के द्वारा नाना अर्थों से युक्त वचन के कहे जाने पर जिसके लिये जो इष्ट होता है वह उसे ही समझ लेता है। भावार्थ—सभा में यदि कोई नाना अभिप्राय को लिये हुए वचन कहता है तो वहां सभासदों में जिसे जो अर्थ इष्ट होता है उसे ही वह ग्रहण कर लेता है ॥३४॥ आप लोग साम और दान उपाय में रत हैं अतः उन्हें जानते हैं और महाराज अपराजित अपने योग्य उपाय को जानते हैं इसलिये उन्हें यही कथन अनादर रूप जान पड़ता

---

१. मन्त्र्यादिवर्गः २ स्वभावेनैव ३ अभ्युदय उद्गमनश्च, ४ वृत्तम् * अवीवृधः ब० ५ नास्ति उत्तरं श्रेष्ठं यस्मात्तत् सर्वश्रेष्ठमित्यर्थः ६ जानन्ति * तदेवाधिगच्छति ब० ।

सामदानरता यूयं ते[1] च *तत्राग्रमच्छत: । जानतोऽपि प्रभोर्युक्तमिदमेवावधीरणम् ॥३५॥
साधिक्षेपं तदाकूतं दूतवाक्यादबोधि यत् । मया दुर्मेधसाप्येतत्केषां कुर्यान्न विस्मयम् ॥३६॥
प्रहेयमिदमेवेति नामग्राहं [2]प्रहिण्वता । दूतं तेनैव चाख्यातः कोपश्च तदलाभजः ॥३७॥
लब्ध्वा तुष्येदलब्ध्वेष्टं परो वैरायते द्रुतम् । तुल्या शक्तिमतोयाञ्चा हस्त्यारूढस्य भिक्षया ॥३८॥
प्राणतोऽपि प्रियं जातमेतन्मे गायिकाद्वयम् । यदीदमन्यथा कुर्यात्स्वामी निःस्वामिकोऽस्म्यहम् ॥३९॥
क्रुद्धोऽप्येतावदेवोक्त्वा [3]जोषमास्त स भूपतेः । मुखस्थितिं[4] मुहुः [5]पश्यंस्तदाकूतबुभुत्सया ॥४०॥
राजकार्यानुवर्तिन्या वाचा मन्त्रविदस्तया । क्षणं दोलायते स्मासौ भ्रातुश्च सविषादया ॥४१॥
ततः क्षणमिव ध्यात्वा कार्यं किञ्चित्सुनिश्चितम् । इत्युवाच वचो राजा धीरो हि नयमार्गवित् ॥४२॥
न नीतितत्त्वं संवित्त्या न स्वातन्त्र्याभिलाषया । ब्रवीमि युक्तमेतच्चेद्भवतामस्त्यनुग्रहः ॥४३॥

है । भावार्थ—नानार्थक वचनों को लोग अपने अपने अभिप्राय के अनुसार ग्रहण करते हैं यह सिद्धान्त है तदनुसार आप साम और दान के प्रेमी होने से उन्हें ग्रहण कर रहे हैं परन्तु महाराज के लिये यह उपाय अनादर रूप हैं ।।३५।। मैंने बुद्धिहीन होने पर भी दूत के वचनों से यह समझ लिया है कि दमितारि का अभिप्राय तिरस्कार से सहित है अर्थात् वह हम लोगों का तिरस्कार करना चाहता है । यह किन्हें आश्चर्य उत्पन्न नहीं करता ? अर्थात् सभी को आश्चर्य उत्पन्न करता है ।।३६।। यह गायिकाओं का युगल भेजना ही चाहिये इसप्रकार नाम लेकर दूत को भेजते हुए उसने गायिकाओं की प्राप्ति न होने से उत्पन्न होने वाला अपना क्रोध भी प्रकट किया है। भावार्थ— दमितारि ने प्रकट किया है कि यदि गायिकाओं का युगल मेरे पास न भेजोगे तो मैं तुम्हारे ऊपर क्रुद्ध हो जाऊंगा—तुम्हें मेरे क्रोध का भाजन बनना पड़ेगा ।।३७।। शक्तिशाली मनुष्य इष्ट वस्तु को प्राप्त कर सतुष्ट हो जाता है और नहीं प्राप्त कर शीघ्र ही वैर करने लगता है परन्तु शक्तिशाली मनुष्य की याचना हाथी पर सवार मनुष्य की भिक्षा के समान है । भावार्थ —जिसप्रकार हाथी पर सवार व्यक्ति को भिक्षा मांगना अच्छा नहीं लगता उसीप्रकार शक्तिशाली मनुष्य को किसी से कुछ याचना करना शोभा नहीं देता ।।३८।। यह गायिकाओं का युगल मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो गया है । यदि इसे स्वामी अन्यथा करते है - मेरे पास से हटाकर दमितारि के पास भेजते हैं तो मैं भी स्वामी रहित हूं—अपने आपको स्वामी से रहित समझूंगा ।।३९।। अनन्तवीर्य क्रुद्ध होने पर भी राजा—अपराजित के अभिप्राय को जानने की इच्छा से बार बार उसकी मुखस्थिति को देखता हुआ इतना कह कर ही चुप बैठ गया ।।४०।। मन्त्री ने राजकार्य के अनुरूप जो वचन कहे तथा भाई—अनन्तवीर्य ने विषाद मे भरे हुए जो वचन कहे उनसे राजा अपराजित क्षण भर के लिये अधीर हो गये ।।४१।। तदनन्तर राजा ने क्षणभर किसी सुनिश्चित कार्य का विचार कर इसप्रकार के वचन कहे सो ठीक ही है क्योंकि धीर वीर मनुष्य नीतिमार्ग का ज्ञाता होता है ।।४२।।

नीतितत्त्व न तो स्वानुभव से संगत होता है और न स्वतन्त्रता की इच्छा से । यदि आप लोगों का अनुग्रह हो तो इस संदर्भ में एक बात कहता हूं ।।४३।। मैं पूर्वभव में विद्याओं का पारदर्शी

---

१ सामदाने * तत्राग्रमच्छत ब० २ प्रेषयता ※ दलब्ध्वे च ब० ३ तूष्णीमतिष्ठत् ४ मुखाकृतिम् ५ तदभिप्रायग्रहणेच्छया ।

विद्यानां ग्राहकश्चाहं साधकश्च पुराभवे । अस्मिन्नपि भवे ताभिः स्वीकृतोऽस्म्यनुरागतः ॥४४॥
संगच्छन्ते[1] महाविद्याः सर्वाः पूर्वभवार्जिताः । मम भ्रात्रा त्विषः प्रातरर्केणेव प्रतापिना ॥४५॥
ततो रूपं परावर्त्य गायिकारूपधारिणौ । द्रक्ष्यावः सह दूतेन गत्वावां खेचरेश्वरम् ॥४६॥
आत्मविद्यानुभावेन तद्राज्यसकलस्थितिम् । विदित्वा वेदितव्यां तामायास्यावः पुनस्ततः ॥४७॥
तत्रानिष्टमसाध्यं वा नैवाशङ्क्यं महात्मभिः । भवद्भिरावयो राज्यं रक्षणीयं च यत्नतः ॥४८॥
एवं मनोगतं कार्यमुदीर्य स विशांपतिः । व्यरंसीन्मन्त्रिणां ज्ञातुं मतानि मतिसत्तमः ॥४९॥
तद्राज्यस्य समस्तस्य कर्णधारो बहुश्रुतः[2] । इत्युवाच वचो वाग्मी ततो नाम्ना बहुश्रुतः[3] ॥५०॥
कार्यं साम्प्रतमेवोक्तं राज्ञा प्रज्ञावतां मतम् । इदमस्योत्तरं किञ्चिन्मयैवमभिधास्यते ॥५१॥
दमितारेः प्रयात्वन्तं राजा भ्रातृपुरस्सरम्* । हस्तेकृत्य ततो लक्ष्मीं निर्व्याजेनागमिष्यति ॥५२॥
मयैवेदं पुरा ज्ञातं [4]दैवज्ञात्तत्त्ववेदिनः । उन्मूलितार एताभ्यां समस्ताः खेचराधिपाः ॥५३॥
प्रदेयानन्तवीर्याय त्वया काचन तत्सुता । इति प्रार्थ्यो निसृष्टार्थो भवद्भिः प्राप्तसत्क्रियः ॥५४॥
अभिप्रायान्तरं तस्य विज्ञास्यामो वयं ततः । अन्तःशुद्धो [5]विजिह्मो वा लक्ष्यते कार्यसन्निधौ ॥५५॥

और साधक था । साथ ही इस भव में भी उन विद्याओं ने मुझे बड़े प्रेम से स्वीकृत किया है ॥४४॥ पूर्व भव में अर्जित समस्त महाविद्याएं हमारे भाई के साथ ऐसी आ मिली हैं जैसे प्रातःकाल प्रतापी सूर्य के साथ किरणें आ मिलती हैं ॥४५॥ उन विद्याओं के प्रभाव से हम दोनों रूप बदल कर गायिकाओं का रूप धारण करेंगे और दूत के साथ जाकर विद्याधरों के राजा दमितारि को देखेंगे ॥४६॥ अपनी विद्याओं के प्रभाव से उसकी समस्त राज्यस्थिति को जो जानने के योग्य है, जानकर वहां से वापिस आवेंगे ॥४७॥ वहां हम लोगों का अनिष्ट होगा अथवा कोई कार्य असाध्य होगा ऐसी आशङ्का आप महानुभावों को नहीं करना चाहिये । आप लोग हमारे राज्य की यत्न पूर्वक रक्षा करें ॥४८॥ अतिशय बुद्धिमान् राजा इसप्रकार अपने मन में स्थित कार्य को कह कर मन्त्रियों का अभिप्राय जानने के लिये विरत हो गया—चुप हो रहा ॥४९॥

तदनन्तर अपराजित के समस्त राज्य का कर्णधार, अनेक शास्त्रों का ज्ञाता तथा प्रशस्त वचन बोलने वाला बहुश्रुत नामका मन्त्री इस प्रकार के वचन कहने लगा ॥५०॥ राजा ने जो कार्य कहा है वह उचित ही है तथा बुद्धिमानों को इष्ट है । इसके आगे का कुछ कार्य मैं इसप्रकार कहूँगा ॥५१॥ राजा अपराजित, भाई के साथ दमितारि के पास जावे । वहां जाने से वह उसकी लक्ष्मी को अपने अधीन कर किसी छल के बिना वापिस आवेगा ॥५२॥ मैंने एक तत्त्वज्ञ ज्योतिषी से यह बात पहले ही जान ली थी कि इन दोनों भाईयों के द्वारा समस्त विद्याधर राजा उन्मूलित कर दिये जावेंगे—उखाड़ दिये जावेंगे ॥५३॥ आप लोग दमितारि के दूत का सत्कार कर उससे ऐसा कहो कि तुम्हें अनन्तवीर्य के लिये दमितारि की कोई पुत्री देना चाहिये ॥५४॥ इससे हम उसके अभिप्राय के अन्तर-रहस्य को जान सकेंगे । क्योंकि कार्य के सन्निधान में ही देखा जाता है कि अन्तरङ्ग से

---

१ मिलिता भवन्ति २ बहुज्ञानवान् ३ एतन्नामकः *पुरस्सरः ब० ४ ज्योतिर्विदः ५ कुटिलः ।

प्रज्ञोत्साहबलोद्योगधैर्यशौर्यक्षमान्वितः । जयत्येकोऽप्यरीन्कृत्स्नान्किं पुनर्द्वौ सुसंगतौ ॥५६॥
इति गुप्तं तयोर्ज्ञानिश्चिकाय बहुश्रुतः । प्रत्यक्षा हि परोक्षापि कार्यसिद्धिः सुमेधसाम् ॥५७॥
ते सर्वे सचिवाः प्राज्ञाः सम्यक् तं प्रतिभागुणम् । अत्यर्थं तुष्टुवुस्तुष्टा गुणिनो हि विमत्सराः ॥५८॥
इति निर्णीतमन्त्रार्थास्तान् संमान्य यथाक्रमम् । निर्गत्य मन्त्रशालायाः स सभाभवनं ययौ ॥५९॥
किञ्चित्कालमिव स्थित्वा तत्रैकेन स पत्तिना[1] । तूर्णमाकारयामास[2] कोषाध्यक्षं कुशाग्रधीः ॥६०॥
वेगेनैत्य ततो नत्वा को निदेश इति स्थितः । राज्ञैवाभ्यर्णमाहूतः प्रणम्योपससाद सः ॥६१॥
कराभ्यां संपिधायास्यं कुब्जीभूयोत्थितात्मनः । कर्णमूलेऽवदत्किञ्चित् तस्योपांशु[3] महीपतिः ॥६२॥
भर्तुराज्ञां प्रणामेन गृहीत्वा निरगात्ततः । यथाविष्टक्रमेणैव दूतावासं ययौ च सः ॥६३॥
*विलेपनैर्दुकूलस्रक्ताम्बूलैः संविभज्य तम् । किञ्चित्पटलिकान्तःस्थं पुरोधायैवमभ्यधात् ॥६४॥
त्रिजगद्भूषणं नाम्ना कण्ठाभरणमुत्तमम् । एतद्राज्यक्रमायातं रत्नेष्वेकं सलक्षणम् ॥६५॥
भवदागमनस्यैतद् युक्तमेवेत्यवेत्य ते । चक्रवर्त्यनुरागाच्च प्रहितं पृथिवीभुजा ॥६६॥

शुद्ध है अथवा कुटिल है ।।५५।। प्रज्ञा, उत्साह, बल, उद्योग, धैर्य, शौर्य और क्षमा से सहित एक ही पुरुष बहुत शत्रुओं को जीत लेता है फिर हम दो भाई मिल कर क्या नहीं जीत सकेंगे ? ।।५६।। इस प्रकार उन दोनों के गुप्त कार्य को जानते हुए बहुश्रुत मन्त्री ने निश्चय कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषों को परोक्ष कार्य की सिद्धि भी प्रत्यक्ष प्रतिभासित होती है ।।५७।। प्रतिभाशाली उन समस्त मन्त्रियों ने संतुष्ट होकर प्रतिभारूप गुण से युक्त उस बहुश्रुत मन्त्री की बहुत स्तुति की—प्रशंसा की सो ठीक ही है क्योंकि गुणी मनुष्य ईर्ष्या से रहित होते हैं ।।५८।। इसप्रकार मन्त्रार्थ का निर्णय करने वाले उन मन्त्रियों का क्रम से सन्मान कर राजा अपराजित मन्त्र शाला से निकल कर सभा भवन की ओर गया ।।५९।।

वहां कुछ काल तक ठहर कर तीक्ष्णबुद्धि राजा अपराजित ने एक सेवक के द्वारा शीघ्र कोषाध्यक्ष को बुलवाया ।।६०।। कोषाध्यक्ष शीघ्र ही आकर तथा नमस्कार कर क्या आज्ञा है ? यह कहता हुआ खडा हो गया । राजा ने उसे निकट बुलाया जिससे वह प्रणाम कर राजा के समीप पहुंच गया ।।६१।। दोनों हाथों से मुंह बन्द कर जो झुका हुआ खड़ा था ऐसे कोषाध्यक्ष के कर्णमूल में राजा ने एकान्त में कुछ कहा ।।६२।। स्वामी की आज्ञा को प्रणामपूर्वक स्वीकृत कर वह वहां से निकला और बताये हुए क्रम से ही दूत।वास पहुंचा ।।६३।। विलेपन, रेशमीवस्त्र, माला तथा पान के द्वारा दूत का सत्कार कर उसने पिटारे के भीतर रखी हुई किसी वस्तु को सामने रख कर इस प्रकार कहा ।।६४।।

यह त्रिजगद्भूषण नामका उत्तम हार है । राजा अपराजित की राज्य परम्परा से चला आ रहा है रत्नों में अद्वितीय है तथा लक्षणों से सहित है ।।६५।। आपके आगमन के अनुरूप यही है यह समझकर तथा चक्रवर्ती के अनुराग से राजा ने आपके लिये भेजा है ।।६६।। इसे आप निःशङ्क

---

१ भटेन २ आह्वयति स्म ३ एकान्ते । * विलेपनदुकूलस्रक् ब०

निःशङ्कमिदमादेयं भवता कारि मा प्रभोः । प्रीतिभङ्ग इति प्रोच्य तस्योद्धृत्य+तदार्पयत् ।।६७।।
तदाभरणमालोक्य जगत्सारं विसिस्मिये । प्रवेत्य स भुवोभर्तुरौदार्यं च [1]जगातिगम् ।।६८।।
न तदेवाकरोत्कण्ठे मुदितः स विभूषणम् । चित्ते तद्गुणसंतानं स्वेऽनर्घ्यमपि तत्क्षणम् ।।६९।।
स तेनैव समं गत्वा कोषाध्यक्षेण भूपतिम् । मूर्ध्ना दूरानतेनार्चीत् प्रसादातिभरादिव ।।७०।।
निर्दिदेशासनं तस्य स्वकरेण महीपतिः । तस्मिन् प्रसाद इत्युक्त्वा निविष्टः* क्षणमब्रवीत् ।।७१।।
इयतीं सत्क्रियां दूते प्रापयेत् क इव प्रभुः । अक्षोभस्त्वत्समः को वा दानशूरो नराधिपः ।।७२।।
आविःकृता त्वया प्रीतिर्दमितारौ विशानया । तत्कलत्रस्य [2]वाल्लभ्यात् पिता स्निह्यति यत्सुते ।।७३।।
अपृष्टव्यमिदं सिद्धं ममागमनकारणम् । कस्मिन्नहनि मे यानमेतावदभिधीयताम् ।।७४।।
इत्युक्त्वा विरते दूते ततोऽवोचद् बहुश्रुतः । वचनं सामगम्भीरमभिज्ञनयविस्तरम् ।।७५।।
रत्नं प्रदाय सारं [3]यदादित्सोरस्यसारकम् । अयुक्तकारिता केयं त्वद्विभोर्नयशालिनः ।।७६।।

ग्रहण कीजिये, प्रभु का प्रीतिभङ्ग मत करिये ऐसा कह कर वह हार निकाल कर दूतके लिये समर्पित कर दिया ।।६७।। संसार के सारभूत उस आभूषण को देखकर तथा राजा की लोकोत्तर उदारता का विचार कर दूत आश्चर्य करने लगा ।।६८।। उसने प्रसन्न होकर तत्काल उस आभूषण को ही कण्ठ में धारण नहीं किया किन्तु राजा के अमूल्य गुण समूह को भी अपने चित्त में धारण किया ।।६९।। उसने उसी समय कोषाध्यक्ष के साथ जाकर प्रसन्नता के बहुत भारी भार से ही मानों दूर से झुके हुए मस्तक से राजा की पूजा की । भावार्थ—शिर झुकाकर राजा को नमस्कार किया । ७०।।

राजा ने उसे अपने हाथ से आसन का निर्देश किया । 'यह आपका प्रसाद है' यह कर वह आसन पर बैठा और क्षणभर विश्राम कर कहने लगा ।।७१।। ऐसा कौन राजा है जो दूत को इतना सत्कार प्राप्त कराये । आपके समान क्षोभरहित तथा दानशूर राजा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ।।७२।। आपने इस रीति से दमितारि पर प्रीति प्रकट की है क्योंकि पिता स्त्रीके पुत्र पर जो स्नेह करता है वह स्त्री का ही प्रेम है । भावार्थ—जिस प्रकार पिता स्त्री के स्नेह के कारण उसके पुत्र पर स्नेह करता है उसीप्रकार दमितारि के स्नेह से ही आपने उसके दूत पर स्नेह प्रकट किया है ।।७३।। मेरे आने का यह कारण जो पूछने के योग्य नहीं था, बिना पूछे ही सिद्ध हो गया । अब इतना ही कहा जाय कि मेरा जाना किस दिन होगा ? ।।७४।। इतना कह कर जब दूत चुप हो गया तब बहुश्रुत नामका मन्त्री साम—शान्ति से गम्भीर तथा नीति के विस्तार से युक्त वचन कहने लगा ।।७५।।

सारभूत रत्न देकर जो सारहीन वस्तु को ग्रहण करना चाहते हैं ऐसे आपके नीतिज्ञ राजा की यह कौनसी अयुक्तकारिता है ? भावार्थ—आपके राजा तो बड़े नीतिज्ञ हैं फिर वे सारहीन नायिकाओं को लेकर अपनी श्रेष्ठ पुत्री को क्यों देना चाहते हैं ? ।।७६।। जो अदृष्ट जन पर भी ऐसी उत्कृष्ट प्रीति करते हैं यह उनकी लोकोत्तर सज्जनता ही दिखायी देती है ।।७७।। जिसप्रकार रत्नों के द्वारा समुद्र की निर्बाध रत्नवत्ता का अनुमान होता है उसीप्रकार आप जैसे गुणी मनुष्यों के

+ तदर्पयत् ब० १ लोकोत्तरम् * निविश्य ब० २ प्रीतिः प्रियत्वं वा ३ आदातु मिच्छोः ।

बहुष्वेऽपि जने प्रीतिं यो व्यधत्तेदृशीं पराम् । अतिजन्यमिदं लोके सौजन्यं तस्य दृश्यते ॥७७॥
गुणिभिर्विनयवद्भिर्यैस्तस्य गुणवत्तानुमीयते । रत्नं रत्नाकरस्येव रत्नवत्ता निरन्तरम् ॥७८॥
तीक्ष्णो भास्वाञ्जडश्चन्द्रः[1] स्तब्धः कल्पतरुः परम् । तेजःप्रशमदानैस्ते जितास्तेनेति का कथा ॥७९॥
स परं भूतिसङ्गेन प्रसन्नो विमलोऽभवत् । पारुष्यहेतुनाप्युच्चैः सुवृत्तोऽदर्श[2] इव स्वयम् ॥८०॥
अस्मन्नृपतिवंशस्य सम्बन्धस्तत्कुलस्य च । यः पुरोऽभूत्स चाद्यापि वृद्धैः किं नावसीयते ॥८१॥
कुलद्वयेन साहाय्यमन्योऽन्यापदि यत्कृतम् । स्मरन्ति च तदद्यापि तत्कथासु [3]वयोऽधिकाः ॥८२॥
विच्छिन्नोऽपि स संबन्धस्त्वया भूयो विधीयताम् । प्रदायानन्तवीर्याय सुतां कामपि चक्रिणः ॥८३॥
चक्रेणासाधितं किञ्चिदेताभ्यां तच्च सेत्स्यति । त्वद्भर्तुः कृच्छ्रसंसिद्ध्यै किं नेतावपरौ भुजौ ॥८४॥
चिन्तनीयौ त्वयाप्येतौ प्रीतिविस्तारितचेतसा । त्वदायत्तमिदं कार्यमित्युक्त्वा जोषमास्त सः ॥८५॥
ततो बहुश्रुतेनोक्तां गम्भीरार्थां स भारतीम् । निशम्य संप्रधार्यान्तः किञ्चिदित्थमवोचत ॥८६॥
मयाप्येतत्पुरा कार्यं सम्प्रधार्य[4] धिया स्थितम् । त्वत्सम्बन्धप्रियत्वाच्च स्वामिनो गुणशालिनः ॥८७॥

द्वारा उनकी गुणवत्ता का अनुमान होता है ॥७८॥ सूर्य तीक्ष्ण—अत्यन्त गर्म है, चन्द्रमा जड़ है—अत्यन्त ठण्डा है और कल्पवृक्ष स्तब्ध है—अहंकार से खड़ा है इसलिये राजा दमितारि ने उन्हें अपने तेज, शान्ति और दान के द्वारा जीत लिया है इसका क्या कहना है ? ॥७९॥ भूति—भस्म का संयोग यद्यपि रूक्षता का कारण है तथापि उसके द्वारा सुवृत्त—गोल दर्पण जिसप्रकार स्वयं अत्यन्त प्रसन्न—स्वच्छ और निर्मल हो जाता है उसीप्रकार भूति—सम्पत्ति का संयोग यद्यपि रूक्षता - व्यवहार सम्बन्धी कठोरता का कारण है तथापि उसके संयोग से सुवृत्त—सदाचारी राजा दमितारि स्वयं प्रसन्न—प्रसाद गुण से सहित और निर्मल हो गया है ॥८०॥ हमारे राज वंश और दमितारि के वंश का जो सम्बन्ध पहले हुआ था उसे आज भी क्या वृद्धजन नहीं जानते हैं ? ॥८१॥ परस्पर की आपत्ति के समय दोनों कुलों ने जो कार्य किया था उसे दोनो कुलों की चर्चा उठने पर वृद्ध जन आज भी स्मरण करते हैं ॥८२॥ यद्यपि वह सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया है तो भी अनन्त वीर्य के लिये चक्रवर्ती की कोई कन्या देकर आप उसे फिर से स्थापित कर सकते हैं ॥८३॥ चक्र से जो कार्य सिद्ध नहीं हुआ है वह इन दोनों भाईयों से सिद्ध होगा । कष्ट के निराकरण के लिये ये दोनों क्या आपके स्वामी की दूसरी भुजाएं नहीं है ? ॥८४॥ प्रीतिसे जिसका चित्त विस्तृत हो रहा है ऐसे आपको भी इन दोनों का ध्यान रखना चाहिये । यह कार्य आपके अधीन है । इतना कह कर बहुश्रुत मंत्री चुप हो गया ॥८५॥

तदनन्तर बहुश्रुत मन्त्री के द्वारा कही हुई गम्भीर अर्थ से युक्त उस वाणी को सुनकर दूत ने हृदय में कुछ विचार किया । पश्चात् इस प्रकार कहने लगा ॥८६॥ गुणों से सुशोभित स्वामी का आपके साथ सम्बन्ध हो यह मुझे प्रिय है इसलिये मैंने भी पहले बुद्धि द्वारा निर्धार कर इस कार्य

---

१ सूर्यः २ दर्पण इव ३ वृद्धजनाः ४ सम्प्रधार्य ब० ।

प्रयासो हि परार्थोऽयं महतामेव केवलम् । सारभूतान्किमर्थं+ वा मणीन्धत्ते पयोनिधिः ॥८८॥
गुणवान् [1]प्राकृतश्चान्यः प्राणानप्यर्थयन्नपि । चक्री [2]कुटुम्बितेत्येषा किम्वदन्ती न किं श्रुता ॥८९॥
कस्मै देयं प्रदाता कः कः परो दापयिष्यति । एताभ्यां स्वगुणैरैक्यं नीते चक्रिणि का भिदा ॥९०॥
अन्यार्थमागतस्यात्र [3]दित्सोरपि न युज्यते । ममास्मै तत्सुतां दातुं [4]दास्ये गत्वा तदन्तिकम् ॥९१॥
मय्यारोपितभारत्वान्मत्कृतं बहु मन्यते । अयुक्तमपि यत्किञ्चित्किं पुनर्युक्तमीदृशम् ॥९२॥
इति सम्बन्धजां वाणीं व्याहृत्योपशशाम सः । अमितोऽहमिति स्वाख्यामाख्यत्पृष्टश्च भूभुजा ॥९३॥
परकार्यं समाधाय स्वार्थसिद्धिं प्रजल्पतः । तस्य वाग्मितया संसत्प्रपेदे विस्मयं परम् ॥९४॥
तस्य संगीतकादीनि दर्शयित्वा ततः प्रभुः । त्वमावासी भवेत्युक्त्वा यथाकालं व्यसर्जयत् ॥९५॥
अथैकदा यथामन्त्रममितस्य बहुश्रुतः । मन्त्री समर्पयामास गायिके ते तथाभिधे ॥९६॥
ब्रूते स्मेति ततो वाक्यं तत्प्रक्रमनिवेदकम् । एते सदैवते सम्यग् [5]वृषस्यारहिते शुची[6] ॥९७॥

का निश्चय किया है ॥८७॥ बड़े पुरुषों का यह प्रयास केवल पर का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये ही होता है । ठीक ही है समुद्र श्रेष्ठ मणियों को किसलिये धारण करता है ? भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र दूसरों के उपयोग के लिये ही श्रेष्ठ रत्नों को धारण करता है उसी प्रकार चक्रवर्ती दमितारि भी कन्या आदि श्रेष्ठ रत्नों को दूसरों के उपयोग के लिये ही धारण करता है ॥८८॥ अन्य मनुष्य गुणवान् हो चाहे साधारण । यदि वह प्राणों की भी इच्छा करता है तो भी चक्रवर्ती के लिये कुटुम्बी जन के समान होता है यह किंवदन्ती क्या आपने सुनी नहीं ? ॥८९॥ ये दोनों भाई अपने गुणों के द्वारा जब चक्रवर्ती को एकत्व प्राप्त करा देते हैं तब किसके लिये देने योग्य है ? देने वाला कौन है ? और दूसरा कौन दिलावेगा इसका भेद ही कहां उठता है ? ॥९०॥ मैं अन्य कार्य के लिये यहां आया हूँ इसलिये देने के लिये इच्छुक होने पर भी मेरा इसे चक्रवर्ती की पुत्री देना योग्य नहीं जान पड़ता । हां, मैं उनके पास जाकर दूंगा ॥९१॥ मेरे ऊपर उन्होंने भार रख छोड़ा है इसलिये मेरे द्वारा किये हुए जिस किसी अयोग्य कार्य को भी वे बहुत मानते हैं फिर ऐसे योग्य कार्य का तो कहना ही क्या है ? ॥९२॥ इस प्रकार सम्बन्ध से उत्पन्न वाणी को कह कर वह शान्त हो गया । राजा अपराजित द्वारा पूछे जाने पर उसने 'मैं अमित हूँ' इसप्रकार अपना नाम बताया ॥९३॥ पर का कार्य सिद्ध कर स्वार्थसिद्धि की बात करने वाले उस दूत की वक्तृत्वकला से सभा अत्यधिक आश्चर्य को प्राप्त हुई ॥९४॥ तदनन्तर राजा अपराजित ने उसे संगीत आदि दिखला कर कहा कि आप विश्राम कीजिये; यह कह कर यथा समय विदा किया ॥९५॥

अथानन्तर एक समय बहुश्रुत मन्त्रीने मन्त्रणा के अनुसार अमित नामक दूतके लिये पूर्वकथित नामवाली दोनों गायिकाएं सौंप दीं ॥९६॥ सौंपने के बाद उस प्रकरण को सूचित करने वाले यह वचन कहे कि ये गायिकाएं अच्छी तरह देवता से सहित हैं, कामेच्छा से रहित हैं और पवित्र हैं इसलिये परम आदर पूर्वक प्रयत्न से अनुग्राह्य हैं—रखने योग्य हैं । ये निरन्तर एकान्त में रहना पसन्द करती हैं तथा अन्य राजाओं को नमस्कार नहीं करती हैं ॥९७—९८॥ राजा अपराजित ने इसी विधि

+ किमर्थो वा ब० [1] साधारणो जनः [2] कुटुम्बी इव आचरिता, [3] दातुमिच्छोरपि [4] दास्यामि [5] मैथुनेच्छारहिते [6] पवित्रे ।

यस्या सफलीका पूर्वमनुग्राह्ये प्रयत्नतः । एकान्ताभिरते नित्यं पराम नमतः प्रभून् ॥९८॥
अनया प्रतिपत्त्यैव पालिते प्रभुणामुना । ते *तथोक्तक्रमेणैव स्वीकरोतु भवानपि ॥९९॥
त्वया यत्प्रतिपन्नं नस्तद्वक्तव्यं च चक्रिणः । तेनेत्युक्त्वा विसृष्टोऽसौ यथोक्तमकृत स्वयम् ॥१००॥

❋ शार्दूलविक्रीडितम् ❋

प्रागारुह्य विमानमात्मरचितं चञ्चद्ध्वजभ्राजितं
तत्रारोप्य स गायिके प्रमुदितो [1]व्योमोद्ययौ खेचरः ।
अन्तःसंभृतभूरिविस्मयवशादुत्तानितैर्लोचनैः
सौधोत्सङ्गगताङ्गनाजनशतैरुद्वीक्ष्यमाणः क्षणम् ॥१०१॥
उच्चैरुच्चरितध्वनिः श्रुतिसुखं भेरी ररास स्वयं
वृष्टिः [2]सौमनसी पपात नभसः सर्वाः प्रसेदुर्दिशः ।
एभिः प्रादुरभून्निगूढमपि तद्यानं निमित्तैः शुभैः
पुण्यानां भुवि भूयसामिव तयोराकारितैः संपदा ॥१०२॥

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे श्रीमदपराजितमन्त्रनिश्चयो नाम
द्वितीयः सर्गः ।

से इनका पालन किया है इसलिये आप भी इसी बतलायी हुई विधि से स्वीकृत करें ॥९९॥ और हमारे विषय में आपने जो स्वीकृत किया है वह चक्रवर्ती के आगे कहने के योग्य है, इसप्रकार कहकर बहुश्रुत मंत्रीने अमित दूत को विदा किया । दूत ने उपर्युक्त कार्य को स्वीकृत किया ॥१००॥

तदनन्तर फहराती हुई ध्वजाओं से सुशोभित आत्मरचित विमान के ऊपर पहले स्वयं चढ़कर जिसने उन गायिकाओं को उसी विमान पर चढ़ाया था ऐसा विद्याधर—अमित दूत हर्षित होता हुआ आकाश में उड़ा । उस समय महलों के मध्य में स्थित सैंकड़ों स्त्रियाँ भीतर भरे हुए विस्मय रस से खुले नेत्रों के द्वारा उसे ऊपर की ओर देख रही थीं ॥१०१॥ जोरदार ध्वनि से युक्त भेरी उस समय कानों को सुख पहुंचाती हुई शब्द करने लगी, आकाश से फूलों की वृष्टि पड़ने लगी और समस्त दिशाएं निर्मल हो गयीं । यद्यपि वह विमान गुप्त रूप से चल रहा था तथापि इन उपर्युक्त शुभ निमित्तों से वहां प्रकट हुआ । ये शुभनिमित्त ऐसे जान पड़ते थे मानों अपराजित और अनन्त वीर्य की बहुत भारी पुण्य सम्पदा ने ही पृथिवी पर उन्हें आमन्त्रित किया हो—बुलाया हो ॥१०२॥

इसप्रकार महाकवि असग द्वारा रचित शांतिपुराण में श्रीमान् अपराजित के मन्त्र का निश्चय करने वाला दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

❋ यथोक्त-ब० १ उत्पपात २ सुमनसां पुष्पाणामियं सौमनसी ।

卐

अथ तेन मनोवेग*पुरःसरमपि क्षणात् । प्रापे पश्चात्कृतेवेव रंहसा रजताचलः ॥१॥
रेजे जवानिलाकृष्टैर्नानाकारैः पयोधरैः । तस्यान्वितो विचित्रैर्वा विमानोऽन्यैर्विमानकैः ॥२॥
व्योम्नीवामान्तमुच्चत्वा त्स्वं विचिन्त्य समन्ततः । वितत्य दिक्षु सर्वासु स्वाङ्गानि भुवि यः स्थितः ॥३॥
क्वचिन्नीलप्रभाजालैस्तमःपुञ्जैरिवाचितः[1] । अन्यत्र [2]लोहितालोकैर्दिवाबीजैरिवोज्ज्वलैः ॥४॥
क्वचिच्च [3]विद्रुमाकीर्णः स्थलीभूत इवार्णवः । नागलोक इवान्यत्र नागेन्द्रशतसंकुलः ॥५॥
पादच्छायाश्रिताशेषमहासत्त्वसमुन्नतः । सदा विद्याधरान्बिभ्रद्विद्याविद्योतितात्मनः ॥६॥
संचरच्चमरीचारुबालव्यजनवीजितः । महासिंहासनो भाति चक्रवर्तीव [4]योऽपरः ॥७॥

(षड्भिः कुलकम्)

तृतीय सर्ग

अथानन्तर वह क्षण भर में इतने वेग से विजयार्ध पर्वत पर पहुंच गया मानों वेग से चलने वाले मन को भी उसने पीछे कर दिया था ॥१॥ वेग की वायु से आकृष्ट नाना आकार वाले मेघों से सहित उसका विमान ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों चित्र विचित्र अन्य विमानों से ही सहित हो ॥२॥ जो विजयार्ध पर्वत ऊंचाई के कारण अपने आपको आकाश में न समाता हुआ विचार कर ही मानों समस्त दिशाओं में सब ओर अपने अङ्गों को फैला कर पृथिवी पर स्थित था ॥३॥ कहीं तो वह पर्वत नील प्रभा के समूह से ऐसा जान पड़ता था मानों अन्धकार के समूह से ही व्याप्त हो और कहीं लाल लाल प्रकाश से ऐसा सुशोभित होता था मानों देदीप्यमान दिन के बीजों से ही युक्त हो ॥४॥ कहीं मूंगाओं से ऐसा व्याप्त था जिससे स्थलरूप परिणत समुद्र के समान जान पड़ता था । कहीं सैकड़ों नागेन्द्रों—बड़े बड़े सर्पों से युक्त था इसलिये नागलोक के समान मालूम होता था ॥५॥ अत्यन्त पर्वतों की छाया में बैठे हुए समस्त बड़ी अवगाहना के जीवों से जो ऊंचा उठ रहा था तथा विद्या से जिनकी आत्मा आलोकित थी ऐसे विद्याधरों को सदा धारण करता था ॥६॥ चारों ओर चलने वाले चमरी मृगों के सुन्दर बाल जिस पर चमर ढोर रहे थे तथा बड़े बड़े सिंह जिस पर

---

* मनोवेगं ब० १ व्याप्तः २ रक्तवर्ण प्रकाशैः ३ प्रवालाचितः ४ द्वितीयः ।

गीताद्गीतान्तरं श्रोतुं किन्नराणामितस्ततः । यस्मिन्मृगगणो भ्राम्यन्दिवा नात्ति तृणांकुरान् ॥८॥
मुनयो यद्गुहावासा धर्मं शासति खेचरान् । अन्तस्तत्त्वावबोधेन विकसद्वदनाम्बुजान् ॥९॥
पद्मरागरुचां [1]चक्राद्यत्र दावाग्निशङ्कया । बिभेति दन्तिनां यूथं तिर्यञ्चो हि जडाशयाः ॥१०॥
संकेतकलता[2]गेहं यत्रैत्य खचरी पुरा । [3]अनायाति प्रिये किञ्चिदुद्गायोद्गाय [4]ताम्यति ॥११॥
मृगेन्द्रः स्व पुरो रूपमालोक्य स्फटिकाश्मनि । क्रुद्धः [5]प्राथयते यत्र स्वशौर्यैकरसोऽधिकम् ॥१२॥
मेघाः [6]सानुचरा यस्मिन् विचित्राकारधारिणः । विशदा निर्जलस्थित्या राजन्ते खेचरैः समम् ॥१३॥
यश्चिन्मुक्तामयो[7] यश्च विविधौषधिसंयुतः । अनेकशतकूटोऽपि[8] *राजतेऽविकृतस्थितिः ॥१४॥
यस्मिन्ननेकमाणिक्यव्रातैरिन्द्रायुधपरम्परा । अंशुभिः स्तार्यते व्योम्नि निरभ्रेऽपि निरन्तरम् ॥१५॥
यस्मिन्मरकतच्छायाविमिश्रा स्फटिकोपलाः । अन्तःशैवलतोयानां सरसां बिभ्रति श्रियम् ॥१६॥

आसन जमाये हुए थे ऐसा वह पर्वत दूसरे चक्रवर्ती के समान सुशोभित हो रहा था । भावार्थ— जिस-प्रकार चक्रवर्ती चमरों से वीजित तथा बड़े सिंहासन से युक्त होता है उसीप्रकार विजयार्ध पर्वत भी चमरीमृगके सुन्दर बालों से वीजित था तथा महासिंहों— बड़े बड़े सिंहों के आसन से सहित था ॥७॥ जिसमें किन्नरों के एक गीत से दूसरा गीत सुनने के लिये यहां वहां घूमता हुआ मृग समूह दिन में तृण के अंकुरों को नहीं खाता था ॥८॥ जिसकी गुहाओं में निवास करने वाले मुनिराज, अन्तस्तत्त्व— शुद्ध आत्म तत्त्व के ज्ञान से जिनके मुखकमल विकसित हो रहे थे ऐसे विद्याधरों को धर्म का उपदेश देते हैं ॥९॥ जहां पद्मराग मणियों की कान्ति के समूह से दावानल की आशङ्का से हाथियों का समूह भयभीत रहता है सो ठीक ही है क्योंकि तिर्यञ्च अज्ञानी होते ही हैं ॥१०॥ जहां संकेत के लता गृह में विद्याधरी पहले आकर प्रेमी के न आने पर कुछ उच्च स्वर से गा गा कर बेचैन होती है ॥११॥ जहां अपनी शूरता के रस से युक्त सिंह, आगे स्फटिकमणि में अपना रूप देख कर अधिक क्रुद्ध होता हुआ सामने जाता है ॥१२॥ जिस पर्वत की शिखरों पर विचरने वाले विचित्र आकार के धारक तथा जल के अभाव से सफेद मेघ विद्याधरों के समान सुशोभित होते हैं क्योंकि मेघों के समान विद्याधर भी सानुचर थे—अनुचरों से सहित थे, विचित्र आकार के धारक थे और निर्जडस्थिति—अज्ञान रहित स्थिति के कारण विशद—हृदय से स्वच्छ थे ॥१३॥ जो पर्वत विविध औषधियों से युक्त था इसीलिये मानों मुक्तामय—नीरोग था (पक्ष में मोतियों से तन्मय था और अनेकशत कूट—सैकड़ों कपटों से युक्त होने पर भी अविकृत स्थिति—विकार रहित स्थिति से सहित था (परिहार पक्ष में सैकड़ों शिखरों से युक्त होने पर भी उसकी स्थिति में कभी कोई विकार नहीं होता था अर्थात् प्रलय आदि के न पड़ने से उसकी स्थिति सदा एक सदृश रहती थी) ॥१४॥ जिस पर्वत पर अनेक मणियों के समूह किरणों के द्वारा मेघ रहित आकाश में भी निरन्तर इन्द्रधनुषों की परम्परा को विस्तृत करते रहते हैं ॥१५॥ जिस पर्वत पर मरकतमणियों की कान्ति से मिश्रित स्फटिकमणि, जिनके भीतर शैवाल से युक्त जल भरा हुआ है ऐसे सरोवरों की शोभा को धारण करते हैं ॥१६॥

---

१ समूहात् २ लतागृहम् ३ अनागच्छति सति ४ दुःखीभवति ५ सम्मुखं गच्छति ६ शिखरचराः अनुचरैः-सहिताश्च ७ मौक्तिकमयो नीरोगश्च ८ कूटः—कपटः शिखरश्च *राजत्यविकृतस्थितिः ब० ।

तमालोक्यामितो[1] वाचमभ्यधरेति कौतुकात् । [2]राजताद्रिमिमं दिव्यं *पश्यतामिति गायिके ॥१७॥
भानौ [3]समुद्यति प्रातरत्र स्फटिकभित्तयः । सिन्दूरिता इवाभान्ति संक्रान्ताभिनवांशवः ॥१८॥
इदं रम्यमिदं रम्यमिति पश्यद्वनान्तरम् । यस्मिन्नभःसदां युग्मं रन्तुं क्वापि न तिष्ठति ॥१९॥
एतौ पल्लविताशोकलतावलयमध्यगौ । राजतोऽन्तर्निविष्टौ वा स्वानुरागस्य दम्पती ॥२०॥
केकिकेकारवत्रासाद् [4]द्विजिह्वैरपवर्जितः । अयं मार्गस्थितो भाति सरलश्चन्दनद्रुमः ॥२१॥
तमालकाननैरेष प्रतिकुञ्जं विराजते । *प्रत्युद्गतैरिव ध्वान्तै रोद्धुमंशुमतः[5] प्रभाम् ॥२२॥
सौवर्णैः कटकैरेष क्रीडाभ्राम्यत्सुरासुरैः । क्वचित्सौमेरवीं[6] शोभां बिभ्राण इव भासते ॥२३॥
खेचरीः परितो वाति [7]धुन्वन्नलकवल्लरीः । एष तद्वदनामोदमादित्सुरिव मारुतः ॥२४॥
उत्तरीयैकदेशेन पिधाय स्तनमण्डलम् । द्योतमाना स्फुरत्कान्तिशोणदन्तच्छदत्विषा ॥२५॥
निर्गच्छन्ती लतागेहाच्चकास्ति [8]स्रस्तमूर्धजा । इयं काचिद्रतान्तेऽस्मात् स्वेदबिन्द्वाचितानना ॥२६॥
[युग्मम्]

एतदन्तर्वणं भाति सरः कनकपङ्कजैः । मज्जद्विद्याधरीपीनस्तनक्षोभक्षमोदकम् ॥२७॥

उस पर्वत को देख कर अमित विद्याधर ने कौतुक से इस प्रकार के वचन कहे । अहो गायिकाओं ! इस सुन्दर विजयार्ध पर्वत को देखो ।।१७।। प्रातःकाल सूर्योदय होने पर यहां स्फटिक की दीवालों पर जब नवीन किरणें पड़ती हैं तब वे सिन्दूर से पुती हुई के समान सुशोभित होती हैं ।।१८।। यह सुन्दर है, यह सुन्दर है इस तरह दूसरे दूसरे वन को देखता हुआ विद्याधरों का युगल जिस पर्वत पर कहीं भी क्रीड़ा के लिये ठहरता नहीं है ।।१९।। पल्लवित अशोक लता गृह के बीच में स्थित ये दम्पती ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों अपने अनुराग के भीतर ही बैठे हों ।।२०।। मयूरों की केका-ध्वनि के भय से जिसे सर्पों ने छोड़ दिया है ऐसा यह मार्ग में स्थित सीधा चन्दन का वृक्ष सुशोभित हो रहा है ।।२१।। जो सूर्य की प्रभा को रोकने के लिये ऊपर उठे हुए अन्धकार के समान जान पड़ते हैं ऐसे तमाल वृक्ष के वनों से यह पर्वत प्रत्येक लतागृहों में सुशोभित हो रहा है ।।२२।। जिन पर क्रीड़ा के लिये सुर और असुर घूम रहे हैं ऐसे सुवर्णमय कटकों से यह पर्वत कहीं पर सुमेरु पर्वत की शोभा को धारण करता हुआ सा सुशोभित हो रहा है ।।२३।। विद्याधरियों के चारों ओर उनकी केशरूप लताओं को कम्पित हुई यह वायु ऐसी बह रही है मानों उनके मुखों की सुगन्धि को ही ग्रहण करना चाहता है ।।२४।। जो उत्तरीय वस्त्र के अञ्चल से स्तनमण्डल को आच्छादित कर रही है, ओठों की लाल लाल कान्ति से शोभायमान है, जिसके केश बिखरे हुए हैं तथा जिसका मुख पसीने की बूंदों से व्याप्त है ऐसी यह कोई स्त्री संभोग के बाद लतागृह से बाहर निकलती हुई सुशोभित हो रही है ।।२५-२६।। जिसका जल गोता लगाने वाली विद्याधरियों के स्थूलस्तनों का क्षोभ सहन

---

१ चक्रवर्तिदूतः २ विजयार्धगिरिम् *पश्येतामिति ब० ३ समुद्गच्छति सति ४ सर्पैः *प्रत्युद्यातै ब०
५ सूर्यस्य ६ सुमेरुसम्बन्धिनीम् ७ धून्वन् कुन्तललताः ८ शिथिलित केशा ।

तरुभिः [1]सूनगन्धेन [2]दानामोदेन दन्तिभिः । इतस्ततः प्रलोभ्यन्ते भृङ्गाः पद्मवनैरपि ॥२८॥
वहन्त्येता जलं चात्र नद्यो दन्तिमदाविलम् । रक्ष्यमाणं तटीरत्नाभ्युदस्तैन्द्रायुधैरिव ॥२९॥
नक्तं चन्द्रकराक्रान्तचन्द्रकान्तोज्झिताम्बुभिः । विध्यापयति सानुस्थान् क्वचिद्दावानलानयम् ॥३०॥
क्रमादारोहतो भानोरस्य शृङ्गपरम्पराम् । एकस्मिन्वासरे नैकोऽप्युदयः खलु लक्ष्यते ॥३१॥
इति तस्य परां भूतिं रौप्याद्रेर्निगदंस्तयोः[3] । दमितारेः परं नाम्ना स प्राप शिवमन्दिरम्[4] ॥३२॥
अलङ्घ्यपरिखासालं चतुर्गोपुरराजितम् । जगत्त्रयमिवैकत्र पुञ्जीभूय व्यवस्थितम् ॥३३॥
यद्भाति सौधसंकीर्णशाखानगरभूतिभिः । सप्रासादैः पुरैरेत्य वीक्ष्यमाणमिवामरैः[5] ॥३४॥
यत्सौधकुड्यसंक्रान्तबालादित्यपरम्पराम् । बिभर्त्यालक्तकाखण्डपटलावलिविभ्रमाम् ॥३५॥
यदभ्रंकषहर्म्याग्रपताकावलिविभ्रमैः । जेतुमाह्वयतेऽजस्रं स्वं कान्त्येवामरीं[6] पुरीम् ॥३६॥
परया सम्पदा यच्च प्रत्यहं वर्द्धमानया । अतिशेते स्वरप्युच्चैर्जनानां पुण्यभागिनाम् ॥३७॥
यस्मिन्प्रासादपर्यन्तान्भ्रमन्त्यभ्राणि सन्ततम् । तद्रत्नभित्तिसंक्रान्तस्वरूपाणीव वीक्षितुम् ॥३८॥

करने में समर्थ है ऐसा वन के बीच में स्थित यह सरोवर स्वर्ण कमलों से सुशोभित हो रहा है ॥२७॥ जहां तहां भौंरे वृक्षों द्वारा फूलों की गन्ध से, हाथियों द्वारा मदजल की सुवास से और कमलवनों द्वारा अपनी सुगन्ध से लुभाये जा रहे हैं ॥२८॥ यहां ये नदियां हाथियों के मद से मलिन तथा किनारों पर लगे रत्नोंके द्वारा ताने हुए इन्द्रधनुषोंसे मानों सुरक्षित जल को धारण कर रही हैं ॥२९॥ यह पर्वत कहीं रात्रि के समय चन्द्रमा की किरणों से व्याप्त चन्द्रकान्त मणियों के द्वारा छोड़े हुए जल से शिखरों पर स्थित दावानल को बुझा रहा है ॥३०॥ सूर्य इस पर्वत की शिखरों पर क्रम क्रम से आरूढ़ होता है अतः निश्चय से एक दिन में एक ही सूर्योदय दिखाई नहीं देता। भावार्थ—भिन्न भिन्न शिखरों पर क्रम से आरूढ़ होने पर ऐसा जान पड़ता है कि यहां सूर्योदय कई बार हो रहा है ॥३१॥ इस प्रकार उन गायिकाओं के लिये विजयार्ध पर्वत की उत्कृष्ट सम्पदा का वर्णन करता हुआ वह अमित विद्याधर दमितारि चक्रवर्ती के शिव मन्दिर नामक नगर को प्राप्त हुआ ॥३२॥

जिसकी परिखा और कोट अलङ्घ्य था तथा जो चार गोपुरों से सुशोभित था ऐसा वह नगर इस प्रकार जान पड़ता था मानों तीनों लोक एक ही स्थान पर इकट्ठे होकर स्थित हो गये हों ॥३३॥ महलों से संकीर्ण—अच्छी तरह व्याप्त शाखानगरों की विभूति से जो नगर ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों महलों से युक्त देवों के नगर ही आकर उसे देख रहे हों ॥३४॥ जिसके महलों की दीवालों में प्रातःकाल के सूर्य की सन्तति प्रतिबिम्बित हो रही है ऐसा यह नगर महावर के अखण्ड पटल समूह के सन्देह को धारण कर रहा है ॥३५॥ जो नगर गगन चुम्बी महलों के अग्रभाग पर लगी हुई पताकावली के संचार से ऐसा जान पड़ता है मानों कान्ति के द्वारा अपने आपको जीतने के लिये स्वर्गपुरी को ही निरन्तर बुला रहा है । ३६॥ जो नगर प्रतिदिन बढ़ती हुई उत्कृष्ट सम्पदा से पुण्य शाली उत्तम मनुष्य के स्वर्ग को भी अतिक्रान्त करता रहता है ॥३७॥ जिस नगर में निरन्तर मेघ,

---

१ प्रसून सौरभ्येण २ मदगन्धेन ३ गायिकयोः ४ एतन्नामनगरम् ५ अमराणामिमानि आमराणि तैः पुरैः ६ अमराणामियम् आमरी तां स्वर्गपुरीमित्यर्थः ।

समृद्धं [1]नगरं नान्यदिदमेव महत्पुरम् । इतीव घोषयत्युच्चैर्यत्संगीतकनि:स्वनः ॥३९॥
यत्रोपहारपद्मानि वदनान्येव योषिताम् । भवन्ति संचरन्तीनां स्वबिम्बैर्मणिभूमिषु ॥४०॥
यत्र रात्रौ विराजन्ते स्फटिकाजिरभूमयः । चलत्पुष्पैरिवाकीर्णाः प्रतिमायाततारकाः ॥४१॥
स दूतस्तत्पुरं वीक्ष्य पिप्रिये प्रीतमानसः । जननीं जन्मभूमिं च प्राप्य को न सुखायते ॥४२॥
इत्युवाच ततो वाचं ते पुरालोकनोत्सुके । गायिके स्वेङ्गितज्ञत्वममितः ख्यापयन्निव ॥४३॥
समस्तसंपदां धाम पुरमेतद्विराजते । [1]अनूनविबुधाकीर्णमैन्द्रं पुरमिवापरम् ॥४४॥
सदैव दक्षिणश्रेण्यां स्थितमप्यमितात्मना । प्रतापेनोत्तरश्रेणीमाक्रम्यैतत्प्रवर्तते ॥४५॥
प्रासादशिखराण्येते न मुञ्चन्ति पयोमुचः । [2]आदित्सयेव तद्वज्रविटङ्केन्द्रायुधश्रियम् ॥४६॥
प्रासादतलसंविष्टो विभात्येष जनीजनः । स्वालङ्कारप्रभामग्नो [3]मध्येह्रदमिव स्थितः ॥४७॥
अधिष्ठितैर्जनैः सम्यक्पर्याप्ताशेषवस्तुभिः । अत्रापणाः प्रसार्यन्ते विनोदार्थं वणिग्जनैः ॥४८॥

महलों के अग्रभाग तक घूमते रहते हैं जिससे ऐसे जान पड़ते हैं मानों उसकी रत्नमयी दीवालों में प्रतिबिम्बित अपने स्वरूप को देखने के लिये ही घूमते रहते हों ॥३८॥ जिस नगर के संगीत का शब्द मानों उच्चस्वर से यही घोषणा करता रहता है कि बहुत बड़ा समृद्ध—सपत्तिशाली नगर यही है दूसरा नहीं ॥३९॥ जहां मणिमयभूमियों पर चलने वाली स्त्रियों के मुख ही अपने प्रतिबिम्बों से उपहार के कमल होते हैं ॥४०॥ जहां रात्रि में ताराओं के प्रतिबिम्ब से युक्त स्फटिक के आंगनों की भूमियां ऐसी सुशोभित होती हैं मानों चलते फिरते फूलों से ही व्याप्त हो रही हों ॥४१॥

प्रसन्नचित्त का धारक वह दूत उस नगर को देख कर प्रसन्न हो गया सो ठीक ही है क्योंकि जननी और जन्मभूमिको देख कर कौन सुखी नहीं होता ? ॥४२॥ तदनन्तर नगर को देखने के लिये उत्कण्ठित गायिकाओं से अमित ने इस प्रकार के वचन कहे। मानों वह यह कह रहा था कि हम अभिप्राय—हृदय की चेष्टा को जानने वाले हैं ॥४३॥ यह नगर इन्द्र के दूसरे नगर के समान सुशोभित हो रहा है क्योंकि जिसप्रकार इन्द्र का नगर समस्तसम्पदाओं का स्थान है उसीप्रकार यह नगर भी समस्त संपदाओं का स्थान है और जिसप्रकार इन्द्र का नगर अनूनविबुधाकीर्ण—बड़े बड़े देवों से व्याप्त है उसीप्रकार यह नगर भी बड़े बड़े विद्वानों से व्याप्त है ॥४४॥ यह नगर दक्षिण श्रेणी में स्थित होकर भी निरन्तर अपने अपरिमित प्रताप से उत्तर श्रेणी को आक्रान्त कर प्रवर्त रहा है ॥४५॥ उस नगर की हीरानिर्मित कपोत पालियों के इन्द्रधनुषों की शोभा को ग्रहण करने की इच्छा से ही मानों ये मेघ महलों के शिखरों को नहीं छोड़ते हैं ॥४६॥ महलों की छतों पर बैठा तथा अपने आभूषणों की प्रभा में डूबा यह स्त्रियों का समूह ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों तालाब के बीच में ही स्थित हो ॥४७॥ निवासी जनों के द्वारा जिनकी समस्त वस्तुएं अच्छी तरह खरीद ली जाती हैं ऐसे व्यापारी मनुष्यों के द्वारा विनोद के लिये यहां दूकानें फैलायी जाती हैं—बढ़ायी जाती हैं ॥४८॥

---

१ महाविद्वद्भिर्व्याप्तं पक्षे महादेवैर्व्याप्तं २ गृहीतुमिच्छया ३ ह्रदस्य मध्ये इति मध्येह्रदम् अव्ययीभावसमासः ।

उपहारीकृताशेषशिरीषकुसुमावलिम् । व्याददात्याननं हंसी प्राप्य शैवलशङ्कया ॥४९॥
इदं राजकुलद्वारं नानाविधजनार्चितम् । केनाप्येकीकृतं द्रष्टुं त्रैलोक्यमिव राजते ॥५०॥
नानापत्रान्वितं[1] भास्वद्रत्नाभरणभासुरम् । राजकं बाह्यभूमिस्थमेतद्दिव्यवनायते ॥५१॥
शिञ्जानरसनादामनूपुरैर्वारयोषितः । इतस्ततः प्रयान्त्येताः सस्मरज्यारवा इव ॥५२॥
एष दौवारिकै रुद्धो [2]विविक्षितजनः परम् । वदन्नपि प्रियं किञ्चिदनुशय्य निवर्तते ॥५३॥
अन्तर्मदवशात्किञ्चिन्निमील्य नयनद्वयम् । निराशङ्कं विशन्त्येते राजवल्लभकुञ्जराः ॥५४॥
छलयन्तो जगत्सर्वमेते प्रच्छन्नदुर्नयाः । पिशाचा इव यान्त्यन्तर्लीनमर्थाधिकारिणः ॥५५॥
अनुयातैः समं शिष्यैर्वदन्तः शास्त्रसंकथाम् । तृणायापि न भोगार्थान्मन्यमानाः स्वबोधतः ॥५६॥
सदा सर्वात्मनाश्लिष्टाः सरस्वत्यानुरागतः । एते यान्ति बुधाः स्वैरमनुल्वणपरिच्छदाः ॥५७॥

(युगलम्)

अनेकसमरोपात्तविजयैकयशोधनाः । परेभ्योऽतिमहद्भ्योऽपि रक्षन्तः शरणागतान् ॥५८॥
माद्यद्दन्तिघटाटोपविपाटनपटीयसा । विक्रमेण विराजन्ते वीराः सिंहा इवापरे ॥५९॥

(युग्मम्)

उपहार में चढ़ाये हुए समस्त शिरिष पुष्पों के समूह को पाकर हंसी शेवाल की शङ्का से मुँह खोल रही है ॥४९॥ नानाप्रकार के मनुष्यों से सुशोभित यह राजकुल का द्वार ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों देखने के लिये किसी के द्वारा इकट्ठा किया हुआ त्रैलोक्य—तीनलोकों का समूह ही हो ॥५०॥ बाह्य भूमि में स्थित यह राजाओंका समूह दिव्यवन—सुन्दर वन के समान जान पड़ता है क्योंकि जिसप्रकार दिव्यवन नाना पत्रों—रङ्गविरङ्गे पत्तों से सहित होता है उसीप्रकार राजाओं का समूह भी नानापत्रों—हाथी घोड़ा आदि अनेक वाहनों से सहित है और दिव्यवन जिसप्रकार देदीप्यमान रत्नों के आभूषणों से सुशोभित होता है उसीप्रकार राजाओं का समूह भी उनसे सुशोभित है ॥५१॥ रुनझुन शब्द करने वाली मेखला और नूपुरों से सहित ये वाराङ्गनाएं जहां तहां ऐसी घूम रही हैं मानों कामदेव की प्रत्यञ्चा के शब्द से ही सहित हों ॥५२॥ अत्यधिक प्रियवचन बोलता हुआ भी यह प्रवेश करने का इच्छुक जन द्वारपालों के द्वारा रोक दिया गया है अतः कुछ पश्चाताप करके वापिस लौट रहा है ॥५३॥ ये राजा के प्रिय हाथी, अन्तर्गत मद के कारण नेत्र युगल को कुछ कुछ बन्द कर निःशङ्करूप से प्रवेश कर रहे हैं ॥५४॥ जो समस्त जगत् को धोखा देते हैं तथा प्रच्छन्नरूप से अन्याय करते हैं ऐसे ये अर्थाधिकारी पिशाचों के समान गुप्तरूपसे भीतर प्रवेश कर रहे हैं ॥५५॥ पीछे पीछे चलने वाले शिष्यों के साथ जो शास्त्र की चर्चा कर रहे हैं, जो आत्मज्ञान से भोगों को तृण भी नहीं समझते हैं, जो सरस्वती के द्वारा अनुरागवश सदा सर्वाङ्ग से आलिङ्गित रहते हैं तथा शिष्ट परिकर अथवा वेषभूषा से सहित हैं ऐसे ये विद्वान् स्वतन्त्रता पूर्वक चल रहे हैं ॥५६-५७॥ अनेक युद्धों में प्राप्त विजय से उत्पन्न एक यश ही जिनका धन है तथा जो बड़े बड़े शत्रुओं से भी

---

१ अनेकपर्णसहितं नानावाहनसहितञ्च २ प्रवेशेच्छुकजनः ।

परसन्मानमात्रेण स्वप्राणव्ययकारिणः । दीनानाथविपन्नानामापत्स्वत्यन्तवत्सलाः ॥६०॥
एते वीरा विशन्त्यन्तः केचिन्निर्यान्ति च प्रभोः । तुष्टाः सुदुर्लभाहूत्या स्रजा च करदत्तया ॥६१॥
(युग्मम्)
बद्धमुक्ताश्चिरायैते पुनः स्वपदवाञ्छया । राजन्याः ख्यातसौजन्या द्वारमूलमुपासते ॥६२॥
अनेकदेशजा जात्या[1] विनीता [2]लक्षणान्विताः । एते [3]सुतेजसो भान्ति हया राजसुतैः समम् ॥६३॥
यामस्थावस्थितानेकमाद्यद्दन्तिशताकुला । द्यौरिवाभाति कक्षेयं कीर्णानेकघनाघनैः ॥६४॥
बन्दिभिः स्तूयमानाङ्का वरशौण्डीर्यशालिनः । निर्व्यूढानेकसंग्रामभूरिभाराजितश्रियः ॥६५॥
विधृतैः सर्वतश्छत्रैः स्वयशोभिरिवामलैः । एतेऽवसरमुद्वीक्ष्य खेचरेन्द्रा बहिःस्थिताः ॥६६॥
(युग्मम्)
अनेकपशताकीर्णं दुर्गं वेत्रलताधरैः । विक्रान्तविक्रमैर्युक्तं [4]हरिभिश्चारुकेशरैः ॥६७॥
क्वचिन्मृगमदोद्दामगन्धाकृष्टालिसंकुलम् । एतद्वनमिवाभाति [5]सुविप्रवरसेवितम् ॥६८॥
(युग्मम्)

शरणागत लोगों की रक्षा करते हैं ऐसे अन्य वीर सिंहों के समान मदोन्मत्त गजघटा– हस्ति समूह के विदारण करने में समर्थ पराक्रम से सुशोभित हो रहे हैं ॥५८–५९॥ जो दूसरों से प्राप्त सम्मान मात्र के द्वारा अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं, जो दीन अनाथ तथा विपत्तिग्रस्त लोगों पर आपत्तियों के समय अत्यन्त स्नेह प्रदर्शित करते हैं तथा जो राजा के अत्यन्त दुर्लभ आह्वान और अपने हाथ से दी हुई माला से सतुष्ट है ऐसे ये कितने ही वीर भीतर प्रवेश कर रहे हैं और बाहर निकल रहे हैं ॥६०–६१॥ जो चिरकाल तक बन्धन में रखने के बाद छोड़े गये हैं तथा जिनकी सज्जनता प्रख्यात है ऐसे राजा लोग फिर से अपना पद पाने की इच्छा से राजद्वार की उपासना कर रहे हैं ॥६२॥ जो अनेक देशों में उत्पन्न हैं, कुलीन हैं, विनीत हैं, अच्छे लक्षणों से सहित हैं और उत्तम तेज से युक्त हैं ऐसे ये घोड़े राजकुमारों के समान सुशोभित हो रहे हैं ॥६३॥ पहरे पर खड़े हुए अनेक मदोन्मत्त हाथियों से भरी हुई यह कक्षा अनेक मेघों से व्याप्त आकाश के समान सुशोभित हो रही है ॥६४॥ वन्दीजन जिनके नाम की स्तुति कर रहे हैं, जो उत्कृष्ट शौर्य से सुशोभित हैं, जिन्होंने जीते हुए अनेक संग्रामों में बहुत भारी लक्ष्मी प्राप्त की है तथा जो सब ओर धारण किये हुए अपने यश के समान निर्मल छत्रों से युक्त हैं ऐसे ये विद्याधर राजा अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बाहर खड़े हैं ॥६५–६६॥ यह राजद्वार कहीं पर वन के समान सुशोभित हो रहा है क्योंकि जिसप्रकार वन अनेक पशताकीर्ण सैंकड़ों हाथियों से व्याप्त होता है उसीप्रकार राजद्वार भी पहरे पर खड़े हुए सैंकड़ों हाथियों से व्याप्त है। जिसप्रकार वन वेत्रलताओं से सहित धर—पर्वतों से दुर्ग—दुर्गम्य होता है उसी प्रकार राज द्वार भी वेत्रलता—छड़ियों को धारण करने वाले द्वारपालों से दुर्गम्य है। जिसप्रकार वन

---

१ कुलीनाः २ योग्यलक्षणसहिताः ३ शोभनतेजोयुक्ताः ४ अश्वैः सिंहैश्च ५ शोभना ये विप्रवरा ब्राह्मणश्रेष्ठास्तैः सेवितं, पक्षे सुविषु शोभनपक्षिषु प्रवराः श्रेष्ठास्तैः सेवितम् ।

इत्याख्याय तयोर्दूतो विभूतिं राजवेश्मनः । ततोऽवतारयद्व्योम्नो विमानं स सभाजिरे ॥६९॥
संभ्रमप्रणतायातप्रतीहारपुरस्सरः । अमितश्चक्रिणं दूरात्प्रणनाम यथोचितम् ॥७०॥
अत्रास्स्वेति स्वहस्तेन राज्ञा निर्दिष्टमासनम् । प्रणामपूर्वमध्यास्त सभ्यैः पृष्टो निराकुलः✽ ॥७१॥
तत्र स्थित्वा यथावृत्तं गायिकागमनं ततः । अमितोऽवसरप्राप्तं क्रमाद्राज्ञे न्यवेदयत् ॥७२॥
ते प्रवेशय वेगेन द्रक्ष्यामीति तमभ्यधात् । आसन्नवर्तिनां राजा वक्त्राण्यालोक्य मन्त्रिणाम् ॥७३॥
स्वयमेवामितो गत्वा गायिके ते यथाक्रमम् । प्रावीविशत् स [1]याष्टीकैः प्रोत्सार्य प्रेक्षिकां सभाम् ॥७४॥
अथ तेजस्विनां नाथं प्रतापपरिशोभितम् । [2]स्वकराक्रान्तदिक्चक्रं विवस्वन्तमिवापरम् ॥७५॥
रत्नाभरणतेजोभिः स्फुरद्भिः परितः सभाम् । सृजन्तमिव दिग्दाहमनुत्पातविभूतये ॥७६॥
आमोदिमालतीसूनस्रग्व्याजेनेव मूर्धनि । त्रिजगद्भ्रमणश्रान्तां स्वकीर्तिं दधतं मुदा ॥७७॥

विक्रान्त विक्रम प्रचण्ड पराक्रम तथा सुन्दर केशर—गर्दन के बालों से युक्त हरि—सिंहों से सहित होता है उसीप्रकार राज द्वार भी विक्रान्त विक्रम—सुन्दर चालों से चलने वाले तथा गर्दन के सुन्दर बालों से युक्त हरि—घोड़ों से सहित है। जिसप्रकार वन कस्तूरी की उत्कट—बहुत भारी गन्ध से आकृष्ट भ्रमरों से युक्त होता है उसीप्रकार राज द्वार भी युक्त है और जिसप्रकार वन सुविप्रवरसेवित—अच्छे अच्छे श्रेष्ठ पक्षियों से सेवित होता है उसीप्रकार राज द्वार भी सुविप्रवरसेवित—उत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मणों से सेवित है ॥६७-६८॥ इसप्रकार उन गायिकाओं से राज भवन की विभूति का वर्णन कर दूत ने विमान को आकाश से सभाङ्गण में उतारा ॥६९॥

तदनन्तर संभ्रम पूर्वक नम्रीभूत होकर आया हुआ द्वारपाल जिसके आगे आगे चल रहा था ऐसे अमित ने चक्रवर्ती को दूर से ही यथा योग्य प्रणाम किया ॥७०॥ 'यहां बैठो' इसप्रकार राजा के द्वारा अपने हाथ से बताये हुए आसन पर प्रणाम पूर्वक निराकुलता से बैठा। सभासदों ने उससे कुशल समाचार पूछा ॥७१॥ तदनन्तर वहां बैठकर अमित ने जैसा कुछ हुआ तदनुसार अवसर आने पर क्रम से राजा के लिये गायिकाओं के आगमन की सूचना की ॥७२॥ राजा ने निकटवर्ती मन्त्रियों के मुख देख कर अमित से कहा कि उन्हें शीघ्र ही प्रविष्ट कराओ, देखूंगा ॥७३॥ अमित ने स्वयमेव जाकर तथा प्रतीहारों के द्वारा दर्शक सभा को दूर कर यथाक्रम से उन गायिकाओं को प्रविष्ट कराया ॥७४॥

तदनन्तर जो तेजस्वियों का स्वामी था, प्रताप से सुशोभित था, अपने राजस्व (टैक्स) से (पक्ष में किरणों से) जिसने दिशाओं के समूह को व्याप्त कर लिया था, और इस कारण जो दूसरे सूर्य के समान जान पड़ता था ॥७५॥ जो सभा के चारों ओर फैलने वाले रत्नमय आभूषणों के तेज से ऐसा जान पड़ता था मानो उत्पात रहित विभूति के लिये दिग्दाह को रच रहा था ॥७६॥ जो सुगन्धित मालती के फूलों की माला के बहाने तीनों जगत् में भ्रमण करने से थकी हुई अपनी कीर्ति को हर्ष पूर्वक शिर पर धारण कर रहा था ॥७७॥ जो कर्णाभरण सम्बन्धी मोतियों की किरणों से

✽ निराकुलम् ब० १ यष्टिधारिभिः प्रतीहारैः २ स्वकिभिः राजग्राह्यभागैः पक्षे किरणैः।

कर्णान्तरस्थमुक्तांशुस्फुरिताननशोभया । क्षयवृद्धियुतं चन्द्रं हसन्तमिव सन्ततम् ॥७८॥
सुधीरस्निग्धदुग्धाभदृष्टिपातैः समन्ततः । अन्तः प्रसन्नतां स्वस्य कथयन्तमनक्षरम् ॥७९॥
केयूरपद्मरागांशुबन्धुरौ बिभ्रतं भुजौ । सदा निर्यत्प्रतापाग्निज्वालापल्लविताविव ॥८०॥
विस्मयात्कण्ठमाश्लिष्य मुखकान्ति दिदृक्षुणा । हारव्याजमुपादाय सेव्यमानमिवेन्दुना ॥८१॥
मेरुसानुविशालेन श्रीनिवासेन वक्षसा । अत्यपूर्वं ब्रुवाणं वा ¹प्रथिमानं स्वचेतसः ॥८२॥
नानाविधायुधाभ्यासश्रमक्षामीकृतोदरम् । अनर्घ्यरसनादामकलिताधरवाससम् ॥८३॥
सुवृत्तविपुलापीनमांसलोरुद्वयश्रिया । ऐरावतकराकारं परिभूय व्यवस्थितम् ॥८४॥
सुश्लिष्टसन्धिबन्धेन मन्त्रेणेवाश्रितात्मना । जानुद्वयेन गूढेन राजमानं समन्ततः ॥८५॥
सुवृत्तं² ³लक्षणोपेतं जङ्घाद्वयमनुत्तरम् । दधानं सन्मनोहारि सुकाव्यसदृशं परम् ॥८६॥
किञ्चित्सिंहासनात्स्रस्तवामाङ्घ्रे* रोचिषां चयैः । रञ्जयन्तमिवाताम्रैः स्फाटिकं पादपीठकम् ॥८७॥
मत्स्यचक्राम्बुजोपेतमुत्तानीकृत्य दक्षिणम् । सरोवरमिवापूर्वं चरणं लीलया स्थितम् ॥८८॥

व्याप्त मुख की शोभा से ऐसा जान पड़ता था मानो क्षय और वृद्धि से युक्त चन्द्रमा की सदा हँसी ही कर रहा हो ॥७८॥ जो सुधीर, स्निग्ध तथा दूध के समान आभावाले दृष्टि पातों से सब ओर चुपचाप अपने अन्तःकरण की प्रसन्नता को कह रहा था ॥७९॥ जो बाजूबन्द में लगे हुए पद्मरागमणि की किरणों से व्याप्त उन भुजाओं को धारण कर रहा था जो सदा निकलती हुई प्रताप रूप अग्नि की ज्वालाओं से ही मानों पल्लवित – लाल लाल पत्तों से युक्त हो रही थी ॥८०॥ जो हार के बहाने ऐसा जान पड़ता था मानों विस्मय से कण्ठ का आलिङ्गनकर मुख की कान्ति को देखने के इच्छुक चन्द्रमा के द्वारा सेवित हो रहा हो ॥८१॥ मेरु पर्वत के शिखर के समान विशाल तथा लक्ष्मी के निवासभूत वक्षःस्थल से जो ऐसा जान पड़ता था मानों अपने चित्त की बहुत भारी पृथुता को ही कह रहा हो ॥८२॥ नानाप्रकार के शस्त्रों के अभ्यास सम्बन्धी श्रम से जिसका पेट कृश था तथा जिसका अधोवस्त्र अमूल्य मेखला करधनी से सहित था ॥८३॥ गोल, सान्द्र, विशाल, और परिपुष्ट दोनों जांघों की शोभा से जो ऐरावत हाथी की सूंड की आकृति को तिरस्कृत कर स्थित था ॥८४॥ जो सब ओर से घुटनों के उस गूढ़ युगल से शोभायमान हो रहा था जिसका कि सन्धिबन्ध अच्छी तरह श्लिष्ट था जो मन्त्र के समान सुशोभित तथा गुप्त था ॥८५॥ जो सुवृत्त—गोल (पक्ष में अच्छे छन्दों से सहित), सामुद्रिक शास्त्र में प्रदर्शित उत्तम लक्षणों से युक्त (पक्ष में लक्षणावृत्ति से सहित), उत्कृष्ट, सत्पुरुषों के मन को हरण करने वाले उत्तम काव्य के समान किसी सर्वश्रेष्ठ जङ्घा युगल को धारण कर रहा था ॥८६॥ जो सिंहासन से कुछ बाहर की ओर लटके हुए वाम चरण की लाल लाल किरणों के समूह द्वारा स्फटिकमणिनिर्मित पादपीठ—पैर रखने की चौकी को मानों लाल लाल कर रहा था ॥८७॥ जो सरोवर के समान मत्स्य, चक्र और शङ्ख अथवा कमल से सहित (पक्ष में

---

१ विस्तारम् विशालतामित्यर्थः २ शोभनवर्तुलाकारम् पक्षे सुन्दरछन्दो युक्तं ३ सामुद्रिकशास्त्रविहित-लक्षणैश्चिह्नैः सहितं पक्षे लक्षणावृत्ति सहितं * वामाङ्घ्रि म० ।

सर्वतो वारनारीभिर्धूयमानैः प्रकीर्णकैः । सेव्यमानं शरज्ज्योत्स्नाकल्लोलैर्वासरेऽपि वा ॥८९॥
प्रस्तावसदृशं किञ्चित्परिहासेन जल्पितम् । आकर्ण्य वन्दिनो वाक्यं स्मयमानं तदुन्मुखम् ॥९०॥
यथोक्तंकृतकृत्येभ्यो भृत्येभ्यः पारितोषिकम् । दापयेति समासन्नमादिशन्तं च [1]मौलिकम् ॥९१॥
क्रमात्तत्सभावेदीमास्थितान् खेचरेश्वरान् । कटाक्षैरनुगृह्णन्तमन्तःशुद्धैरितस्ततः ॥९२॥
आभिरन्याभिरप्येवं राजलीलाभिरन्वितम् । दमितारिं सभामध्ये पश्यतस्ते स्म गायिके ॥९३॥
इतो विलोकस्व देवेति प्राग् निर्दिश्य निवेदिते । अमितेन ततोऽद्राक्षीद्राजा विस्मित्य गायिके ॥९४॥
ततस्तद्वीक्षणोद्भूतविस्मयाकुलचेतसा । राजा प्रकृतिधीरोऽपि प्रदध्याविति तत्क्षणम् ॥९५॥
सम्यगप्राकृताकारे सत्यमेते सदेवते । केनापि हेतुनाभूतामेवं किं नागकन्यके ॥९६॥
इति सत्सभया सार्धं राजा [2]निध्याय ते[3] चिरम् । अकारयत्तयोः क्षिप्रं सपर्यामासनादिकम् ॥९७॥
ते संभाष्य स्वयं राजा तमित्यमितमादिशत् । अर्पयैते यथायोग्यं कन्यायाः [4]कनकश्रियः ॥९८॥

❁ शार्दूलविक्रीडितम् ❁

इत्यादेशमवाप्य भर्तुरुचितां पूजां च तुष्टोऽमितः
भूत्वा पूर्वसरस्तयोः समुचितं गत्वा कुमारीपुरम् ।

सामुद्रिक शास्त्र में वर्णित मत्स्यादि के चिह्नों से सहित) अपूर्व दाहिने पैर को ऊपर कर लीला पूर्वक बैठा हुआ था ।।८८।। जो सब ओर वाराङ्गनाओं के द्वारा चलाये हुए चमरों से सेवित हो रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानों दिन में भी शरद ऋतु की चांदनी की तरङ्गों से सेवित हो रहा हो ।।८९।। जो प्रस्ताव – अवसर के अनुरूप हँसी में कहे हुए वन्दी के किसी वचन को सुनकर उसकी ओर मुसक्या रहा था ।।९०।। कहे अनुसार कृतकृत्य सेवकों के लिये पारितोषिक दिलाओ ········ इसप्रकार जो निकटवर्ती मन्त्री आदि प्रमुख वर्ग को आदेश दे रहा था ।।९१।। जो क्रमसे सभा की वेदी पर बैठे हुए विद्याधर राजाओं को अन्तरङ्ग से शुद्ध कटाक्षों के द्वारा यहा वहां अनुगृहीत कर रहा था ।।९२।। जो इन तथा इसप्रकार की अन्य लीलाओं से सहित था ऐसा राजा दमितारि को उन गायिकाओं ने सभा के बीच देखा ।।९३।।

तदनन्तर हे देव ! इधर देखिये, इसप्रकार पहले कह कर अमित ने जिनकी सूचना दी थी ऐसी गायिकाओं को राजा ने आश्चर्य पूर्वक देखा ।।९४।। राजा दमितारि यद्यपि स्वभाव से धीर था तो भी उन गायिकाओं को देखने से उत्पन्न आश्चर्य से आकुलित चित्त के द्वारा तत्क्षण इसप्रकार का विचार करने लगा ।।९५।। समीचीन तथा विशिष्ट आकार को धारण करने वाली ये गायिकाएं सच-मुच ही देवाधिष्ठित हैं । किसी कारण क्या नाग कन्याएं इस रूप हुई हैं ।।९६।। इसप्रकार श्रेष्ठ सभा के साथ चिरकाल तक उन गायिकाओं को देख कर राजा ने शीघ्र ही आसन आदि के द्वारा उनका सत्कार कराया ।।९७।। राजा ने स्वयं उनसे सभाषण कर अमित को आदेश दिया कि इन्हें यथा-योग्य रीति कनक श्री कन्या के लिये सौंप दो । ९८।।

---

१ अमात्यादिमूलवर्गम् २ समवलोक्य ३ गायिके ४ एतन्नामकन्यायाः ।

आसातां सुखमत्र संततमिति व्याहृत्य स स्नेहतः
ते तस्यै कनकश्रियै श्रिय इव प्रत्यक्षमूर्त्यै ददौ ॥९९॥
तद्वीक्षाक्षणिकापि सा [1]पटुमतिः सद्यो विसृज्यामितं
संभाष्य प्रतिपत्तिमात्मसदृशीं प्राप्य ते गायिके ।
रेजे राजसुता निसर्गविनयालंकारितां बिभ्रती
शोभासम्पदमद्भुतं त्रिभुवने रूपं हि सप्रश्रयम् ॥१००॥

इत्यसगकृतौ श्रीशान्तिपुराणे दमितारिसंदर्शनो नाम

* तृतीयः सर्गः *

इसप्रकार राजा की आज्ञा तथा उचित सन्मान प्राप्त कर जो संतुष्ट था ऐसे अमित ने उन गायिकाओं के अग्रेसर होकर तथा समुचित रीति से कन्या कनक श्री के अन्तःपुर जाकर उन गायिकाओं से स्नेह पूर्वक कहा कि यहां आप लोग सदा सुख से रहिये । इसप्रकार कह कर प्रत्यक्ष शरीर को धारण करने वाली लक्ष्मी के समान कन्या के लिये वे दोनों गायिकाएं सौंप दीं ॥९९॥ उन गायिकाओं को देखकर तीक्ष्णबुद्धि वाली कनक श्री ने अमित को शीघ्र ही विदा किया, गायिकाओं से संभाषण किया, और उन्हें अपने अनुरूप सत्कार प्राप्त कराया । इसप्रकार स्वाभाविक विनय से अलंकृत शोभारूप संपदा को धारण करती हुई राजपुत्री सुशोभित हो रही थी सो ठीक ही है क्योंकि विनय सहित रूप तीनों लोकों में अद्भुत होता है ॥१००॥

इसप्रकार असग कवि विरचित श्री शान्तिपुराण में दमितारि के दर्शन
का वर्णन करने वाला तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥३॥

---

१ तीक्ष्णबुद्धिः ।

चतुर्थः सर्गः

卐

अथान्यदा ¹महास्थानीमध्यस्थं चक्रवर्तिनम् । ²स्थापत्यः सभयः कश्चिद्विनयानम्य व्यजिज्ञपत् ।।१।।
देव दत्तावधानेन निशम्यैतत्क्षमस्व मे । यत्कन्यान्तःपुरे वृत्तं तदित्थमभिकथ्यते ।।२।।
गायिकाव्याजमास्थाय त्वामत्रैत्यापराजितः । ³उत्सुकय्य भवत्पुत्रीं ⁴भ्रातृसादकृतोद्धतः ।।३।।
विमाने तामथारोप्य भ्रातरं ⁵चापराजितम् । अनैषीत्प्रातरद्यैव स ⁶महाचापराजितः ।।४।।
स किञ्चिदन्तरं गत्वा ⁷वीक्ष्यास्माननुधावतः । प्रतिपाल्य विहस्यैवमवादीद् भयवर्जितः ।।५।।
भवद्भिः किं वृथायातैरशक्तैर्युद्धकर्मणि । अनायुधान्वयोवृद्धान्किं हन्यादपराजितः ।।६।।
यात यूयं निवृत्यास्मात्प्रदेशात्प्रणतोऽस्म्यहम् । ब्रूत मद्वचनेनेसमुदन्तं⁸ चक्रवर्तिनः ।।७।।
इयमायोधनायैव मद्भ्रात्रा कन्यका हृता । अनिमित्तं सतां युद्धं तिरश्चामिव किं भवेत् ।।८।।

चतुर्थ सर्ग

अथानन्तर अन्य समय भय सहित किसी कञ्चुकी ने महासभा के मध्य में स्थित चक्रवर्ती दमितारि को नमस्कार कर इसप्रकार निवेदन किया ।।१।। हे देव ! सावधानी से इसे सुन मुझे क्षमा कीजिये । कन्या के अन्तःपुर में जो कुछ हुआ है वह इसप्रकार कहा जाता है ।।२।। गायिका का बहाना रख उद्दण्ड अपराजित ने यहां आपके पास आकर तथा आपकी पुत्री को उत्कण्ठित कर भाई के अधीन कर दिया है ।।३।। महाधनुष से सुशोभित वह आज ही प्रातः आपकी पुत्री और भाई अपराजित को विमान में चढ़ा कर ले गया है ।।४।। वह कुछ दूर जाकर तथा पीछे दौड़ते हुए हम लोगों को देख कर रुका और हँस कर निर्भय होता हुआ इसप्रकार कहने लगा ।।५।। व्यर्थ आये हुए तथा युद्ध कार्य में असमर्थ आप लोगों से क्या प्रयोजन है ? क्या अपराजित शस्त्र रहित वृद्धजनों को मारेगा ? ।।६।। तुम लोग इस स्थान से लौट कर जाओ । मैं नम्र हूँ, मेरे वचन से यह समाचार चक्रवर्ती से कहो ।।७।। युद्ध करने के लिये ही मेरे भाई द्वारा यह कन्या हरी गयी है । तिर्यञ्चों के

---

१ महासभामध्यस्थम् २ कञ्चुकी ३ उत्सुका कृत्वा ४ भ्रात्राधीनाम् ५ च+अपराजितम् इति सन्धिः ६ महाकोदण्डशोभितः ७ पश्चाद् धावतः ८ कन्याहरणवृत्तान्तम् ।

इतो न पदमप्येकं यास्यामि परतो [1]ऽगात् । अस्मादिति प्रतिज्ञाय स्थितो युद्धाभिलाषुक: ॥९॥
इत्येतावद्भयात्किञ्चिदन्त:स्खलितया गिरा । अव्यक्तमिव तद्वार्तां व्याहृत्योपशशाम स: ॥१०॥
तत: शत्रो रणोद्योगं [2]निकारमपि तत्कृतम् । [3]सौविदल्लमुखाद्राजा श्रुत्वान्त:कुपितोऽभवत् ॥११॥
क्रोधमाक्रम्य धैर्येण [4]प्रस्तावजमपि प्रभु: । इत्युवाच तत: सभ्यान्पश्यन्वीरान्समन्तत: ॥१२॥
नाङ्गीकरोति य: कश्चित्प्राकृतोऽपि[5] पराभवम् । ईदृशस्य समं ब्रूत यत्कर्तव्यं तदत्र न: ॥१३॥
एक एवाथ किं गत्वा हनिष्यामि तमुन्मदम् । कुतश्चिदीदृशं वाक्यं मया ब्रूत यदि श्रुतम् ॥१४॥
अवज्ञाविजितानेकानेकपे[6] यूथनायके । निहते हरिणाक्रम्य पोत:[7] कमनुयास्यति ॥१५॥
तं पारर्द्धिकेनापि दूरादेकेन केनचित् । दारयिष्याम्युत स्तब्धं सानुजं खदिरं यथा ॥१६॥
दमितारावििति क्रोधादुदीर्य विरते गिरम् । प्रचचाल [8]तदास्थानी वेलेव प्रलयोदधे: ॥१७॥
तत: कश्चित्कषायाक्ष: क्रुद्धो दष्टाधरस्तदा । आहतोच्चै: स्वमेवांसं वामं दक्षिणपाणिना ॥१८॥

समान सत्पुरुषों का युद्ध क्या अकारण ही होता है ? ॥८॥ इस पर्वत से आगे मैं एक पद भी नहीं जाऊंगा ऐसी प्रतिज्ञा कर युद्ध की इच्छा करता हुआ खड़ा है ॥९॥ इसप्रकार भय से भीतर कुछ कुछ स्खलित होने वाली वाणी के द्वारा अस्पष्ट रूप से उसका समाचार कह कर वह वृद्ध कञ्चुकी शान्त हो गया ॥१०॥

तदनन्तर राजा दमितारि कञ्चुकी के मुख से शत्रु के रण सम्बन्धी उद्योग और उसके द्वारा किये हुए पराभव को सुन कर हृदय में कुपित हुआ ॥११॥ तत्पश्चात् इस अवसर से यद्यपि क्रोध उत्पन्न हुआ था तथापि उसे धैर्य से दबा कर वीर सभासदों को चारों ओर देखते हुए दमितारि ने इसप्रकार कहा ॥१२॥

जो कोई साधारण मनुष्य है वह भी ऐसे व्यक्ति के पराभव को स्वीकृत नहीं करता है इसलिए इस संदर्भ में हम लोगों का जो कर्त्तव्य है उसे आप एक साथ कहिये ॥१३॥ अथवा कहने से क्या ? मैं अकेला ही जाकर उस अभिमानी को मार डालूंगा। किसी से यदि ऐसा वाक्य मैंने सुना हो तो कहो ॥१४॥ अनादर पूर्वक अनेक हाथियों को जीतने वाला झुण्ड का नायक गजराज जब सिंह द्वारा आक्रमण कर मार डाला जाता है तब बालक हाथी किसके पीछे जायगा ? ॥१५॥ अथवा किसी शिकारी के द्वारा भी दूर से भाई सहित उस अहंकारी को उसप्रकार विदीर्ण करा दूंगा जिसप्रकार कि खदिर वृक्ष को विदीर्ण कर दिया जाता है ॥१६॥ क्रोध से इस प्रकार के शब्द कह कर जब दमितारि चुप हो गया तब सभा प्रलय कालीन समुद्र की वेला के समान क्षुभित हो उठी ॥१७॥

तदनन्तर जिसके नेत्र लाल लाल हो रहे थे, जो अत्यन्त कुपित था और ओंठ को डस रहा था ऐसा कोई वीर दाहिने हाथ से अपने ही बाएं कन्धे को जोर जोर से ताडित करने लगा ॥१८॥ एक

---

१ विजयार्धगिरे: २ पराभवम् ३ कञ्चुकीवदनात् ४ अवसरोत्पन्नमपि ५ साधारणोऽपि जन: ६ अवज्ञया विजिता अनेके बहवोऽनेकपा हस्तिनो येन तस्मिन् ७ डिम्भ: बालक इत्यर्थ: ८ सभा ।

अत्यग्रनिहतारातिशोणितारुणितां गदाम् । एको वीक्ष्य रुषा वक्त्रं स्वामिनो मुहुरैक्षत ॥१९॥
अन्यः प्रोद्गीर्णधौतासिस्फारांशुश्यामलीकृतः । अन्तःप्रदीप्तकोपाग्नेर्धूमधूम्र इवाभवत् ॥२०॥
एकस्य हारमध्यस्थपद्मरागांशुरञ्जिते । न व्यज्यते स्म जातोऽपि कोपरागो [1]भुजान्तरे ॥२१॥
अवतंसीकृताशोकपल्लवच्छद्मना परः । उपकर्णं रुषा किञ्चिद्रक्तयोक्त इवाहसत् ॥२२॥
स्विन्नालिकः[2] सरागाक्षः स्फुरमाणोष्ठपल्लवः । कश्चिद्धुन्वन्करौ कोपं रराजाभिनयन्निव ॥२३॥
स्वालंकारप्रभाजालैर्दुर्निरीक्ष्योऽन्तिकस्थितान् । चचाल चालयन् कश्चित्कोपाग्निरिव दारुणः ॥२४॥
इत्युद्यतासिभिः क्रुद्धैः खेचरैः सा सभा चिता । ज्वलद्ग्रहगणाकीर्णा द्यौरिवाभूद्भयंकरा ॥२५॥
ततः सिंहासनाभ्यर्णपीठवर्ती महामनाः । उन्नमय्योरःस्थलं भूरिरिपुशस्त्रव्रणाङ्कितम् ॥२६॥
उपाध्वमिति[3] तान्सर्वान्प्रक्षोभादुज्झितासनान् । व्यावृत्याभिमुखं भर्तुरित्यवादीन्महाबलः ॥२७॥
[4]उद्गीर्णकरवालांशुसारितांसस्थले भुजे । दक्षिणे सति भृत्यानां किं वृथा घूर्णसे रुषा ॥२८॥

वीर अभी हाल मारे हुए शत्रु के रुधिर से लाल गदा को देख क्रोध वश स्वामी का मुख बार बार देख रहा था ॥१९॥ ऊपर उभारी हुई निर्मल तलवार की विस्तृत किरणों से जो श्यामवर्ण हो रहा था ऐसा अन्य वीर भीतर जलने वाली क्रोध रूपी अग्नि के धूम से ही मानों मटमैला हो गया था ॥२०॥ किसी एक वीर का वक्षःस्थल हार के मध्य में स्थित पद्मराग मणि की किरणों से लाल हो रहा था। इसलिये क्रोध की लालिमा उत्पन्न होने पर भी प्रकट नहीं हो रही थी ॥२१॥ कोई एक वीर ऐसा हँस रहा था मानों कर्णाभरण के रूप में धारण किये हुए अशोकपल्लवों के छल से रक्त लाल वर्ण (पक्ष में अनुराग से युक्त) क्रोध रूपी स्त्री ने ही कानों के पास आकर उससे कुछ कहा हो ॥२२॥ जिसका ललाट पसीना से युक्त था, नेत्र लाल थे और ओठ रूपी पल्लव हिल रहा था ऐसा कोई वीर हाथ फटकारता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों क्रोध का अभिनय ही कर रहा हो ॥२३॥ अपने आभूषणों की प्रभा के समूह से जो कठिनाई पूर्वक देखा जाता था तथा जो भयंकर क्रोधाग्नि के समान जान पड़ता था ऐसा कोई वीर समीप में स्थित वीरों को चलाता हुआ चल रहा था ॥२४॥ इसप्रकार तलवार को ऊपर उठाये हुए क्रुद्ध विद्याधरों से व्याप्त वह सभा देदीप्यमान ग्रहों के समूह से व्याप्त आकाश के समान भयंकर हो गयी थी ॥२५॥

तदनन्तर जो सिंहासन के निकटवर्ती आसन पर बैठा था ऐसे महामनस्वी महाबल ने शत्रुओं के बहुत भारी शस्त्राघातों से चिह्नित वक्षःस्थल को ऊंचा उठा कर क्षोभ से आसन छोड़ने वाले सब लोगों से कहा कि आप बैठिये। पश्चात् राजा दमितारि के सन्मुख मुड़ कर उसने इसप्रकार कहा ॥२६–२७॥ जब भृत्यों की दाहिनी भुजा उभारी हुई तलवार की किरणों से कन्धे को व्याप्त कर रही है तब आप व्यर्थ ही क्रोध से क्यों झूम रहे हैं? भावार्थ—हम सब भृत्यों के रहते हुए आपको कुपित होने की आवश्यकता नहीं है ॥२८॥ जगत में छाया हुआ जो क्षत्रिय का तेज अन्य लोगों की

---

१ वक्षसि २ स्वेदयुक्तललाटः ३ उपविष्टा भवत ४ उद्गीर्णस्य-उन्नमितस्य करवालस्य कृपाणस्यांशुभिः किरणैः सारितं व्याप्तं अंसस्थलं बाहुशिरःस्थलं यस्य तस्मिन् ।

यास्त्वं नैको जगद्भ्यापि परसंरक्षणक्षमम् । पराभवेन संबन्धस्तस्य स्वप्नेऽपि किं भवेत् ।।२६।।
दमितारेः सुतां हृत्वा तमेवाह्वयते नरः । गच्छन् प्रतिनिवृत्त्यैको [1]युद्धायेत्यश्रुतं श्रुतम् ।।३०।।
एतत्परोपरोधेन क्षमस्व यदि ते क्षमा । निर्दाक्षिण्या निकारार्ताः क्षमितुं न क्षमा वयम् ।।३१।।
इति संरम्भिणस्तस्य वाणीमाकर्ण्य चक्रिणम् । [2]उत्तिष्ठासुं निषिध्यैवं मन्त्री सुमतिरब्रवीत् ।।३२।।
अस्मिन्नवसरे युक्तं परं [3]शस्त्रोपजीविभिः । [4]प्राणपण्यैरिदं वक्तुं स्वामिसंभावनोचितम् ।।३३।।
तथापि नय एवात्र चिन्तनीयो मनीषिभिः । कः सचेता ग्रहस्येव कोपस्यात्मानमर्पयेत् ।।३४।।
पादपीठीकृताशेषखेचरेन्द्रशिखामणिः । नृकीटाभ्यामिति क्रुध्यन् [5]कौलीनान्न बिभेषि किम् ।।३५।।
स्वहस्तनिहतानेकदन्तिदानार्द्रकेसरः । शृगालपोतकं सिंहः कुपितोऽपि हिनस्ति किम् ।।३६।।
प्रभोः क्षान्तिः स्त्रियो लज्जा शौर्यं शस्त्रोपजीविनः । विभूषणमिति प्राहुर्वैराग्यं च तपस्विनः ।।३७।।
क्षमावान्न तथा भूम्या यथा क्षान्त्या महीपतिः । क्षमा हि तपसां मूलं जनयित्री च संपदाम् ।।३८।।

रक्षा करने में समर्थ है उसका क्या स्वप्न में भी पराभव से सम्बन्ध हो सकता है ? ।।२६।। दमितारि की पुत्री को हर कर जाता हुआ एक मनुष्य लौट कर युद्ध के लिये उसी को बुलाता है ......यह अश्रुत पूर्व बात सुनी है ।।३०।। यदि आपकी क्षमा है तो दूसरों के उपरोध से आप भले ही क्षमा कर दें परन्तु सरलता से रहित और पराभव से दुखी हम लोग क्षमा करने के लिये समर्थ नहीं है ।।३१।। इस प्रकार क्रुद्ध महा बल की वाणी सुनकर उठने के इच्छुक चक्रवर्ती को रोकता हुआ सुमति मन्त्री ऐसा कहने लगा ।।३२।।

इस अवसर पर प्राणों की बाजी लगाने वाले शस्त्र जीवी पुरुषों को यद्यपि स्वामी के सन्मान के अनुरूप यही कहना उचित है ।।३३।। तथापि बुद्धिमान् मनुष्यों को यहां नय का विचार करना चाहिये क्योंकि कौन विचारवान् मनुष्य अपने आपको ग्रह के समान क्रोध के लिये समर्पित करता है ? अर्थात् कोई नहीं । भावार्थ—जिसप्रकार कोई अपने आपको पिशाच के लिये नहीं सौंपता है उसीप्रकार विचारवान् जीव अपने आपको क्रोध के लिये नहीं सौंपता है ।।३४।। जिसने समस्त विद्याधर राजाओं के शिखामणि को अपना पाद पीठ बनाया है ऐसा चक्रवर्ती नरकीटों—भूमिगोचरी (क्षुद्र-मनुष्यों से क्रोध करता है, इस निन्दा से क्यों नहीं डरता ? ।।३५।। अपने हाथ से मारे हुए अनेक हाथियों के मद जल से जिसकी अयाल (ग्रीवा के बाल) गीली हो रही है ऐसा सिंह कुपित होने पर भी क्या शृगाल के बच्चे को मारता है ? ।।३६।। प्रभु का आभूषण क्षमा है, स्त्री का आभूषण लज्जा है, शस्त्रोपजीवी—सैनिक का आभूषण शूर वीरता है, और तपस्वी का आभूषण वैराग्य है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं ।।३७।। राजा भूमि के द्वारा उसप्रकार क्षमावान् नहीं होता जिसप्रकार शान्ति के द्वारा क्षमावान् होता है । निश्चय से क्षमा ही तप का मूल है और सम्पत्तियों की जननी है । भावार्थ—क्षमा नाम पृथिवी का भी है इसलिये क्षमा—पृथिवी से युक्त होने के कारण राजा क्षमावान् नहीं होता उससे तो पृथिविमान् होता है परन्तु शान्ति या क्षमा के द्वारा सच्चा क्षमावान् होता है ।।३८।।

---

१ प्राक् कदाचिदपि न श्रुतम् २ उत्थातुं मिच्छुम् ३ सैनिकैः ४ प्राणा-पण्या येषां तैः ५ निन्दायाः ।

सुजीर्णमन्नं सुविचिन्त्योक्तं सुविचार्य च यत्कृतम्। प्रयाति साधुसख्यं च तत्कालेऽपि न विक्रियाम् ॥३९॥
बालस्त्रीभीतवाक्यानि [1]नादेयानि मनीषिभिः। जलानि वाऽप्रसन्नानि [2]नादेयानि [3]घनागमे ॥४०॥
प्रणिधानपरः [4]कश्चिच्चरप्रहेयः [5]प्रणिधिस्त्वया। तस्याभ्याशमथो[6] तस्माज्ज्ञास्यामस्तद्विचेष्टितम् ॥४१॥
तत्प्रारम्भसमं नीत्या यथा त्वं तद्विधास्यसि। सन्धिविग्रहयोरेकं प्राप्तकालमदूषितम् ॥४२॥
कर्मायत्ते फले पुंसो बुद्धिस्तदनुगामिनी। तथापि सुधियः कार्यं प्रविचार्यैव कुर्वते ॥४३॥
इत्युक्त्वावसिते वाणीं [7]सुमतौ [8]सुमतौ ततः। प्रजिघाय तदभ्यर्णं दूतं स प्रीतिवर्धनम् ॥४४॥
ददृशेऽथ तमुद्देशं गत्वा तेनापराजितः। प्रियामिव द्विषत्सेनामेष्यन्तीं प्रतिपालयन् ॥४५॥
प्रवर्त्तितनभोयुद्धव्यापारव्याप्तमानसम्। इतश्चित्तं निधत्स्वेति प्रणम्य स तमब्रवीत् ॥४६॥
परः प्रसन्नगंभीरो भवानिव न लक्ष्यते। अन्तर्भृतपयोराशिः समग्रेन्दुरिवापरः ॥४७॥
आनन्त्यं दृश्यते लोके तवैव गुणदोषयोः। अगण्यत्वाद्यथाद्यस्य पश्चिमस्याप्यभावतः ॥४८॥

अच्छी तरह पका हुआ अन्न, विचार कर कहा हुआ शब्द, विचार कर किया हुआ कार्य और साधुजनों की मित्रता दीर्घकाल निकल जाने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता ॥३९॥ जिसप्रकार वर्षा ऋतु में नदियों के मलिन जल ग्रहण करने के योग्य नहीं होते उसी प्रकार बालक, स्त्री और भयभीत मनुष्य के वचन बुद्धिमान् मनुष्यों के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं ॥४०॥ तुम्हें कोई बुद्धिमान् दूत उसके पास भेजना चाहिये। तदनन्तर उस दूत से हम उसकी चेष्टा को जानेंगे ॥४१॥ जैसे उसने नीति पूर्वक कार्य का प्रारम्भ किया है वैसे ही आप भी सन्धि और विग्रह में से किसी एक को जिसका कि अवसर प्राप्त हो तथा जो निर्दोष हो, करोगे ॥४२॥ यद्यपि पुरुषों का फल कर्म के अधीन है और उनकी बुद्धि भी कर्मानुसारिणी होती है तथापि बुद्धिमान् पुरुष अच्छी तरह विचार करके ही कार्य करते हैं ॥४३॥

उत्तम बुद्धि से युक्त सुमति मन्त्री जब इस प्रकार की वाणी कह कर चुप हो गया तब राजा दमितारि ने राजा अपराजित के पास प्रीतिवर्धन नामका दूत भेजा ॥४४॥ तदनन्तर दूत ने उस स्थान पर जाकर अपराजित को देखा। उस समय अपराजित आने वाली शत्रु सेना की प्रिया के समान प्रतीक्षा कर रहा था ॥४५॥ विस्तारित आकाश युद्ध के व्यापार में जिसका चित्त लग रहा था ऐसे अपराजित को प्रणाम कर दूत ने उससे कहा कि इधर चित्त लगाइये ॥४६॥ आपके समान प्रसन्न और गम्भीर दूसरा नहीं दिखायी देता। ऐसा जान पड़ता है जैसे आपने समुद्र को अपने भीतर धारण कर रक्खा हो अथवा मानों आप दूसरा पूर्णचन्द्र ही हैं। भावार्थ—आप समुद्र के समान गंभीर हैं और पूर्णचन्द्रमा के समान प्रसन्न हैं ॥४७॥ लोक में आपके ही गुण और दोष में अनन्तपन देखा जाता है। गुणों का अनन्तपन तो इसलिये है कि वे अगण्य हैं—गिने नहीं जा सकते और दोषों का अनन्तपन इसलिये है कि उनका अभाव है ॥४८॥ आपका यश प्रत्यक्ष है परन्तु अप्रमाण है—प्रमाण

---

१ न आदेयानि ग्रहीतुं योग्यानि २ नद्या इमानि नादेयानि ३ वर्षाकाले ४ प्रेषणमि ५ चर. ६ समीपम् ७ शोभनमति सहिते ८ सुमति नाम्नि।

अप्रमाणप्रमाणं च स्थाणु लोकत्रये भ्रमत् । अविरुद्धात्कथं प्रासूद्विरुद्धं भवतो यशः ॥४९॥
श्रुतप्रशमगाम्भीर्यशौर्योदार्यसमन्वितः । साधुसख्यरतस्त्वन्यो भवानिव न दृश्यते ॥५०॥
न्यायवन्तो महान्तश्च [१]कुल्यास्तव चिरन्तनाः । तन्मार्गप्रस्थितोऽप्येवं किं वृथा तरलायसे ॥५१॥
विशुद्धोभयवंशस्य भवतोऽप्राकृताकृतेः । परस्वमिदमाहर्तुं कन्यारत्नमसाम्प्रतम् ॥५२॥
केनापि हेतुना गूढमायातस्यात्र केवलम् । प्रच्छन्नमेव यानं ते श्रेयः स्यान्नीतिशालिनः ॥५३॥
दुर्वृत्तमिदमायातं तवापि भ्रातृचापलात् । संसर्गेण हि जायन्ते गुणा दोषाश्च देहिनाम् ॥५४॥
तव व्यवसितं श्रुत्वा सौविदल्लेन कीर्तितम् । सैका मे नाजनीत्युक्त्वा त्रपयाभूदधोमुखः ॥५५॥
स किंकर्तव्यतामूढस्तताम्यन्तः परंतपः । कन्यका हि दुराचारा पित्रोः खेदाय जायते ॥५६॥
कन्याहरणमाकर्ण्य क्रुद्धान्दीप्रानुदायुधान् । खेचराधिपतीन्सर्वानुत्तिष्ठासूनवारयत् ॥५७॥
तमाराध्य महात्मानं रक्षन्तः स्वपदस्थितिम् । प्रवर्द्धन्ते च राजन्याः सत्सेवा न हि तादृशी ॥५८॥
लक्ष्म्याधिकोऽप्यनुत्सेको विद्वानपि विमत्सरः । समर्थोऽपि समर्यादः कः परस्तादृशः प्रभुः ॥५९॥
तं विराध्य महात्मानं मा भूस्त्वं बुद्धिदुर्गतः । न हि वैरायते क्षीबो द्विपोऽपि [२]मृगविद्विषि ॥६०॥

नहीं है (पक्ष में नाप तौल रूप प्रमाण से रहित है)। स्थाणु-स्थिर है परन्तु तीनों लोकों में भ्रमण कर रहा है (परिहार पक्ष में स्थायी होकर तीनों लोकों में व्याप्त है) इस प्रकार अविरुद्ध—विरोध रहित आप से विरुद्ध यश कैसे उत्पन्न हो गया ? ॥४९॥ शास्त्रज्ञान, शान्ति, गम्भीरता, शूर वीरता और उदारता से सहित तथा सज्जनों के साथ मित्रता करने में तत्पर आपके समान दूसरा दिखायी नहीं देता ॥५०॥ आपके कुल के प्राचीन पुरुष न्यायवन्त तथा महान् थे। यद्यपि आप भी उनके मार्ग पर चल रहे हैं फिर व्यर्थ ही ऐसे चञ्चल क्यों होते हैं ? ॥५१॥ जिसके दोनों वंश विशुद्ध हैं तथा जिसकी आकृति असाधारण है ऐसे आपको इस कन्यारत्न रूप परधन को हरना योग्य नहीं है ॥५२॥ आप किसी कारण यहाँ गुप्त रूप से आये हैं इसलिये नीति से सुशोभित आपका गुप्त रूप से चला जाना ही श्रेयस्कर है ॥५३॥ आपमें भी जो यह दुराचार आया है वह भाई की चपलता से आया है क्योंकि प्राणियों के गुण और दोष संसर्ग से ही होते हैं ॥५४॥ कञ्चुकी के द्वारा कहे हुए आपके व्यवसाय को सुन कर राजा दमितारि 'एक कन्या मेरे नहीं हुई' यह कह कर लज्जा से अधोमुख हो गया ॥५५॥ शत्रुओं को संतप्त करने वाला राजा किंकर्तव्यमूढ होकर भीतर ही भीतर दुःखी हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि दुराचारिणी कन्या माता पिता के खेद के लिये होती है ॥५६॥ कन्याहरण को सुन कर जो क्रुद्ध हो रहे थे, देदीप्यमान हो रहे थे, शस्त्र ऊपर उठा रहे थे, तथा आसनों से उठ कर खड़े होना चाहते थे ऐसे सब विद्याधर राजाओं को उसने रोका है—मना किया है ॥५७॥ उस महात्मा की सेवा कर अपनी पद मर्यादा की रक्षा करते हुए राजा लोग वृद्धि को प्राप्त होते हैं क्योंकि सत् पुरुषों की सेवा वैसी नहीं होती ॥५८॥ लक्ष्मी से परिपूर्ण होने पर भी जिसे अहङ्कार नहीं है, विद्वान् होने पर भी जो मात्सर्य से रहित है, और समर्थ होने पर भी जो मर्यादा से सहित है ऐसा दूसरा प्रभु कौन है ? ॥५९॥ उस महात्मा की विराधना कर—उससे द्वेष कर तुम बुद्धि से दरिद्र मत होओ। क्योंकि उन्मत्त

---

१ कुलेभवाः २ सिंहे ।

स्मृत्वा सम्यक्पुराधीतं श्रुतं प्रश्रयवान्भव । प्रश्रयो हि सतामेकमग्राम्यं भूरिभूषणम् ॥६१॥
क्वापि भूत्वा कुतोऽप्येत्य गुणवान् लोकमूर्धनि । विदधाति पदं ¹वार्क्षः सुरभिः प्रसवो यथा ॥६२॥
आरोप्यतेऽश्मा शैलाग्रं कृच्छ्रात्संप्रेर्यते सुखात् । ततः पुंसां गुणाधानं निर्गुणत्वं च तत्क्षणम् ॥६३॥
गुरुकल्पात्प्रभोस्तस्मादाशङ्क्यं किमपि त्वया । तवाक्षमिष्ट भूपालः ²प्रमादविहितागसः ॥६४॥
त्यज कन्यामथायाहि नत्वा वीक्ष्य स्वचक्रिणम् । तवेदं मद्वचः पथ्यमपथ्यं त्वद्विचेष्टितम् ॥६५॥
द्विषतोऽपि परं साधुर्हितायैव प्रवर्तते । किं राहुममृतैश्चन्द्रो ग्रसमानं न तर्पयेत् ॥६६॥
समाक्रम्य गिरं धीरामभिन्ननयसन्ततिम् । इति व्यक्तमुदाहृत्य व्यरंसीत्प्रीतिवर्धनः ॥६७॥
ततः कोपकषायाक्षं विवक्षास्फुरिताधरम् । स दृशैवानुजं रुद्ध्वा धीरमित्याददे वचः ॥६८॥
उपायान्संकलय्यैतांश्चतुरोऽपि यथाक्रमम् । इति त्वमिव को वाक्यं प्रवक्तुं कल्पते परः ॥६९॥
सुव्यक्तोऽपि ममोद्योगस्त्वया किं नोपलक्षितः । किं तेन तत्सभामध्ये सौविदल्लेन कीर्तितः ॥७०॥

हाथी भी सिंह से बैर नहीं करता ॥६०॥ पहले अच्छी तरह पढ़े हुए शास्त्र का स्मरण कर विनयवान् होओ । क्योंकि विनय सत्पुरुषों का एक उत्तम तथा बहुत भारी आभूषण है ॥६१॥ जिस प्रकार वृक्ष का सुगन्धित फूल कहीं भी उत्पन्न होकर और कहीं से भी आकर लोगों के मस्तक पर अपना स्थान बना लेता है उसी प्रकार गुणवान् मनुष्य कहीं भी उत्पन्न होकर तथा कहीं से भी आकर लोगों के मस्तक पर अपना पैर रखता है अथवा स्थान बना लेता है ॥६२॥ पत्थर पर्वत के अग्रभाग पर कठिनाई से चढ़ाया जाता है परन्तु गिरा सुख से दिया जाता है । उसी के समान मनुष्यों के गुणों की उत्पत्ति कठिनाई से होती है परन्तु उनका अभाव सुख से हो जाता है ॥६३॥ राजा दमितारि तुम्हारे पिता के तुल्य हैं अतः उनसे तुम्हें कुछ भी शंका नहीं करना चाहिये । प्रमाद से अपराध करने वाले तुम्हारे ऊपर राजा ने क्षमा कर दिया है ॥६४॥ अब आओ अपने चक्रवर्ती के दर्शन कर उन्हें नमस्कार करो तथा कन्या को छोड़ो । मेरा यह वचन तुम्हारे लिये हितकारी है किन्तु तुम्हारी चेष्टा अहितकारी है ॥६५॥ सज्जन, शत्रु को भी हित के लिये ही अत्यधिक प्रवृत्ति करता है सो ठीक ही है क्योंकि क्या चन्द्रमा ग्रसने वाले राहु को अमृत से संतृप्त नहीं करता ? ॥६६॥ इस प्रकार प्रीतिवर्धन, अपराजित के पास आकर तथा नय की सन्तति से परिपूर्ण गम्भीर वचनों को स्पष्ट रूप से कह कर चुप हो गया ॥६७॥

तदनन्तर जिसके नेत्र क्रोध से लाल हो रहे थे तथा बोलने की इच्छा से जिसका ओठ कांप रहा था ऐसे वीर छोटे भाई अनन्त वीर्य को दृष्टि से ही रोक कर अपराजित ने इस प्रकार के वचन ग्रहण किये—इस प्रकार बोलना शुरू किया ॥६८॥ यथाक्रम से चारों उपायों को संकलित कर इस प्रकार के वचन कहने के लिये दूसरा कौन समर्थ है ? ॥६९॥ मेरा उद्योग यद्यपि स्पष्ट है तथापि तुमने उसे क्यों नहीं देखा ? इसी प्रकार राजा दमितारि की सभा के मध्य में भी कञ्चुकी ने मेरा उद्योग स्पष्ट कहा था, फिर उसने उसे क्यों नहीं ग्रहण किया ? ॥७०॥ तुम कोई बीच के दलाल हो

---

१ वृक्षस्यायं वार्क्षः २ प्रमादेन विहितम् आगोऽपराधो येन तस्य ।

[illegible] कश्चिदल्पायितमहत्तरः । स्वमनीषिकया किञ्चिद्विरुद्धसंकथनमन्यथा: ॥७१॥
शूरो राजसुतंमन्यो वीरंकारस्य वित्तवान् । युद्धाय चलमानस्य दूतं को वा विसर्जयेत् ॥७२॥
भवदागमनादस्मान्ममापि त्रपते मनः । खेचराणां जनान्ते किं परिभाषेयमीदृशी ॥७३॥
साम स्तुतिप्रिये योज्यमथ न्युद्ग्राहिते तथा । लुब्धप्रकृतिके दानं दुर्गते दुःस्थितेऽपि वा ॥७४॥
यस्य प्रकृतयो नित्यं क्रुद्धभीतापमानिताः । तस्मिन्भेदः प्रयत्नेन प्रयोज्यो नीतिशालिना ॥७५॥
दण्डस्य विषयः प्रोक्तो दैवपौरुषवर्जितः । उपायविषयाः पूर्वैरिति तज्ज्ञैः प्रकीर्तिताः ॥७६॥
एतेषु नाहमप्येकः कश्चिदेव मुधा त्वया । किमुपाया मयि न्यस्ता [1]नवकः किं नयाश्रये ॥७७॥
क्षुद्रो विलोभ्यते वाक्यैस्त्वदीयैर्न समुन्नतः । केनापि शशपाशैः किं गृहीतोऽस्ति मृगाधिपः ॥७८॥
किं नैकेनापि हन्यन्ते सिंहेन बहवो द्विपाः । कृच्छ्राविति मयोक्तस्य रणे व्यक्तिर्भविष्यति ॥७९॥
इयतीं भूमिमायातुं शक्नुयात्स कथं सुखी । तत्र तेन समं योत्स्ये गत्वाहं चक्रवर्तिना ॥८०॥
इत्युदीर्य गृहीतासिरुत्तिष्ठासुर्मया धृतः । अयं कथमपि भ्राता भवदागमनात्पुरा ॥८१॥
इति युद्धाय निर्भर्त्स्य तेन मुक्तो [2]वचोहरः । दमितारेः सभामध्ये यथाप्राप्तमुदाहरत् ॥८२॥

जो बड़े लोगों को टिकने नहीं देते । इसीलिये अपनी बुद्धि से कुछ इस प्रकार की अटपटी बात कह रहे हो ॥७१॥ शूर वीर तथा अपने आप को राजपुत्र मानने वाला ऐसा कौन विचारवान् मनुष्य होगा जो युद्ध के लिये चलने वाले शत्रु के लिये दूत भेजता हो ॥७२॥ आपके इस आगमन से मेरा भी मन लज्जित हो रहा है । क्या विद्याधरों के देश में ऐसी ही परिभाषा है ॥७३॥ साम का प्रयोग ऐसे शत्रु के साथ करना चाहिये जिसे स्तुति प्रिय हो तथा दान का प्रयोग उसके साथ करना चाहिये जो स्वभाव का लोभी हो, दरिद्र हो अथवा किसी संकट में हो ॥७४॥ नीतिशाली मनुष्य को भेद का प्रयोग उसमें करना चाहिये जिसकी प्रजा अथवा मन्त्री आदि वर्ग निरन्तर क्रुद्ध, भयभीत अथवा अपमानित रहते हों ॥७५॥ और दण्ड का विषय वह कहा गया है जो दैव और पौरुष से रहित हो । उपायों के ज्ञाता पूर्व पुरुषों ने उपायों के विषय इस प्रकार कहे हैं ॥७६॥ इनमें से मैं एक कोई भी नहीं हूँ फिर तुमने व्यर्थ ही मुझ पर ये उपाय क्यों रक्खे ? क्या आप नय के विषय में नवीन हैं—नय प्रयोग का आपको कुछ भी अनुभव नहीं है ॥७७॥ तुम्हारे इन वाक्यों से क्षुद्र मनुष्य लुभा सकता है उत्तम मनुष्य नहीं । क्या खरगोश के बन्धन से किसी ने सिंह को पकड़ा है ? ॥७८॥ क्या एक ही सिंह के द्वारा बहुत से हाथी नहीं मारे जाते ? इस प्रकार दुःख के साथ जो मैंने कहा है उसको युद्ध में प्रकटता हो जायगी ॥७९॥ सुख से रहने वाला दमितारि इतनी भूमि तक—इतने दूर तक आने के लिये कैसे समर्थ हो सकता है ? इसलिये मैं स्वयं चल कर उस चक्रवर्ती के साथ युद्ध करूंगा ॥८०॥ इस प्रकार कह कर तलवार को ग्रहण करता हुआ जो उठना चाहता था ऐसे इस भाई को आपके आगमन के पहले मैंने किसी तरह रोका है ॥८१॥ इस प्रकार युद्ध के लिये डांट कर राजा अपराजित ने जिसे छोड़ा था—विदा किया था ऐसे प्रीतिवर्धन दूत ने दमितारि की सभा के बीच जो बात जैसी हुई थी वैसी कह दी ॥८२॥

---

१ नवीनः २ दूतः ।

अथाभियोगं रिपोः श्रुत्वा दमितारिर्विहस्य सः । त्वर्यतामिति सेनान्यं संग्रामायादिशत्तदा ॥८३॥
कोणाघातैर्हतापि भेरी तारंध्वनापि संततम् । नोच्चैर्दध्वान भीतेव जिगीषोरपराजितात् ॥८४॥
एवं सांग्रामिकी भेरी ताडिता चक्रवर्तिनः । कः शत्रुरिति ध्यायन् जनः शुश्राव तद्ध्वनिम् ॥८५॥
स ¹सान्नाहनिकं शंखं पूरयित्वा त्वरान्वितः । चतुरंगां ततः सेनां संभ्रान्तां समनीनहत् ॥८६॥
आस्थानात्सलीलया गत्वा स्वावासान्खेचरेश्वराः । अकाण्डे रणसंक्षोभेऽपि स्वैरमदंशयन् ॥८७॥
नृकीटद्वितयं हन्तुं दमितारेरपि प्रभोः । आयासं पश्यतेवास्तामिति कश्चिद्भटोऽहसत् ॥८८॥
²धातुकवर्मरत्नांशुसूचिभिर्व्यंशु तद्भटाः । आचिता इव तन्मुक्तदूरपातिशरोत्करैः ॥८९॥
अनेको बलसंघातो हन्तुं द्वावेव यास्यति । मनस्वी धिग्धिगित्येको न ³तनुत्राणमग्रहीत् ॥९०॥
किं नामासौ रिपुः को वा कियत्तस्य बलं महत् । चक्रवर्त्यपि स भ्रान्तः किं सत्यमपराजितः ॥९१॥
किं तेन नगरं रुद्धं भटा ब्रूतेति विक्लवाः । ⁴प्रतिरथ्यं यतः सैन्यान् पृच्छन्ति स्म जनाङ्गनाः ॥९२॥
आलोक्योत्पातिकान्केतून् दिवापि स्पर्द्धयेव ते । मुदोच्चिक्षिपिरे सैन्यैः केतवो गगनस्पृशः ॥९३॥

अथानन्तर शत्रु का उद्योग सुन कर दमितारि हँसा और उसने उसी समय सेनापति को आदेश दिया कि युद्ध के लिये शीघ्रता की जाय ॥८३॥ तदनन्तर दण्डों के प्रहार से निरन्तर ताडित होने पर भी भेरी जोर से शब्द नहीं करती थी इससे ऐसी जान पड़ती थी मानों वह जिगीषु राजा अपराजित से भयभीत ही हो गयी थी ॥८४॥ इस प्रकार संग्राम की भेरी बजायी गयी तथा चक्रवर्ती का शत्रु कौन है ? ऐसा विचार करते हुए लोगों ने उसका शब्द सुना ॥८५॥ तदनन्तर शीघ्रता से युक्त सेनापति ने युद्ध सम्बन्धी शंख फूंक कर हड़बड़ायी हुई चतुरंग सेना को तैयार किया ॥८६॥ विद्याधर राजाओं ने सभा से लीला पूर्वक अपने घर जाकर असमय में युद्ध की हलचल होने पर भी स्वेच्छा से धीरे धीरे कवच धारण किये थे ॥८७॥ दो नरकीटों—क्षुद्र मनुष्यों को मारने के लिये राजा दमितारि का भी इतना प्रयास देखो, इस प्रकार कोई योद्धा हँस रहा था ॥८८॥ धारण किये हुए कवचों में संलग्न रत्नों की किरणावली से योद्धा ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों वे अपराजित के द्वारा छोड़े हुए दूरपाती वाणों के समूह से ही व्याप्त हो रहे हों ॥८९॥ अनेक सेनाओं का समूह मात्र दो को मारने के लिये जावेगा धिक्कार हो धिक्कार हो ऐसा कह कर किसी मानीदार योद्धा ने कवच धारण नहीं किया था ॥९०॥ शत्रु किस नाम वाला है अथवा उसका महान् बल कितना है ? इस विषय में चक्रवर्ती भी भ्रान्त है—भ्रांति में पड़ा हुआ है । क्या सचमुच ही वह अपराजित—अजेय है ? ॥९१॥ योद्धाओं ! बताओ तो सही उसने क्या नगर को घेर लिया है जिससे प्रत्येक गली में सैनिक छा रहे हैं—इस प्रकार घबड़ाये हुए स्त्री पुरुष सैनिकों से पूछ रहे थे ॥९२॥ दिन में भी उत्पात को सूचित करने वाले केतु—पुच्छली तारों को देख कर उन सैनिकों ने हर्ष से गगनचुम्बी केतु—पताकाएं फहरा दी थीं ॥९३॥ याचकों के लिये सर्वस्व देकर तथा अपने अपने कुल की ध्वजाओं को उठा कर आगे का स्थान प्राप्त करने की इच्छा से शूरवीरों ने शीघ्र ही प्रस्थान

---

१ युद्धसम्बन्धिन २ धृत— ३ कवचम् ४ रथ्यां रथ्यां प्रति इति प्रतिरथ्यम् ।

दत्वा सर्वस्वमर्थिभ्यः प्रोत्थाप्य स्वानुजीविकान् । स्वस्तिकं प्रतिवर्तं स्वैरं प्रियस्वकल्पवाञ्छया ॥९४॥
इभवाजितनुत्राद्यैः[1] सामन्तानन्तरङ्गकान् । संविभज्य यथायोग्यं त्वरमाणानितस्ततः ॥९५॥
क्लिष्टकार्पटिकानाथदीनार्थिभ्यः समन्ततः । इच्छादानं दिशन्नुच्चैः कुलवृद्धानवानमन् ॥९६॥
प्रहतानेकतूर्यौघध्वानैर्ध्वनयन्दिशः । अनेकाक्षौहिणीलक्षैः[2]पिदधद्रोदसी बलैः ॥९७॥
वेष्टितः परितो [3]मौलैरात्तनिस्त्रिंशभीषणैः । [4]साहिशाखाशताकीर्णं ह्रेपयन् चन्दनद्रुमम् ॥९८॥
आरुह्य [5]धीरधौरेयं [6]रथमामन्द्रनिस्वनम् । सांग्रामिकं विराजन्तं सिंहलक्ष्मपताकया ॥९९॥
[7]भासमानांशुचक्रेण चक्रेणाग्रेसरेण सः । भीषणो निरगादित्थं दमितारिः पुरात्ततः ॥१००॥
(षड्भिः कुलकम्)

शार्दूलविक्रीडितम्

[8]पादातं [9]प्रधनत्वराविषमितं कृत्वा समं सर्वतो
मध्ये [10]हास्तिकमारचय्य रथिनामश्वीयरक्षावताम् ।
सेनान्या तदिति प्रकल्प्य रचनामानीयमानं शनैः
अद्राक्षीदपराजितो रिपुबलं दूराददूरोदयः[11] ॥१०१॥

कर दिया ॥९४॥ जहां तहां शीघ्रता करने वाले अपने अन्तरंग सामन्तों को हाथी घोड़ा तथा कवच आदि के द्वारा यथायोग्य विभक्त कर जो दुखी, कार्पटिक, अनाथ और दीन याचकों के लिये सब ओर इच्छानुसार दान देने का आदेश दे रहा था, जो कुल के वृद्धजनों को नमस्कार कर सन्मानित कर रहा था, जो बजाये हुए अनेक वादित्र समूह के शब्दों से दिशाओं को शब्दायमान कर रहा था, अनेक अक्षौहिणी दलों से युक्त सेनाओं के द्वारा जो आकाश और पृथिवी के अन्तराल को आच्छादित कर रहा था, ग्रहण की हुई तलवारों से भयंकर मूलवर्ग—मंत्री आदि प्रधान लोग जिसे चारों ओर से घेरे हुए थे, और इस कारण जो सर्प सहित सैकड़ों शाखाओं से युक्त चन्दन के वृक्ष को लज्जित कर रहा था, तथा जो देदीप्यमान किरण समूह से युक्त, आगे चलने वाले चक्र के द्वारा भयंकर था ऐसा वह दमितारि, जिसमें धैर्यशाली घोड़े जुते हुए थे, जिसका गम्भीर शब्द था तथा जो सिंह के चिह्न वाली पताका से सुशोभित था ऐसे युद्ध—कालीन रथ पर सवार होकर नगर से बाहर निकला ॥९५॥—॥१००॥

तदनन्तर युद्ध की शीघ्रता से विषम अवस्था को प्राप्त पैदल सैनिकों के समूह को सब ओर व्यवस्थित कर तथा हाथियों के समूह को अश्वसमूह की रक्षा करने वाले रथारोहियों के मध्य में करके 'यह वह है—अमुक व्यूह है' इस प्रकार की कल्पना कर सेनापति ने जिसकी रचना की थी ऐसी शत्रु सेना को निकटवर्ती अभ्युदय से युक्त अपराजित ने धीरे धीरे दूर से देखा ॥१०१॥ 'शत्रु सेना के

---

१ तनुत्रं कवचम् २ द्यावापृथिव्योरन्तराले ३ गृहीतखड्गभयंकरं. ४ सर्पसंशाखाशतव्याप्तम् ५ धीरवाहयुक्तं ६ गंभीरशब्दम् ७ भासमानं देदीप्यमानम् अंशुचक्रं किरणसमूहो यस्य तेन ८ पदातीनां समूहः पादातम् ९ युद्धशीघ्रताविषमितम् १० हस्तिनां समूहो हास्तिकम् ११ निकटाभ्युदयः ।

त्रस्यन्तीं [1]परवाहिनीकलकलात्त्रायस्व कन्यामिति
व्याजेन प्रतिषिध्य भूरिशपथैरन्याहवाद्भ्रातरम् ।
स्वं वा सद्गुणसंपदातिललितं चापं बलीकुर्वता
तेनाकारि तदैव [2]निर्गुणमिव क्षात्रं [3]तदभ्यापतत् ॥१०२॥

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे परबलसंदर्शनो नाम

* चतुर्थः सर्गः *

कलकल से डरती हुई कन्या की रक्षा करो' इस बहाने बहुत भारी शपथों द्वारा भाई अनन्तवीर्य को युद्ध से मना कर अपने समान समीचीन गुण रूपी सम्पदा से (पक्ष में श्रेष्ठ प्रत्यन्चा रूप सम्पदा से) अतिशय सुन्दर धनुष को चढ़ाने वाले अपराजित ने उसी समय सामने आने वाले क्षत्रिय समूह को निर्गुण—क्षात्र धर्म से रहित जैसा कर दिया था ॥१०२॥

इस प्रकार महाकवि असग के द्वारा रचित शान्तिपुराण में शत्रु-
सेना को दिखाने वाला चतुर्थ सर्ग पूर्ण हुआ ॥४॥

---

१ शत्रुसेना २ गुणरहितं क्षात्रधर्मरहितमिव ३ सम्मुखमागच्छत् ।

卐

ततः [1]सज्यं धनुस्तेन क्रमादास्फालितं मुहुः । सजलाभ्रमिवामन्द्रं[2] दध्वानोच्चैर्निरन्तरम् ॥१॥
लीलयाकृष्य [3]तूणीराद्दक्षिणेन करेण सः । सायकं तुलयामास [4]प्रतिपक्षं च चक्षुषा ॥२॥
आपतदन्तर्गिरि धातुरेणुजालारुणं बलम् । तत्प्रतापाग्निना दूरात्क्रोडीकृतमिवाभवत् ॥३॥
द्यावापृथिव्योरपि यत्प्रथिम्ना न ममे परम् । क्षणादेव दृशा तेन ममे तद्विद्विषतां बलम् ॥४॥
तद्दृष्टिगोचरं प्राप्य न [5]पुरेवारिसंहतिः[6] । व्यद्योतिष्ट समासन्ने को वा भाति पराभवे ॥५॥
अनन्तमपि तत्सैन्यमपर्याप्तमिवात्मनः । मेने हि महतां [7]भाव्यं भूतवत्प्रतिभासते ॥६॥

पंचम सर्ग

तदनन्तर अपराजित के द्वारा क्रम से बार बार आस्फालित डोरी सहित धनुष सजलमेघ के समान निरन्तर जोरदार शब्द करने लगा ॥१॥ उसने दाहिने हाथ के द्वारा लीला पूर्वक तरकस से बाण खींच कर उसे तोला – हाथ में धारण किया और नेत्रों से शत्रु को तोला — उसकी स्थिति को आंका ॥२॥ पहाड़ों के बीच में आने वाली तथा गेरू आदि धातुओं की धूली के समूह से लालवर्ण वह सेना दूर से ऐसी जान पड़ती थी मानों अपराजित की प्रतापरूप अग्नि ने ही उसे अपने मध्य में कर लिया हो ॥३॥ आकाश और पृथिवी के अन्तराल की विशालता के द्वारा भी जिसका माप नहीं हो सका था शत्रुओं की वह सेना अपराजित ने अपनी दृष्टि के द्वारा क्षणभर में माप ली । भावार्थ— देखते ही उसने शत्रुसेना की विशालता को समझ लिया ॥४॥ शत्रुओं का समूह अपराजित की दृष्टि का विषय होने पर पहले के समान देदीप्यमान नहीं रहा सो ठीक ही है क्योंकि पराभव के निकट होने पर कौन सुशोभित होता है ? अर्थात् कोई नहीं । भावार्थ—शत्रुओं की सेना जैसी पहले उछल कूद कर रही थी अपराजित के देखने पर वैसी उछल कूद नहीं रही । पराभव की आशंका से उसका उत्साह शान्त हो गया ॥५॥ यद्यपि वह सेना अनन्त थी तथापि अपराजित ने उसे अपने लिये अपर्याप्त

---

१ समौर्वीकम् २ गम्भीरम्, ३ इषुधेः ४ शत्रुम् ५ पूर्ववत् ६ शत्रुसमूहः ७ भविष्यत् ।

तं [1]प्राप्याप्राकृताकारं दुर्निरीक्ष्यं स्वतेजसा । निश्चला लिखितेवाभूत् क्षणं [2]शत्रुपताकिनी ॥७॥
द्विषतां शस्त्रसंपातं प्रतीक्षांचास धीरधीः । को हि नाम महासत्त्वः पूर्वं प्रहरति द्विषः ॥८॥
ततः सैन्याः समं सर्वे तस्मिन्नस्त्राण्यपातयन् । [3]अध्यद्रि प्रावृडारम्भे तोयानीव घनाघनाः ॥९॥
संतर्ज्य सिंहनादेन प्रतिद्वन्द्विमहाबलम् । आकर्णं धनुराकृष्य क्षेप्तुं बाणान्प्रचक्रमे ॥१०॥
क्षिपन्प्रतिभटं बाणांश्चारैर्भ्राम्यन्नितस्ततः । इति प्रववृते योद्धुं स्वं रक्षन् द्विषदायुधात् ॥११॥
सैन्यैर्मुक्तान् शरानेकान् [4]प्राङ् निकृत्यान्तरा समम् । तानप्यपातयद्बाणैर्नीरन्ध्रं कवचानपि ॥१२॥
[5]एकश्चलाचलान्क्षिप्रं दूराभ्यर्णस्थितानरीन् । स शरैर्युगपद्वीरो विव्याधान्तरितानपि ॥१३॥
अनेकशो बहिर्भ्राम्यन्विरराज सकार्मुकः । स परेभ्यः परेभ्योऽपि तद्व्यूहमिव पालयन् ॥१४॥
वेगात्पक्षवताभ्येत्य तीक्ष्णतुण्डेन पातितः । यः शरेण स कंकेन तादृशेवात्मसात्कृतः ॥१५॥

के समान माना था। यह ठीक ही है क्योंकि महान् पुरुषों को भविष्यत् भी भूत के समान जान पड़ता है ॥६॥ जिसका आकार असाधारण था तथा अपने तेज से जिसे देखना कठिन था ऐसे अपराजित को प्राप्त कर शत्रुओं की सेना क्षणभर में लिखित के समान निश्चल हो गयी ॥७॥ धीर वीर बुद्धि का धारक अपराजित शत्रुओं के शस्त्रप्रहार की प्रतीक्षा करने लगा क्योंकि ऐसा कौन महापराक्रमी है जो शत्रुओं पर पहले प्रहार करता है ॥८॥

तदनन्तर जिसप्रकार बरसात के प्रारम्भ में मेघ पर्वत पर जल छोड़ा करते हैं उसी प्रकार सब सैनिक एक साथ उस पर शस्त्र गिराने लगे ॥९॥ सिंह नाद के द्वारा शत्रुओं की बड़ी भारी सेना को भयभीत कर तथा कान तक धनुष खींच कर वह बाण छोड़ने के लिये तत्पर हुआ ॥१०॥ जो प्रत्येक योद्धा पर बाण छोड़ता हुआ गति विशेष से इधर उधर घूम रहा था तथा शत्रु के शस्त्र से अपनी रक्षा कर रहा था ऐसा अपराजित युद्ध करने के लिये इसप्रकार प्रवृत्त हुआ ॥११॥ सैनिकों के द्वारा छोड़े हुए अनेक बाणों को वह बीच में ही एक साथ शीघ्र ही काट कर अपने बाणों से उन सैनिकों को भी तथा उनके कवचों को भी उस तरह गिरा देता था जिस तरह उनके बीच में कोई रन्ध्र नहीं रह पाता था। भावार्थ—उसने मृत सैनिकों तथा उनके कवचों से पृथिवी को सन्धि रहित पाट दिया था ॥१२॥ शत्रु चाहे अत्यन्त चञ्चल हों, चाहे दूर या निकट में स्थित हों अथवा छिपे हुए हों, उन सबको वह वीर अकेला ही शीघ्र तथा एक साथ बाणों के द्वारा पीड़ित कर रहा था ॥१३॥ वह अनेकों बार धनुष सहित बाहर घूमता हुआ सुशोभित हो रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों बड़े से बड़े शत्रुओं से उस व्यूह की रक्षा ही कर रहा हो ॥१४॥ पक्षों से युक्त तथा तीक्ष्ण अग्रभाग वाले बाण ने वेग से आकर जिसे गिरा दिया था उसे उसीके समान पक्षों-पङ्खों से युक्त तथा तीक्ष्णमुख वाले कंक पक्षी ने अपने अधीन कर लिया था। भावार्थ—बाण के प्रहार से कोई योद्धा नीचे गिरा और गिरते ही कंक पक्षी ने उसे अपने अधीन कर लिया। बाण तथा कंक पक्षी में

---

१ असाधारणाकारम् २ शत्रुसेना ३ अद्रौ इति अध्यद्रि ४ छित्वा ५ अतिशयेन चला इति चलाचलास्तान् ।

तं लक्ष्यीकृत्य तत्सैन्यप्रहितास्त्रशताकुला । द्यौरभूत्क्वापि यातेव शस्त्रपातभयात्ततः ॥१६॥
रथादिष्वेकमनेकं च निघ्नानः समरे मुहुः । कृत्स्नप्रबलपक्षावातं [1]समवर्तीव सोऽभवत् ॥१७॥
प्रचचाल न तच्चक्रं सैन्याक्रान्तं धनुर्विदा । जीवग्राहं गृहीत्वेव निक्षिप्तं शरपञ्जरे ॥१८॥
केचित्पेतुः शरैर्ग्रस्ताः केचिद्बभ्रमुरितस्ततः । अन्ये च ववमू रक्तं मम्लुरेके नभश्चराः ॥१९॥
एकानेकप्रदेशस्थः सर्वव्यापी महानणुः । इत्यसौ परमात्मेव कैश्चित्संशय्य वीक्षितः ॥२०॥
अनन्यसदृशं बाणमपाहृत्य हृदि स्थितम् । व्यपोहयत्स्वतः कश्चित्प्रसादं न पुनः प्रभोः ॥२१॥
[2]कश्चित्प्रसादवित्तानां भूयसां न मृतैस्तथा । एकस्याभृतभृत्यस्य यथादूयत सत्प्रभुः ॥२२॥
सैन्ये भग्ने प्रभोरग्रे [3]द्वित्रैः कैश्चिदपि स्थितम् । कस्यचित्कृच्छ्रसाहाय्यं न हि सर्वैर्विधीयते ॥२३॥
प्राणवित्तव्ययेनैव निःक्रयं स्वामिसत्कृतेः । मन्यमानो व्रणार्तोऽपि [4]कश्चित्प्रष्ठोऽभवत्प्रभोः ॥२४॥

सादृश्य इसलिये था कि जिसप्रकार वाण पङ्खों से युक्त होता है उसी प्रकार कंक पक्षी भी पङ्खों से युक्त था तथा जिस प्रकार वाण का तुण्ड–अग्रभाग तीक्ष्ण—पैना होता है उसी प्रकार कंक पक्षी का तुण्ड–मुख भी पैना था ॥१५॥ अपराजित को लक्ष्य कर दमितारि के सैनिकों के द्वारा छोड़े हुए सैकड़ों अस्त्र शस्त्रों से व्याप्त आकाश ऐसा जान पड़ता था मानों शस्त्र प्रहार के भय से वहाँ से कहीं चला गया हो ॥१६॥ युद्ध में हाथी घोड़े रथ और पैदल सैनिकों में से कहीं एक को कहीं अनेक को बार बार मारता हुआ वह यमराज के समान हुआ था ॥१७॥ उस धनुर्विद्या के जानकार अपराजित के द्वारा आक्रान्त दमितारि का चक्र नहीं चल रहा था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों जीवित पकड़ कर वाणों के पिंजड़े में डाल दिया गया हो ॥१८॥

वाणों से ग्रस्त होकर कितने ही विद्याधर गिर पड़े थे, कितने ही इधर उधर घूमने लगे थे, कोई रक्त उगलने लगे थे और कोई म्लान हो गये थे ॥१९॥ वह कभी एक प्रदेश में स्थित होता था, कभी अनेक प्रदेशों में स्थित होता था, कभी सर्व व्यापक दिखाई देता था, कभी महान् मालूम होता था और कभी सूक्ष्म जान पड़ता था, इसलिये क्या यह परमात्मा के समान है ऐसा संशय कर किन्हीं लोगों के द्वारा देखा गया था ॥२०॥ जो घुस कर हृदय में स्थित था ऐसे असाधारण वाण को किसी योद्धा ने स्वयं निकाला था परन्तु घुस कर हृदय में स्थित प्रभु के प्रसाद को नहीं निकाला था। भावार्थ– शत्रु की मार खा कर भी किसी कृतज्ञ योद्धा ने स्वामी के उपकार को नहीं भुलाया था ॥२१॥ जिनका प्रसाद ही धन है ऐसे बहुत योद्धाओं के मरने से कोई समीचीन (गुणज्ञ) राजा उस प्रकार दुखी नहीं हुआ था जिसप्रकार कि भरणपोषण से रहित एक सेवक के मरने से दुखी हुआ था ॥२२॥ सेना के नष्ट हो जाने पर किसी राजा के आगे कोई दो तीन सेवक ही खड़े रह गये थे, शेष सब भाग गये थे सो ठीक ही है क्योंकि कष्ट में सहायता सब के द्वारा नहीं की जाती ॥२३॥ स्वामी ने जो हमारा सत्कार किया है—हमारे साथ अच्छा व्यवहार किया है उसका बदला प्राणरूप धन के

---

१ यम इव २ प्रसाद एव वित्तं येषां तेषाम् ३ द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः तैः ४ अग्रगामी 'प्रष्ठोऽग्रगामी श्रेष्ठः' इति विश्वलोचनः।

किं मुह्यते पुरोभूतस्वामिनो भवताग्रतः । न संस्मरत किं यूयं ¹भावत्कीं कुलपुत्रताम् ॥२५॥
स्वामिप्रसाददानानां मुच्यध्वं किं न निष्क्रयम् । एभिर्विनश्वरैः प्राणैः प्रस्तावोऽन्यो न विद्यते ॥२६॥
भीतिमुज्झत शौण्डीर्यं भजध्वं सुभटोचितम् । प्रच्छन्तीं किमिति ब्रूत प्राप्य गेहमपि प्रियाम् ॥२७॥
²सिसंग्रामयिषुः कश्चिद्भटराजिं ³निवृत्सतः । इत्युक्त्वा स्थापयामास वाग्मितायाः फलं हि तत् ॥२८॥

[युगलम्]

खेटमग्रे निधायैकं सुवृत्तं पुलकाञ्चितम् । अनुरक्तं स्वमप्युच्चैररक्षत्स्वामिनं शरात् ॥२९॥
⁴उत्सालं शरघातेन कुर्वतोऽपि मुहुर्मुहुः । ⁵स्वारूढो न पपातान्यः ⁶स्थूरीपृष्ठस्य पृष्ठतः ॥३०॥
शरपातभयाद्भूमिं विहाय व्योम्नि यः स्थितः । स तमप्यवधीद्बाणैः को हि मृत्योः पलायते ॥३१॥
पतत्सु शरजालेषु पतितं सादिनं ⁷ययुः । नात्यजद्विधुरे ⁸जात्यः को वा स्वामिनमुज्झति ॥३२॥
असमैराजि⁹धूलीभिर्यद्वपुर्धूसरीकृतम् । क्षालितं तदुपस्वामि केनचिद्रण शोणितैः ॥३३॥

त्याग से ही हो सकता है—ऐसा मानता हुआ कोई योद्धा घावों से पीड़ित होने पर भी स्वामी के आगे खड़ा था ॥२४॥ क्यों भूल रहे हो इस स्वामी के आगे होओ, क्या तुम अपनी कुल पुत्रता का स्मरण नहीं करते ? ॥२५॥ स्वामी के प्रसाद और दान का बदला इन विनश्वर—एक न एक दिन नष्ट हो जाने वाले प्राणों से क्यों नहीं चुकाते हो ? दूसरा अवसर नहीं है ॥२६॥ भय छोड़ो और सुभटों के योग्य शौर्य को ग्रहण करो। घर पहुंच कर भी क्या है ? इस तरह पूछने वाली स्त्री से क्या कहोगे ? ॥२७॥ इस प्रकार कह कर युद्ध से पीछे हटने वाले अन्य योद्धाओं को युद्ध करने के इच्छुक किसी योद्धा ने खड़ा रक्खा था—भागने नहीं दिया था सो ठीक ही है क्योंकि वक्तृत्वशक्ति का फल यही है ॥२८॥

सुवृत्त—अच्छी गोल ढाल तथा सुवृत्त—सदाचार से युक्त, रोमाञ्चित और अनुराग से युक्त अपने आपको भी आगे कर किसी ने बाण से स्वामी की अच्छी तरह रक्षा की थी ॥२९॥ बाणों के आघात से कोई घोड़ा यद्यपि बार बार उछल रहा था तथापि संभल कर बैठा हुआ अन्य योद्धा उसकी पीठ से नीचे नहीं गिरा था ॥३०॥ जो योद्धा बाणपात के भय से पृथिवी को छोड़ आकाश में स्थित था, अपराजित ने उसे भी बाणों से मार डाला। यह ठीक ही था क्योंकि मृत्यु से कौन भाग सकता है ? ॥३१॥ बाण समूह के पड़ने पर नीचे गिरे हुए सवार को घोड़ा ने छोड़ा नहीं था क्योंकि कष्ट पड़ने पर कौन कुलीन प्राणी अपने स्वामी को छोड़ता है ? ॥३२॥ किसी योद्धा ने अपना जो शरीर युद्ध की विषमधूली से धूसरित हो गया था उसे स्वामी के समीप युद्ध के रक्त से धोया था ॥३३॥ किसी सुभट के हृदय में गड़े हुए बाण को स्वामी ने अपने हाथ से उस प्रकार निकाल दिया

---

१ भवत इयं भावत्की ताम् २ संग्रामयितुमिच्छुः ३ युद्धात् निवृत्तिमिच्छतः ४ उत्प्लवनं ५ सुष्ठु आरूढः स्वारूढः ६ अश्वस्य ७ अश्वः ८ कुलीनः ९ युद्धधूलीभिः ।

[illegible] वीक्षिते सायकं प्रभुः । अपनिन्ये स्वहस्तेन स्वं [1]दुर्वचनमिवादृतः ॥३४॥
कश्चित्पलायमानेषु स्वान्तरङ्गेषु दुर्मनाः । भृत्यान् पुरःसरान् दृष्ट्वा प्रभुर्लज्जाकुलोऽभवत् ॥३५॥
सादैः प्रोतोरुकः कश्चिद्धावतोऽश्वादपप्तत । आनम्य कायमायामम् किमपीदं मृतोऽप्यभात् ॥३६॥
असिरेव पपातोर्व्याः शरैः [2]शकलिताद्भुजात् । कस्यचिद्दक्षिणाद्वामाद्वोत्साहो न मानसात् ॥३७॥
मूर्च्छितं मृतमभ्येत्य शृगालः शवशङ्कया । अकाण्डस्फुरणात्तस्य ससार भयविह्वलः ॥३८॥
उच्चै रेणुः शिवा मत्ताः पीत्वा रुधिरासवम् । शीर्णसंहननच्छेदनीलाम्भोरुहवासितम् ॥३९॥
शरपातभयात्कैश्चिन्निवृत्तं प्रियजीवितैः । अभिशत्रुशरं कैश्चित्प्रयातं प्रियपौरुषैः ॥४०॥
स्मरद्भिः स्वामिसम्मानं मानमालम्ब्य यत्नतः । पतितैरुत्थितं कैश्चिच्[3]चितैरपि सायकैः ॥४१॥
रथिका न रथैरेव तेन दूरं वियोजिताः । मुञ्चता शरसंघातं [4]विविधैरपि मनोरथैः ॥४२॥
निशातशरसंपातात्सीद्दानमशीकरम् । मनसा वपुषा [5]चासीद्विहस्तं हास्तिकं तदा ॥४३॥
उन्मत्त[illegible] द्विपः क्षीबः शरार्दितः । स्वसेनां चूर्णयामास तन्मदान्धस्य चेष्टितम् ॥४४॥

था जिसप्रकार आदर को प्राप्त हुआ मनुष्य अपने दुर्वचन को किसी के हृदय से निकाल देता है ॥३४॥ कोई एक राजा भागने वाले अपने अन्तरंग पुरुषों में अपने अभागे सेवकों को आगे देख लज्जा से व्याकुल हो गया था ॥३५॥ घुड़ सवार की जांघें बाणों से छिद गयी थीं उतने पर भी वह दौड़ते हुए घोड़े से नीचे गिर गया। इस स्थिति में वह शरीर को नम्रीभूत कर लम्बा पड़ रहा। कवि कहते हैं यह क्या है वह तो मर कर भी सुशोभित होना ॥३६॥ बाणों के द्वारा खण्डित किसी की दाहिनी अथवा बांयी भुजा से तलवार ही ऊपर गिरी थी मन से युद्ध का उत्साह नहीं गिरा था ॥३७॥ किसी मूर्च्छित सुभट को मुर्दा समझ कर शृगाल उसके पास गया परन्तु वह असमय में ही हाथ पैर चलाने लगा, इसलिये भय से घबड़ा कर शृगाल भाग गया ॥३८॥ जीर्ण शीर्ण हड्डी के खण्ड रूपी नील कमलों से युक्त रुधिर रूपी मदिरा को पीकर पागल हुए शृगाल उच्च स्वर से शब्द कर रहे थे ॥३९॥ जिन्हें जीवन प्रिय था ऐसे कितने ही सुभट बाणवर्षा के भय से लौट गये थे और जिन्हें पौरुष प्रिय था ऐसे कितने ही सुभट शत्रु के बाणों के सन्मुख गये थे ॥४०॥

बाणों से छिदकर नीचे पडे हुए कितने ही योद्धा स्वामी के सन्मान का स्मरण करते हुए मान का आलम्बन ले यत्नपूर्वक उठकर खड़े हो गये ॥४१॥ बाण समूह को छोड़ने वाले अपराजित ने न केवल रथारोहियों को रथ से दूर वियुक्त कर दिया था किन्तु नानाप्रकार के मनोरथों से भी वियुक्त कर दिया था ॥४२॥ तीक्ष्ण बाणों की लगातार वर्षा से जिनकी मदरूपी स्याही और कर-सूंड नष्ट हो गयी है ऐसे हाथियों का समूह उस समय मन और शरीर—दोनों से विहस्त—विवश और सूंड रहित हो गया था ॥४३॥ बाणों से पीड़ित एक पागल हाथी ने अपने सवार को भी कुचल

---

१ दुर्वचनमिव २ खण्डितात् ३ व्याप्तैरपि ४ बहुप्रकारैः ५ विवशम् हस्तरहित च।

अवशो निश्चलीकृत्य किञ्चित्कूणितलोचनः । सेनाकोलाहलं श्रुत्वा अन्तर्गर्जन्मुहुर्मुहुः ॥४५॥
स्वाङ्गेषु पतितान्बाणान्हस्तेनोद्धृत्य लीलया । इतस्ततः क्षिपन् कुर्वन् [illegible] ॥४६॥
इति धीरं गजोऽतिष्ठत्प्रतीक्ष्या¹रूढचोदनाम् । प्रकटं प्रथयाञ्चक्रे जातेः शीलस्य भद्रताम् ॥४७॥

(त्रिभिर्विशेषकम्)

क्वचिद्भग्नरथाभ्यन्तःस्थव्रणातुरमहारथम् । अन्यत्र पतितानेकमत्तेभ²नागपर्वताकुलम् ॥४८॥
क्वचित्पत्तिसमाघातैर्निर्भिन्नैरेव केवलैः । स्थितं प्रविचितं कैश्चिद्भग्नशाखैरिव द्रुमैः ॥४९॥
क्वचिच्छून्याश्वसानेकहयहेषाकुलदिङ्मुखम् । ³सद्वंशैः पतितैः कीर्णं क्वचिद्वीरैश्च केतुभिः ॥५०॥
विश्रान्तशङ्खिकोद्देशं ⁴श्रूयमाणशिवारुतम् क्वचिदन्यत्र नृत्यद्भिः ⁵कबन्धैः संहृतान्तरम् ॥५१॥
तदेकेन समाक्रान्तमित्यभूत्तद्रणाजिरम् । ⁶दैवं जयश्रियो हेतुर्न सामग्री महत्यपि ॥५२॥

पञ्चभिः कुलकम्

ततस्तेन हते सैन्ये सेनानी रणदर्पितः । ⁷चित्रानीक इति ख्यातो द्रागाजुहाव तं रणाय ॥५३॥

डाला और अपनी सेना को चूर चूर कर दिया सो ठीक ही है कि मदान्ध प्राणी की वही चेष्टा है ॥४४॥ कानों को निश्चल कर जिसने नेत्रों को कुछ कुछ संकोचित कर लिया था, सेना का कोलाहल सुन कर जो बार बार भीतर ही भीतर गरज रहा था और जो अपने अंगों पर पड़े हुए बाणों को सूंड से निकाल कर लीला पूर्वक इधर उधर फेंक रहा था ऐसा धीरता पूर्वक खड़ा हुआ हाथी, सवार की प्रेरणा की प्रतीक्षा कर अपनी जाति और शील की भद्रता को प्रकट कर रहा ॥४५–४७॥

वह रणाङ्गण कहीं तो टूटे रथ के भीतर स्थित घावों से पीड़ित महारथियों से युक्त था। कहीं पड़े हुए अनेक उन्मत्त हाथी रूपी पर्वतों से व्याप्त था। कहीं जिनके सैनिक मारे गये हैं ऐसे मात्र स्वामियों से युक्त था और उनसे ऐसा जान पड़ता मानों शाखा रहित वृक्षों से ही व्याप्त हो। कही घुड़ सवारों से रहित अनेक घोडों की हिनहिनाहट से युक्त दिशाओं से सहित था। कहीं गिरे हुए सद्वंश—उच्चकुलीन पक्ष में वांसों से सहित वीरों तथा ध्वजों से व्याप्त था। कहीं जहाँ शङ्ख बजाने वालों का उद्देश समाप्त हो गया था ऐसा था। कहीं सुनाई देने वाले शृगालियों के शब्द से युक्त था और कहीं नाचते—उछलते हुए कबन्धों—शिर रहित धड़ों से जिसका अन्तर समाप्त हो गया था ऐसा था। इसप्रकार उस एक के द्वारा आक्रान्त रणाङ्गण ऐसा हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि विजय लक्ष्मी का हेतु भाग्य ही है बहुत भारी सामग्री नहीं ॥४८–५२॥

तदनन्तर अपराजित के द्वारा सेना के मारे जाने पर युद्ध के अहंकार से युक्त चित्रानीक नाम से प्रसिद्ध सेनापति ने शीघ्र ही युद्ध के लिये उसे बुलाया ॥५३॥ महात्मा अपराजित अन्य को छोड़कर चित्रानीक सेनापति के आगे उस प्रकार खड़ा हो गया जिस प्रकार सिंह झुण्ड को छोड़कर

---

१ आरूढस्य चोदनां प्रेरणां २ गजगिरिव्याप्तम् ३ सत्कुलैः विद्यमानवेणुभिः ४ श्रूयमाणशृगाली शब्दम् ५ शिरोरहितनरकलेवरैः ६ भाग्यम् ७ चित्रानीकनामा ।

स्वकान्येव पुरस्तस्य तेन तस्थे महात्मना । अभियूथाधिपं यूथं विमुच्य [1]हरिणा यथा ॥५४॥
रणान्तरे समाकर्णं धनुराकृष्य वेगतः । छादयामासतुर्धीरौ तावन्योन्यं [2]पतत्त्रिभिः ॥५५॥
चिरात्स लब्धरन्ध्रत्वात् सेनान्यो धनुषो [3]गुणम् । लुलावैकेन बाणेन तमन्येन च पातयन् ॥५६॥
ततो महाबलः क्रुद्धः प्रोत्साह्य खचरेश्वरान् । उपेक्ष्यते किमित्युक्त्वा योद्धुं वीरः प्रचक्रमे ॥५७॥
निवर्तस्व क्व यास्यन्यदभिमुखो भव । अयं न भवसीत्युच्चैर्ब्रुवन् विव्याध तं शरैः ॥५८॥
अन्तरेव स तद्बाणान् बाणैश्चिच्छेद वेगतः । विशन्महानदग्राहान्ग्राहैरिव महार्णवः ॥५९॥
जेतुं धनुर्विदां [4]धुर्यं सायकैस्तमपारयन् । पाणिमुक्तैः रिपुः कोपाच्चक्रादिभिरताडयत् ॥६०॥
तान्यथादाय वेगेन तस्मिन्मुञ्चति सायकान् । नीरन्ध्रं परितः शत्रुं [5]वियद्यियासदिवाभवत् ॥६१॥
अजय्यं [6]भूचरैर्मत्वा तं जिगीषुः स्वविद्यया । अनेकं वपुरादाय [7]द्यां व्यगाहत खेचरः ॥६२॥

झुण्ड के स्वामी के आगे खड़ा हो जाता है ।।५४।। तदनन्तर रण के बीच वेग से कानों तक धनुष खींच कर दोनों धीरवीरों ने बाणों के द्वारा परस्पर—एक दूसरे को आच्छादित कर दिया ।।५५।। चिरकाल बाद छिद्र पाकर अपराजित ने एक बाण के द्वारा सेनापति के धनुष की डोरी काट डाली और दूसरे बाण से सेनापति को भी गिरा दिया ।।५६।।

तदनन्तर क्रोध से भरा हुआ महाबल नामका बीर विद्याधर राजाओं को प्रोत्साहित कर तथा 'इस तरह उपेक्षा क्यों करते हो ?' यह कहकर युद्ध करने के लिये तत्पर हुआ ।।५७।। लौटो, अन्यत्र क्यों जाते हो ? सन्मुख स्थित होओ, यह तुम अब न रहोगे—अब जीवित न बचोगे, इस प्रकार उच्च स्वर से कहते हुए अपराजित ने उसे बाणों से विद्ध कर दिया ।।५८।। अपराजित उसके बाणों को अपने बाणों के द्वारा वेग से बीच में ही उस प्रकार छेद डालता था जिसप्रकार कि महासागर प्रवेश करने वाले महानद के ग्राहों को अपने ग्राहों के द्वारा बीच में ही छेद डालता है ।।५९।। जब शत्रु धनुष विद्या के जानने वालों में श्रेष्ठ अपराजित को बाणों के द्वारा जीतने के लिये समर्थ नहीं हुआ तब वह क्रोध वश हाथ से छोड़े हुए चक्र आदि के द्वारा उसे ताड़ित करने लगा ।।६०।।

तदनन्तर उन सबको लेकर जब अपराजित वेग से बाण छोड़ रहा था तब शत्रु के चारों ओर का आकाश छिद्र रहित हो गया था और ऐसा जान पड़ता था मानों कहीं चला जा रहा हो । भावार्थ—उस ओर से जो चक्र आदि शस्त्र अपराजित पर छोडे जा रहे थे उन्हें वह झेलता जाता था और वेग से शत्रु पर ऐसी घनघोर बाण वर्षा कर रहा था कि आकाश उनसे भर गया था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानों कहीं भागा जा रहा हो ।।६१।। जीतने के इच्छुक विद्याधर ने जब अपराजित को भूमि पर स्थित मनुष्यों के द्वारा अजय्य समझा—जीता नहीं जा सकता ऐसा विचार किया तब वह अनेक शरीर बनाकर आकाश में प्रविष्ट हुआ ।।६२।। तत्पश्चात् समस्त विद्याएँ अपना

---

१ सिंहेन २ बाणैः ३ मौर्वीम् ४ अग्रेसरम् ५ गगनं यियासदिव किमप्यगच्छदिव बभूव ६ भूचारिभिः ७ आकाशम् ।

ततः सर्वा महाविद्याः प्राप्य प्रस्तावमात्मनः[1] । आज्ञापयेति जल्पन्त्यस्तमीयुरपराजितम् ॥६३॥
अपश्यन्निव ता वीरो युयुधे स पुरा यथा । न महान् कृच्छ्रसाहाय्यं परकीयं प्रतीक्षते ॥६४॥
तथाप्यपेक्षिते हन्तुं ता विद्यास्तस्य शात्रवम् । प्रभोरभ्यासगः को वा न कुर्यात्तस्य चेष्टितम् ॥६५॥
महाबलशतं व्योम्नो [3]निरासे तेन तत्क्षणात् । विद्याभिः स्पर्द्धयेवाग्रे प्रयातैरिव सायकैः ॥६६॥
हते महाबले विस्मयविस्मितैः शत्रुसैनिकैः । न मुहुः केवलं दृष्टः स व्योम्नि त्रिदशैरपि ॥६७॥
ततो विद्युल्लोलासिदीधितिकल्माषिताम्बराः । रत्नग्रीवादयोऽनेके खेचरेन्द्राः समुद्ययुः ॥६८॥
स्वविद्यानिर्मितैर्वेतालैस्तीक्ष्णभीमविग्रहैः । ते पिधाय वियद्वीराः परितस्तं दुढौकिरे ॥६९॥
आग्नेयास्त्राग्निज्वालासहस्रैः स्थगिता दिशः । ते रेजिरे तदा सृष्टाः केनापि [4]सतडिद्वृताः ॥७०॥
विषानलकरालास्यैर्व्योमारोध्यसिताहिभिः । साशोकेन्दीवरोद्दामदामभिर्वा तदा परैः ॥७१॥
शक्त्यृष्टिपरिघप्रासगदामुशलमुद्गरैः । कीर्णा तन्मुक्तपतितैरभूदस्त्रमयीव भूः ॥७२॥

अवसर प्राप्त कर-आज्ञा करो, ऐसा कहती हुई अपराजित के पास आ गयीं । भावार्थ—समस्त विद्याएँ अपराजित को स्वयं सिद्ध हो गयीं और उससे आज्ञा मांगने लगीं ॥६३॥ परन्तु धीर वीर अपराजित पहले के समान युद्ध कर रहा था मानों उसने उन विद्याओं की ओर देखा ही न हो । ठीक ही है क्योंकि महान् पुरुष कष्ट के समय दूसरे की प्रतीक्षा नही करता है ॥६४॥ यद्यपि अपराजित ने उन विद्याओं की अपेक्षा नहीं की थी तो भी उन्होंने उसके शत्रु को मारना शुरू कर दिया था सो ठीक ही है क्योंकि प्रभु के समीप रहने वाला कौन पुरुष प्रभु की चेष्टा के समान कार्य नही करता ? ॥६५॥ विद्याओं के साथ स्पर्द्धा होने से ही मानों आगे गये हुए वाणों के द्वारा उसने सैकड़ों महाबलों को उसी क्षण आकाश से दूर कर दिया था । भावार्थ—महाबल विद्याधर विद्याओं के बल से सैकड़ों रूप बनाकर आकाश में चला गया था और वहाँ से अपराजित पर प्रहार कर रहा था परन्तु अपराजित ने शीघ्रगामी वाणों के द्वारा उन सबको खदेड़ दिया था ।६६॥ उस महाबल के मारे जाने पर न केवल आश्चर्यचकित शत्रु सैनिकों ने अपराजित को बार बार देखा था किन्तु आकाश में स्थित देवों ने भी देखा था ॥६७॥

तदनन्तर लपलपाती हुई उज्ज्वल तलवारों की किरणों से आकाश को मलिन करने वाले रत्नग्रीव आदि अनेक विद्याधर राजा युद्ध के लिये उद्यत हुए ॥६८॥ अपनी विद्याओं से निर्मित, तीक्ष्ण तथा भयंकर शरीर वाले वेतालों के द्वारा आकाश को आच्छादित कर वे वीर चारों ओर से अपराजित पर टूट पडे ॥६९॥ आग्नेयास्त्र की हजारों अग्नि ज्वालाओं से दिशाएँ आच्छादित हो गयीं और उनसे वे उस समय ऐसी सुशोभित होने लगीं मानों किसी ने उन्हें बिजलियों से सहित ही कर दिया हो ॥७०॥ जिनके मुख विषरूपी अग्नि से भयंकर थे ऐसे काले सर्पों ने आकाश को ऐसा घेर लिया मानो अशोक के लाल लाल पल्लवों से युक्त नील कमलों की बड़ी बड़ी उत्कृष्ट मालाओं ने ही घेर लिया हो ॥७१॥ उन विद्याधरों के द्वारा छोड़े जाकर पड़े हुए शक्ति, ऋष्टि, परिघ, भाले, गदा, मुशल और मुद्गरों से व्याप्त भूमि अस्त्रों से तन्मय जैसी हो गयी थी ॥७२॥ कितने ही विद्याधरों ने

---

१ अवसरम् २ स्वयम् ३ निराकृतं चक्रे ४ सविद्युतः ।

केचित्पौरं[1]पिदधुर्देहैर्भीमाकारैर्नभस्तलम् । तमन्ये शरधाराभिर्घनाः प्रौर्णुविषुः स्वयम् ॥७३॥
द्विषद्भिस्तेन चोन्मुक्तशस्त्रसंघट्टजो महान् । अन्तरा ज्वलनो रेजे तद्युद्धमिव वारयन् ॥७४॥
व्योम्नोऽर्वाक्शिरसः पेतुर्निहतास्तेन केचन । त्रपयेव परावृत्तसंनाहपिहिताननाः ॥७५॥
आत्मसात्कृतया पूर्वं पुण्यसंहतिसमानया । चिच्छेद द्विषतां विद्याः स महाजालविद्यया ॥७६॥
निघ्नानोऽप्यरिसंघातमनेकं न विसिस्मिये । तदेव साम्प्रतं नूनमवदानकृतां सताम् ॥७७॥
तेन विध्वस्तसैन्योऽपि रत्नग्रीवो न विव्यथे । विपत्सु महतां धैर्यं नापयाति हि मानसात् ॥७८॥
स [2]वामकरशाखाभी रेजे खड्गं परामृशन् । तत्रैव निश्चलां कुर्वन्प्रचलन्तीं जयश्रियम् ॥७९॥
तमाह्वयत युद्धाय पुनः श्रमगतं क्रुधा । स्फुरन्तं तेजसा शत्रुं सहते को हि सात्त्विकः ॥८०॥
नानाविधायुधानेकविद्यासंमर्ददारुणः । रणः प्रावर्ति तेनोच्चैरुच्चावचमहाध्वनिः ॥८१॥
अरातिशस्त्रसंपातैर्यन्नेकोऽप्यनेकताम् । स दिग्भिरकरोत्सार्धं सर्वमात्ममयं वियत् ॥८२॥

भीमाकार—भयंकर शरीरों से आकाश को आच्छादित कर लिया और अन्य विद्याधर स्वयं मेघ बनकर उसे वाण की धाराओं—वाणरूपी जल की धाराओं से आच्छादित करने लगे ॥७३॥ शत्रुओं तथा अपराजित के द्वारा छोडे हुए शस्त्रों के संघट्टन से उत्पन्न हुई बहुत भारी अग्नि बीच में ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों उस युद्ध को रोक ही रही हो ॥७४॥ अपराजित के द्वारा मारे हुए कितने ही विद्याधर नीचे की ओर शिर कर आकाश से गिर रहे है जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों लज्जा के कारण ही उन्होंने उलटे कवचों से अपने मुख ढक लिये थे ॥७५॥

पूर्वपुण्यसमूह के समान अपने अधीन की हुई महा जाल विद्या के द्वारा अपराजित ने शत्रुओं की समस्त विद्याओं को छेद दिया था ॥७६॥ शत्रुओं के अनेक झुण्डों को मारता हुआ वह विस्मय को प्राप्त नहीं हुआ सो ठीक ही है क्योंकि साहस करने वाले सत्पुरुषों को वही योग्य है। भावार्थ—पराक्रमी सत्पुरुषों को विस्मय न करना ही उचित है ॥७७॥ अपराजित के द्वारा यद्यपि रत्नग्रीव की समस्त सेना नष्ट कर दी गयी थी तो भी वह पीड़ित नहीं हुआ सो ठीक ही है क्योंकि विपत्ति के समय महापुरुषों के मन से धैर्य नहीं जाता है ॥७८॥ वह बांये हाथ की अंगुलियों से तलवार का स्पर्श करता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों चञ्चल विजयलक्ष्मी को उसी पर निश्चल कर रहा हो ॥७९॥ उसने थके हुए शत्रु को क्रोध से युद्ध के लिये पुनः ललकारा सो ठीक ही है क्योंकि तेज से देदीप्यमान शत्रु को कौन पराक्रमी सहन करता है? ॥८०॥ उसने नाना प्रकार के शस्त्र और अनेक विद्याओं के संमर्द से ऐसा युद्ध जारी किया जिसमें बहुत भारी कलकल शब्द हो रहा था ॥८१॥

शत्रुओं के ऊपर लगातार शस्त्रों की वर्षा करने से वह अपराजित एक होकर भी अनेक रूपता को प्राप्त होता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानों उसने दिशाओं के साथ समस्त आकाश को अपने से तन्मय कर लिया हो। भावार्थ—जहाँ देखो वहाँ अपराजित ही अपराजित दिखायी देता था ॥८२॥ नष्ट होने से शेष बचे हुए सैनिकों ने बार बार कोलाहल किया। उससे क्षणभर ऐसा लगा

---

१ आच्छादयामासुः २ वामहस्तांगुलिभिः।

सैन्यैः कोलाहलश्चक्रे भग्नसेनैर्मुहुर्मुहुः । तेन क्षणमिवाक्रान्ते शत्रुणेवापराजिते ॥८३॥
सोत्साहं सैन्यनिस्वानं श्रुत्वा तेन विमानतः । निर्ययेऽनन्तवीर्येण सिंहेनेव गुहामुखात् ॥८४॥
स्वदक्षिणभुजारूढहलेन स [1]हलायुधः । वर्तमानोऽवधीद्भीमं तं शत्रुमपराजितः ॥८५॥
तं हत्वा लीलयाऽपश्यन्दिशोऽपश्यत्ततोऽनुजम् । स्मयमानः स संप्राप्तं मूर्तं स्वमिव विक्रमम् ॥८६॥
अस्याल्पावशेषस्य रणस्य रणघस्मरम् । प्रसादं मे विधत्स्वेति प्राणंसीदनुजोऽग्रजम् ॥८७॥
ततो निहतनिःशेषधुर्यां धैर्यनिधिः स्वयम् । दध्रे रणधुरां भीमां दमितारिः स कद्रथाम् ॥८८॥
क्षपितारिचक्रेण चक्रेणेव महीयसा । पराक्रमेण तौ जेतुं महोत्साहपरोऽभवत् ॥८९॥
पश्चात्कृत्य स संभ्रान्तां भग्नशेषां [2]पताकिनीम् । पुरो निधाय कीर्तिं वा पताकां कुमुदोज्ज्वलाम् ॥९०॥
कुर्वत्कबन्धवित्रस्तधौरेयविनिवर्तनैः । तिर्यक्प्रस्थानमारुह्य रथं व्रणितसारथिम् ॥९१॥
अनेकशरसंपातजर्जरीकृतविग्रहान् । दृष्ट्वानुव्रजतो धीरानाव्रजाव्रजेति ब्रुवन् ॥९२॥

जैसे शत्रु ने अपराजित को दबा लिया हो ।।८३।। उत्साह से युक्त सेना का शब्द सुनकर अनन्तवीर्य विमान से इसप्रकार निकला जिसप्रकार गुहा के मुख से सिंह निकलता है ।।८४।। रणभूमि में विद्यमान तथा बलभद्रपद के धारक अपराजित ने अपनी दाहिनी भुजा पर आरूढ हल के द्वारा उस भयंकर शत्रु को मार डाला ।।८५। लीलापूर्वक—अनायास ही शत्रु को मार कर ज्यों ही अपराजित ने दिशाओं की ओर देखा त्यों ही अपने मूर्त–शरीरधारी पराक्रम के समान आये हुए छोटे भाई अनन्तवीर्य को देखा । देखते समय अपराजित मन्दमुसक्यान से युक्त था ।।८६।। जो थोड़ा ही शेष बचा है ऐसे रण का, रण को समाप्त करने वाला प्रसाद मुझे दीजिये यह कहते हुए छोटे भाई अनन्तवीर्य ने बड़े भाई—अपराजित को प्रणाम किया । भावार्थ—शत्रु पक्ष के सब लोग मारे जा चुके हैं एक दमितारि ही शेष बचा है अतः इसके साथ युद्ध करने की आज्ञा मुझे दीजिये । मैं दमितारि को मार कर युद्ध समाप्त कर दूंगा—इन शब्दों के साथ अनन्तवीर्य ने अपराजित को प्रणाम किया ।।८७।।

तदनन्तर जिसमें समस्त घोड़े अथवा रण का भार धारण करने वाले प्रधान पुरुष मारे जा चुके हैं और जिसमें टूटे फूटे रथ शेष बचे हैं ऐसे भयंकर रण के भार को धैर्य के भण्डार दमितारि ने स्वय धारण किया ।।८८।। जिसने शत्रुओं के समूह को नष्ट कर दिया है ऐसे चक्ररत्न के समान महान् पराक्रम के द्वारा वह उन दोनों—अपराजित और अनन्तवीर्य को जीतने के लिये बहुत भारी उत्साह से युक्त हुआ ।।८९।।

मरने से शेष बची हुई घबड़ायी सेना को तो उसने पीछे छोड़ा और कीर्ति के समान सफेद पताका को आगे कर प्रस्थान किया ।।९०।। उछलते हुए कबन्धों—शिर रहित धड़ों से भयभीत घोड़ों के बार बार लौट पड़ने से जिसकी चाल तिरछी थी तथा जिसका सारथि घावों से जर्जर था ऐसे रथ पर आरूढ़ होकर वह चल रहा था ।।९१।। अनेक बाणों के प्रहार से जिनके शरीर जर्जर कर दिये गये थे तथा जो पीछे पीछे आ रहे थे ऐसे धीर वीर योद्धाओं को देखकर वह कह रहा था कि

---

[1] बलभद्रः [2] सेनाम् ।

स्वेदापनयनव्याजमुपादाय तनुच्छदम् । स्वयमुन्मोचयत्यन्यैर्विमुक्तग्रन्थिबन्धनम् ॥९३॥
अक्षतैर्विरथैः कैश्चिदपरित्यक्तो महाभटैः । तत्कालेऽप्यविमुक्ताङ्गः पुण्यैरिव पुरातनैः ॥९४॥
दूरादालोकितः शत्रु [1]चक्रेणेव [2]जिघांसुना । अभिवर्षन् शरैरित्थं प्रतस्थे खेचरेश्वरः ॥९५॥
[षड्भिः कुलकम्]

स किंचिदन्तरं गत्वा ददर्श तं सहानुजम् । अयं स इति सूतेन [3]प्राजनेन निवेदितम् ॥९६॥
ततः सज्यं धनुः कृत्वा रथान्तः पुञ्जितान् शरान् । विविच्यादाय स क्षिप्रं मोक्तुमित्थं प्रचक्रमे ॥९७॥
पुरा निर्भर्त्स्य तौ वाचा धन्वासंधाय सायकम् । आकर्णं धनुराकृष्य विव्याध स्थिरमुष्टिकः ॥९८॥
अलक्ष्यधारणसंधानमोक्षांस्तत्याज सः शरान् । न [4]वाचाट इवात्याक्षीत्कर्णमूलं धनुर्गुणः ॥९९॥
प्रचेलेऽनन्तवीर्येण ततो भ्रातुरनुज्ञया । योद्धुं वेलोद्गमेनेव प्रलयक्षुभितोदधेः ॥१००॥
आकर्णाकृष्टचापेन वेगाढ्येन शरावलिः । [5]प्रास्ते पूर्वापरे मुष्टी निबिडीकृत्य संततम् ॥१०१॥
अनेकशरसंघातैः पिधाय निखिला दिशः । युध्यमानावकार्ष्टां तौ सृष्टिं शरमयीमिव ॥१०२॥

तुम लोग बैठो बैठो—साथ आने की आवश्यकता नहीं है ॥९२॥ पसीना पोंछने का बहाना लेकर वह उस कवच को जिसकी कि गांठों के बन्धन दूसरे लोगों ने छोड़े थे, स्वयं खोल रहा था ॥९३॥ जा अक्षत थे—जिन्हें कोई चोट नहीं लगी थी, जो रथ से रहित थे—पैदल चल रहे थे और जिन्होंने पूर्व पुण्य के समान उस समय भी साथ नहीं छोड़ा था ऐसे कुछ महान् योद्धा उसे घेरे हुए थे—उसके साथ साथ चल रहे थे ॥९४॥ चक्ररत्न के समान घात करने की इच्छा करने वाला शत्रु जिसे दूर से ही देख रहा था ऐसा विद्याधरों का राजा दमितारि वाण वर्षा करता हुआ शत्रु के सम्मुख जा रहा था ॥९५॥

उसने कुछ दूर जाकर छोटे भाई सहित अपराजित को देखा। 'यह वह है' इस प्रकार सारथि ने हकनी से उसका संकेत किया था ॥९६॥ तदनन्तर धनुष को प्रत्यञ्चा से युक्त कर उसने रथ के भीतर एकत्रित वाणों को अलग अलग ग्रहण किया और पश्चात् इस प्रकार छोड़ना शुरू किया ॥९७॥ पहले तो उसने दोनों भाईयों को वचन से डांटा, पश्चात् कान तक धनुष खींच कर और उस पर वाण चढ़ा कर मजबूत मुट्ठी से मारना शुरू किया ॥९८॥ जिनके संधान—धारण करने और मोक्ष—छोड़ने का पता नहीं चलता ऐसे वाणों को धनुष की डोरी ने आगे छोड़ दिया परन्तु वाचाल मनुष्य के समान उसने दमितारि के कर्णमूल को नहीं छोड़ा। भावार्थ—जिस प्रकार वाचाट—चापलूस मनुष्य सदा कान के पास लगा रहता है उसी प्रकार धनुष की डोरी भी सदा उसके कान के पास लगी रहती थी अर्थात् वह सदा डोरी खींच कर वाण छोड़ता रहता था ॥९९॥

तदनन्तर प्रलय काल के क्षुभित समुद्र के ज्वारभाटा के समान अनन्तवीर्य, भाई की आज्ञा से युद्ध के लिये चला ॥१००॥ जिसने कान तक धनुष खींच रक्खा था ऐसे अनन्तवीर्य ने आगे पीछे की मुट्ठियों को मजबूत कर निरन्तर बड़े वेग से वाणसमूह को छोड़ना शुरू किया ॥१०१॥ युद्ध करते हुए उन दोनों ने अनेक वाणों के समूह से समस्त दिशाओं को आच्छादित कर सृष्टि को वाणों से तन्मय

---

१ चक्रेणेव २ हन्तुमुत्सुकेन ३ प्रतोदकेन ४ बहुगर्ह्यवाक् ५ प्रक्षिप्ता ।

तयोः समतया युद्धं स पश्यन्नपराजितः । महानुभावतां स्वस्य प्रथयामास तत्क्षणात् ॥१०३॥
सद्वंशप्रभवाच्चापात्स निरासे शरैर्गुणम् । अभग्नपूर्वाद्विततं दमितारेर्न विक्रमम् ॥१०४॥
धनुर्विहाय स क्षिप्रं कलत्रमिव [१]निर्गुणम् । वीक्षमाणः कटाक्षेण चक्रमित्थं तमब्रवीत् ॥१०५॥
निवर्तस्व रणाद्दूरं त्वं मा भूः शलभो वृथा । [२]अदृष्टसंयुगान्बालान्नाहं हन्मि भवादृशान् ॥१०६॥
अपराजितसांनिध्यादिह वृथा सुभटायसे । विमानं व्रज तत्रास्व न योग्योऽसि रणाङ्गणे ॥१०७॥
इत्युक्त्वा विरते वाणीं चक्रिणि क्रुद्धमानसः । चापं मित्रमिवालम्ब्य तमित्यूचे नृपात्मजः ॥१०८॥
शस्त्रैः संप्रहारेऽस्मिन् गिरामवसरः कुतः । सिंहशावो हतः कश्चित्प्रौढेनापि न दन्तिना ॥१०९॥
विश्रान्तश्चेद्गृहाणास्त्रं को हन्याद्युद्धखेदितम् । भनज्मि तावदेतत्ते किं चक्रं निशितैः शरैः ॥११०॥
इति तेनेरितां वाणीं दृप्तामाकर्ण्य स क्रुधा । चक्रमाज्ञापयामास दमितारिररिं प्रति ॥१११॥
तद्गत्वानन्तवीर्यस्य दक्षिणांसं समुन्नतम् । अलंचक्रे तदा चक्रं स्वांशुचक्रेण भूयसा ॥११२॥

कर दिया ॥१०२॥ उन दोनों—अनन्तवीर्य और दमितारि के युद्ध को समता से देखते हुए अपराजित ने उसी क्षण अपनी महानुभावता को प्रकट कर दिया था ॥१०३॥ अनन्तवीर्य ने बाणों के द्वारा दमितारि के समीचीन वांस से निर्मित तथा पहले कभी खण्डित नहीं होने वाले धनुष से डोरी को अलग कर दिया परन्तु उसके विस्तृत पराक्रम को अलग नहीं किया। भावार्थ—यद्यपि अनन्तवीर्य ने बाण चला कर दमितारि के धनुष की डोरी को खण्डित कर दिया था तो भी उसका रणोत्साह खण्डित नहीं हुआ था ॥१०४॥

दमितारि निर्गुण—शीलादि गुण रहित स्त्री के समान निर्गुण—डोरी रहित धनुष को शीघ्र ही छोड़ कर कटाक्ष से चक्र की ओर देखता हुआ अनन्तवीर्य से इस प्रकार बोला ॥१०५॥ तू युद्ध से दूर लौट जा, व्यर्थ ही पतङ्ग मत बन, जिन्होंने युद्ध देखा नहीं है ऐसे तुझ जैसे बालकों को मैं नहीं मारता ॥१०६॥ अपराजित के निकट रहने से तू व्यर्थ ही सुभट के समान आचरण कर रहा है, विमान में जा और उसी में बैठ, तू रणाङ्गण के योग्य नहीं है ॥१०७॥ इस प्रकार की वाणी कह कर जब चक्रवर्ती चुप हो गया तब कुपित हृदय अनन्तवीर्य मित्र के समान धनुष का आलम्बन लेकर उससे इस प्रकार बोला ॥१०८॥

हथियारों के द्वारा होने वाले इस युद्ध में वचनों का अवसर कहाँ है ? क्या हाथी ने प्रौढ़ होने पर भी किसी सिंह के बच्चे को मारा है ? ॥१०९॥ यदि विश्राम कर चुके हो तो शस्त्र उठाओ। युद्ध से खिन्न मनुष्य को कौन मारता है ? मैं तीक्ष्ण बाणों के द्वारा क्या तुम्हारे इस चक्र को तोड़ दूं ? ॥११०॥ इस प्रकार अनन्तवीर्य के द्वारा कही हुई अहङ्कार पूर्ण वाणी को सुन कर उस दमितारि ने क्रोधवश शत्रु के प्रति चक्र को आज्ञा दे दी ॥१११॥ आज्ञाकाल में ही वह चक्र जाकर अपनी बहुत भारी किरणों के समूह से अनन्तवीर्य के ऊँचे दाहिने कन्धे को अलंकृत करने

---

१ प्रत्यञ्चारहितं पक्षे दयादाक्षिण्यादिगुणरहितम् २ अनवलोकितयुद्धान् ।

ततः खड्गं समादाय दमितारिः समुद्ययौ । प्रतिज्ञाय पुराचक्रं पातयामीति दर्पितः ।।११३।।
इत्यभ्यापततस्तस्य स चिच्छेद शिरो रिपोः । चक्रेण तत्क्षणावृद्धभ्रुकुटीभीषणालिकम्[1] ।।११४।।
स्वस्वामिनिधनात्क्रुद्धैरुद्धतैरात्तविक्रमात् । तत्रैव चक्रधाराग्नौ सुभटैः शलभायितम् ।।११५।।

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्येवं दमितारिमागतरिपुं हत्वा स चक्राधिपं
बिभ्राणः स्फुरदंशुजालजटिलं चक्रं नभःश्यामलम् ।
विस्मित्य क्षणमग्रजेन ददृशे तेन स्वमभ्यापतन्
संचारीव तदञ्जनाद्रिरुपरि व्यासक्ततिग्म[2]द्युतिः ।।११६।।
गत्वा संगर[3]सागरस्य महतः पारं परं तत्क्षणा-
ल्लक्ष्मीमुत्तमसाहसप्रणयिनीं चारोप्य स स्वानुजे ।
सौहार्दादपराजितो भुजबलाच्चान्वर्थनामेत्यभूत्
पूजासंपदकारि तत्र च तयोर्विद्याभि* रत्यादरात् ।।११७।।

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे श्रीमदपराजितविजयो नाम

* पंचमः सर्गः *

लगा ।।११२।। तब अहङ्कार से भरा दमितारि 'मैं पहले चक्र को गिराता हूं ऐसी प्रतिज्ञा कर तलवार ले आगे बढ़ा ।।११३।। इस प्रकार सम्मुख आते हुए दमितारि के उस शिर को जिसका ललाट चढ़ी हुई भौंह से भयंकर था, अनन्तवीर्य ने तत्काल चक्र से छेद दिया ।।११४।। अपने स्वामी की मृत्यु से क्रुद्ध उद्दण्ड सुभटों ने यद्यपि अपना पराक्रम दिखाया परन्तु वे उस चक्ररत्न की धारारूपी अग्नि में पतङ्ग के समान जल मरे । भावार्थ—जिन अन्य सुभटों ने पराक्रम दिखाया वे भी उसी चक्ररत्न से मारे गये ।।११५।।

इस प्रकार चक्ररत्न के स्वामी, उपस्थित शत्रु—दमितारि को मार कर देदीप्यमान किरणों के समूह से जटिल तथा आकाश के समान श्यामल चक्ररत्न को धारण करने वाला अनन्तवीर्य जब अपने सामने आया तो बडे भाई अपराजित ने क्षणभर आश्चर्य चकित हो उसे चलते फिरते उस अञ्जनगिरि के समान देखा जिसके ऊपर सूर्य संलग्न है ।।११६।। बहुत बड़े प्रतिज्ञा रूपी समुद्र के द्वितीय पार को प्राप्त कर अपराजित ने उसी क्षण स्नेह के कारण उत्तम साहस से स्नेह रखने वाली लक्ष्मी छोटे भाई अनन्तवीर्य के लिये सौंप दी और स्वयं बाहुबल से 'अपराजित' इस सार्थक नाम के धारक हुए । विद्याओं ने उसी रणभूमि में बड़े आदर से उन दोनों की पूजा प्रतिष्ठा की ।।११७।।

इस प्रकार महा कवि असग द्वारा विरचित शान्तिपुराण में अपराजित
की विजय का वर्णन करने वाला पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ ।

---

१ ललाटं २ सूर्यं ३ प्रतिज्ञापयोधेः * रित्यादरात् ब० ।

षष्ठः सर्गः

卐

अथाश्वास्याशु संतप्तां [1]लाङ्गली कनकश्रियम् । पितुर्मरणशोकेन [2]कौलीनेन च [3]भूयसा ॥१॥
स तस्य बन्धुताकृत्यमन्त्यमण्डनपूर्वकम् । तद्भूरिविक्रमक्रीतं* दमितारेरचीकरत् ॥२॥
प्राविशच्चाभयं भीतहतशेष[4]नभःसदाम् । स्तुवतां प्राञ्जलीभूय नामग्राहं सपौरुषम् ॥३॥
पापाज्जुगुप्समानोऽन्तः प्रणिनिन्द स्वचेष्टितम् । पश्यंस्तथाविधां रौद्रां वैर्याशंसनसंपदम् ॥४॥
भ्रातरं च पुरोधाय चक्रिणं कन्यया सह । प्रातिष्ठत विमानेन नगर्यामुत्सुकस्ततः ॥५॥
व्रजता भूरिवेगेन जवनिश्चलकेतुना । तेनास्थितं विमानेन सहसा व्योम्नि निश्चलम् ॥६॥

षष्ठ सर्ग

अथानन्तर बलभद्र अपराजित ने पिता के मरण सम्बन्धी शोक और बहुत भारी लोकापवाद से संतप्त कनकश्री को शीघ्र ही सान्त्वना देकर, दमितारि का अन्तिम संस्कार कराया। वह अन्तिम संस्कार अन्तकाल में पहिनाये जाने वाले आभूषणादि पहिनाने की प्रक्रिया को पूरा कर किया गया था तथा उसके बहुत भारी पराक्रम के अनुरूप सम्पन्न हुआ था ॥१-२॥ जो हाथ जोड़कर तथा नाम ले ले कर पराक्रम का व्याख्यान करते हुए स्तुति कर रहे थे ऐसे मरने से शेष बचे भयभीत विद्याधरों के लिये उसने अभय की घोषणा की थी ॥३॥ अपराजित ने जब उस प्रकार की भयङ्कर शत्रुओं की सामूहिक मृत्यु देखी तब वह पाप से ग्लानि करता हुआ मन में अपने कार्य की निन्दा करने लगा ॥४॥

तदनन्तर अपनी नगरी के विषय में उत्कण्ठित अपराजित ने चक्रवर्ती भाई को आगे कर कन्या के साथ विमान द्वारा प्रस्थान किया ॥५॥ वेग के कारण जिसकी पताका निश्चल थी ऐसा बहुत भारी वेग से जाता हुआ वह विमान आकाश में सहसा निश्चल खड़ा हो गया ॥६॥ महापरा-

---

१ बलभद्रः २ निन्दया ३ अत्यधिकन * क्रीतो ब० ४ विद्याधराणाम् ।

[illegible] गतिभङ्गहेतुं [illegible] । अपश्यच्च महासत्त्वः स भूतरमणाटवीम् ॥७॥
ऐक्षिष्ट च मुनिं [1][illegible]काञ्चनपर्वतम् । तत्क्षण[illegible]घातिकर्मक्षयोत्सवम् ॥८॥
गत्वा विमानमानीय भ्रातरं सह कन्यया । वन्दारुस्तं ववन्देऽसौ तौ च केवलिनं मुदा ॥९॥
चामरद्वितयाशोकसिंहासनसमन्वितम् । [2]देदीप्यमानभामूर्ति [3]श्वेतैकच्छत्रभासुरम् ॥१०॥
मन्दारकुसुमासारैः परितोषं चतुर्विधैः । सेव्यमानं सुरैः प्रह्वैर्भव्यत्वप्रेरितैरिव ॥११॥
कनकश्रीस्तमीशानं पप्रच्छ स्वभवान्तरम् । प्रत्यग्रपितृशोकार्ता स चेत्यूचे मुनीश्वरः ॥१२॥
अस्ति द्वीपो द्वितीयोऽसौ धातकीतिलकाङ्कितः । तत्प्राच्यैरावते चास्ति ग्रामः शङ्खपुराभिधः ॥१३॥
[4]कुटुम्बी देवको नाम तत्रासीत्तस्य च प्रिया । पृथुश्रीरिति नाम्नैव न च पुण्येन भूयसा ॥१४॥
आसन्दुहितरः सप्त तयोर्नातिसमृद्धयोः । संतप्यमानमनसोः [5]सुपुत्रालाभवह्निना ॥१५॥
काणा खञ्जा कुणिः पङ्गुः कुष्ठिनी कुब्जिका परा । तासु त्वमक्षतैकासीः श्रीदत्ताख्या च [6]पूर्वजा ॥१६॥
लोकान्तरितयोः पित्रोस्तासां त्वं भरणाकुला । अनात्मंभरिरव्यग्रा गृहकर्मपराऽभवः ॥१७॥

कभी अपराजित विमान की गति के नष्ट होने का कारण देखने की इच्छा से जब वह विमान से नीचे उतरा तो उसने भूतरमण नाम की अटवी देखी ॥७॥ वहां उसने काञ्चन गिरि पर्वत पर उसी समय समस्त घातिया कर्मों का क्षय करने से महिमा को प्राप्त मुनि को देखा ॥८॥ उन्हें देख वह विमान में वापिस गया और कन्या के साथ भाई को ले आया । पश्चात् वन्दनाप्रिय अपराजित तथा अनन्तवीर्य और कनकश्री ने हर्ष पूर्वक केवलीभगवान् को नमस्कार किया ॥९॥

जो चामरयुगल, अशोक वृक्ष और सिंहासन से सहित थे जिनका भामण्डल देदीप्यमान था, जो सफेद वर्ण के एक छत्र से सुशोभित थे और भव्यत्वभाव से प्रेरित चार प्रकार के नम्रीभूत देव भक्ति द्वारा कल्पवृक्ष के फूलों की वर्षा कर जिनकी सेवा कर रहे थे ऐसे उन केवली भगवान् से पिता के नवीन शोक से दुखी कनकश्री ने अपने भवान्तर पूछे और मुनिराज उसके भवान्तर इस प्रकार कहने लगे ॥१०-१२॥

वह जो धातकी तिलक नाम का दूसरा द्वीप है उसकी पूर्व दिशा सम्बन्धी ऐरावत क्षेत्र में एक शङ्खपुर नामका ग्राम है ॥१३॥ वहाँ एक देवक नामका गृहस्थ रहता था । उसकी स्त्री का नाम पृथुश्री था । वह नाम से ही पृथुश्री थी, बहुतभारी पुण्य से पृथुश्री—अत्यधिक लक्ष्मीवाली नहीं थी ॥१४॥ वे दोनों अधिक सम्पन्न नहीं थे, साथ ही सुपुत्र के न होने से उसके अलाभरूपी अग्नि से उनका मन संतप्त रहता था । कालक्रम से उनके सात पुत्रियां हुईं । जो कानी, लंगड़ी, टूटे हाथ वाली, पङ्गु, कुष्ठरोग से युक्त तथा कुबड़ी थीं । उन सब पुत्रियों में बड़ी तथा पूर्ण अङ्गों वाली तू ही एक थी और तेरा नाम श्रीदत्ता था ॥१५-१६॥ माता पिता का मरण हो जाने पर तू ही उन सबके

---

१ काञ्चनपर्वते इति अधिकाञ्चनपर्वतम् २ भासमानभामण्डलम् ३ शुक्ल ४ गृहस्थः ५ सुपुत्रस्य अलाभ एव वह्निस्तेन ६ ज्येष्ठा ।

ताभिः कदर्थ्यमानापि षड्भिस्त्वं च पृथक् पृथक् । व्यसनस्थितितुल्याभिरहासीर्न च धीरताम् ॥१८॥
शङ्खशैलमन्यदागमस्त्वं ¹फलेग्रहिः । अनुवर्तयितुं तासामिच्छा प्रततमन्यदा ॥१९॥
फलान्युच्चित्य ²हृद्यानि त्वमाया निविवृत्तया । दृष्टः सर्वयशास्तत्र धर्मं शासन्मुनिर्जनान् ॥२०॥
त्वं धर्मचक्रवालाख्यमुपवासं तपोधनात् । व्रतानि च यथाशक्त्या गृहीत्वागास्ततो गृहम् ॥२१॥
त्रिसप्तरात्रनिर्वृत्यं वृद्ध्यैकोत्तरया युतम् । समुपोष्य कृशाऽभूस्त्वं वपुषा न च चेतसा ॥२२॥
अन्यदा ³सुव्रताख्यायै भोजयित्वाथ सुव्रताम् । जुगुप्सां त्वं तदुद्गारे व्यधथा महतीं मुहुः ॥२३॥
प्रसूतां संगमेनोर्व्याः प्रियस्य ⁴खचरीं ⁵नगे । सुरूपामेकदालोक्य निदानमकृथा वृथा ॥२४॥
मृत्वा विद्युत्प्रभा नाम देवी विद्युत्प्रभाकृतिः । अजायथास्ततो धर्मात्सौधर्मे शक्रवल्लभा ॥२५॥
ततश्च्युत्वा निदानेन दमितारेरभूत्प्रिया । अर्धचक्रभृतः पुत्री ⁶मन्दिरत्याख्यनिन्दिता ॥२६॥

भरणपोषण की आकुलता रखती थी। तुझे अपना पेट भरने का ध्यान नही रहता था और बिना किसी व्यग्रता के गृह कार्य में तत्पर रहती थी ॥१७॥ कष्टपूर्णस्थिति के कारण जो समान थी अर्थात् एक समान दुखी थी ऐसी वे छहो बहिने तुझे पृथक् पृथक् पीड़ित करती थी—खोटे वचन कहती थी फिर भी तू धीरता को नही छोड़ती थी ॥१८॥

एक समय तू उनकी इच्छाओं के समूह को पूर्ण करने के लिये फल तोड़ती हुई शङ्खपर्वत के निकट जा पहुंची ॥१९॥ मनोहर फल तोड़ कर जब तू लौट रही थी तब तूने वहां मनुष्यो को धर्म का उपदेश देते हुए सर्वयश नामक मुनिराज देखे ॥२०॥ तू उन तपस्वी मुनिराज से धर्मचक्रवाल नाम का उपवास तथा शक्ति के अनुसार व्रत लेकर वहां से घर आयी ॥२१॥ जो एक एक उपवास की वृद्धि से सहित है तथा इक्कीस दिन में पूर्ण होता है ऐसे धर्मचक्रवाल नाम का उपवास कर तू शरीर से तो कृश हो गयी थी पर मन से कृश नही हुई थी। भावार्थ—धर्मचक्रवाल उपवास में एक उपवास एक आहार, दो उपवास एक आहार, तीन उपवास एक आहार, चार उपवास एक आहार, पांच उपवास एक आहार और छह उपवास एक आहार इस प्रकार उपवास के २१ दिन होते हैं। इस कठिन उपवास के करने से यद्यपि श्रीदत्ता का शरीर कृश हो गया था तो भी मन का उत्साह कृश नहीं हुआ था ॥२२॥ किसी समय तूने उत्तम व्रतों को धारण करने वाली सुव्रता नामकी आर्यिका को आहार कराया। आहार करने के बाद उन्हें वमन हो गया। उस वमन में तूने बार बार बहुत ग्लानि की ॥२३॥ एक समय तूने पति के समागम से पर्वत पर प्रसव करने वाली सुन्दर विद्याधरी को देखकर व्यर्थ ही निदान किया था ॥२४॥

तदनन्तर मर कर तू धर्म के प्रभाव से सौधर्मस्वर्ग में बिजली के समान कान्ति वाली विद्युत्प्रभा नामकी देवी हुई तथा इन्द्र की वल्लभा—प्रिय देवाङ्गना हुई ॥२५॥ वहाँ से चय कर निदान बन्ध के कारण अर्धचक्रवर्ती दमितारि की मन्दिरा नाम की उत्तम प्रिय पुत्री हुई ॥२६॥

---

१ फलग्रहणतत्परा २ हृदयस्य प्रियाणि हृद्यानि—मनोहराणि, ३ सुव्रतानामधेयाम् शोभनव्रतसहिताम् ४ विद्याधरीम् ५ पर्वते ६ मन्दिरानामराश्याम् ।

पुत्रः कनकपुङ्खस्य वसतः शिवमन्दिरे । जयदेव्यामहं ¹ज्यायान्नाम्ना कीर्तिधरोऽभवम् ॥२७॥
ततः पवनवेगायां दमितारि²र्महाजिजित् । दधतो मे क्रमाद्राज्यं ³प्राज्यं ज्यायानभूत्सुतः ॥२८॥
श्रियं निवेश्य तस्मिन्नुर्वीं तपो घोरमशिश्रियम् । नत्वा शान्तिकरं नाम्ना शान्तमोहं तपोधनम् ॥२९॥
स्थित्वा संवत्सरं सम्यक्प्रतिमां ध्यानवह्निना । घातिकाष्ठानि दग्ध्वाहमभूवं केवली क्रमात् ॥३०॥
तज्जुगुप्साफलेनेदं बन्धुदुःखं त्वयान्वभूः । असह्यं नरकावासशोककल्पमकल्पना ॥३१॥
इत्युदीर्य स्थिते तस्मिन्विरते तद्भवान्तरम् । तं प्रणम्य विमानं स्वं जग्मतुस्तौ तया समम् ॥३२॥
⁴अभिययातौ समारुह्य तामादाय नृपाधिपौ । जिनवाक्यं हृदि न्यस्य स्वां पुरीं ⁵सुरवर्त्मना ॥३३॥
विद्युद्दंष्ट्रसुदंष्ट्राभ्यामैक्षिषातां वृतां पुरीम् । चित्रसेनेन सेनान्या पाल्यमानां समन्ततः ॥३४॥
अघ्नादनन्तवीर्यस्तौ क्रुधा दीप्तो रिपोः सुतौ । मा वधीर्भ्रातरावेतौ ममेत्युक्तेऽपि कन्यया ॥३५॥
रिपुरोधव्यपायेन नगरी व्यरुचत्तराम् । सुप्रसन्ना घनोन्मुक्ता नक्तं द्यौरिव ⁶शारदी ॥३६॥
तावैक्षन्त ततः पौरा विस्मित्य सह सैनिकैः । गीर्वाणा इव भूमिस्था निर्निमेषेक्षणाः क्षणम् ॥३७॥

शिव मन्दिर नगर में रहने वाले कनकपुङ्ख राजा की जयदेवी नामक पत्नी में मैं कीर्तिधर नामका बड़ा पुत्र हुआ ॥२७॥ तदनन्तर श्रेष्ठ राज्य को धारण करने वाले मेरे, मेरी पवनवेगा रानी में महायुद्धों को जीतने वाला दमितारि नामका बड़ा पुत्र हुआ ॥२८॥ उस पर विशाल लक्ष्मी को सौंप कर मैंने शान्ति करने वाले शान्तमोह नामक मुनिराज को नमस्कार किया और नमस्कार कर कठिन तप ले लिया। भावार्थ—शान्तमोह नामक मुनिराज के पास दैगम्बरी दीक्षा ले ली ॥२९॥ एक वर्ष तक प्रतिमा योग से खड़े रहकर तथा ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा घातिया कर्मरूपी लकड़ियों को भस्म कर मैं क्रम से केवली हुआ हूं ॥३०॥ तुमने श्रीदत्ता के भव में सुव्रता आर्यिका के साथ जो ग्लानि की थी उसके फल से यह नरक निवास के तुल्य असहनीय बन्धुजनों का दुःख सहन किया है। इस दुःख की तुझे कल्पना भी नहीं थी ॥३१॥ इस प्रकार कनकश्री के भवान्तर कहकर जब केवली भगवान् रुक गये तब अपराजित और अनन्तवीर्य उन्हें प्रणाम कर कनकश्री के साथ अपने विमान में चले गये ॥३२॥ विमान पर चढ़कर तथा कनकश्री को लेकर दोनों राजा केवली भगवान् के वचन हृदय में रखते हुए आकाश मार्ग से अपनी नगरी की ओर चल दिये ॥३३॥

वहाँ जाकर उन्होंने जो विद्युद्दंष्ट्र और सुदंष्ट्र के द्वारा घिरी हुई है तथा चित्रसेन सेनापति सब ओर से जिसकी रक्षा कर रहा है ऐसी अपनी नगरी देखी ॥३४॥ 'मेरे इन भाइयों को मत मारो' इस प्रकार कन्या के कहने पर भी अनन्तवीर्य ने क्रोध से प्रदीप्त शत्रु के पुत्रों को मार डाला ॥३५॥ शत्रु का घेरा नष्ट हो जाने से वह नगरी मेघ से रहित, अत्यन्त निर्मल शरद्ऋतु के आकाश के समान अत्यधिक सुशोभित होने लगी ॥३६॥ तदनन्तर जिनके नेत्र टिमकार से रहित हैं तथा जो क्षणभर के लिये पृथिवी पर स्थित देवों के समान जान पड़ते हैं ऐसे नगर वासियों ने आश्चर्यचकित होकर

---

१ ज्येष्ठ २ महायुद्धविजेता ३ श्रेष्ठम् ४ अगच्छताम् ५ आकाशेन ६ शरद इयं शारदी ।

पुरीं प्राविशतामीशौ तौ हर्म्येषु निरन्तरम् । जयागमनयोः पौरैर्द्विगुणीकृतकेतनाम् ॥३८॥
रिपुशस्त्रक्षतीभूतश्यामिकाश्लिष्टवक्षसम् । ऐक्षन्तान्य इवाशङ्क्य ज्येष्ठेशं पौरयोषितः ॥३९॥
यथाप्रतिज्ञमेकेन [1]जितानेनारिवाहिनी । भुजद्वयसहायेन नायकाश्च निपातिताः ॥४०॥
अयं चास्य प्रसादेन जातश्चक्रधरोऽनुजः । भूतो भावी च वंशेऽस्मिन्नीदृशो न हि सात्त्विकः ॥४१॥
इत्यन्योन्यं समुद्दिश्य जनानां वदतां गिरः । शृण्वन्समन्ततोऽन्तर्जिह्राय[2] स हलायुधः ॥४२॥
स्वकथासक्तनागरैः परिवेष्टितौ । राजौ प्रविशतां भाव्यौ सोत्सवं राजमन्दिरम् ॥४३॥
निर्वर्त्याष्टाह्निकीं पूजां जिनेन्द्रस्य ततः पुरा । चक्रमानर्चतुः पश्चात्तौ मुदा [3]रामकेशवौ ॥४४॥
तत्कालोपनताशेषसुरराजन्यखेचराः । सेवमाना निराचक्रुस्तयोर्दिग्विजयोद्यमम् ॥४५॥
अन्यदा कौतुकारम्भं परिवाराङ्गनामुखात् । कनकश्रीः समाकर्ण्य प्रदध्याविति तत्क्षणम् ॥४६॥
तादृशस्य पितुर्वंशः कौलीनं च [4]जनातिगम् । न क्षाल्येते गृहे स्थित्वा मुच्यमानैर्मयाश्रुभिः ॥४७॥
अङ्गीकृत्य दशां कष्टां प्रपद्ये यदि कौतुकम् । न जनोऽपि दुराचारां मां तृणायापि मन्यते ॥४८॥

सैनिकों के साथ उन दोनों भाइयों को देखा ॥३७॥ विजय और आगमन के उपलक्ष्य में जिसके महलों पर नगर वासियों ने निरन्तर दूनी पताकाएं फहरायी थी ऐसी नगरी में उन दोनों राजाओं ने प्रवेश किया ॥३८॥ शत्रु के शस्त्रों की चोट से उत्पन्न कालिमा से जिनका वक्षस्थल व्याप्त था ऐसे बड़े राजा अपराजित को नगर की स्त्रियों ने मानों 'यह कोई अन्य है' ऐसी आशङ्का कर देखा था ॥३९॥ दोनों भुजाएं ही जिसकी सहायक हैं ऐसे इस एक ने प्रतिज्ञानुसार शत्रु की सेना जीती और नायकों को मार गिराया ॥४०॥ और यह छोटा भाई अनन्तवीर्य इसके प्रसाद से चक्रधर हो गया है। इस वंश में ऐसा पराक्रमी न हुआ है न होगा ॥४१॥ इस प्रकार सभी ओर अपने आपको लक्ष्य कर कहते हुए मनुष्यों के शब्द सुनता हुआ बलभद्र-अपराजित अन्तरङ्ग में लज्जित हो रहा था ॥४२॥ इस प्रकार अपनी कथा में लीन नगरवासियों के द्वारा घिरे हुए राजाधिराजों ने उत्सव से परिपूर्ण राज महल में प्रवेश किया ॥४३॥

तदनन्तर उन बलभद्र और नारायण ने पहले जिनेन्द्र भगवान् की अष्टाह्निक पूजा की पश्चात् हर्ष पूर्वक चक्र की पूजा की ॥४४॥ तत्काल उपस्थित होकर सेवा करने वाले देव, राजा तथा विद्याधरों ने उनके दिग्विजय का उद्योग निराकृत कर दिया था। भावार्थ—उनकी प्रभुता देख देव, राजा तथा विद्याधर स्वयं आकर सेवा करने लगे थे इसलिये उन्हें दिग्विजय के लिये नहीं जाना पड़ा ॥४५॥

अन्य समय परिवार की स्त्री के मुख से विवाह सम्बन्धी आरम्भ को सुनकर कनकश्री तत्काल ऐसा विचार करने लगी ॥४६॥ वैसे पिता का वंश और लोकोत्तर निन्दा ये दोनों घर में रह कर मेरे द्वारा छोड़े जाने वाले आंसुओं से नहीं धोये जा सकते ॥४७॥ कष्ट पूर्ण दशा को स्वीकृत कर यदि मैं विवाह को प्राप्त होती हूं तो लोग भी मुझ दुराचारिणी को तृण भी नहीं समझेंगे ॥४८॥ वे स्त्रियाँ

---

१ शत्रुसेना २ लज्जितो बभूव ३ बलभद्रनारायणौ ४ लोकोत्तरम् ।

ता धन्यास्ता महासत्त्वा धीराः ¹वाच्यतया विना । यौवनं समतिक्रान्तं ताः सत्यं कुलदेवताः ॥४९॥
मम संतप्यमानाया मनसो निर्वृतिः कुतः । सुखं हि नाम जीवानां मनस्येतर्हि ²निर्वृते ॥५०॥
तस्मात्प्रव्रजनं श्रेयो मम श्रेयो न गृहस्थता । कलङ्कक्षालनोपायो नान्योऽस्ति तपसो विना ॥५१॥
इति शोकातुरा साध्वी तपसे निश्चिकाय सा । औचित्येन विना सौख्यं न हीच्छन्ति कुलोद्भवाः ॥५२॥
इति निश्चित्य सा चित्तं स्थिरीकृत्य विचक्षणा । सरामं केशवं प्राप्य क्षणमित्यवदीन्मिथः ॥५३॥
प्रसादालंकृतां प्रीतिं भवतोरतिदुर्लभाम् । प्राप्यापि मे मनः शोकं ³पैत्र्यं नालं व्यपोहितुम् ॥५४॥
निर्वाच्यं जीवितं श्रेयः सुखं चानुक्रमक्रमम् । खण्डनारहितं शौर्यं धैर्यं ⁴चाधेर्निरासकम् ॥५५॥
रुदत्याः सततं शोकान्मम चक्षुरशिश्वयत् । वदनं चास्वपनाया नष्टकान्तिकमश्वयीत् ॥५६॥
शोकसंतापितात्स्वान्तादपि धैर्यमदुद्रुवत् । जहाति मां न मातेव तातस्यानुपदं स्मृतिः ॥५७॥
सुमहानयशोभारो मयायं बोढुमल्पया । कथं वा पार्यते नार्या कुलक्षयसमुद्भवः ॥५८॥
न जिह्रेमि तथा लोकाद्भवद्भ्यां वा यथा परम् । अतिवन्द्यं सदाचारं बिभ्राणाभ्यां विभूषणम् ॥५९॥
किं त्रपाजननिर्वादौ परिभूय कुलोद्भवाः । उत्तिष्ठन्ति गृहे तत्त्वं ज्ञात्वा *विज्ञेयमञ्जसा ॥६०॥

धन्य हैं, वे महापराक्रमी अथवा धैर्य शालिनी हैं और सचमुच ही वे कुल देवता हैं जिनका यौवन निन्दा के बिना व्यतीत होता है ॥४९॥ मैं निरन्तर जल रही हूँ अतः मेरे मन को सुख कैसे हो सकता है ? वास्तव में मन के संतुष्ट होने पर ही जीवों को सुख होता है ॥५०॥ इसलिये दीक्षा लेना ही मेरे लिये कल्याणकारी है गृहस्थपन कल्याणकारी नहीं है। क्योंकि तप के बिना कलङ्क धोने का दूसरा उपाय नहीं है ॥५१॥ इस प्रकार शोक से दुखी शीलवती कनकश्री ने तप के लिये निश्चय कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि कुलीन कन्याएं योग्य कार्य के विना अन्य कारणों से सुख की इच्छा नहीं करतीं ॥५२॥ ऐसा निश्चय कर तथा चित्त को स्थिर कर वह बुद्धिमती बलभद्र सहित नारायण के पास गयी और उसी क्षण परस्पर इसप्रकार वचन कहने लगी ॥५३॥

प्रसाद से सुशोभित तथा अतिशय दुर्लभ आप दोनों की प्रीति को प्राप्त कर भी मेरा मन पिता का शोक छोड़ने के लिये समर्थ नहीं है ॥५४॥ निन्दा रहित जीवन, क्रमबद्ध सुख, अखण्ड शौर्य और मानसिक व्यथा को दूर करने वाला धैर्य ही कल्याणकारी है ॥५५॥ मैं शोक से निरन्तर रोती रहती हूं अतः मेरी आँखें फूल गयी हैं और मैं सोती नहीं इसलिये मेरा मुख कान्ति रहित होकर सूज गया है ॥५६॥ मेरे शोक संतप्त चित्त से धैर्य कहीं चला गया है और पद पद पर आने वाली पिता की स्मृति माता के समान मुझे छोड़ नहीं रही है ॥५७॥ कुल के क्षय से उत्पन्न हुआ यह बहुत भारी अपयश का भार मुझ तुच्छ नारी के द्वारा कैसे ढोया जा सकता है ? ॥५८॥ मैं लोक से उस प्रकार लज्जित नहीं होती जिस प्रकार कि आभूषणस्वरूप लोकोत्तर सदाचार को धारण करने वाले आप दोनों से अत्यन्त लज्जित होती हूं ॥५९॥ क्या कुलीन पुरुष लज्जा और लोकापवाद की उपेक्षा कर

---

१ निन्द्या २ संतुष्टे ३ पितृसम्बन्धि ४ मानसिकव्यथायाः * ज्ञात्वापि ज्ञेय ब० ।

नाहमत्राङ्गुलिच्छायां स्थातुं साम्नाहमुत्सहे । तादृशस्य सुता भूत्वा दमितारेर्महात्मनः ॥६१॥
इयतीं भूमिमायाता भवत्प्रीतिनिबन्धनात् । [1]तिष्ठासुरपि तत्रैव गुरोः केवलिनोऽन्तिके ॥६२॥
न कार्यं युवयोः किञ्चिद् वृथा विधृतया मया । [2]नृशंसां मादृशीं पापां कः स्वीकुर्यात्सचेतनः ॥६३॥
इत्युदारमुदीर्यैवं भारतीं विरराम सा । देहमात्रेण तत्रास्थाच्चेतसैव तपोवनम् ॥६४॥
ततो न्यवर्ति सा साम्नैस्ताभ्यां न च विलोभनैः । जने विरागमार्गस्थे किमुपायाः प्रकुर्वते ॥६५॥
ततः कन्यासहस्रैः सा चतुर्भिः परिवारिता । कनकश्रीः प्रवव्राज जिनं नत्वा स्वयंप्रभम् ॥६६॥
अपराजित कान्ती रूपलावण्या स्थितिशालिनी । महिषी विरजा नाम्नी सीर[3]पाणेर्मनोरमा ॥६७॥
तस्यामन्तःप्रसन्नायां सुतां भास्वत्प्रभाधराम् । सोऽजीजनच्छरत्कालः सरस्यामिव पद्मिनीम् ॥६८॥
तद्रूपसदृशीं प्रज्ञां भाविनीं स वितर्क्य ताम् । आख्यया सुमतिं चक्रे चक्रेशेन सहैकदा ॥६९॥
शैशवेऽपि परा भक्तिरभूत्तस्या जिनेश्वरे । साऽबोधि[4] विबुधोपास्या संसारस्याप्यसारताम् ॥७०॥
कलाभिः सकलापूरि चन्द्रमूर्तिरिवौजसा । बभासा[5]दीपि लावण्यं तृणीकृत्य जगत्त्रयम् ॥७१॥

तथा परमार्थ से जानने योग्य तत्त्व को जानकर घर में खडे रहते हैं ? ॥६०॥ मैं वैसे महान् आत्मा दमितारि की पुत्री होकर यहाँ मनुष्यों की अंगुलि सम्बन्धि छाया में स्थित रहने के लिये उत्साहित नही हूं ॥६१॥ मैं वही केवली गुरु के समीप ठहरना चाहती थी परन्तु आप लोगों की प्रीति के कारण इतनी भूमि तक आयी हूँ ॥६२॥ व्यर्थ ही यहाँ रुकने वाली मुझसे आपका कोई कार्य भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि मुझ जैसी क्रूर पापिनी कन्या को कौन सचेतन स्वीकृत करेगा ? ॥६३॥ इस प्रकार की उदार वाणी कह कर वह चुप हो रही ! वास्तव में वह शरीर मात्र से वहाँ स्थित थी चित्त से तो तपोवन पहुंच चुकी थी ॥६४॥ बलभद्र और नारायण उसे सान्त्वनाओं तथा नानाप्रकार के प्रलोभनों के द्वारा अपने निश्चय से नही लौटा सके यह ठीक ही है क्योंकि वैराग्य के मार्ग में स्थित मनुष्य के विषय में उपाय क्या कर सकते हैं ? ॥६५॥ तदनन्तर चार हजार कन्याओं के साथ कनकश्री ने स्वयंप्रभ जिनेन्द्र को नमस्कार कर दीक्षा धारण कर ली ॥६६॥

अथानन्तर बलभद्र अपराजित की रूप लावण्य से सहित तथा मर्यादा से सुशोभित विरजा नाम की सुन्दर रानी थी ॥६७॥ अन्तरङ्ग से प्रसन्न रहने वाली उस रानी में बलभद्र ने देदीप्यमान प्रभा को धारण करने वाली पुत्री को उस प्रकार उत्पन्न किया जिसप्रकार की शरद् काल भीतर से स्वच्छ रहने वाली सरसी में कमलिनी को उत्पन्न करना है ॥६८॥ उसके रूप के समान होने वाली बुद्धि का विचार कर बलभद्र ने एक समय नारायण के साथ उस पुत्री का नाम सुमति रक्खा। भावार्थ—जैसा इसका अद्वितीय रूप है वैसी ही इसकी अद्वितीय बुद्धि होगी ऐसा विचार कर बलभद्र अपराजित ने नारायण के साथ सलाह कर पुत्री का सुमति नाम रक्खा ॥६९॥ बालावस्था में भी उसकी जिनेन्द्रभगवान् में परमभक्ति थी तथा विद्वानों के द्वारा उपासनीय वह संसार की भी असारता को जानती थी ॥७०॥ अनेक कलाओं से सहित वह पुत्री चन्द्रमूर्ति के समान कलाओं के ओज से परिपूर्ण

---

१ स्थातुमिच्छुः २ क्रूराम् ३ बलभद्रस्य ४ ज्ञातवती ५ दीप्यते स्म ।

तस्याः सौन्दर्यमभवद् विकसन्नवयौवनम् । न चक्षुः पश्यतामेव सवितर्कं च मानसम् ॥७२॥
तामेकदा पिता वीक्ष्य [1]न्यग्रोधपरिमण्डलाम् । कस्मै दास्ये शुभामेनामिति चिन्तातुरोऽभवत् ॥७३॥
अनुरूपं ततस्तस्या नाद्राक्षीत्क्षत्रियम् । स वरं कञ्चन प्राज्ञे संमन्त्र्यापि स्वमन्त्रिभिः ॥७४॥
तत्कामांश्च कुमारान्सर्वान् राजन्यानवगम्य सः । अविरुद्धं यथाप्राप्तं स्वयंवरमघोषयत् ॥७५॥
आयातं तत्समाकर्ण्य [2]राजकं दूतवाक्यतः । अकरोद्भूमिनाथोऽसौ तां पुरीमथ सोत्सवाम् ॥७६॥
अन्योन्यस्पर्धयागत्य [3]तल्लिप्साव्याकुलीकृताः । अध्यवात्सुरसंकीर्णं तदुद्यानानि भूमिपाः ॥७७॥
अथैकस्मिन्शुभेऽह्नि शुद्धान्तकृतमण्डना । तत्कालोचितयानेन स्वयंवरसभामगात् ॥७८॥
सुकन्यां तामथालोक्य चन्द्रमूर्तिमिवाम्बुधिः । अन्तश्चचाल धीरोऽपि राजलोकः स तत्क्षणे ॥७९॥
राज्ञां समन्ततो नेत्रैर्लुण्ठ्यमानाननश्रियम् । तामित्यूचे विमानस्था काचिद्देवी महर्द्धिका ॥८०॥

थी तथा लावण्य को धारण करती हुई वह तीनों लोकों को तिरस्कृत कर देदीप्यमान हो रही थी ॥७१॥ खिलते हुए नव यौवन से युक्त वह सौन्दर्य भी उसे प्राप्त हुआ था जिसे देखने वाले मनुष्यों का न केवल नेत्र किन्तु मन भी विचार में पड़ जाता था ॥७२॥

एक दिन जिसकी कमर पतली थी और स्तनों का भार अधिक था ऐसी उस पुत्री को देख कर पिता इस चिन्ता में पड़ गया कि यह शुभ पुत्री किसके लिये दूंगा ॥७३॥ तदनन्तर मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करके भी वह क्षत्रियों में किसी ऐसे वर को नहीं देख सका जो पुत्री के अनुरूप सुन्दर हो ॥७४॥ इधर उसे यह भी विदित हुआ कि सब राजकुमार उसकी चाह से आकुल हो रहे हैं—उसे चाह रहे हैं तब उसने विरोध रहित यथावसर स्वयंवर की घोषणा करा दी। भावार्थ—अनेक राजकुमारों की मांग होने पर जिसे पुत्री नहीं दी जायगी वह विरोधी हो जायगा। इसलिये इस अवसर में स्वयंवर ही अनुकूल उपाय उसे दिखा। स्वयंवर में पुत्री जिसे पसन्द करेगी उसे वह देदी जायगी, यह सब विचार कर पिता ने स्वयंवर की घोषणा करा दी ॥७५॥

तदनन्तर दूत के कहने से राजाओं को आया हुआ सुनकर भूपति अपराजित ने उस नगरी को उत्सव से युक्त किया ॥७६॥ राजपुत्री को प्राप्त करने की इच्छा से व्याकुलता को प्राप्त हुए राजा परस्पर की स्पर्धा से आकर नगरी के बगीचों में अलग अलग ठहर गये ॥७७॥ तदनन्तर अन्तःपुर के द्वारा जिसे वस्त्राभूषण पहिना कर सुसज्जित किया गया ऐसी सुमति, किसी उत्तम दिन उस समय के योग्य वाहन के द्वारा स्वयंवर सभा में गयी ॥७८॥ जिस प्रकार चन्द्रमूर्ति को देख कर समुद्र भीतर ही भीतर चञ्चल हो उठता है—लहराने लगता है उसी प्रकार उस सुन्दरी को देख कर धैर्यवान् राजा भी तत्क्षण भीतर ही भीतर—मन में चञ्चल हो उठे—उसे शीघ्र ही प्राप्त करने के लिये उत्कण्ठित हो गये ॥७९॥ सब ओर से राजाओं के नेत्रों द्वारा जिसके मुख की शोभा लूटी जा रही थी ऐसी उस सुन्दरी से विमान से बैठी बड़ी ऋद्धियों की धारक कोई देवी इस प्रकार कहने लगी ॥८०॥

---

१ यस्याः स्त्रियाः स्तनौ समुत्तुङ्गौ कटिश्च कृशा भवति सा न्यग्रोधपरिमण्डला कथ्यते २ राजसमूहम् ३ लब्धुमिच्छा ।

कच्चित् स्मरसि भद्रे त्वं पुष्करार्द्धस्य भारते । नगरं नन्दनं नाम [illegible] ॥८१॥
माहेन्द्रो रक्षिता तस्य [1]महेन्द्रप्रतिमोऽभवत् । आवयोश्च पिता धीरः प्रतापाक्रान्तशात्रवः ॥८२॥
आवयोर्जननी [illegible]नन्तमती सती । अपाययत तया [2]स्तन्यं स्वस्यैवावां प्रयत्नतः ॥८३॥
अनन्तश्रीरहं ज्येष्ठा तत्राभूवं त्वमप्यभूत् । धनश्रीरिति विख्याता मा मुहस्त्वं [3]वयोवती ॥८४॥
कच्चिज्जानासि तं नन्दं नत्वा सिद्धगिरौ मुनिम् । प्रोषधं यद्गृहीष्याव: सम्यगावां प्रयत्नतः ॥८५॥
एकदा क्रीडतोरावां विद्याभृत् त्रिपुरेश्वरः । अशोकवनिकामध्ये दृष्ट्वा वज्राङ्गदोऽहरत् ॥८६॥
तद्भार्या वज्रमालिन्या कक्ष[4]कौक्षेयकाहतः । पतन्विहायसोऽत्याक्षीदावां स स्त्रीजितोऽन्तरा ॥८७॥
उत्पन्नानुशयो वीक्ष्य निःपतन्त्यौ विहायसः । आवामन्वगृहीत्पश्चात्पर्णलघ्व्या स विद्यया ॥८८॥
भीमाटव्यामपप्ताव तयावां विद्यया शनैः । धार्यमाणे सरस्तीरे [5]वंशस्तम्बकरालिते ॥८९॥
आलम्ब्य मनसा धैर्यमावां तत्रातिभीषणे । आहारं च शरीरं च प्रत्याख्याय सुनिश्चितम् ॥९०॥
मृत्वाभूस्त्वं कुबेरस्य रत्यै रतिरितीरिता । प्रियाऽभूवं महेन्द्रस्य नाम्ना नवमिकाप्यहम् ॥९१॥
यन्नन्दीश्वरयात्रायामन्योन्यं वीक्ष्य भाषितम् । त्वमत्र विषयासक्तचित्ता तन्मा निराकृथाः ॥९२॥

हे भद्रे ! तुझे स्मरण है—पुष्करार्द्ध द्वीप के भरतक्षेत्र में नन्दन नामका एक उत्तम नगर विद्यमान है ॥८१॥ इन्द्रतुल्य राजा माहेन्द्र उस नगर का रक्षक था तथा प्रताप के द्वारा शत्रुओं को दबाने वाला वही धीर वीर माहेन्द्र हम दोनों का पिता था ॥८२॥ हम दोनों की माता सती अनन्तमती थी । उसने हम दोनों के लिये प्रयत्न पूर्वक दूध पिलाया था ॥८३॥ मैं वहाँ अनन्तश्री नामकी ज्येष्ठ पुत्री हुई थी और तू धनश्री नामसे प्रसिद्ध छोटी पुत्री । भूलो मत, जब तुम तरुणी हो गयी थी । स्मरण है तुम्हें हम दोनों ने सिद्धगिरि पर नन्द नामक मुनिराज को नमस्कार कर उनसे प्रयत्न पूर्वक प्रोषध व्रत लिया था ॥८४-८५॥ एक बार अशोकवाटिका में क्रीड़ा करती हुई हम दोनों को देख त्रिपुरा के स्वामी वज्राङ्गद विद्याधर ने हरण कर लिया ॥८६॥ उसकी वज्रमालिनी स्त्री ने बगल में स्थित तलवार से उस पर प्रहार किया । स्त्री से पराजित हो आकाश से गिरने लगा । उसी समय बीच में उसने हम दोनों को छोड़ दिया ॥८७॥ आकाश से नीचे गिरती हुई हम दोनों को देख कर उसे पश्चाताप हुआ । जिसके फलस्वरूप पर्णलघ्वी विद्या के द्वारा उसने हम लोगों को अनुगृहीत किया ॥८८॥ उस विद्या के द्वारा धारण की हुई हम दोनों धीरे धीरे भयंकर अटवी में बांसों के समूह से व्याप्त सरोवर के तट पर गिरीं ॥८९॥ उस अत्यन्त भयंकर वन में हम दोनों ने मन से धैर्य का आलम्बन ले सुनिश्चित रूप से आहार और शरीर का त्याग कर सल्लेखना धारण की ॥९०॥ मर कर तू कुबेर की प्रीति बढ़ाने के लिये उसकी रति नामकी प्रिया हुई और मैं महेन्द्र की नवमिका नामक वल्लभा हुई हूं ॥९१॥ नन्दीश्वर द्वीप की यात्रा में परस्पर देखकर जो कुछ कहा था उसे यहाँ विषयासक्त चित्त होकर निराकृत मत करो—उसे भूल मत जाओ ॥९२॥ इसीलिये तुझ साध्वी को संबोधित करने के लिये यहाँ आयी हूं । ठीक ही है क्योंकि स्वीकृत बात को बिना कहे कौन भाई

---

१ महेन्द्रतुल्यः २ दुग्धम् ३ तारुण्यवती ४ कक्षस्थितकृपाणाहतः ५ वंश वृक्षसमूह व्याप्ते ।

प्रतिबोधयितुं शक्तौ त्वमतोऽभ्युपागमम् । प्रतिपक्षमनादेश कस्तिष्ठति सहोदरः ॥९३॥
अतो निवर्तयात्मानं विवाहानिष्टकारणात् । मावमंस्था वचो [1]मत्कं विधत्स्व स्वहितं तपः ॥९४॥
सर्वसङ्गपरित्यागान्नापरं परमं सुखम् । तृष्णाप्रपञ्चतो नान्यन्नरकं घोरमुच्यते ॥९५॥
इत्युदीर्य विरते देवी सोदर्यस्नेहकातरा । तद्वचः श्रुत्वा वीक्ष्य तां च मुमोह सा ॥९६॥
अचिराच्चेतनां प्राप्य चन्दनव्यजनादिभिः । सुमतिस्तामथेत्याह प्रणामानन्तरं मुदा ॥९७॥
निषेवितत्वया स्वर्ग्यसौख्ययापि[2] [3]दिव्यमयं जनः । सौहार्दं तत्र हेतुस्ते न मत्पुण्यफलोदयः ॥९८॥
दुर्मार्गवर्तिनीं मां यत्स्थापयस्यत्र सत्पथे । किमु तुल्या परा काचिद्बन्धुता मे हिता भवेत् ॥९९॥
प्रतिपन्नं त्वया तच्च निर्व्यूढं प्रतिबोध्य माम् । व्रजन्ती स्वहिते मार्गे पालयिष्यामि ते वचः ॥१००॥
[4]भवाम्भोधौ परं मग्नां विषयग्राहभीषणे । मामुद्धृत्य त्वयैवायं बन्धुस्नेहः [5]कृती कृतः ॥१०१॥
महान्तो हि न सापेक्षं परेषामुपकुर्वते । परोपकारिता भाति [6]निर्व्यपेक्षा तथैव ते ॥१०२॥
दुरन्तविषयासङ्गग्राहव्यग्रीकृताशया । त्वदुक्तिमवमन्ये चेद्व्यर्थं नाम मे व्रजेत् ॥१०३॥

ठहरता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥९३॥ इसलिये इस अनिष्ट विषय के कारणस्वरूप विवाह से अपने आपको दूर करो मेरे वचन का अनादर मत करो, आत्महितकारी तप करो ॥९४॥ सर्व परिग्रह के त्याग से बढ़कर दूसरा सुख नही है और तृष्णा के विस्तार से बढ़कर दूसरा भयंकर नरक नहीं कहलाता है ॥९५॥ बहिन के स्नेह से कातर देवी इस प्रकार के वचन कह कर रुक गयी और उसके वचन सुनकर तथा उस देवी को देखकर वह सुमति मूर्च्छित हो गयी ॥९६॥

चन्दन तथा पङ्खा आदि के द्वारा शीघ्र ही चेतना को प्राप्त कर सुमति ने उस देवी को हर्ष पूर्वक प्रणाम किया पश्चात् इसप्रकार कहा ॥९७॥ स्वर्गीय सुख का उपभोग करने वाली आपके द्वारा यह जन प्राप्त किया गया अर्थात् स्वर्ग के सुख छोड़कर आप मेरे पास आयी इसका कारण आपका सौहार्द है मेरे पुण्य फल का उदय नहीं ॥९८॥ खोटे मार्ग में रहने वाली मुझ को आप सन्मार्ग में लगा रही हैं इसके तुल्य मेरा हित करने वाली दूसरी बन्धुता क्या है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥९९॥ तुमने जो स्वीकृत किया था उसे मुझे संबोधित कर पूरा किया। अब मैं आत्महितकारी मार्ग में जाती हुई तुम्हारे वचनों को मानूंगी ॥१००॥ विषय रूपी मगरमच्छों से भयंकर संसाररूपी समुद्र में डूबी हुई मुझको निकाल कर तुमने यह बहुत कुशल अत्यन्त श्रेष्ठ बन्धु स्नेह पूरा किया है ॥१०१॥ जिस प्रकार महा पुरुष कुछ अपेक्षा रखकर दूसरों का उपकार नहीं करते हैं उसीप्रकार तुम्हारी परोपकारिता प्रत्युपकार की वाञ्छा से रहित सुशोभित हो रही है ॥१०२॥ दुष्परिपाक वाले विषयासङ्ग रूपी पिशाच से जिसका हृदय व्यग्र किया गया है ऐसी मैं यदि आपके कथन का अनादर करती हूं तो मेरा 'सुमति' नाम व्यर्थता को प्राप्त होगा—मेरा सुमति (अच्छी बुद्धिवाली) नाम

---

१ मदीयम् २ प्राप्तः ३ स्वर्गसम्बन्धि ४ संसारसागरे ५ कुशलः ६ प्रत्युपकार वाञ्छारहिता ।

मच्चिन्तां प्रविहायार्ये [1]स्वकमतो[2] याव साधय[3] । देवीं सुमतिरित्युक्त्वा प्राञ्जलिर्विससर्ज ताम् ॥१०४॥
तस्यामथ प्रयातायां देव्यामित्याह सा सखीः । मावबुद्ध्वं मृषेत्येतत्सत्यं देव्या यदीरितम् ॥१०५॥
मूढैव विषयासक्त्या विक्लिश्य केवलं गृहे । प्राणिति प्राकृतो लोकस्तत्किं ब्रूत सतां मतम् ॥१०६॥
धर्मं [4]बुभुत्सवः [5]सार्वमेत यामस्तपोवनम् । यतध्वं व्रतशीलादौ कुरुध्वं स्वहितं तपः ॥१०७॥
इति धर्मं स्वसंसक्तकन्यानां प्रतिपाद्य सा । निरागमत सभोद्देशं समं भोगाभिकाङ्क्षया ॥१०८॥
ततः स्वभवनं गत्वा सुमतिः पितरौ[6] क्रमात् । आपृच्छते स्म तपसे यास्यामीति प्रणम्य सा ॥१०९॥
रुदित्वा केवलं माता तूष्णीमास्त निरुत्तरा । बाल्यात्प्रभृति तच्चित्तं जानती धर्मवासितम् ॥११०॥
मद्वंशस्य पताकेयं महासत्त्वेति तां पिता । बह्वमंस्त गृहासक्तं दीनमन्यं स्वमञ्जसा ॥१११॥
अथ तां निजगादेति तस्याः स्नेहेन चेतसा । विषीदन्मोदमानश्च तत्तपोकाङ्क्षया पिता ॥११२॥
अमुना व्यवसायेन त्वया नात्मैव केवलम् । अनायि स्पृहणीयत्वं *सागम्या[7]दयं जनः ॥११३॥

निरर्थक हो जायगा ॥१०३॥ हे आर्ये ! मेरी चिन्ता छोड कर अब आप अपने स्थान पर जाइये, इस प्रकार देवी से कह कर सुमति ने उसे हाथ जोड़कर विदा किया ॥१०४॥

तदनन्तर उस देवी के चले जाने पर सुमति ने अपनी सखियों से कहा—तुम इसे झूंठा मत समझो, देवी ने जो कुछ कहा है वह सत्य है ॥१०५॥ साधारण प्राणी—अज्ञ मानव, विषयासक्ति के कारण घर में क्लेश उठाकर व्यर्थ ही जीता है वह क्या सत्पुरुषों को इष्ट हो सकता है ? कहो ॥१०६॥ आओ, सर्वहितकारी धर्म को जानने की इच्छा रखती हुई हम तपोवन को चलें, व्रतशील आदि में प्रयत्न करो तथा आत्महितकारी तप करो ॥१०७॥ इसप्रकार अपने संपर्क में रहने वाली कन्याओं को धर्म का प्रतिपादन कर उसने भोगाभिलाषा के साथ सभा का स्थान छोड़ दिया। भावार्थ—स्वयंवर सभा से वापिस चली गयी ॥१०८॥

तदनन्तर अपने भवन जाकर सुमति ने क्रम से माता पिता को प्रणाम किया और 'मैं तप के लिये जाऊँगी' ऐसा उनसे पूछा ॥१०९॥ माता केवल रोकर चुप बैठ रही, उससे कुछ उत्तर देते नही बना। क्योंकि वह बाल्यावस्था से ही उसके चित्त को धर्म के संस्कार से युक्त जानती थी ॥११०॥ यह मेरे वंश की पताका है, महा शक्तिशालिनी है यह कह कर पिता ने उसका बहुमान किया—उसे बहुत बड़ा माना और गृह में आसक्त रहने वाले अपने आपको सचमुच ही दीन माना ॥१११॥ तदनन्तर जो उसके स्नेह के कारण मन से दुखी हो रहा था और उसके तप ग्रहण करने की इच्छा से हर्षित हो रहा था ऐसे पिता ने उससे इसप्रकार कहा ॥११२॥ इस निश्चय से तुमने न केवल अपने आपको चाहने योग्य उत्तम अवस्था को प्राप्त कराया है किन्तु अपने सम्बन्ध से इस जन को अर्थात्

---

१ स्वकीयम् २ अतोऽग्रे ३ गच्छ ४ बोद्धुमिच्छवः ५ सर्वहितकरम् ६ मातापितरौ * सौगम्यात् ब० ७ सम्बन्धात् ।

सधीरमिति तामुक्त्वा मुमोच तपसे पिता । वर्तन्तीं सत्पथे कन्यां साधुः को नानुमोदते ॥११४॥
गुरुं नत्वा यथावृद्धं निरगाद्गृहतस्तया । आबहिस्तोरणं पित्रा सस्नेहमनुयातया ॥११५॥
तपः प्रति यथा यान्ती साऽशोभि न तथा पुरा । भव्यता हि परा भूषा सत्त्वानां सत्त्वशालिनाम् ॥११६॥
प्रपद्य सुव्रतां नत्वा दीक्षां सह सखीजनैः । नाम्ना च क्रियया [1]चासीत्सुमतिः [2]सुमतिस्तदा ॥११७॥
भुञ्जानोऽनन्तवीर्योऽपि भोगान्भोगीन्द्र[3]सन्निभः । पूर्वाणामनयल्लक्षामशीतिश्चतुरुत्तराम् ॥११८॥
रोगादिभिरनालीढः शयानः शयनेऽन्यदा । आयासेन विनायासीत्स [4]जीवनविपर्ययम् ॥११९॥
भ्रातृशोकं निगृह्यान्तःपटुप्रसरमप्यसौ । स्पृहयालुरभूद्धीरस्तपसे लाङ्गलायुधः ॥१२०॥
ततो धीरो गरीयांसं राज्यभारमरिञ्जये । ज्येष्ठे न्यवीविशत्पुत्रे स्वस्मिन्नुपशमं च सः ॥१२१॥

शार्दूलविक्रीडितम्

लक्ष्मीं सप्तशतैः समं नृपतिभिस्त्यक्त्वा विशुद्धाशयै
भक्त्या भूरियशोयशोधरयतिं नत्वा दधानं तपः ।
वैराग्यादपराजितोऽजनि मुनिः कुर्वंस्तपस्यां परां
रेजे शूरतरः परीषहजयाद्धीरस्तपस्यत्यसौ ॥१२२॥

मुझे भी चाहने योग्य उत्तम अवस्था को प्राप्त कराया है ॥११३॥ इसप्रकार धैर्य के साथ कह कर पिता ने उसे तप के लिये छोड़ दिया । ठीक ही है क्योंकि समीचीन मार्ग में प्रवृत्ति करने वाली कन्या को कौन सत्पुरुष अनुमति नहीं देता है ? ॥११४॥

जो जैसे वृद्ध थे तदनुसार गुरुजनों को नमस्कार कर वह घर से निकल पड़ी । बाह्य तोरण तक पिता उसे स्नेहसहित पहुंचाने के लिये आया था ॥११५॥ वह तप के लिये जाती हुई जैसी देदीप्यमान हो रही थी वैसी पहले कभी नहीं हुई । वास्तव में भव्यता ही धैर्यशाली जीवों का उत्कृष्ट आभूषण है ॥११६॥ सुव्रता आर्यिका को नमस्कार कर तथा सखीजनों के साथ दीक्षा ग्रहण कर उस समय सुमति नाम और क्रिया—दोनों से सुमति समीचीन बुद्धि की धारक हुई थी ॥११७॥

इधर भोगों को भोगते हुए धरणेन्द्र तुल्य अनन्तवीर्य ने भी चौरासी लाख पूर्व व्यतीत कर दिये ॥११८॥ जो रोगादि से आक्रान्त नहीं था ऐसा अनन्तवीर्य, किसी समय शय्या पर सोता हुआ कष्ट के बिना मृत्यु को प्राप्त हो गया ॥११९॥ भाई का शोक यद्यपि हृदय में बहुत अधिक विस्तार को प्राप्त था तो भी उसे रोककर धीर वीर बलभद्र—अपराजित तप के लिये इच्छुक हो गये ॥१२०॥ तदनन्तर धैर्यशाली अपराजित ने राज्य का गुरुतरभार अरिंजय नामक ज्येष्ठ पुत्र पर रक्खा और अपने आपमें उपशम भाव को स्थापित किया ॥१२१॥

विशुद्ध अभिप्राय वाले सात सौ राजाओं के साथ लक्ष्मी का परित्याग कर तथा यशस्वी और तपस्वी यशोधर मुनि को नमस्कार कर अपराजित वैराग्य के कारण मुनि हो गये । उत्कृष्ट तपस्या

---

१ सुमतिनाम्नी २ सुष्ठु मतिर्यस्याः सा ३ धरणेन्द्र सदृशः ४ मरणम् ।

त्यक्त्वा सिद्धगिरौ तनुं [1]तनुतरामाराध्य रत्नत्रयं
संप्राप्याच्युत[2]मच्युतस्थितियुतो देवाधिपत्यं दधौ ।
प्रागानर्च जिनं ततः सुरगणैस्तस्याभिषेको महान्
विदध्याकारि विवर्द्धितावधिदृशः सत्संपदस्तोभितुः ॥१२३॥

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे श्रीमदपराजित*विजयो नाम

* षष्ठः सर्गः *

करते हुए अपराजित मुनि अत्यधिक सुशोभित हो रहे थे । परीषहों के जीतने से जो अत्यन्त शूर थे ऐसे धीर वीर मुनि घोर तप करने लगे ।।१२२।। सिद्धगिरि पर अत्यन्त कृश शरीर को छोड़कर तथा रत्नत्रय की आराधना कर वे अच्युत स्वर्ग को प्राप्त हुए और वहाँ अविनाशी—दीर्घकाल स्थायी स्थिति से युक्त हो इन्द्रपद को धारण करने लगे । अच्युतेन्द्र ने पहले जिनेन्द्रदेव की पूजा की पश्चात् पुण्योदय से जिनका अवधिज्ञानरूपी नेत्र वृद्धि को प्राप्त हुआ था तथा जो उत्तम संपदाओं के स्वामी हुए थे ऐसे उन अच्युतेन्द्र का देव समूह ने महाभिषेक किया ।।१२३।।

इसप्रकार महाकवि असग द्वारा रचित शान्तिपुराण में अपराजित की
विजय का वर्णन करने वाला षष्ठ सर्ग समाप्त हुआ ।

---

१ अतिकृशाम् २ अच्युतनामस्वर्गम् *अपराजिताच्युतेन्द्र संभवो नाम ब० ।

卐

[1]अथाप्रतिघमत्युद्ध[2]मन्तःसंकल्पकल्पितम् । स [3]तत्राप्यष्टधैश्वर्यं निर्वबाराच्युतेश्वरः ॥१॥
नन्दीश्वरमहं[4] कृत्वा स व्यावृत्यान्यदा ययौ । वन्दारुर्मन्दिरं जैनं जम्बूद्वीपस्य [5]मन्दरम् ॥२॥
षोडशापि स वन्दित्वा तत्राभ्यर्च्य जिनालयान् । अन्ते जिनालयेऽद्राक्षीत्कञ्चन [6]द्युसदां पतिम् ॥३॥
तस्मादिन्द्रोऽप्यसौ दृष्टिं स्वां नाकष्टुं तदाशकत् । अनेकभवसम्बन्धबन्धुस्नेहेन कीलिताम् ॥४॥
खेचरेन्द्रोऽपि तद्दृष्टिं प्राप्यान्तःस्नेहनिर्भरः । तं ननाम प्रणामेन [7]ज्ञातेयमिव सूचयन् ॥५॥
अच्युतेन्द्रः परावत्यं देशावधिमथ क्षणात् । स तस्य स्वस्य चाद्राक्षीत्संबन्धं च भवैः स्वयम् ॥६॥

सप्तम सर्ग

अथानन्तर वह अच्युतेन्द्र उस अच्युत स्वर्ग में भी निर्बाध, अत्यन्त श्रेष्ठ, और मनके संकल्प मात्र से प्राप्त होने वाले आठ प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त हुआ ॥१॥ एक समय वह नन्दीश्वर पूजा करने के बाद लौटकर जिनालयों की वन्दना करने की इच्छा से जम्बूद्वीप के सुमेरु पर्वत पर गया ॥२॥ वहां सोलहों जिनालयों की वन्दना और पूजा कर उसने अन्तिम जिनालय में किसी विद्याधर राजा को देखा ॥३॥ वह इन्द्र भी अनेक भव सम्बन्धी बन्धु के स्नेह से कीलित अपनी दृष्टि को उस विद्याधर राजा पर से खींचने के लिये समर्थ नहीं हो सका ॥४॥ उसकी दृष्टि को प्राप्त कर जो आन्तरिक स्नेह से भरा हुआ था ऐसे विद्याधर राजा ने भी जाति सम्बन्ध को सूचित करते हुए समान प्रणाम द्वारा उस अच्युतेन्द्र को नमस्कार किया ॥५॥

तदनन्तर अच्युतेन्द्र ने देशावधिज्ञान का उपयोग कर उसका और अपना अनेक भवों का सम्बन्ध स्वयं देख लिया ॥६॥ पश्चात् विद्याधर राजा ने उस अच्युतेन्द्र से इस प्रकार पूछा कि हे

---

१ अप्रतिपक्षम् २ अतिश्रेष्ठम् ३ अणिमादिभेदेनाष्टविधैश्वर्यम् ४ नन्दीश्वर द्वीपे पूजां विधाय ५ मेरु पर्वतम् ६ दिवि सीदन्तीति द्युसदस्तेषाम् विद्याधराणाम् ७ ज्ञातिसम्बन्धम् ।

ततस्तमभ्ययुं क्तेति खेचरेन्द्रोऽच्युतेश्वरम् । अदृष्टोऽपि मया स्वामिन्दृष्टवत्प्रतिभासि मे ।
अयमन्तःस्फुरत्प्रीतिर्दृष्टिपातः प्रभोस्तव । सम्बन्धेन विना क्षुद्रे मादृशे किं प्रवर्तते ।
मयाप्यन्तःप्रविश्यैवं ¹वैयात्येन यदुच्यते । तद्धेतुमिति मन्येऽहमतीतभवसंभवम् ।
न तदाविदितं किञ्चिन्मूर्तिमत्किञ्चिदिन्द्रस्य वर्तते । ब्रूहि त्वं प्रीतिहेतुं मे व्यरंसीदित्युदीर्य सः ।।
तेन पृष्टः प्रसह्यैवं इन्द्रः पत्या नभःसदाम् । तस्यात्मनश्च सम्बन्धमिति वक्तुं प्रचक्रमे ।।
अथास्ति धुसदां वासो विजयार्द्धाभिधो गिरिः । स्वायामेन मितं येन द्वीपेऽस्मिन्नर्द्धं भारतम् ।।
तत्रास्ति दक्षिणश्रेण्यां नगरं रथनूपुरम् । तत्रावसज्जटी नाम ²ज्वलनादिःप्रभुः परम् ।।
³महाकुलीनमासाद्य विद्याः सर्वा बभासिरे । यं च तेजस्विनां नाथं शारदार्कमिव ⁴त्विषः ।।
प्रियंकरः सतां नित्यं द्विषतां च भयंकरः । क्षेमंकरः प्रजानां च ⁵प्रकृत्यैव बभूव सः ।।
रामा मनोहराकारा वायुवेगेति विश्रुता । महाकुला प्रिया तस्य प्रेमभूमिरभूत्परा ।।
तस्यामजीजनत्सूनुमर्ककीर्तिं परंतपम् । प्रभात इव स प्राच्यामर्कं ⁶पद्मैकवल्लभम् ।।

स्वामिन् ! यद्यपि मैंने आपको देखा नहीं है तो भी आप दिखे हुए के समान जान पड़ते हैं ।।७
प्रभो ! जिसके भीतर प्रीति स्फुरित हो रही है ऐसा यह आपका दृष्टिपात सम्बन्ध के बिना मुझ
क्षुद्र पुरुष पर क्यों प्रवर्तता ।।८।। मैं भी भीतर प्रवेश कर जो धृष्टता से इस प्रकार कह रहा हूँ उ
कारण पूर्वभव से सम्बन्ध रखता है ऐसा मैं मानता हूँ ।।९।। रूपी पदार्थों में ऐसा कोई पदार्थ न
जो इन्द्रपद को धारण करने वाले आपके लिये अविदित हो अतः आप मेरी प्रीति का कारण व
यह कह कर वह विरत हो गया ।।१०।।

उस विद्याधर राजा के द्वारा इसप्रकार आग्रह पूर्वक पूछा गया इन्द्र उसका और अ
सम्बन्ध कहने के लिये इस तरह उद्यत हुआ ।।११।। अथानन्तर इस जम्बूद्वीप में विद्याधरों का नि
भूत विजयार्ध नामका वह पर्वत है जिसने अपनी लम्बाई से आधे भरत क्षेत्र को नाप लिया है ।।
उस पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर नामका नगर है उसमें ज्वलन जटी नामका राजा रहत
।।१३।। उच्च कुलोत्पन्न तथा तेजस्वी जनों के स्वामी जिस राजा को प्राप्त कर समस्त विद्याएं
सुशोभित होने लगी थी जैसी शरद् ऋतु के सूर्य को प्राप्त कर कान्ति अथवा किरणें सुशोभित
लगती हैं ।।१४।। वह स्वभाव से ही निरन्तर सज्जनों का प्रिय करने वाला, शत्रुओं का भय
वाला और प्रजाजनों का कल्याण करने वाला था ।।१५।। उसकी वायुवेगा नाम से प्रसिद्ध सुन्दर
उच्चकुलीन प्रिया थी । यह उसकी बहुत भारी प्रीति पात्र थी ।।१६।। ज्वलनजटी ने उसमें श
को संतप्त करने वाला अर्ककीर्ति नामका पुत्र उस तरह उत्पन्न किया जिस तरह प्रातःकाल पूर्व
में कमलों को अत्यन्त प्रिय (पक्षमें लक्ष्मी के अत्यन्त वल्लभ) सूर्य को उत्पन्न करता है ।।

---

१ धृष्टतया २ ज्वलनजटी नामधेयः ३ महाकुलोत्पन्नम् ४ कान्तयः ५ स्वभावेनैव ६ लक्ष्म्येक
कमलैकप्रियश्च ।

निरस्तं[1] चेतसा तेन बाल्येऽपि शिशुचापलम् । [2]दित्सुना सर्वविद्यानामवकाशमिवात्मनि ॥१८॥
ततः क्रमात्तयोरासीत् पुत्री नाम्ना स्वयंप्रभा । बिभ्रती शोभनां मूर्तिमैन्दवीव[3] स्वयंप्रभा ॥१९॥
ज्योतीरथस्य तनयां ज्योतिर्मालामुपायत । अर्ककीर्तिस्ततः [4]कल्यां ज्योतिर्मालामिवापराम् ॥२०॥
तत्कलाकौशलं चित्रं कौतुकादिव वीक्षितुम् । स्वकाले तामथ प्राप यौवनश्रीः शनैः शनैः ॥२१॥
तामेकदा पिता वीक्ष्य संपन्ननवयौवनाम् । तद्वरान्वेषणव्यग्रो बभूव सह मन्त्रिभिः ॥२२॥
ततो [5]भृगुसुते स्निग्धे राजा [6]दैवविदां मते । संशय्यास्थित[7] संभिन्ने [8]संभिन्नाम्भोरुहाननः ॥२३॥
स वीक्ष्य तन्मनस्कत्वं भर्तुरित्याह विदिताशयः । अस्त्यत्र भारते देशो विश्रुतः सुरमाख्यया ॥२४॥
नगरं पोदनं यत्र विद्यते सद्यशोनिधिः । रक्षिताभून्नृपस्तस्य प्रजापतिरितीरितः ॥२५॥
भद्रस्त्वनतिरिक्ते द्वे स्वस्माद्धार्ये स भूपतिः । दिङ्नाग इव भद्रात्मा मदरेखे मनोरमे ॥२६॥
आद्या जयावती नाम्ना द्वितीया मृगवती सती । तं वशीकृत्य ते कान्तं [9]राजतः स्म गुणाधिके ॥२७॥
अजायत जयावत्यां सूनुः [10]सूनृतवाक्प्रियः । अजय्यो विजयो नाम [11]विजयश्रीविशेषकः ॥२८॥

उसने बाल्यावस्था में भी बाल्यकाल की चपलता चित्त से दूर कर दी थी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों वह अपने आप में समस्त विद्याओं को अवकाश देना चाहता था ।।१८।। तदनन्तर उन दोनों के (ज्वलनजटी और वायुवेगा के) क्रम से स्वयंप्रभा नामकी पुत्री उत्पन्न हुई । सुन्दर शरीर को धारण करती हुई वह पुत्री साक्षात् चन्द्रमा की प्रभा के समान जान पड़ती थी ।।१९।।

तदनन्तर अर्ककीर्ति ने ज्योतीरथ की पुत्री उस ज्योतिर्माला के साथ विवाह किया जो नीरोग थी तथा अन्य ज्योतिर्माला–दूसरी नक्षत्र पङ्क्ति के समान जान पड़ती थी ।।२०।। पश्चात् अपना समय आने पर धीरे धीरे स्वयंप्रभा को यौवन लक्ष्मी प्राप्त हुई । वह यौवन लक्ष्मी ऐसी जान पड़ती थी मानों कौतुक वश उसके विविध कलाकौशल को देखने के लिये ही आयी हो ।।२१।। एक समय पिता उसे नव यौवन से संपन्न देख, मन्त्रियों के साथ उसके योग्य वर खोजने के लिए व्यग्र हुआ ।।२२।। तदनन्तर खिले हुए कमल के समान जिसका मुख था ऐसा राजा किसके साथ विवाह किया जाय और किसके साथ न किया जाय ऐसा संशय कर निर्णय के लिये उस पुरोहित पर निर्भर हुआ जो अत्यंत स्नेही तथा ज्योतिष शास्त्र के जानने वालों का सम्मान पात्र था ।।२३।। वह राजा की घनिष्ठता देख उसके अभिप्राय को जानता हुआ इसप्रकार कहने लगा । इस भरत क्षेत्र में सुरमा नाम से प्रसिद्ध देश है ।।२४।। जिस देश में पोदनपुर नामका नगर है । उत्तम कीर्ति का भाण्डार प्रजापति नाम से प्रसिद्ध राजा उस नगर का रक्षक है ।।२५।। जिस प्रकार दिग्गज दो मनोहर मद रेखाओं को धारण करता है उसीप्रकार वह भद्र प्रकृति वाला राजा अपने से पृथक् न रहने वाली दो सुन्दर स्त्रियों को धारण करता था ।।२६।। पहली स्त्री जयावती और दूसरी मृगवती नामकी थी । गुणों से परिपूर्ण ये दोनों स्त्रियां पति को वश कर सुशोभित हो रही थीं ।।२७।। जयावती के विजय नामका पुत्र हुआ जो सत्य तथा प्रिय वचन बोलने वाला था, अजेय था और विजय लक्ष्मी का तिलक था ।।२८।। पश्चात् मृगवती

---

१ निरस्तम् २ दातुमिच्छुना ३ चान्द्रीप्रभा इव ४ नीरोगाम् ५ पुरोधसि ६ ज्योतिषज्ञानाम् ७ निर्णायकत्वेन स्थितोऽभूत् ८ विकसितकमलवदनः ९ शोभेते स्म १० सत्यप्रियवचनः ११ विजयलक्ष्मीतिलकः ।

ततो मृगवती लेभे तनुजं विजयान्वितम् । [1]अनिष्ठितयशोराशिं त्रिपृष्ठाख्यं श्रियः पतिम् ॥२९
नृसिंहेनाभिनद्येन स सिंहं सिंहनादिना । सिंहोपप्लुतदेशस्य क्षेमकारः प्रजापतिः ॥३०
अश्वग्रीवोऽप्ययं चक्री नामिताशेषखेचरः । तेन घानिष्यते युद्धे तनुजेन [2]कनीयसा ॥३१
अतस्तस्मै सुतां यच्छ त्रिपृष्ठाय महात्मने । स तमित्यनुशिष्यार्थं खचरलोकेश्वरेश्वरम् ॥३२
इन्दोर्मुखेन सम्बन्धं पूर्णं सन्दिश्य भूपतेः । स तेनाप्यभ्यनुज्ञातः ससैन्यो द्यां व्यगाहत ॥३३
स पोदनपुरं प्राप्य शुद्धेऽह्नि शुभलक्षणाम् । स्वयंप्रभां त्रिपृष्ठाय व्यतारीद्विधिपूर्वकम् ॥३४
स्वयंप्रभामनासाद्य समं विद्याधराधिपैः । त्वरमाणो युधि क्रोधादश्वग्रीवः समुद्ययौ ॥३५
रूप्याद्रेर्नातिदूरेऽथ रथावर्ते महीभृति । रणः प्रववृते घोरो भूभृतां खेचरैः समम् ॥३६
वासुदेवस्त्रिपृष्ठोऽभूदश्वग्रीवं निहत्य तम् । विजयो बलदेवश्च विजयोद्धयशोधनः ॥३७
तौ वशीकृत्य चक्रेण विक्रान्तावर्द्धभारतम् । [3]अभौमानीव हृद्यानि सुखानि निरविक्षताम् ॥३८
अशेषितरिपुः [4]शासद्विजयार्द्धमशेषतः । स रेजे ख्यातसम्बन्धो मातुलश्चक्रवर्तिनः ॥३९

ने त्रिपृष्ठ नामका पुत्र प्राप्त किया जो विजय से सहित था, अपरिमित यश का स्वामी था तथा लक्ष्म का पति था ॥२९॥ सिंह से उपद्रुत देश का कल्याण करने वाले राजा प्रजापति ने सिंह के समा गर्जना करने वाले जिस नर श्रेष्ठ के द्वारा सिंह का नाश कराया था ॥३०॥ समस्त विद्याधरों व नम्रीभूत करने वाला यह अश्वग्रीव चक्रवर्ती भी प्रजापति के छोटे पुत्र त्रिपृष्ठ के द्वारा युद्ध में मार जायगा इसलिये उस महान् आत्मा त्रिपृष्ठ के लिये पुत्री देओ । इस प्रकार विद्याधरों के राजा ज्वलन जटी से प्रयोजन की बात कह कर पुरोहित चुप हो गया ॥३१-३२॥

ज्वलनजटी ने इन्दु नामक विद्याधर के मुख से राजा प्रजापति के पास इस सम्बन्ध को पू करने का समाचार कहलाया । जब राजा प्रजापति ने भी स्वीकृत कर लिया तब वह सेना सहि आकाश मार्ग से चल पड़ा ॥३३॥ उसने पोदनपुर पहुंच कर शुद्ध दिन में त्रिपृष्ठ के लिये शुभ लक्षण से युक्त स्वयंप्रभा विधि पूर्वक प्रदान कर दी ॥३४॥ इधर अश्वग्रीव भी स्वयंप्रभा को चाहता थ परन्तु जब उसे नहीं मिली तब वह क्रोध से विद्याधर राजाओं के साथ शीघ्रता करता हुआ युद्ध लिये उद्यम करने लगा ॥३५॥ तदनन्तर विजयार्ध पर्वत के निकट ही रथावर्त नामक पर्वत पर भूमि गोचरी राजाओं का विद्याधरों के साथ घोर युद्ध हुआ ॥३६॥ उस अश्वग्रीव को मार कर त्रिपृ नारायण हुआ और विजय से जिसका यश रूपी धन बढ़ रहा था ऐसा विजय बलदेव हुआ ॥३७ वे दोनों वीर चक्र के द्वारा अर्ध भरत क्षेत्र को वश कर स्वर्गीय सुखों के समान मनोहर सुखों क उपभोग करने लगे ॥३८॥

उधर जिसने समस्त शत्रुओं को नष्ट कर दिया था तथा जिसका सम्बन्ध प्रसिद्ध था ऐस चक्रवर्ती का मामा ज्वलनजटी समस्त विजयार्ध पर्वत पर शासन करता हुआ सुशोभित हो रहा थ ॥३९॥ एक दिन वह भव्यजीवों को आनन्द देने वाले अभिनन्दन नामक माननीय मुनि के दर्शन क

---

१ असमाप्तकीर्तिसमूहम् २ लघुपुत्रेण ३ स्वर्गसम्बन्धीनीव ४ शासनं कुर्वन् ।

दीक्षाभिनन्दनं नाम्ना मुनिं भव्याभिनन्दनम् । स धर्ममेकदा श्रुत्वा मुमुक्षुर्मनसाऽभवत् ॥४०॥
राज्यलक्ष्मीं ततोऽपास्य तपोलक्ष्मीमशिश्रियत् । स विशेषज्ञतां स्वस्य ख्यापयन्निव तत्क्षणे ॥४१॥
धृतराज्यभरः सूनुमर्ककीर्तिरजीजनत् । ज्योतिर्मालाभिधानायां नाम्नामिततेजसम् ॥४२॥
सोऽहं न तस्य सुतत्वेन खेचरेन्द्रस्य केवलम् । अपि स्वीकृतविद्यत्वादभूवं परमेश्वरः ॥४३॥
प्रजाजनि पितृभ्यां मे मनोरमतमाकृतिः । [1]सुतारलोचनच्छाया सुतारा नाम कन्यका ॥४४॥
ततः स्वयंप्रभा लेभे ज्येष्ठं श्रीविजयं सुतम् । विजयं च कनीयांसं पुत्रीं ज्योतिःप्रभाभिधाम् ॥४५॥
राजा त्रिवर्गपारीणः [2]प्रजापतिरथान्यदा । तपसे निरगाद्गेहाद्भव्यत्वप्रेरिताशयः ॥४६॥
पिहितास्रवमानम्य प्रपद्य स्वहितं तपः । शुक्लध्यानविशुद्धात्मा सिद्धिं प्राप प्रजापतिः ॥४७॥
अथ ज्योतिःप्रभा कन्या जग्राहामिततेजसम् । स्वयंवरे सुतारा च प्रीत्या श्रीविजयं प्रियम् ॥४८॥
त्रिपृष्ठोऽथ [3]यशःशेषो बभूव चिरकालतः । विजयोऽपि तपस्तप्त्वा लेभे केवलसम्पदम् ॥४९॥
अर्ककीर्तिस्ततः पुत्रे विन्यस्यामिततेजसि । मयि राज्यं प्रवव्राज प्रणिपत्याभिनन्दनम् ॥५०॥

तथा धर्म सुन कर हृदय से मुमुक्षु—मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक हो गया ॥४०॥ तदनन्तर उसने उसी क्षण अपनी विशेषज्ञता को प्रकट करते हुए के समान राज्य लक्ष्मी को छोड़कर तपो लक्ष्मी को ग्रहण कर लिया ॥४१॥ पश्चात् राज्य भार को धारण करने वाले अर्ककीर्ति ने ज्योतिर्माला नामक स्त्री से अमिततेज नामक पुत्र को उत्पन्न किया ॥४२॥ वह मैं न केवल विद्याधर राजा का पुत्र होने से परमेश्वर-उत्कृष्ट सामर्थ्यवान् हुआ था किन्तु विद्याओं को स्वीकृत करने से भी परमेश्वर हुआ था ॥४३॥

तदनन्तर हमारे माता पिता ने जिसकी आकृति अत्यंत सुन्दर थी, और जिसके नेत्रों की कान्ति उत्तम पुतलियों से सहित थी ऐसी सुतारा नामकी कन्या उत्पन्न की ॥४४॥ पश्चात् स्वयंप्रभा ने श्रीविजय नामक ज्येष्ठ पुत्र, विजय नामक लघु पुत्र और ज्योतिप्रभा नामकी एक पुत्री क्रम से प्राप्त की ॥४५॥ तदनन्तर जो धर्म अर्थ और काम इस त्रिवर्ग में पारंगत थे तथा भव्यत्व भाव से जिनका हृदय प्रेरित हो रहा था ऐसे प्रजापति महाराज तप के लिये घर से निकले ॥४६॥ पिहितास्रव मुनि को नमस्कार कर तथा आत्महितकारी तप को स्वीकृत कर शुक्लध्यान से जिनकी आत्मा विशुद्ध हो गयी थी ऐसे प्रजापति मुनिराज ने मुक्ति प्राप्त की ॥४७॥

तदनन्तर स्वयंप्रभा की पुत्री ज्योतिप्रभा कन्या ने अर्ककीर्ति के पुत्र अमिततेज को ग्रहण किया और सुतारा ने स्वयंवर में श्रीविजय को अपना पति बनाया ॥४८॥ चिर काल बाद त्रिपृष्ठ मरण को प्राप्त हुआ और विजय ने भी तप तपकर केवलज्ञान रूप सम्पदा को प्राप्त किया ॥४९॥ तदनन्तर अर्ककीर्ति ने मुझ अमिततेज पुत्र के लिये राज्य सौंपकर तथा अभिनन्दन गुरु को नमस्कार कर दीक्षा धारण कर ली ॥५०॥ तदनन्तर संपत्ति से परिपूर्ण पिता का पद प्राप्त कर समस्त राजाओं

---

१ सुष्ठुकनीनिकायुक्तलोचनकान्तिः २ एतन्नामधेयो नृपः ३ यश एव शेषो यस्य, मृत इत्यर्थः ।

अनन्तरं पितुः प्राप्य त्वं पदं संपदाधिकम् । अकथं सार्थकं नाम नमिताशेषपार्थिवः ॥५१॥
एकदागन्तुकः कश्चिद् दृष्ट्वा श्रीविजयं द्विजः । सिंहासनस्थमित्याह रहसि प्राप्य चासनम् ॥५२॥
इतः पोदननाथस्य सप्तमे वासरे दिवः । मूर्धनि प्रध्वनन्नुच्चैरशनैः पतिताशनिः[1] ॥५३॥
इत्युक्त्वा विरते वाग्मी तस्मिन्पप्रच्छ स स्वयम् । कस्त्वं किमभिधानो वा कियज्ज्ञानं तवेति तम् ॥५४॥
इति पृष्टः स्वयं राज्ञा ततोऽवादीत्स धीरधीः । बन्धुरं सिन्धुदेशेऽस्ति पद्मिनीखेटकं पुरम् ॥५५॥
तस्मादमोघजिह्वाख्यस्त्वां द्विजातिरिहागमम् । पुत्रो विशारदस्याहं ज्योतिर्ज्ञानविशारदः ॥५६॥
इत्थमात्मानमावेद्य स्थितिमन्तं विसर्ज्य तम् । अप्राक्षीत्सचिवान्राजा स्वरक्षामशनेस्ततः ॥५७॥
रक्षोपायेषु बहुषु प्रणीतेष्वथ मन्त्रिभिः । प्रत्याचिख्यासुरित्याह तां कथां मतिभूषणः ॥५८॥
कुम्भकारकटं नाम शैलेन्द्रोपत्यकं पुरम् । अस्ति तत्रावसद्विप्रो दुर्गतश्चण्डकौशिकः ॥५९॥
अभूत्प्रणयिनी तस्य सोमश्रीरिति विश्रुता । भूतान्याराध्य सा प्रापदपत्यं मुण्डकौशिकम् ॥६०॥
बिभ्यतो[2] रक्षसः कुम्भाद्भक्षितुं पुत्रमन्यदा । भूतानामर्पयद्विप्रो गुहायां तैर्न्यधायि सः ॥६१॥
तं तत्राप्य[3]घसद्रौद्रः शिशुमाकस्मिकः [4]शयुः । को वा त्रातुमलं मृत्योर्धर्मं मुक्त्वा शरीरिणाम् ॥६२॥

को नम्रीभूत करते हुए तुमने अपना नाम सार्थक किया ॥५१॥ एक दिन किसी आगन्तुक ब्राह्मण ने श्रीविजय को सिंहासन पर स्थित देख एकान्त में आसन प्राप्त कर इस प्रकार कहा ॥५२॥ आज से सातवें दिन पोदनपुर नरेश के मस्तक पर जोर से गरजता हुआ वज्र वेगपूर्वक आकाश से गिरेगा ॥५३॥ इतना कह कर जब वह चुप हो गया तब अमिततेज ने उससे स्वयं पूछा कि तुम कौन हो ? किस नामके धारक हो और तुम्हें कितना ज्ञान है ? ॥५४॥

इस प्रकार राजा के द्वारा स्वयं पूछे गये, धीर बुद्धि वाले उस आगन्तुक ब्राह्मण ने कहा कि सिन्धु देश में एक पद्मिनीखेट नामका सुन्दर नगर है ॥५५॥ वहां से मैं तुम्हारे पास यहां आया हूँ अमोघजिह्व मेरा नाम है, मैं विशारद का पुत्र हूं तथा ज्योतिष ज्ञान का पण्डित हूं ॥५६॥ इस प्रकार अपना परिचय देकर बैठे हुए उस ब्राह्मण को राजा ने विदा किया । पश्चात् मन्त्रियों से वज्र से अपनी रक्षा का उपाय पूछा ॥५७॥ तदनन्तर मन्त्रियों ने बहुत सारे रक्षा के उपाय बतलाये परन्तु उन उपायों का खण्डन करने की इच्छा रखते हुए मतिभूषण मन्त्री ने इस प्रकार एक कथा कही ॥५८॥

गिरिराज के निकट एक कुम्भकट नामका नगर है । उसमें चण्डकौशिक नाम वाला एक दरिद्र ब्राह्मण रहता था ॥५९॥ 'सोमश्री' इस नाम से प्रसिद्ध उसकी स्त्री थी । उसने भूतों की आराधना कर एक मुण्डकौशिक नामका पुत्र प्राप्त किया ॥६०॥ कुम्भ नामका राक्षस उस पुत्र को खाना चाहता था अतः उससे रक्षा करने के लिये ब्राह्मण ने वह पुत्र भूतों को दे दिया और भूतों ने उसे गुहा में रख दिया ॥६१॥ परन्तु वहां भी अकस्मात् आये हुए एक भयंकर अजगर ने उस पुत्र को खा लिया अतः ठीक ही है क्योंकि धर्म को छोड़ कर मृत्यु से प्राणियों की रक्षा करने के लिये कौन समर्थ है ? ॥६२॥

---

१ वज्रम् २ अस्तु बिभ्यतो ३ भक्षयामास ४ अजगरः ।

ततः शान्तिं विहायान्यो रक्षोपायो न विद्यते । अस्यापि पोदनेशित्वं निरस्यामो [illegible] ॥६३॥
इत्युक्त्वा विरते तस्मिन् राज्यं वैश्रवणे प्रजाः । ताम्रीये स्थापयामास राजा चास्थाज्जिनालये ॥६४॥
सप्तमेऽहनि संपूर्णे पपाताशनिरम्बरात् । मुकुटालङ्कृते मूर्ध्नि धनदस्य [illegible] ॥६५॥
ततः श्रीविजयस्तस्मै तन्मनोरथवाञ्छितम् । विप्रायामोघजिह्वाय पद्मिनीखेटमेव सः ॥६६॥
विद्याद्वयमवाप्यास्य मातुः श्रीविजयोऽन्यदा । रन्तुं सुतारया सार्धं वनं ज्योतिर्वनं ययौ ॥६७॥
गते तस्मिन्नथोत्पात[1]दर्शनाकुलनागरम् । नगरं पोदनं कश्चिद् व्योम्नः प्राप नभश्चरः ॥६८॥
क्रमाद्राजकुलद्वारमागत्य स्वं निवेद्य सः । प्राविशत् तत्सभां तस्यां नत्वाद्राक्षीत्स्वयंप्रभाम् ॥६९॥
तद्दृष्टिपातनिर्दिष्टमध्यास्य सुखमासनम् । [2]प्रस्तावमथ संप्राप्य प्रस्तावीदिति भाषितुम् ॥७०॥
भद्रं श्रीविजयस्येदं वृत्तं किञ्चिन्निशम्यताम् । अहं दीप्रशिखः पुत्रः संभिन्नस्य महात्मनः ॥७१॥
पित्रा सह [3]सुखाराध्यमाराध्यामिततेजसम् । निवृत्य स्वपुरं गच्छन्नश्रौषं रुदितध्वनिम् ॥७२॥
ततो विमानमद्राक्षं तत्रस्थां तत्र च स्त्रियम् । मुहुर्भ्रातुर्मुहुः पत्युर्विलपन्तीमथाख्यया ॥७३॥

इसलिये शान्ति को छोड़ कर रक्षा का अन्य उपाय नही है । फिर भी हम इनके पोदनपुर के स्वामित्व को दूर करदें अर्थात् इनके स्थान पर किसी अन्य को राजा घोषित करदें ॥६३॥

इसप्रकार कह कर जब मतिभूषण मन्त्री चुप हो गया तब प्रजा ने ताम्में का कुबेर बना कर उस पर राज्य स्थापित कर दिया । और राजा जिनालय में स्थित हो गया ॥६४॥ सातवां दिन पूर्ण होते ही राजा कुबेर के मुकुट विभूषित मस्तक पर आकाश से वज्र गिरा ॥६५॥ तदनन्तर श्रीविजय ने उस अमोघजिह्व नामक आगन्तुक ब्राह्मण के लिये उसका मन चाहा पद्मिनीखेट नगर ही दे दिया ॥६६॥

किसी समय श्रीविजय माता से दो विद्याएं लेकर सुतारा के साथ क्रीड़ा करने के लिये ज्योतिर्वन गया ॥६७॥ उसके चले जाने पर उत्पातों के देखने से व्याकुल नागरिक जनों से युक्त पोदनपुर में आकाश से कोई विद्याधर आया ॥६८॥ क्रम से राजद्वार में जाकर उसने अपना परिचय दिया पश्चात् राजसभा में प्रवेश किया । वहां नमस्कार कर उसने स्वयंप्रभा को देखा ॥६९॥ स्वयंप्रभा के दृष्टिपात से बताये हुए आसन पर सुख पूर्वक बैठा । पश्चात् अवसर पा कर उसने इसप्रकार कहना शुरु किया ॥७०॥ श्रीविजय के लिये कल्याणकारी यह कुछ समाचार सुनिये । मैं महान् आत्मा संभिन्न का दीप्रशिख नामका पुत्र हूं ॥७१॥ सुख से आराधना करने योग्य अमिततेज की पिता के साथ आराधना कर जब मैं अपने नगर की ओर जा रहा था तब मैंने रोने का शब्द सुना ॥७२॥ तदनन्तर विमान को और उसमे रोती हुई स्त्री को देखा । वह स्त्री बार बार भाई तथा पति का नाम लेकर विलाप कर रही थी ॥७३॥ पश्चात् स्वामी का नाम सुन कर तथा स्त्री पर करुणा उत्पन्न

---

१ उत्पातानां दर्शनेन आकुला नागरा यस्मिंस्तत् २ अवसरम् ३ सुखेनाराधनीयम् ।

युद्धाय योधिनी नाम स्वीकृत्याक्षय तत्क्षणे । समं पित्रा मयास्थायि यानस्याग्रे [१]युयुत्सया ।।७४।
यावदत्र शस्त्रजातं रिपुस्तावत्तव स्नुषा । विमानप्राङ्गणे स्थित्वा मामवादीदिदं वचः ।।७५।
ज्योतिर्वनेऽतिसंधाय विद्यया स्वामिनं मम । बलादशनिघोषो मां नयति स्वपुरीमयम् ।।७६।
परित्रायस्व मन्नाथं त्वमित्युक्त्वा तया ततः । अहं न्यवर्तिषि क्षिप्रं शत्रुणाशङ्क्य वीक्षितः ।।७७।
सुतारारूपधारिण्या विद्यया व्याकुलीकृतम् । कुक्कुटाहिविषव्याजान्मिथ्यैव मृतया तया ।।७८।
तयाक्रान्तं चितारूढं तामादाय महीक्षितम् । प्रयासीत्क्वापि सा विद्या पित्रा निर्भर्त्सिता मम ।।७९।
ततो विस्मित्य राजेन्द्रः किमेतदिति मे गुरुम् । अप्राक्षीत्तस्य संभिन्नस्तद्वृत्तान्तमचीकथत् ।।८०।
सुताराहरणं श्रुत्वा राजेन्द्रो रथनूपुरम् । संभिन्नाभिसरोऽयासीन्मां विसर्ज्य त्वदन्तिकम् ।।८१।
तद्वार्तामित्वरं तस्याः प्रणीय विरराम सः । स्वयंप्रभापि तेनैव [२]समार रथनूपुरम् ।।८२।
तत्पुरं प्राप्य सा व्योम्ना प्राविशद्राजमन्दिरम् । [३]जरद्भिः प्रत्यभिज्ञाय वीक्ष्यमाणा जनीजनैः[४] ।।८३।
सुताराविरहम्लानं प्रभातेन्दुमिवात्मजम् । साद्राक्षीत्खेचरेन्द्रं च प्रत्युत्थाय कृतानतिम् ।।८४।
तयोरग्रे ततः स्थित्वा क्षणमात्रमिवासने । स्नुषास्नेहात्पतद्बाष्पमन्तर्घ्नं स्वैरमुवाच सा ।।८५।

होने के कारण मैं युद्ध करने की इच्छा से पिता के साथ विमान के आगे खड़ा हो गया ।।७४।। जब तक शत्रु शस्त्र नही ग्रहण करता है तब तक तुम्हारी वधू ने विमान के प्राङ्गण में खड़ी हो कर मुझ से यह वचन कहा ।।७५।। ज्योतिर्वन में विद्या से मेरे पति को छल कर यह अशनिघोष मुझे बलपूर्वक अपनी नगरी को लिये जा रहा है ।।७६।। मेरे पति की रक्षा करो इस प्रकार कह कर उसने शत्रु से आशङ्कित हो मुझे देखा और मैं तत्काल वहां से लौट पड़ा ।।७७।। बात यह हुई कि सुतारा का रूप धारण करने वाली विद्या कुक्कुट सर्प के विष के बहाने झूठ मूठ ही मर गयी । उसे सचमुच ही मृत जान कर राजा श्रीविजय बहुत व्याकुल हुआ तथा उसे लेकर उसके साथ चिता पर आरूढ हो गया (इसी के बीच अशनिघोष वास्तविक सुतारा को हर कर ले गया) मेरे पिता ने उस विद्या को ललकारा जिससे वह कहीं भाग गयी ।।७८–७९।। पश्चात् आश्चर्य चकित हो राजाधिराज श्रीविजय ने 'यह क्या है' इस तरह मेरे पिता से पूछा । संभिन्न ने सुतारा का समाचार उससे कहा ।।८०।। सुतारा का हरण सुन कर राजाधिराज श्रीविजय मुझे आपके पास भेजकर संभिन्न के साथ रथनूपुर गये हैं ।।८१।। इस प्रकार शीघ्र ही सुतारा का समाचार सुना कर दीप्रशिख विरत हो गया । स्वयंप्रभा भी उसी के साथ रथनूपुर गयी ।।८२।।

उस नगर को प्राप्त कर स्वयंप्रभा ने आकाश से राजभवन में प्रवेश किया । वृद्ध स्त्री पुरुष पहिचान कर उसे देखने लगे ।।८३।। वहाँ उसने, सुतारा के विरह से जो म्लान हो रहा था तथा प्रातःकाल के चन्द्रमा के समान जान पड़ता था ऐसे पुत्र को और उठ कर नमस्कार करने वाले राजा को देखा ।।८४।। उन दोनों के आगे क्षण भर आसन पर बैठ कर तथा वधू के स्नेह से पड़ते हुए आंसुओं

---

१ योद्धुमिच्छया २ सार्धं जगाम ३ वृद्धैः ४ स्त्रीपुरुषैः

अयमुद्विजितुं कालस्त्वादृशां न महात्मनाम् । विज्ञातेऽपि रिपोः स्थाने किं यूयं नाध्यवस्यथ ॥८६॥
सा खचरेन्द्रगोष्ठीषु समीरितमिदं वचः । स्त्रीजनोऽपि कुलोद्भूतः सहते न पराभवम् ॥८७॥
ततोऽदित नरेन्द्राय स तस्मै खेचरेश्वरः । विद्यां हेतिनिवारिण्या समं [1]बन्धविमोचिनीम् ॥८८॥
प्रसाधितमहाविद्यं कृत्वा साभिसरं सुतैः । [2]प्रजिघायाभ्यमित्रं तं त्वरमाणं रणाय सः ॥८९॥
महाज्वालाभिधां विद्यामयात्साधयितुं च सः । सहस्ररश्मिना सार्धं ह्रीमन्तमचलं स्वयम् ॥९०॥
तत्र विद्यां वशीकृत्य स्वसत्त्वेन स सत्वरम् । तयैवानुगतोऽयासीत्ततश्चञ्चां रिपोः पुरीम् ॥९१॥
विद्यया बहुरूपिण्या भ्रामर्या च समन्ततः । आत्मानं कोटिशः कृत्वा वितत्य गगनस्थलम् ॥९२॥
युद्धमानं नरेन्द्रेण तस्मिन्नाशनिसंभवम् । अद्राक्षीत्सोऽपि चाच्छैत्सीत्तद्विद्यां स्वस्य विद्यया ॥९३॥
अवध्यमानमन्येषां विद्यास्त्रं वीक्ष्य विव्यथे । आसुरेयो जितान्योऽपि स शूरः शूरभीकरः ॥९४॥
देहमात्रावशेषोऽथ क्षीणविद्याविभूतिकः । प्रातस्ताराविमुक्तेन गगनेन समोऽभवत् ॥९५॥
स्वं [3]रिरक्षिषया वेगान्ननाशाशनिघोषकः । पांसुलस्याथवा चित्तं निसर्गतरलं कियत् ॥९६॥

को भीतर रोक कर उसने इस प्रकार कहा ॥८५॥ यह आप जैसे महान् आत्माओं के उद्विग्न होने का समय नहीं है । शत्रु का स्थान जान लेने पर भी आप लोग निश्चय क्यों नहीं कर रहे हैं ॥८६॥ इस प्रकार सभा के बीच में यह वचन कह कर वह विरत हो गयी । ठीक ही है क्योंकि कुलीन स्त्रियां भी पराभव को सहन नहीं करती हैं ॥८७॥

तदनन्तर विद्याधर नरेश ने राजा श्रीविजय के लिये हेतिनिवारिणी—शस्त्रों को रोकने वाली विद्या के साथ बन्ध विमोचिनी—बन्ध से छुड़ाने वाली विद्या दी ॥८८॥ तदनन्तर जो विद्या सिद्ध कर चुका था और युद्ध के लिये शीघ्रता कर रहा था ऐसे श्रीविजय को उसने अपने पुत्रों के साथ शत्रु के सन्मुख भेजा ॥८९॥ और स्वयं वह महा ज्वाला नामक विद्या को सिद्ध करने के लिये सहस्ररश्मि के साथ ह्रीमन्त पर्वत पर गया ॥९०॥ वहां अपने धैर्य से शीघ्र ही विद्या सिद्ध कर उसी विद्या से अनुगत होता हुआ वह वहां से शत्रु की चञ्चा नगरी गया ॥९१॥ अशनिघोष बहुरूपिणी और भ्रामरी विद्या के द्वारा अपने आपको करोड़ों रूप बना कर तथा सब ओर से आकाश को व्याप्त कर राजा श्रीविजय के साथ युद्ध कर रहा था । यह देख विद्याधरों के राजा ने अपनी विद्या से उसकी विद्या छेद दी ॥९२–९३॥ जो दूसरों के लिये अवध्य था—दूसरे जिसे छेद नहीं सकते थे ऐसे विद्यास्त्र को देख कर अशनिघोष, यद्यपि दूसरों को जीतने वाला था, शूर था और अन्य शूरवीरों को भय उत्पन्न करने वाला था तो भी भयभीत हो गया ॥९४॥ तदनन्तर शरीर मात्र ही जिसका शेष रह गया था और विद्यारूपी विभूति जिसकी नष्ट हो गयी थी ऐसा वह अशनिघोष ताराओं से रहित प्रातःकाल के आकाश के समान हो गया ॥९५॥ अन्त में वह अपनी रक्षा करने की इच्छा से वेग पूर्वक भागा । अथवा चित्त स्वभाव से ही चञ्चल होता है फिर पापी मनुष्य का चित्त है ही कितना ? ॥९६॥ घात करने की इच्छुक तथा भयंकर रूप धारण करने वाली विद्या ने उसका पीछा किया । इसी तरह

---

१ बन्धाद् विमोचयतीत्येवं शीला ताम्. २ प्रेषयामास ३ रक्षितुमिच्छया ।

तमन्वधावदहितो जिघांसुर्भीमविग्रहः । स नृपः खेचरेन्द्रोऽपि तरसा सह सैनिकैः ॥९७॥
अपश्यन्नपरं किञ्चित्त्राणोपायमथात्मनः[1] । शैलं गजध्वजं[2] प्रापन्नासिक्यनगराद् बहिः ॥९८॥

❀ शार्दूल विक्रीडितम् ❀

तत्रानन्तचतुष्टयेन सहितं भव्यात्मनां तं हितं
भक्त्या केवलिनं प्रणम्य परमा सद्यो विशुद्धाशयः ।
नासौ केवलमम्बरेचरपतेर्दुर्वारशक्तेस्ततः
संसारादपि निर्भयो भगवतस्तस्य प्रभावादभूत् ॥९९॥
निर्बन्धादचिराय खेचरपतिस्तन्मार्गलग्नस्तदा
दृष्ट्वा लाङ्गलिनं तुतोष सहसा सार्धं नरेन्द्रेण सः ।
पाषाणार्थितया व्रजन्मणिमिव प्राप्यान्तरा[3] भास्वरं
बुद्धेः संपदभूच्च तस्य कृपयालङ्कारितेवामला ॥१००॥

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणेऽच्युतेन्द्रस्य खेचरेन्द्रप्रतिबोधने
अमिततेजःश्रीविजययोः सुताराव्यतिकरो नाम

❀ सप्तमः सर्गः ❀

विद्याधर राजा भी सैनिकों के साथ वेग से उसके पीछे दौड़ा ॥९७॥ जब उसने अपनी रक्षा का दूसरा उपाय नहीं देखा तब वह नासिक्य नगर के बाहर स्थित [1]गजध्वज पर्वत पर जा पहुंचा ॥९८॥

वहां अनन्त चतुष्टय से सहित तथा भव्य जीवों के हितकारक केवली भगवान् को परम भक्ति से नमस्कार कर वह शीघ्र ही विशुद्ध हृदय हो गया । उन भगवान् के प्रभाव से वह न केवल दुर्वार शक्ति के धारक विद्याधर राजा से निर्भय हुआ किंतु संसार से भी निर्भय हो गया ॥९९॥ जो विद्याधर राजा चिरकाल से आग्रह पूर्वक उनके मार्ग में लग रहा था वह, राजा भी श्रीविजय के साथ बलभद्र को देख कर शीघ्र ही संतुष्ट हो गया । जिस प्रकार पाषाण प्राप्त करने की इच्छा से घूमने वाला मनुष्य बीच में देदीप्यमान मणि को प्राप्त कर प्रसन्न हो जाता है उसी प्रकार बीच में ही बलभद्र को प्राप्त कर विद्याधर राजा की बुद्धिरूप संपदा उन केवली भगवान् की दया से अलंकृत हुई के समान निर्मल हो गयी ॥४२॥

इसप्रकार महा कवि असग द्वारा विरचित शान्तिपुराण में अच्युतेन्द्र का विद्याधर राजा को संबोधन देना तथा अमिततेज, श्रीविजय और सुतारा का वर्णन करने वाला सातवां सर्ग पूर्ण हुआ ॥७॥

---

१ स्वस्य २ गजपन्थानामधेयं ३ मध्ये ।

१. यह पर्वत आजकल नासिक शहर से बाहर स्थित है तथा गजपंथा नाम से प्रसिद्ध है ।

अष्टमः सर्गः

अथ भव्यात्मनां सेव्यमव्याबाधामलश्रियम् । ववन्दे खेचरेन्द्रस्तं जिनं भूपश्च भक्तितः ॥१॥
अन्तःकरणकालुष्यव्यपायामललोचनौ । प्राञ्जलीभूय तौ भक्त्या सभायां समविक्षताम् ॥२॥
सुतारां तरसादाय ततः प्राप स्वयंप्रभा । नत्वा केवलिनं तत्र निषसाद च सादरम् ॥३॥
अप्राक्षीद्विजयं धर्मं विजयार्धपतिस्ततः । धर्मानुरागनिर्धूतवैरो [1]वैरोचनार्चितम् ॥४॥
स सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्यथ केवली । प्राह धर्ममिति श्रेयो न श्रेयोऽन्यदितोऽङ्गिनाम् ॥५॥
तत्त्वार्थाभिरुचिः सम्यग्दर्शनं खलु दर्शनम् । निसर्गाधिगमभेदात्तद् द्विधा भिद्यते पुनः ॥६॥
जैनैर्जीवादयो भावाः सप्ततत्त्वमितीरितम् । अनादिनिधनो जीवो ज्ञानादिगुणलक्षणः ॥७॥

अष्टम सर्ग

अथानन्तर भव्य जीवों के सेवनीय तथा अव्याबाध और निर्मल लक्ष्मी से युक्त उन केवली जिनेन्द्र को विद्याधरों के राजा अमिततेज तथा राजा अशनिघोष ने भक्ति पूर्वक नमस्कार किया ॥१॥ अन्तःकरण की कलुषता का नाश हो जाने से जिनके नेत्र निर्मल हो गये थे ऐसे वे दोनों नम्रीभूत होकर भक्ति पूर्वक सभा में प्रविष्ट हुए ॥२॥ तदनन्तर स्वयंप्रभा सुतारा को लेकर वेग से वहां आ पहुंची और केवली भगवान् को आदर सहित नमस्कार कर बैठ गयी ॥३॥ तदनन्तर धर्मानुराग से जिसका वैर दूर हो गया है ऐसे विजयार्धपति–अमिततेज ने इन्द्र पूजित विजय केवली से धर्म पूछा ॥४॥

तदनन्तर उन विजय केवली ने कहा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धर्म है । यह धर्म ही प्राणियों के लिये कल्याणकारी है इससे अतिरिक्त अन्य नहीं ॥५॥ परमार्थ से तत्त्वार्थ में श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है । फिर वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम के भेद से दो प्रकार से विभक्त है ॥६॥ जीवादि पदार्थ ही सात तत्त्व हैं ऐसा गणधरादिक देवों ने कहा है । इनमें ज्ञानादि गुण रूप लक्षण से युक्त जीव अनादि निधन है ॥७॥ समस्त पदार्थों के सद्भाव को कहने वाला गुरु ज्ञान

---

१ इन्द्रपूजितम् ।

जीवभावस्वरूपस्यापकं ज्ञानमिष्यते । चारित्रं सर्व[1]सावद्यक्रियाव्युपरमः स्मृतम् ॥८॥
मिथ्यात्वाविरती योगाः कषाया बन्धहेतवः । कर्मात्मकश्च संसारश्चतुर्गत्युपलक्षितः ॥९॥
हिंसानृतो[2]चौर्येभ्यो [3]ऽब्रह्मचर्याच्च परिग्रहात् । सर्वतो देशतश्चैव विरतिर्व्रतमुच्यते ॥१०॥
मनोगुप्त्येषणादाननिक्षेपेर्यालोकिताशिता[4] । अहिंसाव्रतरक्षार्थं कीर्तिताः पञ्च भावनाः ॥११॥
[5]हास्यलोभाक्षमाभीतिप्रत्याख्यानं प्रचक्षते । सूत्रानुभाषणं चार्याः सत्ये पञ्चैव भावनाः ॥१२॥
[6]उपरोधाक्रिया वासाः शून्यागारे विमोचिते । भैक्ष्यशुद्धिरभेदः स्वे पञ्चास्य स्तेयभावनाः ॥१३॥
[7]स्त्रीकथालोकनातीतभोगस्मृत्यङ्गसंस्क्रियाः । त्याज्या वृष्यरसाश्च स्युः पञ्चेति ब्रह्मभावनाः ॥१४॥
पञ्चानामीन्द्रियार्थेषु रागद्वेषविवर्जनम् । [8]इष्टानिष्टेषु च ज्ञेया नैःकिञ्च[9]न्यस्य भावनाः ॥१५॥
महाव्रतानि पञ्चैव भूषणान्यनगारिणाम् । अणुव्रतान्यथैतानि भवन्ति गृहमेधिनाम् ॥१६॥
दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः स्याद्गुणव्रतम् । त्रिविधं तदनुष्ठेयं श्रावकैः स्वहितार्थिभिः ॥१७॥

कहलाता है और समस्त पाप पूर्ण क्रियाओं का अभाव हो जाना चारित्र माना गया है ॥८॥ मिथ्यात्व अविरति योग और कषाय ये बन्ध के कारण हैं । कर्मरूप संसार चार गतियों से सहित है ॥९॥ हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह से सर्वदेश अथवा एक देश निवृत्ति होना व्रत कहलाता है ॥१०॥ मनोगुप्ति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, ईर्या समिति तथा आलोकितपान भोजन ये अहिंसा व्रत की रक्षा के लिये पांच भावनाएं कही गयीं हैं ॥११॥ हास्यप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, अक्षमा (क्रोध) प्रत्याख्यान, भयप्रत्याख्यान और आगम के अनुसार वचन बोलना ये सत्यव्रत की भावनाएं हैं ऐसा अर्थ–गणधरादिक देव कहते हैं ॥१२॥ परोपरोधाकरण, शून्यागारावास, विमोचितावास, भैक्ष्यशुद्धि और अपनी वस्तु में अभेद अर्थात् सधर्माविसंवाद ये पांच अस्तेयव्रत की भावनाएं हैं ॥१३॥ स्त्रीकथा त्याग, स्त्री–आलोकन त्याग, अतीतभोगस्मृति त्याग, अङ्गसंक्रिया–त्याग और वृष्यरस त्याग–कामोद्दीपक गरिष्ठ भोजन त्याग ये पांच ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाएं हैं ॥१४॥ पांचों इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट विषयों में राग द्वेष छोड़ना ये पांच परिग्रह त्यागव्रत की भावनाएं जानने योग्य हैं ॥१५॥ पांच महाव्रत मुनियों के ही आभूषण हैं और ये पांच अणुव्रत गृहस्थों के आभूषण हैं ॥१६॥ दिग् देश और अनर्थ दण्डों—मन वचन काय की निरर्थक प्रवृत्तियों से निवृत्ति होना गुणव्रत है । यह गुणव्रत तीन प्रकार का है तथा अपना हित चाहने वाले श्रावकों के द्वारा पालन करने के योग्य हैं ॥१७॥

---

१ निखिल सपाप क्रिया परित्यागः २ असत्यवचनम् ३ मैथुनात् ४ 'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च' त० सू० ५ 'क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च' त० सू० ६ 'शून्यागारविमोचितावास परोपरोधाकरण भैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पञ्च' त० सू० ७ 'स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च' त० सू० ८ 'मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च' त० सू० ९ अपरिग्रहव्रतस्य ।

शिक्षाव्रतानि चत्वारि तेषु सामायिकं व्रतम् । विशुद्धेनात्मना स्थैर्यं कालमुद्दिश्य शक्तितः ॥१८॥
स प्रोषधोपवासः स्यात्सर्वदा पर्वचतुष्टये । चतुर्विधस्याहारं [1]प्रत्याख्याय प्रवर्तनम् ॥१९॥
परिभोगोपभोगेषु नियमः परिसंख्यया । परिभोगोपभोगाख्यं परिमाणं तदुच्यते ॥२०॥
मद्यमांसमधुत्यागः कर्तव्यश्च प्रयत्नतः । काले संयमिनां दानमातिथ्यव्रतमीरितम् ॥२१॥
इति संक्षेपतो धर्मं द्विविधं विश्वहितो जिनः । अभिधाय[2] व्यरंसीत्सौ भव्यानां हृदयंगमम् ॥२२॥
अणुव्रतान्युपादत्त[3] गुणशिक्षाव्रतैः समम् । हृदि विन्यस्य सम्यक्त्वं तन्मूले खेचरेश्वरः ॥२३॥
स व्रतलाभसंतुष्टस्ततो ऽप्राक्षीज्जिनेश्वरम् । सुताराहरणे हेतुमशनिघोषस्य कौतुकात् ॥२४॥
जगादेति स वागीशः सर्वभाषात्मकं वचः । नरामरोरगाकीर्णां स सभां संविभाजयन् ॥२५॥
अस्मिन्जम्बूमति द्वीपे भरते दक्षिणे महान् । मलयो नाम देशोऽस्ति तत्र रत्नपुरं पुरम् ॥२६॥
श्रीषेणो नाम तस्याभूत् त्राता भूरियशोधनः । नगरस्य स्वदेशेषु [4]कृतकण्टकशोधनः ॥२७॥
धर्मपत्नी प्रिया तस्य सिंहनन्दाऽभवत्प्रभोः । अनिन्दितेति विख्याता शीलेनाप्यनिन्दिता ॥२८॥

शिक्षा व्रत चार हैं । उनमें विशुद्ध हृदय होकर शक्ति के अनुसार काल का नियम लेकर स्थिर होना सामायिक व्रत है ॥१८॥ चारों पर्वों में चार प्रकार के आहार का त्याग कर जो प्रवर्तना है वह प्रोषधोपवास कहलाता है ॥१९॥ परिभोग और उपभोग की वस्तुओं में नियम पूर्वक प्रवर्तना अर्थात् उनका परिमाण निश्चित करना परिभोगोपभोग-परिमाणव्रत कहलाता है ॥२०॥ मद्य मांस और मधु का त्याग प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये तथा समय पर संयमी जनों के लिये दान देना अतिथि संविभाग कहा गया है ॥२१॥ इस प्रकार सर्व हितकारी जिनेन्द्र भगवान् संक्षेप से दो प्रकार का धर्म कह कर विरत हो गये । भगवान् के द्वारा कहा हुआ वह धर्म भव्यजीवों को अत्यन्त प्रिय था ॥२२॥ विद्याधरों के राजा अमिततेज ने गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के साथ अणुव्रतों को स्वीकृत किया तथा उनके पहले हृदय में सम्यग्दर्शन को धारण किया ॥२३॥

तदनन्तर व्रतों की प्राप्ति से संतुष्ट होने वाले विद्याधर राजा ने कौतुक वश केवली जिनेन्द्र से पूछा कि अशनिघोष ने सुतारा का हरण किया, इसमें कारण क्या है ? ॥२४॥ पश्चात् वचनों के स्वामी जिनेन्द्र भगवान् मनुष्य देव और धरणेन्द्रों से भरी हुई सभा को संविभाजित करते हुए इस प्रकार के सर्वभाषामय वचन कहने लगे ॥२५॥

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में मलय नामका बड़ा देश है । उसमें रत्नपुर नगर है ॥२६॥ अपने देश में क्षुद्र शत्रुओं को चुन चुन कर नष्ट करने वाला तथा यश रूपी महाधन से सहित श्रीषेण राजा उस नगर का रक्षक था ॥२७॥ उसकी सिंहनन्दा नामकी प्रिय धर्मपत्नी थी । दूसरी स्त्री अनिन्दिता इस नाम से प्रसिद्ध थी । यह नाम से ही नहीं शील से भी अनिन्दिता-प्रशंसनीय थी ॥२८॥ जिसका उदय-ऐश्वर्य (पक्ष में उद्गमन) प्रतिदिन दिखायी दे रहा था ऐसा वह राजा

---

१ परित्यज्य २ कथयित्वा ३ स्वीचकार ४ कृतक्षुद्रशत्रुपरिहारः ।

अनुरक्तोऽतिरक्ताभ्यां ताभ्यां रेजे स भूपतिः । भानुमानिव [1]संध्याभ्यां प्रत्यहं [illegible] ॥२९॥
इन्द्रोपेन्द्राभिधौ पुत्रौ तयोर्देव्योरभ भूभृतः । अमूर्तावात्मरूपौ वा तस्य मानपराक्रमौ ॥३०॥
बालक्रीडारतावेतौ विद्याभ्यासस्तयोरभूत् । शैशवोपात्तविद्यानां भव्यता हि [illegible] ॥३१॥
यौवनं समये प्राप्य संपूर्णामलविग्रहौ[2] । रेजतुस्तौ महासत्त्वौ विजितारातिविग्रहौ[3] ॥३२॥
यौवराज्यपदं प्राप्य [4]कृतदारपरिग्रहः । अजीजनत्सुतं चन्द्रं श्रीमत्यां चन्द्रसन्निभम् ॥३३॥
पुत्रपौत्रीहितां लक्ष्मीं स नयन्नयसंपदा । चिरं [5]सौराज्यसौख्यानि निर्विवेश [illegible] ॥३४॥
[illegible] काचित्तरुणी [6]साध्वसाकुला । त्रायस्वेति मुहुर्भूपं व्याहरन्ती [illegible] ॥३५॥
[illegible] तेन तस्या महीपतिः । किञ्चिदन्तस्तता[7]पात्मप्रतापक्षति [illegible] ॥३६॥
ततः स्वयमपृच्छत्तां कुतस्ते भीतिरित्यसौ । यथान्यायं हतान्याये मयि शासति मेदिनीम् ॥३७॥
सा [illegible] वाचं दक्षिणपाणिना । रुन्धती अश्रुसंपातात्स्खलत्समानं कुचांशुकम् ॥३८॥
[8]द्विजातिरस्ति यो राजन् [9]राजहंसस्य वल्लभः । भवामि तनया तस्य सात्यकेः सत्यशालिनः ॥३९॥

अत्यंत रक्त–अनुराग से सहित (पक्ष में लालिमा से सहित) उन दोनों स्त्रियों से ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा संध्याओं से सूर्य सुशोभित होता है ॥२९॥ राजा की उन देवियों में इन्द्र और उपेन्द्र नामक दो पुत्र हुए जो ऐसे जान पड़ते थे मानों उसके मूर्तिमन्त मान और पराक्रम ही हों ॥३०॥ बाल क्रीड़ा करते करते उन दोनों को विद्याभ्यास हो गया था । यह ठीक ही है क्योंकि बाल्यकाल में विद्या ग्रहण करने वालों की भव्यता–श्रेष्ठता मालूम होती है ॥३१॥ जिनका निर्मल शरीर अच्छी तरह भर गया था, जो महा शक्तिशाली थे तथा जिन्होंने शत्रु के युद्धों को जीता था ऐसे वे इन्द्र और उपेन्द्र समय पर यौवन को प्राप्त कर अत्यंत सुशोभित हो रहे थे ॥३२॥

इन्द्र ने युवराज पद प्राप्त कर विवाह किया और श्रीमती नामक स्त्री में चन्द्रमा के समान चन्द्र नामक पुत्र को उत्पन्न किया ॥३३॥ नय रूपी संपदा के द्वारा पुत्र और पौत्रों के लिये हितकारी लक्ष्मी को प्राप्त करने वाला राजा श्रीषेण, चिरकाल तक सुराज्य–उत्तम राज्य सम्बन्धी सुखों का उपभोग करता रहा ॥३४॥

अन्य समय द्वारपाल ने जिसकी सूचना दी थी ऐसी भय से व्याकुल कोई तरुण स्त्री 'रक्षा करो रक्षा करो' इस प्रकार राजा से बार बार कहती हुई उनके पास पहुंची ॥३५॥ उसके अश्रुत पूर्व वचन से राजा अपने प्रताप की हानि की आशङ्का से मन ही मन कुछ दुखी हुए ॥३६॥ तदनन्तर राजा ने उससे स्वयं पूछा कि जब अन्याय को नष्ट करने वाला मैं न्यायानुसार पृथिवी की रक्षा कर रहा हूं तब तुझे किससे भय है ? ॥३७॥ अश्रुपात के कारण नीचे खिसकते हुए अंचल को दाहने हाथ से रोकती हुई वह गद्गद कण्ठ से इस प्रकार के वचन कहने लगी ॥३८॥

हे राजन् ! राजाओं में श्रेष्ठ आपका जो प्रिय ब्राह्मण है । सत्य से सुशोभित उस सात्यकि की मैं पुत्री हूं ॥३९॥ उसकी जम्बूमती नामकी पतिव्रता धर्मपत्नी मेरी माता है । इस प्रकार आप मुझे

---

१ प्रातःसंध्याभ्याम् २ संपूर्णनिर्मलशरीरौ ३ विजितारियुद्धौ ४ कृतविवाहः ५ उत्तमराज्यसुखानि ६ भयाकुला ७ दुःखीबभूव ८ ब्राह्मणः ९ राजश्रेष्ठस्य ।

तस्यास्य धर्मपत्नी मे माता जम्बूमती सती । सत्यभामाभिधानां मां प्रतीहि कुलबालिकाम् ॥४०॥
कार्यैर्व्याजाहितैः तातं प्रतार्य ब्राह्मणोचितैः । कृत्यैर्वैदेशिको विद्वान् कपिलो मामुपायत[1] ॥४१॥
दुर्वृत्तेनास्य जानामि [2]नीचकुलेय इति ध्रुवम् । आचारो हि समाचष्टे सदसच्च नृणां कुलम् ॥४२॥
अनुद्दिश्यास्य कालेन द्विजः कश्चिद्वयोऽधिकः । जीर्णकन्थान्वितः पान्थः प्राप्तवान्मद्गृहाङ्गणम् ॥४३॥
अभ्युत्थानादिना पूर्वमाचारेणोपचर्य तम् । श्वशुरोऽयं तवेत्याख्यत् संभ्रान्तः कपिलो मम ॥४४॥
[3]आतिथेयीं स संप्राप्य सत्क्रियां[4] सत्क्रियात्मकः । दिनानि कानिचित्स्वैरं ममावासं मुदावसत् ॥४५॥
शुश्रूषया [5]विश्रम्भं प्रतिपाद्यहितमन्यदा । इत्यप्राक्षं समानम्य रहस्यहमुपह्वरे[6] ॥४६॥
यद्यनुहरत्यास्तेऽपि रूपोद्देशस्य ते सुतः । असद्वृत्तैस्तथाप्येष संदेहयति मे मनः ॥४७॥
[7]अनूचानो यथावृत्तमाचक्ष्वेति मयोदितः । स प्रारब्ध ततो वक्तुमित्यर्थदानेन चेतितः ॥४८॥
मगधेष्वचलग्रामे ख्यातोऽस्मि धरणीजटः । परम्परीणया वृत्त्या क्रियया च द्विजन्मनाम् ॥४९॥
भद्रभावा यशोभद्रा धर्मपत्नी ममाभवत् । श्रीभूतिर्नन्दिभूतिश्च भवतः स्म तदात्मजौ ॥५०॥
अभूत्प्रेष्या[8]सुतश्चायं स्वदासः कपिलाभिधः । बुद्ध्यैवाध्यापितशेषवाङ्मयः [9]स्मयशोभितः ॥५१॥

सत्यभामा नामकी कुल बालिका जानिये ॥४०॥ कपिल नामक विदेशीय विद्वान् ने ब्राह्मणोचित कार्यों से मेरे भोले भाले पिता को धोखा देकर मुझे विवाह लिया ॥४१॥ परन्तु उसके दुराचार से मैंने जान लिया कि यह निश्चित् नीच कुल में उत्पन्न हुआ है क्योंकि आचार ही मनुष्यों के अच्छे और बुरे कुल को कह देता है ॥४२॥ तदनन्तर कुछ समय बाद कोई वृद्ध ब्राह्मण पथिक जो जीर्ण शीर्ण कथरी से युक्त था, उस कपिल को लक्ष्य कर मेरे घर के आंगन में आया ॥४३॥ संभ्रम में पड़े हुए कपिल ने अगवानी आदि के द्वारा पहले उसकी सेवा की पश्चात् मुझसे कहा कि यह तुम्हारा श्वसुर है ॥४४॥ समीचीन क्रियाओं को करने वाला वह वृद्ध ब्राह्मण, अतिथि के योग्य सत्कार प्राप्त कर कुछ दिन तक स्वतन्त्रता पूर्वक हर्ष से मेरे घर पर रहा ॥४५॥ सेवा शुश्रूषा के द्वारा जब मैंने उसे विश्वास को प्राप्त करा लिया तब एक दिन एकान्त में नमस्कार कर विनय पूर्वक उससे पूछा ॥४६॥ यद्यपि आपका यह पुत्र आपके रूप का अनुकरण करता है तथापि असदाचार से यह मेरे मन को संदेह युक्त करता रहता है ॥४७॥ 'आप वेद पाठी हैं अतः जो बात जैसी है वैसी कहिये ।' इस प्रकार मैंने उससे कहा । साथ ही धन के द्वारा भी उसे अनुकूल किया । पश्चात् उसने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥४८॥

मगध देश के अचल ग्राम में मैं धरणीजट नाम से प्रसिद्ध हूं । परम्परा से आयी हुई वृत्ति तथा ब्राह्मणों की क्रिया से सहित हूं ॥४९॥ भद्र परिणामों से युक्त यशोभद्रा मेरी स्त्री थी । उसके दो लड़के थे–श्रीभूति और नन्दिभूति ॥५०॥ यह कपिल दासी का पुत्र था और अपना ही दास था । इसने अपनी बुद्धि से ही समस्त वाङ्मय को पढ़ लिया तथा गर्व से सुशोभित हो गया ॥५१॥ इस

---

१ विवाहितवान् २ नीचकुलोत्पन्नः ३ अतिथियोग्याम् ४ सत्कारम् ५ विश्वासम् ६ एकान्ते ७ वेदाध्ययन कर्ता ८ दासीपुत्रः ९ गर्वशोभितः ।

इत्युक्त्वा मे तदुत्पत्तिं स स्वदेशमगाद् द्विजः । [1]पाटच्चरभयात्स्वस्य परिधाय [2]पटच्चरम् ॥५२॥
स मां [3]वर्णावरो भोक्तुमनिच्छन्तीमपीच्छति । ततस्त्रातुं दुराचारादीशिषे त्वं जगत्पते ॥५३॥
इति विज्ञाप्य सा भूपं सत्यभामापि तद्भयात् । [4]शुद्धान्तं शुद्धचारित्रा शरणं प्रत्यपद्यत ॥५४॥
अथैकेद्युः पुराभ्यर्णे स [5]मधौ मधुसंनिभः । चिक्रीड धृतभूभारो वैभारेऽसौ [6]प्रियान्वितः ॥५५॥
वीक्ष्य चारित्रसंपन्नं [illegible]यशसोऽभिधम् । स नत्वा यतिमप्राक्षीत्[illegible]हितं [illegible] ॥५६॥
व्रतान्यथ चरितुमक्षमाय क्षमाभुजे । तपोऽब्धिरशिषत्तस्मै दानधर्मं स धर्मवित् ॥५७॥
पात्रदानफलानि त्वमनुभूय शुभाशयः । सम्यक्त्वं प्रतिपत्तासे काले नातिदवीयसि[7] ॥५८॥
तत्र श्रव्यमिति श्रुत्वा [8]नामेनाभ्यर्च्य तं मुनिम् । प्रयासीन्नगरं राजा पात्रदाने समुत्सुकः ॥५९॥
तीव्रानुदितकषायत्वात्सुधर्म इति मेदिनीम् । न्यायेन रक्षताऽनायि कालो भूयान्महीभुजा ॥६०॥
[9]निशान्तमन्यदा तस्य काले मासमुपोषितौ[10] । चारणावमिता[11]दित्यगती प्राविशतां यती ॥६१॥

प्रकार मेरे लिये उसकी उत्पत्ति कह कर वह ब्राह्मण अपने देश को चला गया। जाते समय उसने चोरों के भय से अपना वही जीर्ण वस्त्र पहिन लिया था ॥५२॥ वह नीच कुली कपिल मेरे न चाहने पर भी मुझे भोगने की इच्छा करता है इसलिये उस दुराचारी से मेरी रक्षा करने के लिये आप जगत्पति ही समर्थ हैं ॥५३॥ इस प्रकार राजा से निवेदन कर शुद्ध चारित्र को धारण करने वाली सत्यभामा भी उनके अन्तःपुर में शरण को प्राप्त हो गयी ॥५४॥

तदनन्तर अनेक नगरवासी जिसके साथ थे जो मधु—वसन्तऋतु के समान सरस था, पृथिवी के भार को धारण करने वाला था तथा अपनी स्त्रियों से सहित था ऐसा राजा श्रीषेण वसन्तऋतु में नगर के निकट वैभार पर्वत पर क्रीड़ा कर रहा था ॥५५॥ वहाँ उसने चारित्र से संपन्न तथा भव्य जीवों से पूजित आदित्य यश नामक मुनिराज को देखकर उन्हें नमस्कार किया। पश्चात् हे भगवन् ! मेरा हित कैसे हो सकता है ? यह पूछा ॥५६॥ तदनन्तर व्रत पालन करने मे असमर्थ उस राजा के लिए तप के सागर तथा धर्म के ज्ञाता उन मुनिराज ने दानधर्म का उपदेश दिया॥५७॥ शुभ अभिप्राय से युक्त तुम पात्र दान के फल का अनुभव कर अत्यंत निकटवर्ती काल मे सम्यक्त्व को प्राप्त होओगे ॥५८॥ इस प्रकार वहाँ सुनने योग्य उपदेश को सुनकर तथा नमस्कार के द्वारा उन मुनिराज की पूजा कर पात्र दान के लिये उत्सुक होता हुआ राजा श्रीषेण नगर को चला गया ॥५९॥ अत्यत तीव्र कषाय का उदय न होने से 'यह सुधर्म है—राजा का कर्तव्य है' यह समझ कर न्यायपूर्वक पृथिवी का पालन करते हुए उसने दीर्घ काल व्यतीत कर दिया ॥६०॥

तदनन्तर किसी समय दो मास का उपवास करने वाले चारण ऋद्धि के धारक अमितगति और आदित्य गति नामके दो मुनियों ने आहार के समय उसके भवन में प्रवेश किया ॥६१॥ हर्ष से

---

१ चोरभयात् २ जीर्णवस्त्रम् ३ वर्णेन अवरो नीचः नीचवर्णइतियावत् ४ अन्तःपुरम् ५ वसन्ते ६ पत्नीसहितः ७ निकटकाले ८ प्रणामेन ९ गृहम् १० एकं मासं यावत् कृतोपवासौ ११ अमितगतिः आदित्यगतिश्च ।

[illegible] प्रयत्नतः । [illegible] सार्धं [illegible] ॥६२॥
[illegible] प्रीत[illegible] । [illegible] कल्याणं कल्याण[illegible] ॥६३॥
[illegible] । [illegible] राज्ञो [illegible] देवैः प्रपञ्चितम् ॥६४॥
[illegible] । [illegible] कान्त्या [illegible] ॥६५॥
[illegible] । सौभाग्येन वशीकृत्य [illegible] ॥६६॥
[illegible] । [illegible] विनयो हि [illegible] ॥६७॥
[illegible] । 'सौदर्यं [illegible] ॥६८॥
[illegible] । [illegible] कश्चित्प्राप्य [illegible] ॥६९॥
[illegible] । [illegible] ॥७०॥
[illegible] पुष्कलावती । प्राङ् मन्दरस्य पूर्वेषु विदेहेषु [illegible] ॥७१॥

भरे हुए राजा श्रीषेण ने आगे जाकर नमस्कार आदि के द्वारा उनकी पूजा की, पश्चात् दोनों स्त्रियों के साथ प्रयत्न पूर्वक उन्हें आहार कराया ॥६२॥ जिसका मन अत्यंत प्रसन्न था तथा जो कल्याण की चाह रही थी ऐसी सत्यभामा ने भी कल्याणकारी उस दान को देख कर उसकी अनुमोदना की ॥६३॥ आकाश में देवों द्वारा विस्तारित पञ्चाश्चर्यों ने उस राजा की आगे होने वाली सम्पत्ति की परम्परा को सूचित किया था ॥६४॥

तदनन्तर राजा श्रीषेण के ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र की महादेवी के साथ कान्ति से तीनों जगत् को जीतने वाली वसन्त सेना नामकी वेश्या भेंट स्वरूप आयी थी ॥६५॥ यद्यपि इन्द्र ने उसे स्वीकृत कर लिया था तो भी काम से आतुर उपेन्द्र ने सौभाग्य से उसे अपने वश कर लिया और कुछ उपाय न देख उसके साथ विवाह कर लिया ॥६६॥ कामातुर उपेन्द्र ने पिता के भी वचनों को कुछ नहीं गिना सो ठीक ही है क्योंकि कामरूप पिशाच के द्वारा ग्रस्त मनुष्य के द्वारा विनय छोड़ दी जाती है ॥६७॥ जिन्होंने भाईचारे को छोड़ कर मर्यादा तोड़ दी है ऐसे उन दोनों राज पुत्रों में स्त्री के हेतु भयंकर युद्ध होने लगा ॥६८॥ उसी समय युद्ध के मध्य तलवार खींच कर खड़े हुए उन दोनों भाईयों के बीच में आकाश से आकर कोई विद्याधर खड़ा हो गया और इस प्रकार कहने लगा ॥६९॥ प्रहार मत करो, प्रहार मत करो, यह वेश्या पूर्व भव में तुम दोनों की बहिन थी । इसलिये अब वैर विरोध छोड़ कर उसकी कथा सुनो ॥७०॥

द्वितीय द्वीप—धातकी खण्ड द्वीप में पूर्व मेरु के पूर्व विदेहों में धन धान्य से परिपूर्ण पुष्कलावती नामका देश है ॥७१॥ उस देश के मध्य में विद्याधरों का निवास भूत विजयार्ध पर्वत

---

१ देवदुन्दुभिनादः, मन्दसुगन्धिशीतलसमीरसंचारः, गन्धोदकवृष्टिः, सुमनोवृष्टिः, अहोदानं अहोदानमिति ध्वनिः इत्येतानि पञ्चाश्चर्यकाणि २ वशवर्तीकृता ३ विवाहितवान् ४ कामातुरः ५ इन्द्रोपेन्द्रयोः ६ समाभिव्यवहारं ७ बहिर्विस्तारितकृपाणयोः ८ युवयोः ।

तन्मध्ये खेचरावासो राजते [1]राजतो गिरिः । तत्रादित्यपुरं नाम परमं विद्यते पुरम् ॥७२॥
सुकुण्डलाभिधानोऽभून्मत्पिता तत्पुराधिपः । अमिता जननी मे नाम्नास्मि मणिकुण्डलः ॥७३॥
अधत्त स तपोभारं राज्यभारे नियुज्य माम् । [2]साधिताशेषविद्याकं स्पृहयन्मुक्तये पिता ॥७४॥
अवतीर्य ततस्तस्मादेकदाथ रिरंसया[3] । स्वेच्छया विहरन्भूमाववापं पुण्डरीकिणीम् ॥७५॥
तस्याममितकीर्त्याख्यस्तिष्ठन्नुद्यानमण्डले । विश्वदृश्वा मया दृष्टो मुनिर्मान्यो दिवौकसाम् ॥७६॥
अप्राक्षं तमहं नत्वा स्वमतीतभवं मुदा । स [4]प्राकंस्त ततो वक्तुं सुव्यक्तं वाग्मिनां वरः ॥७७॥
विशुद्धवृत्तया नीतः सौधर्मं धर्मसंपदा । स तत्राष्टगुणैश्वर्यममरत्वं त्वमन्वभूः ॥७८॥
तत्राभूतां सहायौ द्वे पुत्रिकेऽनन्तरे भवे । अन्या सुराङ्गना चासीत्कामरोगार्तमानसा ॥७९॥
अथापृच्छं कथं नाथ भवेयुर्मे सुताश्च ताः । अयं जनः कुतस्त्यो वा [5]शाधि बोधैकलोचन ॥८०॥
सौधर्मप्रभवादाख्यादिति प्राग्जन्म मे मुनिः । द्वीपोऽस्ति पुष्कराभिख्यः स पूर्वापरमन्दरः ॥८१॥
तत्रापरविदेहेषु मन्दरस्यापरस्य पूः[6] । वीतशोकेति नामास्ति [7]वीतशोकजनाचिता ॥८२॥
चक्रायुधो यथार्थाख्यो राजा तामशिषत्पुरीम् । आसीद्विद्युन्मती तस्य कनकश्रीश्च वल्लभा ॥८३॥

सुशोभित है। उसी विजयार्ध पर्वत पर आदित्यपुर नामका उत्तम नगर विद्यमान है ॥७२॥ सुकुण्डल नामक मेरे पिता उस नगर के राजा थे। अमिता मेरी माता थी और मैं उन दोनों का मणिकुण्डल नामका पुत्र हूं ॥७३॥ जिसने समस्त विद्याए सिद्ध कर ली थीं ऐसे मुझे राज्य भार में नियुक्त कर मुक्ति की इच्छा करने वाले पिता ने तप का भार धारण कर लिया—मुनि दीक्षा ले ली ॥७४॥ तदनन्तर एक समय उस विजयार्ध पर्वत से उतर कर क्रीड़ा करने की इच्छा से स्वेच्छानुसार पृथिवी पर विहार करता हुआ मैं पुण्डरीकिणी नगरी पहुंचा ॥७५॥ उसके उद्यान में विराजमान, विश्वदर्शी तथा देवों के माननीय अमित कीर्ति नामक मुनिराज को मैंने देखा ॥७६॥ उन्हें नमस्कार कर मैंने हर्ष से अपना पूर्वभव पूछा। तदनन्तर वचन कला के पारगामी मुनिराज स्पष्ट रूप से कहने लगे ॥७७॥

निर्मल चारित्र से युक्त धर्म रूप सम्पत्ति के द्वारा तुम सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुए थे। वहां तुमने अणिमा महिमा आदि आठ ऋद्धियों से युक्त देव पद का अनुभव किया था ॥७८॥ उस समय तुम्हारे साथ रहने वाले जो दो देव थे वे पूर्वभव में तुम्हारी पुत्रियां थी। इनके सिवाय काम रोग से पीड़ित चित्तवाली एक अन्य देवाङ्गना भी थी। वह भी तुम्हारी पुत्री थी ॥७९॥

तदनन्तर मैंने मुनिराज से पूछा कि हे नाथ ! वे सब मेरी पुत्रियां कैसे थी ? और यह मैं कहां से आया हूं ? हे ज्ञानरूप नेत्र के धारक ! मुझे बताइये ॥८०॥ मुनिराज मेरा सौधर्म स्वर्ग के भव से पूर्व का भव इस प्रकार कहने लगे। पूर्व और पश्चिम मेरु पर्वतों से सहित पुष्कर नामका द्वीप है। उसके पश्चिम मेरु पर्वत के पश्चिम विदेहों में वीतशोका नगरी है जो शोक रहित मनुष्यों से व्याप्त है ॥८१-८२॥ सार्थक नाम वाला चक्रायुध नामका राजा उस नगरी का शासन करता था। उसकी

---

१ विजयार्धः २ साधिता अशेषविद्या येन तम् ३ रन्तुं-क्रीडितुमिच्छया ४ तत्परोऽभूत् ५ ब्रूहि ६ नगरी ७ शोकरहित जनव्याप्ता ।

विद्युन्मती सुतां लेभे कान्त्या पद्मामिवापराम् । पद्मावतीति विख्यातां चक्रवर्त्यङ्कलालिताम् ॥८४॥
द्वे सुते [illegible] कनकश्रियः । सुवर्णलतिका ज्येष्ठा परा पद्मलताभिधा ॥८५॥
[illegible] गणिनी ग्राहयामास व्रतानि गृहमेधिनाम् ॥८६॥
[illegible] कनकश्रीश्च सत्सुते । ताः पौंस्त्वेनैत्य सौधर्मे प्रादुर्भावं तनुत्यजः ॥८७॥
पद्मावती [illegible] देवी [illegible] । दानव्रतरतप्यासीत्सम्यक्त्वेन [illegible] ॥८८॥
कनकश्रीरिति [illegible] सर्वे दिवश्च्युतम् । ततः सुकुण्डलस्यासीस्त्वं सुतो मणिकुण्डलः ॥८९॥
इत्युक्त्वा [illegible] विरतं सुकुतूहली । भूयो नत्वा तमप्राक्षं क्व जाता मत्सुता इति ॥९०॥
[illegible] जम्बूद्वीपस्य भारते । जातौ रत्नपुरेशस्य तनयौ ते त्वत्सुते ॥९१॥
[illegible] विटकच्युत्वा [illegible] । तस्याः कृते तयोः कोपाद्युद्ध[illegible] वर्तते ॥९२॥
इति श्रुत्वा मुनीन्द्रस्य [illegible] तरसागमम् । सौहार्दाद्युवयोर्युद्धं निवारयितुमञ्जसा ॥९३॥
माता भूत्वा स्वसा भार्या पिता च स्यात्सुतो रिपुः । इत्यनेकपरावर्तात् [illegible] को न विरज्यते ॥९४॥

विद्युन्मती और कनकश्री नामकी दो स्त्रियां थीं ॥८३॥ विद्युन्मती ने पद्मावती नाम से प्रसिद्ध ऐसी पुत्री को प्राप्त किया जो कान्ति से दूसरी लक्ष्मी के समान जान पड़ती तथा चक्रवर्ती की गोद में क्रीड़ा करने वाली थी ॥८४॥ कनकश्री के सज्जनता से युक्त दो पुत्रियां हुईं । उनमें सुवर्ण लतिका ज्येष्ठ पुत्री थी और पद्मलता नामकी छोटी पुत्री थी ॥८५॥ उन तीनों पुत्रियों तथा दोनों रानियों को शास्त्रज्ञान से सहित अमितश्री नामकी गणिनी ने गृहस्थों के व्रत ग्रहण करा दिये ॥८६॥ सम्यक्त्व की विशुद्धता से सहित कनकश्री और उसकी दोनों पुत्रियां नीति पूर्वक शरीर का त्याग करती हुईं पुरुष पर्याय को प्राप्त कर सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुईं ॥८७॥ और पद्मावती दानव्रत में रत होने पर भी सम्यक्त्व से रहित थी अतः वह उसी सौधर्म स्वर्ग में सौन्दर्य से सुशोभित देवी हुई ॥८८॥ सौधर्म स्वर्ग में कनकश्री का जीव जो लक्ष्मी संपन्न देव हुआ था वही स्वर्ग से च्युत होकर तुम हुए हो, ऐसा जानो । वहां से आकर यहां तुम सुकुण्डल के पुत्र मणि कुण्डल हुए हो ॥८९॥ इस प्रकार मेरे भवों को स्पष्ट रूप से कह कर जब मुनिराज चुप हो गये तब कौतुहल से युक्त हो मैंने पुनः नमस्कार कर उनसे पूछा कि मेरी वे पुत्रियां कहां उत्पन्न हुई हैं ? ॥९०॥ पश्चात् भव्य शिरोमणि मुनिराज ने कहा कि तुम्हारी वे पुत्रियां जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में रत्नपुर नगर के राजा श्रीषेण के पुत्र हुए हैं ॥९१॥ और स्वर्ग में जो देवी थी (पद्मावती का जीव) वह वहां से च्युत हो कर वहीं पर वेश्या हुयी है । उस वेश्या के लिये उन पुत्रों—इन्द्र उपेन्द्र में क्रोध से तलवार का युद्ध हो रहा है ॥९२॥ उन मुनिराज से ऐसा सुन कर मैं सौहार्द वश आप दोनों का युद्ध रोकने के लिये वास्तव में वेग से यहां आया हूं ॥९३॥ यह जीव माता होकर बहिन, स्त्री, पिता, पुत्र और शत्रु हो जाता है ऐसे अनेक परावर्तनों से सहित इस संसार से कौन नहीं विरक्त होता है ? ॥९४॥ इस प्रकार अपना सम्बन्ध कह कर जब

---

१ [illegible] २ पुंस्त्वं प्राप्य ३ [illegible] मत्पूर्वपर्यायाः [illegible] ४ [illegible] इदं युद्धं प्रवृत्तमिति अस्याः ५ वेगेन ६ परमार्थेन ।

इत्युदीर्य स्वसम्बन्धं विरते खेचरेश्वरे । व्यस्राष्टां मानसात्कोपं करवालं च तौ करात् ॥९५॥
[1]तावानन्दभवबाष्पकणिकाकीर्णलोचनौ । नत्वा कल्याणमित्रं तं वाचमित्यमवोचताम् ॥९६॥
एवमावामसद्वृत्तौ भवतायोज्य सत्पथे । तृतीयभववृत्तोऽपि मातृस्नेहो नवीकृतः ॥९७॥
[2]सम्बन्धाद्यदि नायास्यद्भवानेतावतीं भुवम् । तदावामपतिष्याव [3]दुरन्ते भवसागरे ॥९८॥
एवं प्रायस्तमित्युक्त्वा विसर्ज्य मणिकुण्डलम् । सुधर्माणं मुनिं नत्वा तावभूतां तपोधनौ ॥९९॥
श्रीषेणस्तद्वियोगार्तो विषदिग्धं महोत्पलम् । आघ्राय स [4]यशःशेषो बभूव भुवनेश्वरः ॥१००॥
सिहनन्दापि तेनैव कमलेन स्वजीवितम् । अत्याक्षीत्स्वपतिप्रीत्या निदानन्यस्तमानसा ॥१०१॥
अनिन्दिता तदाघ्राय ममार विषपङ्कजम् । समं स्वप्रणयाकृष्टचित्तया सत्यभामया ॥१०२॥
उत्तरां धातकीखण्डे पूर्वमन्दरसंश्रयाम् । कुरुं प्राप्याजनि [5]क्ष्मापः स सार्धं सिहनन्दया ॥१०३॥
अनिन्दितापि तत्रैव स्वेन शुद्धेन कर्मणा । पुरुषोऽजायत प्रीत्या सती सत्यापि तद्वधूः ॥१०४॥
[6]निराधिस्तेषु निर्विश्य सुखं पल्यत्रयोपमम् । स मृत्वाऽजनि सौधर्मे देवः श्रीनिलयाधिपः ॥१०५॥

विद्याधर राजा चुप हो रहा तब उन दोनों (इन्द्र उपेन्द्र) ने मन से क्रोध और हाथ से तलवार छोड़ दी ॥९५॥

हर्ष से उत्पन्न होने वाले अश्रुकणों से जिनके नेत्र व्याप्त थे ऐसे उन दोनों ने उस कल्याणकारी मित्र को नमस्कार कर इस प्रकार के वचन कहे ॥९६॥ इस तरह खोटी प्रवृत्ति करने वाले हम दोनों को सुमार्ग में लगा कर आपने तृतीय भव में होने वाले मातृ स्नेह को भी नया कर दिया है ॥९७॥ कौटुम्बिक सम्बन्ध के कारण यदि आप इतनी दूरभूमि पर नहीं आते तो हम दोनों दुःख दायक संसार सागर में पड़ जाते ॥९८॥ प्रायः इसी प्रकार के वचन कह कर उन्होंने उस मणि कुण्डल विद्याधर को विदा किया और स्वयं सुधर्मा मुनिराज को नमस्कार कर मुनि हो गये ॥९९॥ उनके वियोग से दुखी राजा श्रीषेण विषलिप्त कमल को सूंघ कर मृत्यु को प्राप्त हो गये ॥१००॥ निदानबन्ध में जिसका चित्त लग रहा था ऐसी रानी सिंहनन्दा ने भी अपने पति की प्रीति से उसी कमल के द्वारा अपना जीवन छोड़ दिया ॥१०१॥ अनिन्दिता नाम की दूसरी रानी भी अपने प्रेम से आकृष्टचित्त सत्यभामा के साथ विषलिप्त कमल को सूंघ कर मर गयी ॥१०२॥

राजा श्रीषेण सिंहनन्दा रानी के साथ धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व मेरु सम्बन्धी उत्तरकुरु में जाकर उत्पन्न हुआ ॥१०३॥ अनिन्दिता भी अपने शुद्ध कर्म से वहीं पुरुष हुई और प्रीति के कारण सती सत्यभामा भी उसकी स्त्री हुई ॥१०४॥ मानसिक व्यथा से रहित श्रीषेण का जीव आर्य उस उत्तर कुरु में तीन पल्य तक सुख भोग कर मरा और मर कर सौधर्म स्वर्ग में श्रीनिलय विमान का स्वामी देव हुआ ॥१०५॥ निदान से उस तृतीय भव के पति के साथ साथ जाने वाली सिंहनन्दा भी

---

१ आनन्देन भवन्त्यो या बाष्पकणिकाः ताभिः कीर्णे व्याप्ते लोचने ययोस्तौ २ सम्बन्धात् ३ दुष्टः अन्तो यस्य तस्मिन् ४ यश एव शेषो यस्य तथाभूतः मृतइत्यर्थः ५ पृथिवीपति. –राजा ६ मानसिक व्यथा रहितः ।

तस्याभूत्सिंहनन्दापि श्रीदेवाख्यस्य वल्लभा । निदानादनुयान्ती तं तृतीयभववल्लभम् ।।१०६।।
बभूवानिन्दितार्योऽपि [1]स्वजीवितविपर्यये । स तस्मिन्नेव गीर्वाणो विमाने विमलप्रभे ।।१०७।।
[2]सत्यापि सुप्रभानाम्नी देवी भूत्वा मनोरमा । अन्वनैषीत्समेतासौ स्वकान्तममितप्रभम् ।।१०८।।
[3]अखर्वसंगतं भूरि श्रीदेवममितप्रभ: । अन्ववर्तत कुर्वाणो गीर्वाणेशमिवापरम् ।।१०९।।
तत्र कालमनैषीस्त्वं पलितोपमपञ्चकम्[4] । जिनमभ्यर्चयन्भक्त्या सुरसौख्यं च [5]निर्विशन् ।।११०।।
पुरा रत्नपुरं राजा योऽशिषत्त्रिदिवच्युतम् । अवगच्छात्र संभूतं तं त्वममिततेजसम् ।।१११।।
सा चेयं सिंहनन्दापि [6]तवेदानींतनी प्रिया । त्रिपृष्टतनया भूत्वा वर्तते स्वनिदानत: ।।११२।।
अनिन्दिताप्यभूदेषा ज्ञाति: श्रीविजयस्तव । सुतारां च प्रतीहि त्वं तां सत्यां सात्यके: सुताम् ।।११३।।
त्वया निर्वासितो यश्च श्रीषेणत्वमुपेयुषा । स खेचरेन्द्र: संसारे पर्यटीत्कपिलश्चिरम् ।।११४।।
स भूतरमणाटव्यामस्त्यैरावति विद्यते । आश्रमस्तापसा यत्र निवसन्ति कृतोटजा: ।।११५।।
अभवत्तापसस्तत्र कौशिक: कुशसंग्रही । अरुन्धती च तद्भार्या सच्चारित्रं निरुन्धती ।।११६।।
अन्योन्यासक्तयोर्नित्यं स तयोस्तनयोऽभवत् । मृगशृङ्ग इति ख्यात: समृगाजिनवल्कल: ।।११७।।

उसी श्रीदेव की प्रिया हुई ।।१०६।। अनिन्दिता का जीव जो उत्तर कुरु में आर्य हुआ था वह भी मरण होने पर उसी सौधर्म स्वर्ग के विमलप्रभ विमान में देव हुआ ।।१०७।। सत्यभामा भी जो उत्तर कुरु में आर्या हुयी थी सुप्रभा नामकी सुन्दर देवी होकर अपने पति उसी अमितप्रभ देव का अनुनय करने लगी ।।१०८।। अमितप्रभ देव बहुत भारी मित्रता करता हुआ श्रीदेव के साथ रहता था मानों वह उसे दूसरा इन्द्र ही समझ रहा था ।।१०९।। वहाँ तुमने भक्ति से जिनेन्द्र देव की पूजा करते तथा देवों का सुख भोगते हुए पांच पल्य प्रमाण काल व्यतीत किया ।।११०।। पहले जो श्रीषेण राजा रत्नपुर का पालन करता था उसे ही तुम स्वर्ग से च्युत होकर यहां उत्पन्न हुआ अमिततेज जानो ।।१११।। वह सिंहनन्दा भी अपने निदान दोष से त्रिपृष्ठ की पुत्री होकर तुम्हारी इस समय की स्त्री स्वयंप्रभा हुई है ।।११२।।

यह अनिन्दिता भी तुम्हारा पुत्र श्री विजय हुयी है । तथा सुतारा को तुम सात्यकि की पुत्री सुतारा जानो ।।११३।। श्रीषेण राजा की पर्याय में तुमने जिस कपिल को निर्वासित किया था । वह विद्याधरों का राजा होकर संसार में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा ।।११४।। भूतरमण नामक अटवी में ऐरावती नदी के तट पर एक आश्रम है जिसमें तापस पर्ण शालाएं बना कर निवास करते हैं ।।११५।। उसी आश्रम में कुशों का संग्रह करने वाला एक कौशिक नामका तापस रहता था समीचीन चारित्र को रोकने वाली अरुन्धती उसकी स्त्री थी ।।११६।। निरन्तर परस्पर आसक्त रहने वाले उन दोनों के वह कपिल का जीव मृगशृङ्ग नामसे प्रसिद्ध पुत्र हुआ । यह मृगशृङ्ग मृग चर्म तथा वल्कलों को धारण करता था ।।११७।। जो बाल अवस्था में ही जटाधारी हो गया था तथा साफ

---

१ स्वमरणे २ सत्यभापापि ३ असण्डमैत्रीम् ४ पञ्चपल्यपर्मनां ५ भुञ्जान: सनु ६ इदानींभवा इदानीतनीं ।

चकार च तपो बालं बाल एव जटाधरः । [1]विधूतैः कल्पितं मुञ्जैर्बिभ्राणो मेखलागुणम् ॥११८॥
चिरेण तापसो मृत्वा विद्याधरनिदानतः । प्रजन्यशनिघोषोऽयं स धीमान्कपिलः कृती ॥११९॥
अनेनाशनिघोषेण सुतारेयमतो हृता । सत्यभामाहितान्यूनप्रीतिवासितचेतसा ॥१२०॥
इत्यतीतभवांस्तेषामुदीर्य विरते जिने । संसारावासनिर्वेदात्सुरेयोऽग्रहीत्तपः ॥१२१॥
स्वयंप्रभापि तत्पादौ नत्वा दीक्षां समाददे । उद्वेष्टयापि दुरुद्वेष्ट्यां[2] स्वपुत्रस्नेहपाशिकाम् ॥१२२॥
प्रणम्य विजयं भक्त्या श्रावकव्रतभूषितौ । खेचरक्ष्माचरेन्द्रौ तौ धाम स्वं प्रतिजग्मतुः ॥१२३॥
शृण्वन्धर्मकथाः श्रव्याः कुर्वञ्जैनं महामहम् । खेचरेन्द्रोऽनयत्कालं भूपश्च स्वहितोद्यतः ॥१२४॥
अन्यदा पोदनेशोऽथ सोपवासो जिनालये । प्रद्राक्षीच्चारणौ प्राप्तौ देवामरगुरू यती ॥१२५॥
[3]निर्वर्तितयथाचाराबासीनौ स प्रणम्य तौ । स्वपित्र्यं भवमप्राक्षीदतीतं पृथिवीपतिः ॥१२६॥
ततो देवगुरुर्ज्यायानिति प्राह मुनिस्तयोः । तस्यालिकतटन्यस्तहस्ताम्भोजस्य भूभुजः ॥१२७॥
श्रुतं तीर्थकृत पूर्वं श्रेयसः सविधे मया । [4]आद्यिकेशववृत्तान्तं कथाप्रस्तावमागतम् ॥१२८॥

किये हुए मूंजों से निर्मित कटिसूत्र को धारण करता था ऐसा वह मृगशृङ्ग बालतप-अज्ञानतप करता था ॥११८॥ वह तापस, जो बुद्धिमान्, तथा कार्य कुशल कपिल था चिर काल बाद मर कर 'मैं विद्याधर होऊं' इस निदान के कारण यह अशनिघोष हुआ है ॥११९॥ इस अशनिघोष ने सुतारा को इसलिये हरा था कि इसका चित्त सत्यभामा में लगी हुई बहुत भारी प्रीति से संस्कारित है ॥१२०॥ इसप्रकार उनके पूर्वभव कह कर जब केवली जिनेन्द्र रुक गये तब संसार वास से विरक्त होने के कारण अशनिघोष ने तप ग्रहण कर लिया—मुनि दीक्षा ले ली ॥१२१॥ दुःख से खुलने योग्य अपने पुत्र के स्नेह पाश को खोल कर स्वयंप्रभा ने भी केवली जिनेन्द्र के चरणों को नमस्कार किया और पश्चात् दीक्षा ग्रहण कर ली ॥१२२॥ विजय केवली को भक्ति पूर्वक प्रणाम कर जो श्रावक के व्रत से विभूषित थे ऐसे विद्याधर राजा तथा भूमि गोचरी राजा-दोनों अपने २ स्थान पर चले गये ॥१२३॥ आत्म हित में उद्यत रहने वाला विद्याधरों का राजा और भूमिगोचरी राजा सुनाने योग्य धर्मकथाओं को सुनता तथा जिनेन्द्र भगवान् की महामह–पूजा करता हुआ समय व्यतीत करने लगा ॥१२४॥

अथानन्तर किसी समय पोदनपुर का राजा उपवास का नियम लेकर जिन मन्दिर में विद्यमान था। वहां उसने आये हुए देवगुरु और अमर गुरु नामक दो चारण ऋद्धि धारी मुनि देखे ॥१२५॥ देव वन्दनादि की विधि पूरी कर चुकने के बाद बैठे हुए उन मुनियों को राजा ने प्रणाम कर अपने पिता के पूर्व भव पूछे ॥१२६॥

तदनन्तर उन दोनों मुनियों में ज्येष्ठ मुनि देव गुरु, ललाट तट पर हस्त कमलों को स्थापित करने वाले राजा से इस प्रकार कहने लगे। भावार्थ—मुनि राज कह रहे थे और राजा अञ्जलि को ललाट पर रख कर सुन रहा था ॥१२७॥ मैंने श्रेयान्सनाथ तीर्थंकर के पास पहले कथा प्रसङ्ग से आया हुआ प्रथम नारायण का वृत्तान्त सुना था ॥१२८॥ इस भरत क्षेत्र में भरत नाम का पूर्ण

---

१ शोधितैः २ दुःखेन उद्वेष्टनीया ३ सपादितनमस्कारादिव्यवहारौ ४ प्रथमनारायणवृत्तान्तम् ।

समभूच्चक्रवर्ती भरतो नाम भारते । यस्मिन्विस्मयनीयश्रीः स चाद्यश्चक्रवर्तिनाम् ॥१२९॥
योऽभूत्तस्य सुतो नाम्ना मरीचिरिति विश्रुतः । पर्यटीत्स चिरं कालं संसारे सारवर्जिते ॥१३०॥
मगधेषु ¹जनान्तेषु पुरे राजगृहाभिधे । विश्वभूतेर्जयिन्याः स विश्वनन्दी सुतोऽभवत् ॥१३१॥
विशाखभूतावनुजे महाराज्यं महात्मनि । मुमुक्षुर्यौवराज्यं च स तस्मिंस्तनये न्यधात् ॥१३२॥
भेजे श्रीधरनामस्य दीक्षां जैनेश्वरीं पराम् । कृत्वा कर्मक्षयं प्रापत्स शान्तं पदमव्ययम् ॥१३३॥
ततो विशाखभूतेश्च लक्ष्मणाख्यायाः सुतोऽजनि । ज्यायान्विशाखनन्दीति प्रथया ख्यातिमीयिवान् ॥१३४॥
वनं सर्वर्तुसम्पन्नं दृष्ट्वा श्रीविश्वनन्दिनः । पितरं प्रार्थयामास जनयित्रीमुखेन तत् ॥१३५॥
प्राग्ज्योतिषेश्वरं हन्तुं स प्रस्थाप्य ²युवेश्वरम् । ततोऽदित स्वपुत्राय तद्वनं कल्पितावनम्³ ॥१३६॥
यथादेशं समाप्याथ तत्कृत्यं विश्वनन्दिना । विनिवृत्तं ततस्तेन तरसा विश्वनन्दिना ॥१३७॥
वनापहरणक्रोधात्तेनासेवि⁴ न भूपतिः । शिलास्तम्भः कपित्थश्च ⁵लाक्ष्मणेयोऽप्यभाजि सः ॥१३८॥
विशाखनन्दिनं भीतमहत्वा तं दयार्द्रधीः । पितृव्येण समं दीक्षां स ⁶संभूतान्तिकेऽग्रहीत् ॥१३९॥

चक्रवर्ती था । जो आश्चर्य कारक लक्ष्मी से सहित था तथा चक्रवर्तियों में पहला चक्रवर्ती था ॥१२९॥ उनका जो मरीचि इस नाम से प्रसिद्ध पुत्र था वह असार संसार में चिरकाल तक भ्रमण करता रहा ॥१३०॥ पश्चात् मगध देश के राजगृह नगर में राजा विश्वभूति की स्त्री जयिनी के वह विश्वनन्दी नामका पुत्र हुआ ॥१३१॥ मोक्ष प्राप्त करने के इच्छुक राजा विश्वभूति ने अपना विशाल राज्य महान् आत्मा विशाखभूति नामक छोटे भाई पर रक्खा और युवराज पद अपने पुत्र के लिये दिया ॥१३२॥ पश्चात् श्रीधर मुनिको नमस्कार कर जिन दीक्षा धारण की और समस्त कर्मों का क्षय कर अविनाशी शान्तपद–मोक्ष प्राप्त किया ॥१३३॥

तदनन्तर विशाखभूति की स्त्री लक्ष्मणा के ज्येष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ जो विशाख नन्दी इस नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ ॥३४॥ श्री विश्वनन्दी के सब ऋतुओं से संपन्न वन को देख कर उसने माता के द्वारा पिता से प्रार्थना करायी कि वह वन मुझे दिला दिया जाय ॥१३५॥ पिता ने प्राग्ज्योतिष नगर के राजा को मारने के लिये युवराज को बाहर भेज दिया । पश्चात् वह संरक्षित वन अपने पुत्र के लिये दे दिया ॥१३६॥ इधर सब को आनन्दित करने वाला विश्वनन्दी जब राजा की आज्ञानुसार कार्य समाप्त कर वेग से लौटा तब उसने वनाप हरण के क्रोध से राजा की सेवा नहीं की तथा शिला का स्तम्भ कपित्थ का वृक्ष और लक्ष्मणा के पुत्र विशाख नन्दी को भग्न किया । भावार्थ—दूतों के द्वारा विश्व नन्दी को वनाप हरण का समाचार पहले ही मिल गया था इसलिये जब वह वापिस आया तब राजा से नहीं मिला । सीधा वन में गया और विशाखनन्दी को मारने के लिये तत्पर हुआ । विशाख नन्दी भागकर एक पाषाण के खम्भे के पीछे छिपा परन्तु विश्वनन्दी ने वह खम्भा तोड़ डाला वहां से भाग कर विशाख नन्दी एक कैथा के वृक्ष पर जा चढ़ा परन्तु विश्व नन्दी ने उसे भी उखाड़ दिया ॥१३७–१३८॥ पश्चात् दया से जिसकी बुद्धि आर्द्र थी ऐसे विश्व नन्दी ने भयभीत विशाख

---

१ देशेषु २ युवराजम् ३ कृतरक्षणाम् ४ न सेवितः ५ लक्ष्मणाया अपत्यं पुमान् लाक्ष्मणेयः विशाखनन्दी ६ संभूतनामकमुनिराजसमीपे ।

मागधः स चिरं तप्त्वा सम्यक्त्वालंकृतं तपः । [1]विधिनापघनं[2] त्यक्त्वा महाशुक्रे सुरोऽभवत् ॥१४०॥
काले मासमुपोष्यैष विशन्तं मथुरां पुरीम् । तं मध्याह्नदुहा [3]गृष्टिर्घटोध्नी[4] प्राहरत्पथि ॥१४१॥
तस्याः शृङ्गप्रहारेण पतितं विश्वनन्दिनम् । अहासील्लक्ष्मणा[5]सूनुर्वेश्यासौधतले स्थितः ॥१४२॥
प्रहासात्तस्य [6]सोत्सेकाच्चुक्रुधे मुनिना भृशम् । तेनाकारि निदानं च प्रायस्तद्घातलिप्सया ॥१४३॥
स निवृत्य ततो गत्वा हित्वा [7]तनुतरां तनुम् । महर्द्धिर्विबुधो जज्ञे महाशुक्रे तप फलात् ॥१४४॥
पारेतमसमस्त्यत्र विविक्तस्तापसाश्रमः । आसीत्तु तापसस्तत्र [8]यायजूको महाजटः ॥१४५॥
विशाखनन्द्यपि भ्रान्त्वा संसृतौ सुचिरं सुतः । सुजटो नाम तस्याभूत्तन्माता च जयाभिधा ॥१४६॥
स पञ्चाग्नितपस्तप्त्वा जज्ञे स्वर्गे सुरो महान् । ततश्च्युत्वा [9]हयग्रीवो बभूव खचरेश्वरः ॥१४७॥
मागधोऽपि दिवश्च्युत्वा स जातो विजयो [10]हली । विश्वनन्दी त्रिपृष्टाख्यः समभूदादिकेशवः[11] ॥१४८॥
[12]त्रैपृष्टं प्राग्भवं व्यक्तमुक्त्वेति विरते मुनौ । प्राशंसत्सकला संसन्मुदिता तपसः फलम् ॥१४९॥

नन्दी को मारा नही किन्तु काका विशाख भूति के साथ संभूत नामक मुनिराज के समीप दीक्षा ग्रहण कर ली ॥१३९॥

मगध देश का राजा विशाखभूति चिर काल तक सम्यक्त्व से सुशोभित तप को तप कर तथा विधि पूर्वक शरीर को छोड़ कर महा शुक्र स्वर्ग में देव हुआ ॥१४०॥ इधर विश्व नन्दी मुनिराज एक मास का उपवास कर आहार के समय जब मथुरा नगरी में प्रवेश कर रहे थे तब मध्याह्न के समय दुही जाने वाली घट के समान स्थूल थन से युक्त एक प्रसूता गाय ने मार्ग में उन पर प्रहार कर दिया ॥१४१॥ उसके सींगों के प्रहार से विश्व नन्दी मुनि गिर पड़े । उसी समय वेश्या के मकान की छत पर विशाख नन्दी बैठा था उसने उन गिरे हुए विश्व नन्दी मुनि की हँसी की ॥१४२॥ उसकी गर्व पूर्ण हँसी से मुनि को अत्यधिक क्रोध आ गया और उन्होंने उसे मारने की इच्छा से निदान कर लिया ॥१४३॥ पश्चात् मथुरा से लौट कर उन्होंने अत्यंत कृश शरीर को संन्यास विधिसे छोड़ा और तप के फल से वे महाशुक्र स्वर्ग में महान् ऋद्धियों को धारण करने वाले देव हुए ॥१४४॥

इधर तमसा नदी के उस पार तापसियों का एक पवित्र आश्रम था । उसमें निरन्तर यज्ञ करने वाला महाजट नामका एक तापस रहता था ॥१४५॥ विशाख नन्दी भी चिर काल तक ससार में भ्रमण कर उस तापस के सुजट नामका पुत्र हुआ । सुजट की माता का नाम जया था ॥१४६॥ वह सुजट पञ्चाग्नि तप तप कर स्वर्ग में बड़ा देव हुआ । पश्चात् वहां से चय कर अश्वग्रीव नामका विद्याधर राजा हुआ ॥१४७॥ विशाखभूति भी स्वर्ग से चय कर विजय नामका बलभद्र हुआ और विश्वनन्दो त्रिपृष्ठ नामका पहला नारायण हुआ ॥१४८॥ इस प्रकार स्पष्ट रूप से त्रिपृष्ठ के पूर्व भव

---

१ संन्यासविधिना २ देहम् ३ सकृत्प्रसूता गौ ४ घटवत्स्थूलस्तनयुक्ता ५ विशाखनन्दी ६ गर्वात् ७ अतिकृशाम् ८ पुन:पुनरतिशयेन वा यजनशील: ९ अश्वग्रीव: एतन्नामधेय: प्रतिनारायण: १० बलभद्र: ११ प्रथमनारायण: १२ त्रिपृष्टस्येद त्रैपृष्टम् ।

इति धर्मकथाभिस्तौ चिरं स्थित्वा महामुनी । तिरोऽभूतां नृपेन्द्रोऽपि न्यविक्षत नृपालयम् ॥१५०॥
खेचरक्ष्माचरावीशौ पुरे तौ रथनूपुरे । [1]समीयिवांसौ ग्रीष्मर्तौ बाह्योद्याने विजह्रतुः ॥१५१॥
ऐक्षिषातां मुनी तत्र [2]पिण्डीद्रुमतले स्थितौ । [3]मत्यन्तं विपुलं नाम बिभ्राणौ विमलं च तौ ॥१५२॥
पिञ्जरीकृत्य तत्पादावादौ मुकुटरश्मिभिः । स्वहस्तावचितैः पुष्पैः पश्चादानर्चतुश्च तौ ॥१५३॥
अपृच्छतामथायुः स्वं तौ भव्यौ तन्मुनिद्वयम् । वार्धक्याद्विषयासक्तिं शिथिलीकृत्य पार्थिवौ ॥१५४॥
षट्त्रिंशद्दिनान्यायुर्विद्यते भवतोस्ततः । कुरुतं स्वहितं शीघ्रं यती तावित्यवोचताम् ॥१५५॥
ज्ञात्वाभिनन्दनात्कृत्यमा[4]सिषातामुदङ्मुखम्[5] । [6]प्रायोपवेशनं वीरौ हृदि कृत्वा जिनं च तौ ॥१५६॥
ततोऽधित निजं राज्यं खेचरेन्द्रः सुतेजसि । सूनौ श्रीदत्तनाम्नि स्वे श्रियं श्रीविजयोऽप्यसौ ॥१५७॥
विशुद्धात्मा निराकाङ्क्षस्तस्थौ खेचरनायकः । आचकाङ्क्षाप्रबुद्धात्मा क्षितीशः पैतृकं पदम् ॥१५८॥
इति प्रायोपवेशेन तनुं हित्वा यथागमम् । आनताख्यं ततः कल्पं तेनाप्यमिततेजसा ॥१५९॥
नन्द्यावर्ते विमानेऽथ नान्दीनादाभिनन्दिते । आदित्यचूल इत्यासीद्बालादित्यप्रभः सुरः ॥१६०॥

कह कर जब मुनि विरत हुए तब समस्त सभा हर्ष विभोर होकर तप के फल की प्रशंसा करने लगी ॥१४९॥ इस तरह वे महामुनि–देवगुरु और अमरगुरु धर्मकथाएं करते हुए वहा चिरकाल तक ठहर कर अन्तर्हित हो गये और राजा भी अपने राज महल में रहने लगा ॥१५०॥

एक बार विद्याधर राजा तथा भूमिगोचरी राजा–दोनों ही रथनूपुर में मिले । वहां वे ग्रीष्म ऋतु के समय बाह्य उद्यान में घूम रहे थे ॥१५१॥ वहां उन्होंने अशोक वृक्ष के नीचे स्थित विपुल-मति और विमलमति नामको धारण करने वाले दो मुनि देखे ॥१५२॥ उन्होंने पहले मुकुट की किरणों से उनके चरणों को पीला किया पश्चात् अपने हाथ से तोडे हुए पुष्पों से उनकी पूजा की ॥१५३॥ तदनन्तर उन दोनों भव्य राजाओं ने वृद्धावस्था के कारण विषयासक्ति को शिथिल कर मुनि–युगल से अपनी आयु पूछी ॥१५४॥ आप दोनों की आयु छत्तीस दिन की है इसलिये शीघ्र ही अपना हित करो, ऐसा उन मुनियों ने उनसे कहा ॥१५५॥ वे दोनों वीर अभिनन्दन नामक आचार्य से करने योग्य कार्य को ज्ञात कर हृदय में संन्यास तथा जिनेन्द्र भगवान् को धारण कर उत्तरमुख बैठ गये ॥१५६॥ विद्याधर राजा–अमिततेज ने अपना राज्य सुतेजस् नामक अपने पुत्र को सौंपा था और श्रीविजय ने भी अपनी लक्ष्मी श्रीदत्त नामक अपने पुत्र को प्रदान की थी ॥१५७॥ विशुद्ध आत्मा वाला विद्याधर राजा तो सब प्रकार की आकांक्षाओं को छोड़कर बैठा था परन्तु अप्रबुद्ध आत्मा वाला पृथिवीपति– श्रीविजय पिता के पद की आकांक्षा करता रहा ॥१५८॥

तदनन्तर आगमानुसार सन्यास के द्वारा शरीर छोड़कर अमिततेज ने आनत नामका स्वर्ग प्राप्त किया ॥१५९॥ वहां वह माङ्गलिक शब्दों से प्रशंसित नन्द्यावर्त विमान में प्रातः काल के सूर्य के समान आभा वाला आदित्यचूल नामका देव हुआ ॥१६०॥ और राजा श्रीविजय उसी आनत

---

१ मिलितौ २ अशोकवृक्षतले ३ विपुलमतिः, विमलमतिः, ४ उपविष्टौ बभूवतुः ५ उत्तरदिशाभिमुखं यथास्यात्तथा ६ प्रायोपगमनसंन्यासं ।

विमाने स्वस्तिकावर्ते तत्रैवाभूत्स भूपतिः । मणिचूलाख्यया देवः स्फुरच्चूडामणिद्युतिः ॥१६१॥
पुण्यात्स्वं तत्र संजातं श्रावकाचारसंचितात् । प्रादुर्भूतावधी सद्यस्तावद[1]गमतां सुरौ ॥१६२॥
ततोऽभ्यर्च्य जिनं भक्त्या दिव्यैर्गन्धादिभिः पुरा । तत्र तावामरीं[2] भूतिमक्षतां निरविक्षताम् ॥१६३॥
कालः प्रायात्तयोस्तस्मिन्विंशत्य[3]ब्ध्युपमः सुखात् । बिभ्रतोर्ललितं देहमम्लाननवयौवनम् ॥१६४॥
तस्मादादित्यचूलोऽहं स्वर्गादेत्यापराजितः । राज्ञः प्रभाकरीशस्य समभूवं सुतोत्तमः ॥१६५॥
मणिचूलं तमात्मेति प्रतीहि खचरेश्वरम् । तस्यैवानन्तवीर्याख्यो मत्पितुस्तनयोऽभवः ॥१६६॥
दमितारिं निहत्याजौ[4] निदानात्केशवोऽभवः । मृत्वा रत्नप्रभायां त्वं सीमन्तावर्तकं गतः ॥१६७॥
निरीक्ष्य [5]निर्विशन्तं त्वां [6]नारकीं [7]घोरवेदनाम् । विबोध्य ग्राहयामास सम्यक्त्वं धरणः पिता ॥१६८॥
[8]समाः सप्तसहस्राणि [9]षड्गुणान्युपवाह्य ताः । प्रच्योतीर्नारकादार्तो सम्यक्त्वप्रभवात्ततः ॥१६९॥
द्वीपेऽस्मिन् भारते वास्ये विद्यते राजताचलः । तस्यास्त्यथोत्तरश्रेण्यां पुरं गगनवल्लभम् ॥१७०॥
नभश्चराधिपस्त्राता तस्याभून्मेघवाहनः । परया संपदा येन विजितो नरवाहनः ॥१७१॥
आसीत्तस्य महादेवी प्रेयसी मेघमालिनी । [10]श्वभ्रात्प्रभ्रश्य पुत्रोऽभून्मेघनादस्तयोर्भवान् ॥१७२॥

कल्प के स्वस्तिकावर्त विमान में देदीप्यमान चूडामणि की कान्ति से युक्त मणिचूल नामका देव हुआ ॥१६१॥ जिन्हें शीघ्र ही अवधिज्ञान प्रकट हो गया था ऐसे उन देवों ने जान लिया कि हम श्रावकाचार से संचित पुण्य से वहां उत्पन्न हुए है ॥१६२॥ तदनन्तर वहां उन्होंने सर्व प्रथम भक्ति पूर्वक दिव्य गन्ध आदि के द्वारा जिनेन्द्र भगवान् की पूजा की । पश्चात् देवों की अविनाशी विभूति का उपभोग किया ॥१६३॥ जिसका नवीन यौवन कभी म्लान नहीं होता ऐसे सुन्दर शरीर को धारण करने वाले उन देवों का वहां बीस सागर प्रमाण काल सुख से व्यतीत हो गया ॥१६४॥ मैं आदित्य चूल उस स्वर्ग से आकर प्रभाकरी नगरी के स्वामी राजा के अपराजित नामका उत्तम पुत्र हुआ था ॥१६५॥ मणिचूल को तुम 'यह मै ही हूँ' ऐसा विद्याधर राजा समझो । तुम मेरे उसी पिता के अनन्त वीर्य नामक पुत्र हुए थे ॥१६६॥ युद्ध में दमितारि को मारकर निदान बन्ध के कारण तुम नारायण हुए थे । और मरकर रत्नप्रभा पृथिवी के सीमन्तक विल को प्राप्त हुए थे ॥१६७॥ वहां तुम्हें नरक की घोर वेदना भोगते देख पिता के जीव धरण ने समझा कर सम्यक्त्व ग्रहण कराया था ॥१६८॥ निरन्तर दुखी रहने वाले तुम वहा बियालीस हजार वर्ष व्यतीत कर सम्यक्त्व के कारण वहां से च्युत हुए ॥१६९॥

तदनन्तर इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में जो विजयार्ध पर्वत है उसकी उत्तर श्रेणी पर एक गगन वल्लभ नामका नगर है ॥१७०॥ जिसने उत्कृष्ट संपदा से इन्द्र को जीत लिया था ऐसा मेघ वाहन विद्याधर उस नगर का रक्षक था ॥१७१॥ उसकी मेघ मालिनी नाम की प्रिय रानी थी । आप नरक से निकलकर उन दोनों के मेघनाद नामक पुत्र हुए ॥१७२॥ तदनन्तर पिता का उत्कृष्ट

---

१ ज्ञातवन्तौ २ अमराणामियम् आमरी देवसम्बन्धिनी ताम् ३ विंशतिसागरप्रमाणः ४ युद्धे ५ भुञ्जानम्
६ नरकेभवा नारकी ताम् ७ भयंकरपीडाम् ८ वर्षाणि ९ षड्गुणितानि सप्तसहस्रवर्षाणि १० नरकात् ।

तदनन्तरं पितुः प्राप्य चक्रवर्तिपदं परम् । भासि पञ्चशतैः पुत्रैः सहितैः स्वैरिवापरैः ।।१७३।।
जन्मान्तरेष्वविच्छिन्नसत्सम्बन्धप्रबन्धतः । अन्योन्यालोकनादत्र प्रीतिरित्यावयोरभूत् ।।१७४।।
दुरन्तेष्विन्द्रियार्थेषु सक्ति मा वितथां कृथाः । वैराग्यमार्गसङ्गावभावनां भावयादरात् ।।१७५।।
दह्यमाने जगत्यस्मिन्महता मोहवह्निना । विमुक्तविषयासङ्गाः सुखायन्ते तपोधनाः ।।१७६।।
मोहान्धतमसेनान्धो मा भूस्त्वं ज्ञानदीपिकाम् । मयैव विधृतां प्राप्य दर्शिताशेषसत्पथाम् ।।१७७।।
तपसि श्रेयसि श्रीमाञ्जागरूको भवानिशम् । नोत्कृष्टोऽप्यधमस्यैति संयतस्य गतिं गृही ।।१७८।।
पुत्रज्ञातिकलत्रादिवागुरायामुदारधीः । मा पप्तः प्राप्तविद्याकश्छिन्द्यादत्र भवं भवान् ।।१७९।।
इत्यतीतभवांस्तस्य स्वस्याप्युक्त्वा यथाक्रमम् । हिते नियुज्य तं खेन्द्रमच्युतेन्द्रस्तिरोदधे ।।१८०।।
विमुच्य खेचरैश्वर्यं स तृणावज्ञया ततः । मेघनादः प्रवव्राज प्रणिपत्याभिनन्दनम् ।।१८१।।

शार्दूलविक्रीडितम्

योगस्थो विधिना जितेन्द्रियगणो [1]व्याधूततन्द्रास्थितिः
सम्यग्द्वादश भावना भवभिदः शुद्धात्मना भावयन् ।
दुर्वारान्स परीषहानिव परान्क्षान्त्योपसर्गानभात्
[2]कुण्ठीकृत्य सुकण्ठशत्रुविहितान्कण्ठस्थतत्त्वागमः ।।१८२।।

चक्रवर्ती पद पाकर तुम अन्य रूप धारी अपने ही समान हितकारी पांचसौ पुत्रों से सुशोभित हो रहे हो ।।१७३।। हम दोनों के अनेक जन्मों से अखण्ड अच्छे सम्बन्ध चले आ रहे है इसलिए परस्पर के देखने से प्रीति उत्पन्न हुई है ।।१७४।। दुःख दायक इन्द्रियों के विषयों में व्यर्थ ही आसक्ति मत करो । आदर पूर्वक वैराग्य मार्ग में लगने की भावना करो ।।१७५।। बहुत भारी मोह रूपी अग्नि के द्वारा जलते हुए इस जगत् में विषयासक्ति को छोड़ने वाले तपस्वी—मुनि ही सुखी हैं ।।१७६।। अपने द्वारा धारण की हुई, समस्त सन्मार्ग को दिखाने वाली ज्ञानदीपिका को प्राप्त कर तुम मोहरूपी गाढ़ अन्धकार से अन्धे मत होओ ।।१७७।। लक्ष्मी से युक्त होने पर भी तुम निरन्तर कल्याणकारी तप में जागरूक–सावधान रहो अर्थात् उत्तम तप धारण करने की निरन्तर भावना रक्खो । गृहस्थ उत्कृष्ट होने पर भी साधारण मुनि की गति को प्राप्त नहीं हो सकता ।।१७८।। उत्कृष्ट बुद्धि तथा विद्या से युक्त होकर भी तुम पुत्र जाति तथा स्त्री आदि के जाल में मत पड़ो । यहां तुम संसार को छेद सकते हो ।।१७९।। इसप्रकार यथाक्रम से उसके और साथ में अपने भी पूर्वभव कह कर तथा उस विद्याधर राजा को हित में लगाकर अच्युतेन्द्र तिरोहित हो गया ।।१८०।। तदनन्तर मेघनाद ने तृण के समान अनादर से विद्याधरों का ऐश्वर्य छोड़कर तथा अभिनन्दन गुरु को प्रणाम कर दीक्षा धारण करली ।।१८१।।

जो ध्यान में स्थित थे, जिन्होंने विधिपूर्वक इन्द्रियों के समूह को जीत लिया था, आलस्य की स्थिति को दूर कर दिया था, जो शुद्ध आत्मा से संसार का भेदन करने वाली बारह भावनाओं का

---

१ दूरीकृतप्रमादस्थितिः २ नष्टीकृत्य ।

शुद्धात्मा गिरिनन्दने शिखरिणि [1]स्वाराधिताराधनः
त्यक्त्वा स्वं वपुरच्युतां दिवमथ प्राप्य प्रतीन्द्रोऽभवत् ।
सत्संपत् स परोपकारिचरितं वीक्ष्याच्युतेन्द्रं यथा
भूयः सौख्यमियाय तत्र न तथा दिव्याङ्गनानाटकम् ।।१८३।।

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे खेचरेन्द्रस्य मेघनादस्या-
च्युतप्रतीन्द्रसंभवो नामाष्टमः सर्गः

चिन्तवन करते थे, जो कठिनाई से निवारण करने योग्य परिषहों के समान सुन्दर कण्ठ के शत्रु द्वारा किए हुए भारी उपसर्गों को क्षमा के द्वारा कुण्ठित करके स्थित थे तथा जिन्होंने समीचीन आगम को कण्ठस्थ किया था ऐसे वे मेघनाद मुनि सुशोभित हो रहे थे ।।१८२।। जिनकी आत्मा शुद्ध थी और जिन्होंने गिरिनन्दन पर्वत पर अच्छी तरह आराधनाओं का आराधन किया था। ऐसे वे मेघनाद मुनि अपना शरीर छोड़कर अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुए। समीचीन संपत्ति से सहित वह प्रतीन्द्र वहां परोपकारी अच्युतेन्द्र को देख कर जिसप्रकार अत्यधिक सुख को प्राप्त हुआ था उस प्रकार देवाङ्गनाओं का नाटक देखकर नहीं हुआ था ।।१८३।।

इस प्रकार महाकवि असग द्वारा विरचित शान्तिपुराण में विद्याधरराजा मेघनाद का अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र होने का वर्णन करने वाला अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ।।८।।

---

१ शोभनप्रकारेण आराधिता आराधना येन सः ।

卐

अथ जम्बूद्रुमाङ्कोऽस्ति द्वीपो यद्वज्रवेदिकाम् । प्रियामिव समाश्लिष्य राजते लवणोदधिः ।।१।।
तत्र पूर्वविदेहेषु सीतादक्षिणरोधसि । देशो नाम्नास्ति पर्याप्तमङ्गलो मङ्गलावती ।।२।।
असंजातमदा भद्रा भूरिभोगाः सकर्णकाः । मनुजा यत्र भास्वन्तो बिभ्रते सकलाः कलाः ।।३।।
आदिमध्यावसानेषु विभिन्नरसवृत्तिषु । यत्रेक्षुष्वेव दौर्जन्यं लक्ष्यते भङ्गुरात्मसु ।।४।।
अन्योन्यस्पर्द्धयेवोच्चैर्यस्मिन्सन्तश्च पादपाः । उन्नमन्ति फलाभावे नमन्ति फलसंचये ।।५।।

नवम सर्ग

अथानन्तर जम्बु वृक्ष से युक्त जम्बूद्वीप है जिसकी वज्रमय वेदिका को प्रिया के समान आलिङ्गित लवण समुद्र सुशोभित हो रहा है ।।१।। उस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिणतट पर मङ्गलों से परिपूर्ण मङ्गलावती नामका देश है ।।२।। जहां पर गर्व से रहित, भद्र परिणामी, बहुत भारी भोगों से सहित, सावधान मनुष्य सुशोभित होते हुए समस्त कलाओं को धारण करते हैं ।।३।। जहां यदि दुर्जनता देखी जाती थी तो आदि मध्य और अन्त में विभिन्न रस को धारण करने वाली विनाशीक ईखों में ही देखी जाती थी वहां के मनुष्यों में नहीं, क्योंकि वहां के मनुष्यों में कार्य के प्रारम्भ मध्य और अन्त में एक समान रस-स्नेह रहता था तथा सबकी प्रीति अभंगुर स्थायी रहती थी ।।४।। जिस देश में सज्जन और वृक्ष परस्पर की बहुत भारी ईर्ष्या से ही मानो फलों के अभाव में उन्नत होते हैं और फलों के संचय में नम्रीभूत होते हैं। भावार्थ—जिस प्रकार वृक्ष फल टूट जाने पर भार कम हो जाने से ऊपर उठ जाते हैं और फलों के रहते हुए उनके भार से नीचे की ओर झुक जाते हैं उसी प्रकार सज्जन कार्य के समाप्त होने पर ऊपर उठ जाते हैं और कार्यों का संचय रहते नम्रीभूत रहते हैं। अथवा जिस प्रकार फल रहित वृक्ष ऊंचे होते हैं उसी प्रकार गुण रहित मनुष्य अहंकार करते हुए अपने आप को उच्च अनुभव करते हैं और गुणवान् मनुष्य विनय से नम्रीभूत रहते हैं ।।५।। जहां पर सुन्दर स्त्रियां शरद् ऋतु की रात्रियों के समान सुशोभित होती हैं। क्योंकि जिस प्रकार शरद् ऋतु की रात्रियां चारुताराम्बरोपेताः—सुन्दर नक्षत्रों

[1]चारुताराम्बरोपेताः प्रसन्नेन्दुमुखश्रियः । शरन्निशा इवाभान्ति यत्र रामा मनोरमाः ॥६॥
सरितस्तीरसंरूढलवङ्गप्रसवोत्करैः । अयत्नवासितं तोयं दधते यत्र सन्ततम् ॥७॥
[2]रोरूयन्तेऽब्ज[3]षण्डेषु हंसा यत्रोन्मविष्णवः । स्पर्द्धयेव चलल्लक्ष्म्या मञ्जुमञ्जीरसिञ्जितैः ॥८॥
अथास्ति जगति ख्यातं पुरं सद्रत्नगोपुरम् । सुरत्नसंचयावासादाख्यया रत्नसंचयम् ॥९॥
[4]तुलाकोटिसमेतासु [5]तुलाकोटिविराजिताः । चित्रपत्राभिरामासु चित्रपत्रविशेषकाः ॥१०॥
अनुरूपं विशुद्धासु वलभीषु विशुद्धयः । [6]सविभ्रमासु तिष्ठन्ति यत्र रामाः सविभ्रमाः[7] ॥११॥
(युग्मम्)

यस्मिन्सकमलानेकसरोवीचिसमीरणः । सुखाय कामिनां वाति मन्दं मन्दं समीरणः ॥१२॥
यदभ्रङ्कषसौधाग्रनीरन्ध्रध्वजविभ्रमैः । रुणद्धि सवितुर्मार्गं तीव्रातपभयादिव ॥१३॥
नित्यप्रवर्षिणः शुद्धाः कृष्णान्काले प्रवर्षुकान् । यत्रातिशेरते पौराः प्रावृषेण्यान्[8]बलाहकान् ॥१४॥

से युक्त आकाश से सहित होती हैं उसी प्रकार वहां की सुन्दर स्त्रियां भी चारुताराम्बरोपेताः—सुन्दर सूत वाले वस्त्रों से सहित थी । और जिस प्रकार शरद ऋतु की रात्रियां प्रसन्नेन्दुमुखश्रियः—मुख के समान निर्मल चन्द्रमा की शोभा से सहित होती हैं उसी प्रकार वहां की स्त्रियां भी निर्मल चन्द्रमा के समान मुख की शोभा से सहित थीं ॥६॥ जहां की नदियां तटों पर उत्पन्न लवङ्ग के फूलों के समूह से प्रयत्न के बिना सुवासित जल को निरन्तर धारण करती हैं ॥७॥ जहां कमल समूहों में बैठे हुए गर्वीले हंस चलती हुई लक्ष्मी के मनोहर नूपुरो की झनकार के साथ ईर्ष्या से ही मानों शब्द करते रहते हैं ॥८॥

तदनन्तर उस देश में जगत् प्रसिद्ध रत्नसंचय नामका वह नगर है जहां उत्तम रत्नों के गोपुर बने हुए हैं और उत्तम रत्नों का निवास होने से ही मानों उसका रत्नसंचय नाम पड़ा था ॥९॥ जहा करोड़ों उपमाओं से सहित, चित्रमय वाहनों से सुन्दर, विशुद्ध और पक्षियों के संचार से युक्त अट्टालिकाओं में उन्ही के अनुरूप नूपुरों से सुशोभित, विविध प्रकार के पत्राकार तिलको से सहित, विशुद्ध-उज्ज्वल और विभ्रम हावभावों से सहित स्त्रियां निवास करती हैं । भावार्थ—स्त्रियों और अट्टालिकाओं में शाब्दिक सादृश्य था ॥१०-११॥ जहां कमलों से सहित अनेक सरोवरों की तरङ्गों से प्रेरित वायु कामीजनों को सुख के लिये धीरे-धीरे बहती रहती है ॥१२॥ जो गगन चुम्बी महलों के अग्रभाग में सघन रूप से लगी हुई ध्वजाओं के संचार से ऐसा जान पड़ता है मानों तीव्र संताप के भय से सूर्य के मार्ग को ही रोक रहा हो ॥१३॥ जहां निरन्तर बरसने वाले—सदा दान देने वाले शुद्ध-निर्मल हृदय नगर वासी, निश्चित समय पर बरसने वाले वर्षा ऋतु के काले मेघों को जीतते रहते हैं ॥१४॥ जहां स्त्रियां शब्द विद्या—व्याकरण विद्या के समान सुशोभित होती हैं । क्योंकि जिस

---

१ सुन्दरसूत्रवस्त्रसहिता रामाः, शोभननक्षत्रयुक्तगगन सहिताः शरन्निशाः २ पुनः पुनः शब्दंकुर्वन्ति ३ कमल समूहेषु ४ उपमानकोटिसहितासु पीठिकायुक्तासु वा ५ नूपुरविशोभिताः ६ वीनां पक्षिणांभ्रमेण सहिताः सविभ्रमास्तासु ७ हावभावविलाससहिताः ८ मेघान् ।

यत्र [1]चारुपदन्यासाः [2]प्रसन्नतरवृत्तयः । शब्दविद्या इवाभान्ति रामाः [3]सद्रूपसिद्धयः ॥१५॥
प्रासादशेषनिर्मुक्तनिर्मोकशकला इव । चञ्चला यत्र दृश्यन्ते प्रतिवीथि शरद्घनाः ॥१६॥
राजा तत्पुरमध्यास्त नाम्ना क्षेमङ्करो दयाम् । बिभ्राणः सर्वसत्त्वानां शश्वत्क्षेमङ्करोदयाम् ॥१७॥
जातमात्रस्य यस्यापि त्रिलोकी स्म स्वयं मुदा । प्रपनीपद्यते सेवां तत्प्रभुत्वं किमुच्यते ॥१८॥
मतिश्रुतावधिज्ञानत्रितयामलचक्षुषा । प्रकृतिद्वितयस्यापि ज्ञाता यः संस्थितेः समम् ॥१९॥
धनुरन्यैर्दुरारोपं निर्भयोऽपि सदाऽबिभः । यः पुण्यजननाथोऽपि सदयः सदयोऽभवत् ॥२०॥
सोऽवभासेऽन्वयमासाद्य देव्या कनकचित्रया । [4]चित्रया सकलश्चन्द्रो यथा तरलतारया ॥२१॥
अच्युतेन्द्रस्ततोऽच्योष्ट [5]द्वाविंशत्यर्णवोपमम् । स तस्मिन्नतिवाह्यायुर्यथाभिलषितैः सुखैः ॥२२॥

प्रकार व्याकरण विद्या चारुपदन्यासा—सुन्दर शब्दों वाले न्यास ग्रन्थ से सहित है अथवा सुन्दर सुबन्त तिङन्त रूप पदों के प्रयोग से सहित है उसी प्रकार स्त्रियां भी चारुपदन्यासा— सुन्दर चरण निक्षेप से सहित हैं। जिस प्रकार व्याकरण विद्या प्रसन्नतर वृत्ति—अत्यन्त निर्दोष वृत्ति ग्रन्थ से सहित है उसी प्रकार स्त्रियां भी अत्यन्त प्रसन्न वृत्ति—व्यवहार से सहित हैं और जिस प्रकार व्याकरण विद्या सद्रूप— सिद्धि—समीचीन रूप सिद्धि ग्रन्थ से सहित है उसी प्रकार स्त्रियां भी समीचीन रूप सिद्धि—सौन्दर्य साधना से सहित हैं ॥१५॥ जहां आकाश में शरद् ऋतु के चञ्चल मेघ भवन रूपी शेष नाग के द्वारा छोड़ी हुई कांचली के खण्डों के समान दिखायी देते हैं ॥१६॥

उस नगर में सब जीवों का कल्याण करने वाली दया को धारण करने वाला क्षेमंकर नामका राजा रहता था ॥१७॥ जिसके उत्पन्न होते ही तीनों लोक स्वयं हर्ष से सेवा को प्राप्त हो जाते हैं उसका प्रभुत्व क्या कहा जाय ? ॥१८॥ जो मतिश्रुत अवधि ज्ञान के त्रिक रूपी निर्मल चक्षु के द्वारा अन्तरङ्ग बहिरङ्ग-दोनों प्रकृतियों की समीचीन स्थिति का एक साथ ज्ञाता था ॥१९॥ जो निर्भय होकर भी अन्य मनुष्यों के द्वारा कठिनाई से चढ़ाये जाने योग्य धनुष को धारण करता था और ॐपुण्यजन—राक्षसों का स्वामी होकर भी ॐसदय—दया सहित तथा ॐसदय—समीचीन भाग्य से युक्त था ॥२०॥

जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा चित्रा नामक चञ्चल तारा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त कर सुशोभित होता है उसी प्रकार वह राजा कनक चित्रा नामक रानी के साथ सम्बन्ध को प्राप्त कर सुशोभित हो रहा था ॥२१॥ तदनन्तर वह अच्युतेन्द्र इच्छानुसार प्राप्त होने वाले सुखों से बाईस सागर प्रमाण आयु को व्यतीत कर वहां से च्युत हुआ ॥२२॥ जब वह अच्युतेन्द्र कनक चित्रा देवी के गर्भ में आने

---

१ शब्दविद्यापक्षे चारूणां पदानां सुबन्ततिङन्तरूपाणांन्यासो निक्षेपो यासु ताः, रामा पक्षे चारुर्मनोहरः पदन्यासः चरणनिक्षेपोयासां ताः। शब्दविद्यापक्षे न्यासपदेन न्यासग्रन्थोपि गृह्यते २ प्रसन्नतर वृत्तिर्व्याख्या विशेषो यासां ताः स्त्रीपक्षेप्रसादगुणोपेता वृत्तिर्व्यवहारोयासां ताः ३ सती विद्यमाना प्रशस्ता वा रूपसिद्धि यासु ताः पक्षे सती रूपस्यसौन्दर्यस्य सिद्धिर्यासा ताः ४ चित्रानामधेयया ५ द्वाविंशतिसागरोपमम् ।

ॐ 'यातुधानः पुण्यजनोर्नैऋतो यातुरक्षसी' इत्यमाः ॐदयया सहितः सदयः ॐसन् अयःशुभावहोविधिर्यस्य सः ।

देव्याः कनकचित्रायाः गर्भं तस्मिन्नुपेयुषि समभावि पुरोभावैः कल्याणागमशंसिभिः ॥२३॥
यामे [1]तुर्ये [2]त्रियामायाः स्वप्नानेतानथैक्षत । सूर्याचन्द्रौ मृगेन्द्रेभौ चक्रं चातपवारणम् ॥२४॥
अथासावि तया देव्या सूनुरूर्जितविक्रमः । बिभ्राणो [3]राजहंसोऽपि [4]लक्ष्मणानुगतां तनुम् ॥२५॥
जातमात्रं तमालोक्य वज्रायुधसमश्रियम् । वज्रायुध इति प्रीतस्तस्याख्यामकरोत्पिता ॥२६॥
सर्वा बभासिरे विद्याः संक्रान्ता यस्य मानसे । सरसीव शरत्ताराः प्रसन्ने निर्मलश्रियः ॥२७॥
गुणी गुणान्तरज्ञश्च नान्योऽभूत्तत्समो यतः । उपमानोपमेयत्वं स्वस्य स्वयमगात्ततः ॥२८॥
चन्दनस्येव सौगन्ध्यं गाम्भीर्यमिव वारिधेः । सिंहस्यासीद्यथा शौर्यं यस्यौदार्यमकृत्रिमम् ॥२९॥
त्रिलोकीमखिलां यस्य [5]व्यानशे युगपद्यशः । एकमप्येतदाश्चर्यं शरच्चन्द्रांशुनिर्मलम् ॥३०॥
[6]अमदः [7]प्रमदोपेतः [8]सुनयो [9]विनयान्वितः। [10]सूक्ष्मदृष्टिर्विशालाक्षो[11] यो विभाति स्म सस्मितः ।३१।

के लिए उद्यत हुआ तब कल्याणकारी आगमन को सूचित करने वाले उत्सव पहले से ही होने लगे ॥२३॥ तदनन्तर रानी ने रात्रि के चतुर्थ पहर मे सूर्य, चन्द्रमा, सिंह, हाथी, चक्र और छत्र ये स्वप्न देखे ॥२४॥ पश्चात् रानी ने शोभायमान पराक्रम से युक्त वह पुत्र उत्पन्न किया जो राजहंस—लाल चोंच तथा लाल पञ्जों वाला हंस होकर भी लक्ष्मणानुगतां—सारस की स्त्रियों से अनुगत शरीर को धारण कर रहा था। (परिहार पक्ष में श्रेष्ठ राजा होकर भी लक्ष्मणा-अनुगतां—सामुद्रिक शास्त्र मे निरूपित अच्छे लक्षणो से युक्त शरीर को धारण कर रहा था।) ॥२५॥ उत्पन्न होते ही उसे इन्द्र के समान शोभा अथवा लक्ष्मी से युक्त देख पिता ने प्रसन्न होकर उसका वज्रायुध नाम रक्खा था ॥२६॥ जिस प्रकार स्वच्छ सरोवर मे प्रतिबिम्बित शरद् ऋतु के निर्मल तारे सुशोभित होते है उसी प्रकार जिस पुत्र के मनरूपी मान सरोवर में प्रतिबिम्बित—अवतीर्ण समस्त निर्मल विद्याएं सुशोभित हो रही थीं ॥२७॥ जिस कारण उसके समान गुणी और गुणों के अन्तर को जानने वाला दूसरा नहीं था उस कारण वह स्वय ही अपने आपके उपमानोपमेय भाव को प्राप्त था ॥२८॥ जिस प्रकार चन्दन की सुगन्धता, समुद्र की गम्भीरता और सिंह की शूरता अकृत्रिम होती है उसी प्रकार जिसकी उदारता अकृत्रिम थी ॥२९॥ शरद ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल जिसका यश एक (पक्ष में अद्वितीय) होकर भी एक साथ समस्त तीनों लोकों में व्याप्त हो गया था यह आश्चर्य की बात है ॥३०॥ मन्द मुसक्यान से महित जो पुत्र अमद—गर्व से रहित होकर भी प्रमद—बहुत भारी गर्व से सहित था (परिहार पक्ष में हर्ष से सहित था) जो सुनय—अच्छे नय से युक्त होकर भी विनयान्वित-नयके अभाव से महित था (परिहार पक्ष में विनय गुण से सहित था) और सूक्ष्म दृष्टि—सूक्ष्म नेत्रों से सहित होकर भी विशालाक्ष—बडे बड़े नेत्रों से सहित था (परिहार पक्ष में गहराई से पदार्थ को देखने वाला होकर भी बड़े बडे नेत्रों से सहित था) ॥३१॥ जो अध्ययन

---

१ चतुर्थे २ रात्रेः ३ राजहंसोऽपि सन् श्रेष्ठनृपोऽपि सन् ४ लक्ष्मणया सारसस्य स्त्रिया अनुगता ताम् पक्षे लक्ष्मणा लक्षणैः अनुगता ताम् ५ व्याप ६ मदरहितः ७ प्रकृष्टमदेनसहितः परिहार पक्षे प्रमदेन हर्षेण सहितः ८ शोभननययुक्तः ९ न नयान्वित इति विनयान्वितः पक्षे विनये नम्रभावेन सहितः १० सूक्ष्मलोचनः पक्षे वस्तुतत्त्वस्य गंभीर विचारकः ११ दीर्घलोचनः ।

अनधीतबुधः[1] सम्यग[2]नलंकृतसुन्दरः । आसीच्च यः सतां नित्यमनाराधितवत्सलः ॥३२॥
[3]आयुधीयोऽप्य[4]निस्त्रिंशो [5]नदीनोऽप्यजल[6]स्थितिः । [7]योऽभून्मनुष्यधर्मापि [8]वसुत्यागपरायणः ॥३३॥
[9]कल्याणप्रकृतेर्यस्य सुमेरोरिव [10]सून्नतेः । आश्रित्य [11]विबुधाः सेव्यां [12]पादच्छायां विशश्रमुः ॥३४॥
चारुताऽभूषयद्यस्य वपुस्तन्नवयौवनम् । तत्सौभाग्यं तदप्युच्चैः शौचं शौचाधिकस्तुतम् ॥३५॥
स यौवराज्यमासाद्य प्रसन्नात्मा विदिद्युते । शारदः सकलश्चन्द्रो यथा लोकमनोहरः ॥३६॥
उपायत स कल्याणीं पद्मिनीं वा सलक्षणाम् । कन्यां लक्ष्मीमतीं कल्यां चारुविभ्रमरोचिताम् ॥३७॥

किये बिना ही विद्वान् था, अच्छी तरह अलंकृत न होने पर भी सुन्दर था, और आराधना-सेवा किये बिना ही सत्पुरुषों से निरन्तर स्नेह भाव रखता था ॥३२॥ जो आयुधीय—शस्त्रों द्वारा प्रहार करने वाला होकर भी अनिस्त्रिंश—खड्ग से रहित था (पक्ष में निस्त्रिंश—क्रूर नहीं था) नदीन—नदियों का स्वामी—समुद्र होकर भी अजलस्थिति—जल के सद्भाव से रहित था (पक्ष में नदीन—दीन न होकर भी अजड स्थिति—मूर्खजन की स्थिति से रहित था) और मनुष्य धर्मा—यक्ष होकर भी वसुत्याग-परायण—कुबेर का त्याग करने में तत्पर था—अपने स्वामी के त्याग करने में उद्यत था (पक्ष में मनुष्यस्वभाव से युक्त होकर भी धन का त्याग करने में तत्पर था अर्थात् दानी था) ॥३३॥ जिस प्रकार कल्याणप्रकृति—सुवर्णमय तथा सून्नति—बहुत भारी ऊंचाई से सहित सुमेरु पर्वत की सेवनीय पादच्छाया—प्रत्यन्त पर्वतों की छाया का आश्रय कर विबुध—देव विश्राम करते हैं उसी प्रकार कल्याण प्रकृति—कल्याणकारी स्वभाव से युक्त तथा सून्नति—उदारता से सहित जिस वज्रायुध के सेवनीय पादच्छाया—चरणों की छाया का आश्रय कर विबुध—विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के विद्वान् विश्राम करते थे ॥३४॥ सुन्दरता जिसके शरीर को विभूषित करती थी, नवयौवन जिसके शरीर को विभूषित करता था, सौभाग्य जिसके नवयौवन को अलकृत करता था और शौच गुण के धारकों के द्वारा स्तुत शौचगुण जिसके सौभाग्य को अत्यधिक सुशोभित करता था ॥३५॥

वह प्रसन्न हृदय वज्रायुध युवराज पद को पाकर लोकों के मन को हरण करने वाले शरद ऋतु के पूर्णचन्द्रमा के समान देदीप्यमान हो रहा था ॥३६॥ उस वज्रायुध ने कल्याण करने वाली पद्मिनी के समान लक्षणों से सहित तथा सुन्दर विभ्रम हाव भाव से सुशोभित (पद्मिनी के पक्ष में सुन्दर पक्षियों के संचार से सुशोभित लक्ष्मीमती नामकी स्वस्थ कन्या को विवाहा था ॥३७॥ जिनमें

---

१ अनधीतोऽपि अध्ययनरहितोऽपि बुधो विद्वान् २ अनलंकृतोऽपि सुन्दरः। ३ आयुधं प्रहरणं यस्य तथाभूतोऽपिसन् ४ कृपाण रहितः पक्षे अक्रूरः ५ नदीनामिनः स्वामी नदीनः सागरोऽपिसन् पक्षे न दीनो नदीनः दीनता रहितः। ६ नास्तिजलस्य स्थितिर्यस्मिन् सः पक्षे डलयोरभेदात् न जडस्थितिः मूर्खजनरीतिर्यस्य स० ७-८ मनुष्यधर्मापि यक्षोऽपि वसोः धनाधिपस्य कुबेरस्य त्यागे परायणः तत्परः यक्षो यक्षाधिपं कथं त्यजेत् इति विरोधः पक्षेमनुष्यधर्मा मनुष्य कर्तव्ययुक्तोऽपि वसोर्धनस्य त्यागे वितरणे परायणः वसुर्मयूखाग्नि धनाधिपेषु 'वसु तोये धनेमणौ' इति कोषः ९ सुमेरु पक्षे कल्याण प्रकृतेः सुवर्णमयस्य नृपति पक्षे कल्याणी प्रकृतिः यस्य तस्य १० सुमेरु पक्षे समुत्तुङ्गः नृपति पक्षे समुदारः ११ सुमेरुपक्षे देवाः नृपति पक्षे विद्वान्सः १२ सुमेरु पक्षे प्रत्यन्त पर्वतच्छायां नृपतिपक्षे चरणच्छायाम् ।

सदान्यूनातिरिक्तेन तावन्योन्यस्य दम्पती । प्रेम्णाजीहरतां चित्तं समसत्त्वरसस्थिती ॥३८॥
दिवश्च्युत्वा प्रतीन्द्रोऽसौ ततः पुत्रस्तयोरभूत् । सहस्रायुध इत्याख्यां दधानो दिक्षु विश्रुताम् ॥३९॥
कान्तं सप्तशतं चान्यदग्रहीद्वरयोषिताम् । हिरण्यकुप्यमर्थिभ्यः स विद्वत्प्रवरो धनम् ॥४०॥
अथागतं महाराजं राजराजोपशोभितम् । सेवितुं वा [1]मधुः काले कोकिलालापसूचितः ॥४१॥
किंशुकाः कुसुमैः कीर्णा दूरतोऽपि वनस्थलम् । कामसेनानिवेशस्य [2]धातुदूष्या इवाबभुः ॥४२॥
भृङ्गालीवेष्टिते रेजुश्चूता नूतनतोमरैः[3] । [4]तोमरैरिव [5]पुष्पेषोः कामिनां हृदयङ्गमैः ॥४३॥
कान्तान् [6]लाक्षारुचो वीक्ष्य रक्ताशोकस्य पल्लवान् । का न यातिस्म पान्थस्त्री [7]रक्ता शोकस्य धामताम् ।४४।
उत्फुल्लाम्रवनेषूच्चैर्विरेसुः[8] कोकिलाः कलम् । [9]कन्तोस्त्रिजगतां जेतुर्माङ्गल्यपटहा इव ॥४५॥
बकुलप्रसवामोदिमधुमत्तैर्मधुव्रतैः[10] । मधोरिव परा कीर्तिरस्पष्टाक्षरमुज्जगे ॥४६॥
दस्याविव वनान्तेषु जृम्भमाणे मधौ पुरः । पान्थैः [11]स्त्रीहृदयैः कैश्चिद् व्यावर्त्यार्द्धं पथागतम् ॥४७॥

समान रूप से सत्त्वरस की स्थिति थी ऐसे वे दोनों दम्पती सदा न्यूनाधिक न होने वाले प्रेम से परस्पर एक दूसरे के चित्त को हरते रहते थे ॥३८॥

तदनन्तर वह प्रतीन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर उन दोनो के दिशाओं में प्रसिद्ध सहस्रायुध नाम को धारण करने वाला पुत्र हुआ ॥३९॥ याचकों के लिए सुवर्णरजतरूप धन को देने वाले उस श्रेष्ठ विद्वान्—सहस्रायुध ने सातसौ अन्य सुन्दर स्त्रियों को ग्रहण किया ॥४०॥ तदनन्तर कोकिलाओं की मधुर कूक से जिसकी सूचना मिल रही थी ऐसी वसन्त ऋतु आ पहुंची। वह वसन्त ऋतु ऐसी जान पड़ती थी मानो राजाधिराजों से सुशोभित उन महाराज की सेवा करने के लिए ही आयी हो ॥४१॥ वन भूमि में दूर दूर तक फैले हुए फूलों से व्याप्त पलाश के वृक्ष ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों कामदेव की छावनी के गेरु से रंगे हुए तम्बू ही हों ॥४२॥ भ्रमरावली से वेष्टित आम के वृक्ष नवीन मौरों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कामी मनुष्यों के हृदय में लगने वाले कामदेव के तोमर नामक विशिष्ट शस्त्रों से ही सुशोभित हो रहे हों ॥४३॥ लाल अशोक वृक्ष के लाख के समान कान्ति वाले सुन्दर पल्लवों को देखकर अनुराग से भरी कौन पथिक स्त्री शोक के स्थान को प्राप्त नहीं हुई थी ? ॥४४॥ खिले हुए आम के वनों में कोकिलाएं जोर जोर से मनोहर शब्द कर रही थी। उनके वे मनोहर शब्द ऐसे जान पड़ते थे मानों तीनों लोकों को जीतने वाले कामदेव के मङ्गलमय नगाड़े ही बज रहे हों ॥४५॥ मौलश्री के फूलों की सुगन्धित मधु से मत्त भौंरे मानों वसन्त ऋतु की उत्कृष्ट कीर्ति को कुछ अस्पष्ट शब्दों में गा रहे थे ॥४६॥ वन भूमि में जब वसन्त चोर के समान आगे आगे घूम रहा था तब स्त्रियों के प्रेमी कितने ही पथिक अर्धमार्ग से लौट कर चले गये थे ॥४७॥ खिले हुए

---

१ वसन्तः २ गैरिकरञ्जरक्तपटगृहाणीव ३ नवीनमञ्जरीभिः ४ शस्त्रविशेषैरिव ५ कामस्य ६ रक्तवर्णान् ७ अनुरागयुक्ता ८ शब्दं चक्रुः ९ कामस्य १० भ्रमरैः ११ स्त्रीषु हृदयं येषां तैः ।

उन्निद्रकुसुमामोदवासिताशेषदिङ्मुख: । [1]पुन्नाग: कं न बाधेत [2]पुन्नागमपि रागिणम् ।।४८।।
यथाभिवृद्धिमातन्वन्वञ्जुलानामिव भूयसीम् । मधु: स्वसम्पदां क्षीबो लोकवत्स्वयमप्यभूत् ।।४९।।
मुदे कुन्दलता नासीत् पुरेव [3]मधुपायिनाम् । [4]वीतपुष्पोद्गमा वृद्धा वारनारीव कामिनाम् ।।५०।।
प्रसव: कर्णिकारस्य निर्गन्धो [5]नापि षट्पदै: । भजते नो विशेषज्ञो वर्णमात्रेण निर्गुणम् ।।५१।।
अधत्त सकलो लोक: शिरसा सवधूजन: । [6]माधवीस्रक्पदेनेव मूर्तां कीर्तिं मनोभुव: ।।५२।।
नपुंसकमपि स्वस्य [7]सागन्ध्येनैव केवलम् । व्यधित स्त्रीमयं यूनामङ्कोठसुमनो[8] मन: ।।५३।।
दोलाप्रेङ्खोलनत्रासाल्लीलाश्लेषैरतर्पयन् । तरुण्य: स्वान्सहारूढान्कान्तानुप[9]सखीजनम् ।।५४।।
कुसुमैर्मधु[10]मत्तालिनिविष्टान्तर्दलान्वितै: । वतनोद्वनराजीनां तिलक[11]स्तिलक[12]श्रियम् ।।५५।।
कौङ्कुमेनाङ्गरागेण [13]कैङ्किरातैश्च शेखरै: । निर्वृत्तमिव रागेण रेजे रक्तांशुकं जगत् ।।५६।।

फूलों की सुगन्ध से जिसने समस्त दिशाओं के अग्रभाग को सुगन्धित कर दिया है ऐसा नागकेसर का वृक्ष पुरुषों में श्रेष्ठ होने पर भी किस रागी मनुष्य को वाधित नहीं करता ? ।।।४८।। जो अशोक वृक्षों की बहुत भारी लक्ष्मी वृद्धि के समान अपनी सम्पदाओं की बहुत भारी लक्ष्मी वृद्धि कर रहा था ऐसा वसन्त साधारण मनुष्य के समान स्वयं भी उन्मत्त हो गया था ।।४९।। जिसके पुष्प—ऋतुधर्म की उत्पत्ति व्यतीत हो चुकी है ऐसी वृद्ध वेश्या, जिस प्रकार कामी मनुष्यों के आनन्द के लिए नहीं होती उसी प्रकार जिसको पुष्प—फूलों की उत्पत्ति व्यतीत हो चुकी है ऐसी कुन्दलता पहले के समान भ्रमरों के आनन्द के लिए नहीं हुई थी ।।५०।। गन्ध रहित कनेर का फूल भ्रमरों के द्वारा प्राप्त नहीं किया गया था । सो ठीक ही है क्योंकि विशेष को जानने वाला व्यक्ति वर्ण मात्र से निर्गुण की सेवा नहीं करता है ।।५१।। स्त्रियों सहित समस्त पुरुष मधु कामिनी की मालाओं को सिर पर धारण कर रहे थे उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों मालाओं के छल से कामदेव की मूर्तिमन्त कीर्ति को ही धारण कर रहे थे ।।५२।। युवाओं का मन यद्यपि (व्याकरण के नियमानुसार) नपुंसक था तो भी अङ्कोट वृक्ष के पुष्प ने उसे केवल अपनी गन्ध से स्त्रीमय कर दिया था ।।५३।। हिंडोलना चलने के भय से तरुण स्त्रियों ने सखीजनों के समीप में ही साथ बैठे हुए पतियो को अपने लीलापूर्वक आलिङ्गनों से संतुष्ट किया था ।।५४।।

तिलकवृक्ष, पुष्परस से मत्त भ्रमरों से युक्त भीतरी कलिकाओं से सहित फूलों के द्वारा वन पङ्क्तिरूपी स्त्रियों के तिलक की शोभा को विस्तृत कर रहा था। भावार्थ—तिलक वृक्ष के फूलों पर जो काले काले भ्रमर बैठे थे उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानों वन पङ्क्ति रूपी स्त्रियों ने तिलक ही लगा रक्खे हों ।।५५।। कुङ्कुम–केशर से निर्मित अङ्गराग और किङ्किरात के फूलों से निर्मित सेहरों

---

१ पुन्नाग—नागकसर वृक्ष: २ श्रेष्ठपुरुषम् ३ भ्रमराणाम् ४ वीत: पुष्पाणाम् कुसुमानामुद्गमो यस्या: सा कुसुमरहिता कुन्दलता । वारनारी—वेश्यापक्षे वीत: समाप्त: पुष्पस्य आर्तवस्य उद्गम उत्पत्तिर्यस्या: सा ५ न आपि न प्राप्त: कर्मणि प्रयोग: ६ मधुकामिनीलता माला व्याजेन ७ गन्धसहितत्वेन गर्वत्वेन च ८ अङ्कोटकुसुमम् ९ सखीजनस्य समीपेऽपि १० मधुना पुष्परसेन मत्ता ये अलय: तै: निविष्टानि युक्तानि यानि अन्तर्दलानि मध्यपत्राणि तै। अन्वितै: सहितै। ११ क्षुरप्र वृक्ष: १२ स्थासकशोभाम् । १३ किङ्किरातकुसुमर्निर्मितै:

नवाम्भोरुहकिञ्जल्क पिञ्जरा भ्रमरालयः । अपि मध्येवनं तेपुः स्मरेषव इवाध्वगान् ॥५७॥
पटूभवति मन्दोऽपि नूनं कालबलान्वितः । अनङ्गोऽपि पराजिग्ये मधौ सति महात्मनः ॥५८॥
[1]लोलतारा निरीक्ष्यार्त्ति चक्रनाम्नां वियोगिनाम् । त्रियामाः[2] प्रत्यहं जग्मुः कारुण्यादिव [3]तानवम् ॥५९॥
[4]धनदाध्युषितामाशां [5]धनायन्निव भानुमान् । व्रजन्नतपते स्मालं करैस्तीव्रै रदक्षिणः[6] ॥६०॥
मधोर्माङ्गल्यविन्यस्तप्रदीपोत्करशङ्कया । नूनं न चम्पकान्यापुरुद्गन्धान्यपि षट्पदाः ॥६१॥
विभवो निर्गुणस्यापि गुणाधानाय कल्पते । [7]सुरवः पुष्पितोऽलीनां रवैः [8]कुरवकोऽप्यभूत् ॥६२॥
न्यधायि स्त्रीजनैः कर्णे [9]चूतस्य नवमञ्जरी । वेगमानाय्यपि स्मारं मधुना नवमं [10]जरी ॥६३॥
अध्यासतोपभोगाय वनान्तं वनितासखाः । कोका इव दिवाप्यार्ता युवानः कामसायकैः ॥६४॥
उद्यन्मुकुलहासेन लतायुवतयस्तदा । दधाना मधुरा रेजुः सविलासां मधुश्रियम् ॥६५॥

से सहित लाल वस्त्र को धारण करने वाला यह जगत् ऐसा जान पड़ता था मानों राग से ही रचा गया हो ॥५६॥ नवीन कमलों की केशर से पीली पीली दिखने वाली भ्रमर पङ्क्तियां वन के मध्य भाग में भी काम के वाणों के समान पथिकों को संतप्त कर रही थी ॥५७॥ यह निश्चित है कि काल के बल से सहित मन्द व्यक्ति भी समर्थ हो जाता है इसीलिये तो काम ने शरीर रहित होकर भी वसन्त के रहते हुए महात्माओं को पराजित कर दिया था ॥५८॥ चञ्चल नक्षत्रों (पक्ष मे आंख की चञ्चल पुतलियों) से सहित रात्रियां, विरही चकवों की पीड़ा देखकर दया से ही मानों प्रतिदिन कृशता को प्राप्त हो रही थीं ॥५९॥ जिस प्रकार धन को इच्छा करने वाला अदक्षिण–अनुदार राजा धनदाध्युषितां—धन देने वाले पुरुषों में अधिष्ठित दिशा की ओर जाता हुआ उसे बहुत तीक्ष्ण करों–टेक्सों से संतप्त करता है उसी प्रकार धन की इच्छा करते हुए के समान अदक्षिण–उत्तरायण का सूर्य धनदाध्युषितां–कुबेर से अधिष्ठित उत्तर दिशा की ओर जाता हुआ तीक्ष्ण करों–किरणों से सतप्त कर रहा था ॥६०॥

भ्रमर उत्कट गन्ध से युक्त होने पर भी चम्पा के फूलों के पास नहीं जा रहे थे उससे ऐसा जान पड़ता था मानों वे मधु–वसन्त के मङ्गलाचरण के लिये रखे हुए दीप समूह की शङ्का से ही नही जा रहे थे ॥६१॥ वैभव, निर्गुण मनुष्य मे भी गुण धारण करने के लिये समर्थ होता है इसीलिये तो फूलों से युक्त कुरवक वृक्ष भी (पक्ष में खोटे शब्द से युक्त पुरुष भी) भ्रमरों के शब्दों से सुख–सुन्दर शब्दों से युक्त हो गया था ॥६२॥ स्त्री जनों ने कान मे आम की नवीन मञ्जरी धारण की थी और वसन्त ने वृद्ध मनुष्य को भी काम की नौवी–अवस्था–जडता को प्राप्त करा दिया ॥६३॥ दिन के समय भी काम के वाणों से दुःखी युवाजन चकवों के समान उपभोग के लिये स्त्रियो के साथ वनान्त में निवास करते थे ॥६४॥ उस समय उत्पन्न होने वाले मुकुलों–बोडियों रूपी हास से उपलक्षित लता

१ चञ्चलकनीनिका: पक्षे चञ्चलनक्षत्रा: २ रात्रय. ३ कार्श्यम् ४ धनदेन कुबेरेण–अध्युषिता–अधिष्ठिता ५ धनमिच्छन्निव ६ अनुदार: पक्षे उत्तरदिक् स्थित: ७ सुष्ठुरव: शब्दो यस्य तथाभूत: ८ कुत्सित: रवोऽस्य कुत्सित् शब्द युक्तोऽपि सुख: शोभनशब्दयुक्तोऽभूत् इति निरोध: । परिहार पक्षे कुरवक वृक्ष: ९ आम्रस्य १० वृद्धोऽपिजन: मधुना–वसन्तेनस्मारं कामसम्बन्धिनं वेगम् आनादि–प्रापित: ।

हृदयान्तर्गतं मानं कर्णोपान्ते निवेशितः । निरास्थत योषितां चित्रमचिराच्चूतपल्लवः ॥६६॥
[1]हिमांशोरस्य हिमापायात्सान्द्रीभूतैः [2]करोत्करैः । दिग्विभागैः सहानङ्गो निशासु विशदोऽभवत् ॥६७॥
किरन्नितस्ततोऽजस्रं [3]भूरिपुष्पशिलीमुखान् । लोकानाकम्पयामास [4]स्मरवद्दक्षिणो [5]मरुत् ॥६८॥
नानाविधलतापुष्पलम्पटः षट्पदः [6]पदम् । [7]नोदध्यषित नैकस्यां [8]तरलः को न तृष्णया ॥६९॥
सहसैकमपि प्रापत्प्रेम स्त्रीपुंसयोस्तदा । नवतां वर्धते सर्वो नूनं कालबलात्कृशः ॥७०॥
जृम्भमाणे मधावेवं रन्तुमन्तःपुरान्वितः । युवराजोऽन्यदाऽयासीत्स देवरमणं[9] वनम् ॥७१॥
स यथाभिमतं तस्मिन्निर्विवेश मधुश्रियम् । कोपप्रसादलीलाभिर्बाध्यमानोऽव[10]रोधनैः ॥७२॥
तस्मिन्नुत्तपमानेऽथ [11]तपनेऽनोकहादधः[12] । तृषितेवालवालाम्बु पातुं छायाप्युपाययौ ॥७३॥
स्त्रीणां कपोलमूलेषु [13]प्रोद्यत्स्वेदलवोत्कराः । ह्रेपयन्तिस्म तत्काले सिन्दुवारस्य मञ्जरीम् ॥७४॥

रूपी मनोहर युवतियां ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों विलास सहित (पक्ष में पक्षियों के संचार से युक्त) वसन्त की लक्ष्मी को ही धारण कर रही हों ॥६५॥ कानों के पास धारण किये हुए आम के पल्लव ने स्त्रियों के हृदय के भीतर स्थित मान को शीघ्र ही निकाल दिया था यह आश्चर्य की बात थी ॥६६॥ हिम–कुहरे के नष्ट हो जाने से सान्द्रता–सघनता को प्राप्त होने वालीं चन्द्र किरणों के समूह से रात्रियों में काम भी दिशाओं के विभाग के साथ साथ विशद–उज्ज्वल अथवा अत्यंत प्रकट हो गया था ॥६७॥ इधर उधर बहुत भारी पुष्प और भ्रमरों को (काम के पक्ष में पुष्प रूपी बाणों को) चलाता है दक्षिण मरुत्–दक्षिण दिशा से आने वाला मलय समीर कामदेव के समान लोगों को अत्यधिक कम्पित कर रहा था ॥६८॥ नाना प्रकार की लताओं के फूलों का लोभी भ्रमर किसी एक लता पर पैर नहीं रखता था अथवा अपना स्थान नहीं जमाता था सो ठीक ही है क्योंकि तृष्णा से कौन चञ्चल नहीं होता ? ॥६९॥ उस समय स्त्री पुरुषों का प्रेम एक होने पर भी नवीनता को प्राप्त हो गया था सो ठीक ही था क्योंकि समय के बल से सभी कृश पदार्थ निश्चित् ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥७०॥

इसप्रकार वसन्त ऋतु के विस्तृत होने पर किसी समय युवराज अन्तःपुर सहित क्रीडा करने के लिये देवरमण वन को गया ॥७१॥ स्त्रियों द्वारा क्रोध और प्रसाद की लीलाओं से बाधित किये गये युवराज ने उस वन में इच्छानुसार वसन्त की लक्ष्मी का उपभोग किया ॥७२॥ तदनन्तर उस वन में जब सूर्य ऊपर तप रहा था तब छाया भी वृक्षों के नीचे आ गयी थी और उससे वह ऐसी जान पड़ती थी मानों पिपासा से युक्त होकर क्यारी का पानी पीने के लिये ही वृक्षों के नीचे पहुच गयी हो ॥७३॥ उस समय स्त्रियों के गालों के मूल भाग में उठते हुए स्वेद कणों के समूह सिन्दुवार की मञ्जरी को लज्जित कर रहे थे ॥७४॥ जिस प्रकार सुन्दर अग्रभाग से युक्त सूंडो वाली हस्तिनियां

---

१ हिमांशोः चन्द्रमसः २ किरणसमूहैः ३ अत्यधिककुसुम बाणान् ४ दक्षिणदिशातः समागतः ५ पवनः ६ पदं स्थानं चरणं च ७ लतायाम् ८ चञ्चलः ९ एतन्नामधेयम् १० अन्तःपुरस्त्रीभिः ११ सूर्ये १२ वृक्षात्—अनसः शकटस्य अकं गतिं घ्नन्तीति अनोकहः वृक्षः तस्मात् १३ समुत्पद्यमानस्वेदकणसमूहाः ।

[1]चारुपुष्करहस्ताभिर्वशा[2]भिरिव दिग्गजः। निन्येऽथ दीर्घिकां ताभिः कान्ताभिः स महोदयः ।।७५।।
अन्तःपुरस्य विशतः प्रतिबिम्बपदात्प्रभुम्। तं वा प्रत्युद्ययुः प्रीत्या दीर्घिकाजलदेवताः ।।७६।।
चारुलावण्ययुक्ताङ्गैः कान्ततीरावरोधनैः। तदैवान्वर्थनामासीद्दीर्घिका [3]प्रियदर्शना ।।७७।।
विशतः स्त्रीजनस्योच्चैर्नितम्बैः प्रेरितं तदा। अमादिव मुदा स्वान्तर्ववृधे जलमप्यलम् ।।७८।।
कान्त्या कान्तिः सरोजानां सौरभेण च सौरभम्। वदनैः पर्यभावीति स्त्रीणां भृङ्गैरिवोच्चकैः ।।७९।।
तासामन्तःस्फुरद्भूरिरत्नाभरणरोचिषा। आसीदन्तःप्रदीप्तं वा तदम्भोऽप्यङ्ग[4]जाग्निना ।।८०।।
प्रबोध्यस्तोऽपि कान्ताभिर्वारियुद्धोव्याकुलीकृतः। भजते हि जलक्रीडां स्त्रीजितः सुमहानपि ।।८१।।
अन्योऽन्यसेकविक्षिप्तवारिसीकरदुर्दिनैः। मिहिकापिहितेवासीत्समन्तादपि दीर्घिका ।।८२।।
इत्थमाक्रीडमानं तं सार्द्धं तत्रावरोधनैः। विद्युद्दंष्ट्रो ददर्शारिर्दिविजो[5] व्योमनि व्रजन् ।।८३।।
चुक्रुधे तरसा तेन ज्ञात्वा तद्वैरकारणम्। अनिमित्तेन[6] न स्यातां कोपप्रीती हि देहिनाम् ।।८४।।

दिग्गज को किसी आयताकार जलाशय के पास ले जाती हैं उसी प्रकार सुन्दर कमलों को हाथ में धारण करने वाली स्त्रियां उस युवराज को आयताकार जलाशय के समीप ले गयी थीं ।।७५।। भीतर प्रवेश करने वाली स्त्रियों के प्रतिबिम्ब के बहाने आयताकार जलाशय के जल देवता उस युवराज की मानों प्रीति पूर्वक अगवानी ही कर रही थी ।।७६।।

प्रियदर्शना नाम वाली वह दीर्घिका सुन्दर लावण्य युक्त शरीरों से सहित सुन्दर तीर पर स्थित स्त्रियों के द्वारा ही मानों उस समय सार्थक नाम वाली हो गयी थी ।।७७।। उस समय प्रवेश करने वाली स्त्रियों के उन्नत नितम्बों से प्रेरित हुआ जल भी हर्ष से अपने भीतर न समाता हुआ ही मानों अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त हो रहा था ।।७८।। स्त्रियों की कान्ति से कमलों की कान्ति, सुगन्ध से सुगन्ध और मुखों से कमल स्वय पराभव को प्राप्त हो चुके है ऐसा भ्रमर मानों जोर जोर से कह रहे थे ।।७९।।

उन स्त्रियों के चमकते हुए रत्नमय बहुत भारी आभूषणों की कान्ति से भीतर देदीप्यमान होने वाला वह जल भी ऐसा हो गया था मानों कामाग्नि से ही भीतर ही भीतर प्रदीप्त हो गया हो ।।८०।। स्त्रियों के द्वारा फाग से व्याकुल किया गया युवराज भी फाग खेलने लगा सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियों के द्वारा जीता गया महान् पुरुष भी जल क्रिया (पक्ष में जड़–अज्ञानी जन की क्रिया) को प्राप्त होता है ।।८१।। परस्पर के सेचन से फैले हुए जल कणों की घनघोर वर्षा से वह दीर्घिका भी चारों ओर से ऐसी हो गयी थी मानों कुहरा से ही आच्छादित हो गयी हो ।।८२।। इस प्रकार अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ क्रीडा करते हुए युवराज को आकाश में जाने वाले विद्युद्दंष्ट्र नामक शत्रु देव ने देखा ।।८३।। उसके वैर का कारण जान कर वह देव शीघ्र ही क्रुद्ध हो गया सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियों का क्रोध और प्रेम कारण के बिना नहीं होते है ।।८४।। बहुत भारी क्रोध से भरे

---

१ शुण्डाग्रभाग: पक्षे कमलं–चारुपुष्करो हस्तः शुण्डा यासां ताभिः हस्तिनीभिः कान्ता पक्षे चारुपुष्करौ सुन्दरकमलसहितौ हस्तौ पाणी यासां ताभिः २ हस्तिनीभिः ३ प्रिय दर्शनं यस्याः सा पक्षे एतन्नामधेया ४ कामाग्निना ५ देवः ६ निमित्तं विना ।

प्राग्बन्धं भुजयोः कृत्वा नागपाशेन तत्क्षणात् । दीर्घिकामपि शैलेन दीर्घकोपः [1]न्यधत्त सः ॥८५॥
स्वभुजाकुञ्चनेनैव पाशं [2]भौजङ्गमं तदा । युवराजः स चिच्छेद मृणालावज्ञया ततः ॥८६॥
निरास्थत गरीयांसं युवा वामबाहुना । दीर्घिकामुखतः शैलं शोकमप्यङ्गनाजनात् ॥८७॥
[3]भविष्यतश्चक्रिणस्तस्य धैर्यं वीर्यं च वीक्ष्य सः । देवोऽप्य[4]दुद्रुवद्भीत्या सपुण्यः केन लङ्घ्यते ॥८८॥
यावत्स दीर्घिकामध्यान्न निःक्रामति सत्वरम् । तावद्देवाक्रमीत्तस्य त्रिलोकीमखिलां यशः ॥८९॥
भोगिवेष्टनमार्गेण भुजावस्य विरेजतुः । विटपौ चन्दनस्येव जगत्तापहारिणः ॥९०॥
वामः पाणिरयं चास्य यथार्थः प्रतिभात्यलम् । महीध्रोल्लासनायास्य वक्रितप्राङ्गुलीनखः ॥९१॥
देवोऽप्यस्य प्रतिद्वन्द्वी न स्थातुमशकत्पुरः । गर्जतो [5]मृगराजस्य [6]गजपोत इव [7]त्रसन् ॥९२॥
विवेशेति पुरं पौरैः कीर्त्यमानं सकौतुकैः । अनादृत्य परस्येव स्वस्य शृण्वन् स पौरुषम् ॥९३॥
निर्गत्य सदसो दूरं वीक्ष्यमाणः स भूमिपैः । वारयन्बन्दिनां घोषं प्राविशद्राजमन्दिरम् ॥९४॥

हुए उस देवने उसी क्षण पहले तो नागपाश के द्वारा युवराज की भुजाओं का बन्धन किया पश्चात् एक शिला से उस दीर्घिका को आच्छादित कर दिया ॥८५॥ तदनन्तर युवराज ने उस नागपाश को अपनी भुजाओं की अंगड़ाई के द्वारा ही मृणाल के समान अनादर पूर्वक तत्काल तोड़ डाला ॥८६॥ और बायीं भुजा के द्वारा दीर्घिका के मुख से बड़ी भारी शिला को तथा स्त्रीजनों से शोक को एक साथ दूर कर दिया ॥८७॥ भावी चक्रवर्ती के धैर्य और शौर्य को देख कर वह देव भी भय से भाग गया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यवान् मनुष्य किसके द्वारा लांघा जाता है—अनादृत होता है ? अर्थात् किसी के द्वारा नहीं ॥८८॥

वह युवराज जब तक दीर्घिका के मध्य से नहीं निकला तब तक शीघ्र ही उसका यश तीनों लोकों में व्याप्त हो गया ॥८९॥ जिस प्रकार जगत् के संताप को हरने वाले चन्दन वृक्ष की दो शाखाएं सांपों के लिपटने के मार्ग से सुशोभित होती हैं उसी प्रकार जगत् के कष्ट को हरने वाले युवराज की दोनों भुजाएं नागपाश के लिपटने के मार्ग से सुशोभित हो रही थीं ॥९०॥ पर्वत की शिला को उठाने के लिये जिसकी श्रेष्ठ अंगुली का नख कुछ कुछ टेढ़ा हो गया था ऐसा युवराज का वाम हाथ सार्थक होता हुआ अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥९१॥ जिस प्रकार भयभीत हाथी का बच्चा गर्जते हुए सिंह के सामने खड़े होने के लिये समर्थ नहीं होता उसी प्रकार वह विरोधी देव भी युवराज के सामने खड़े होने के लिये समर्थ नहीं हो सका ॥९२॥

इस प्रकार कौतुक से युक्त नागरिक जनों के द्वारा कहे जाने वाले अपने पौरुष को दूसरे के पौरुष के समान अनादर से सुनते हुए युवराज ने नगर में प्रवेश किया ॥९३॥ सभा से बहुत दूर निकल कर राजा लोग जिसे देख रहे थे ऐसे युवराज ने बन्दीजनों की विरुदावली को रोक कर राजभवन में प्रवेश किया ॥९४॥ वहां सिंहासन पर विराजमान, तीनों जगत् के गुरु—तीर्थंकर पद धारक पिता को

---

१ आच्छादयामास २ भुजङ्गमानामयंभौजङ्ग स्तं नागपाश मित्यर्थः ३ भविष्यतः ४ पलायाञ्चक्रे ५ सिंहस्य ६ हस्तिबालक इव ७ भयभीतो भवन् ।

सिंहासनस्थमानम्य गुरुं त्रिजगतां गुरुम्। तत्प्रेमगर्भया दृष्टया मुहुर्दृष्टः स निर्ववौ[1] ॥९५॥
तदान्योन्यस्य वदतां [2]भूभृतां वदनात्प्रभुः। तस्यावदान[3]माकर्ण्य मुदा [4]स्मेराननोऽभवत् ॥९६॥
किञ्चित्कालमिव स्थित्वा तत्र पित्रा विसर्जितः। युवेशः स्वगृहं गत्वा स यथेष्टमचेष्टत ॥९७॥
अथान्यदा महाराजो नत्वा लौकान्तिकामरैः। बोध्यते स्म प्रबुद्धोऽपि तपसे स्वनियोगतः ॥९८॥
पित्रा मुमुक्षुणा दत्तं दध्रे वज्रायुधस्तदा। भास्वरं मुकुटं मूर्ध्नि शिक्षावाक्यं च चेतसा ॥९९॥
स [5]निःक्रमणकल्याणमनुभूयेन्द्रवृन्दतः। प्राव्राजीत्तत्पुरोद्याने नत्वा सिद्धानुदङ्मुखः[6] ॥१००॥
अथ सिंहासने पैत्र्ये स्थित्वा वज्रायुधो बभौ। प्रकृतिप्रकृतालोको लोकपालवदीक्षितः ॥१०१॥
नमतां मुकुटालोकैर्निचिता[7]स्तत्सभाभुवः। विद्युद्विद्योतिताम्भोदलीलां दधुरिव क्षणम् ॥१०२॥
स्वयुक्तकारितां राजा प्रथयन्विनयान्विते। स सहस्रायुधे सूनौ यौवराज्यमयोजयत् ॥१०३॥
मिथो विरोधिनी बिभ्रदपि प्रशमतेजसी। स चित्रमकरोद्धात्री[8]मविरुद्धक्रियाफलाम् ॥१०४॥

नमस्कार कर उनको प्रेमपूर्ण दृष्टि के द्वारा बार बार देखा गया युवराज अत्यधिक प्रसन्न हो रहा था ॥९५॥ उस समय परस्पर कहने वाले राजाओं के मुख से युवराज के पराक्रम को सुन कर प्रभु—तीर्थंकर परम देव हर्ष से मुसक्याने लगे ॥९६॥ वहां कुछ समय तक ठहर कर पिता से विदा को प्राप्त हुआ युवराज अपने घर जाकर इच्छानुसार चेष्टा करने लगा ॥९७॥

अथनन्तर क्षेमंकर महाराज यद्यपि स्वयं प्रबुद्ध थे तथापि लौकान्तिक देवों ने अपना नियोग पूरा करने के लिये उन्हें नमस्कार कर तप के लिये संबोधित किया ॥९८॥ उस समय युवराज वज्रायुध ने मोक्षाभिलाषी पिता के द्वारा दिये हुए देदीप्यमान मुकुट को मस्तक पर और शिक्षा वाक्य को हृदय में धारण किया ॥९९॥ क्षेमंकर प्रभु इन्द्र समूह के द्वारा किये हुए दीक्षा कल्याणक का अनुभव कर उसी नगर के उद्यान में उत्तरमुख विराजमान हो तथा सिद्धों को नमस्कार कर दीक्षित हो गये ॥१००॥

तदनन्तर जो स्वभाव से ही प्रकाश को करने वाला था अथवा मन्त्री आदि प्रजा के लोग जिसका जयघोष कर रहे थे और जो लोकपाल के समान दिखाई देता था ऐसा वज्रायुध पिता के सिंहासन पर स्थित होकर अत्यधिक सुशोभित हो रहा था ॥१०१॥ नमस्कार करने वाले राजाओं के मुकुट सम्बन्धी प्रकाश से व्याप्त उसकी सभाभूमियां क्षण भर के लिये ऐसी जान पड़ती थीं मानों बिजली से प्रकाशित मेघ की ही लीला को धारण कर रही हों ॥१०२॥ अपनी युक्तकारिता को—मैं विचार कर योग्य कार्य करता हूं इस बात को विस्तृत करते हुए राजा वज्रायुध ने अपने पुत्र सहस्रायुध पर युवराज पद की योजना की थी। भावार्थ–वज्रायुधने अपने पुत्र सहस्रायुध को युवराज बना दिया ॥१०३॥ परस्पर विरोधी प्रशम और पराक्रम को धारण करते हुए भी उसने पृथिवी को अविरुद्ध—विरोध रहित क्रिया के फल से युक्त किया था, यह आश्चर्य की बात थी ॥१०४॥

---

१ संतुष्टोऽभूत् २ राज्ञाम् ३ पराक्रमम् ४ मन्दस्मितयुक्त मुखः ५ दीक्षाकल्याणम् ६ उत्तरमुखः ७ व्याप्ताः ८ पृथिवीम् ।

नप्ता वज्रायुधस्यासीत्सहस्रायुधसंभवः । बिभ्रत्कनकशान्त्याख्यामिति प्रशमसंयुतः ॥१०५॥
अथान्यदा सभास्थानीं वदान्यजनसंकुलाम् । कश्चिद्विवदिषु[1]र्विद्वान्निवेद्य स्वं समासदत् ॥१०६॥
अन्तः [2]स्तब्धोऽपि मानेन प्राणंसीत्स महीपतिम् । तस्यातिभास्करं धाम राज्ञः सोढुमपारयन् ॥१०७॥
अप्राकृता[3]कृतेस्तस्य निरदिक्षदथासनम् । वज्रायुधः स्वहस्तेन [4]वपुष्मान्कैर्न पूज्यते ॥१०८॥
कथाप्रसङ्गतः प्राप्य प्रस्तावमथ भूपतेः । स च संस्कारिणीं वाणीमिति वक्तुं प्रचक्रमे ॥१०९॥
राजन् जिज्ञासुरात्मानममेयात्मानमागमम् । भूतं भव्यं भवन्तं च विद्वान्सं त्वामहं विभुम् ॥११०॥
कैश्चिदात्मा [5]निरात्मेति प्रत्यपादि महात्मभिः । तत्सत्तानुग्रहासक्तप्रमाणविनिवृत्तितः ॥१११॥
तथा ह्यध्यक्षमात्मानं वीक्षितुं न क्षमं विभो । परोक्षात्मेक्षणे तस्याप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गतः ॥११२॥
नानुमापि तमात्मानमवगन्तुं प्रभुः प्रभो । [6]लिङ्गलिङ्ग्यविनाभावसंगत्यङ्गप्रसङ्गिनी ॥११३॥
सत्प्रत्यागमसद्भावनिरस्तान्वयसत्यतः । तत्स्वभावप्रबोधाय धीमतां नागमः क्षमः ॥११४॥

सहस्रायुध से उत्पन्न हुआ वज्रायुध का एक पोता था जो कनकशान्ति इस नाम को धारण करता था और प्रशमगुण से सहित था ॥१०५॥

तदनन्तर विवाद करने की इच्छा रखने वाला कोई एक विद्वान् किसी समय अपने आप की सूचना देकर उदार मनुष्यों से परिपूर्ण वज्रायुध की राजसभा में आया ॥१०६॥ मान के कारण भीतर कठोर होने पर भी उसने राजा को प्रणाम किया। उससे वह ऐसा जान पड़ता था मानों राजा के अतिशय शोभायमान तेज को सहन करने के लिये वह समर्थ नही हो रहा था ॥१०७॥ असाधारण आकृति को धारण करने वाले उस विद्वान् को राजा वज्रायुध ने अपने हाथ से आसन का निर्देश किया सो ठीक ही है क्योंकि विशिष्ट शरीर को धारण करने वाला मनुष्य किसके द्वारा नहीं पूजा जाता ? ॥१०८॥ तदनन्तर कथा के प्रसङ्ग से राजा का प्रस्ताव प्राप्त कर वह इस प्रकार की संस्कार पूर्ण वाणी को कहने के लिये उद्यत हुआ ॥१०९॥

हे राजन् ! अपरिमित स्वरूपयुक्त भूत भावी और वर्तमान आत्मा को जानने की इच्छा रखता हुआ मैं आप जैसे सामर्थ्य शाली विद्वान के पास आया हूं ॥११०॥ आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने में संलग्न प्रमाणों का अभाव होने से आत्मा निरात्म रूप है—अभाव रूप है ऐसा कितने ही महात्माओं ने प्रतिपादन किया है ॥१११॥ हे विभो ! यह स्पष्ट ही है कि प्रत्यक्ष प्रमाण आत्मा को देखने के लिये समर्थ नहीं है क्योंकि परोक्ष आत्मा के देखने में उसको अप्रत्यक्षता का प्रसङ्ग आता है ॥११२॥ हे प्रभो ! लिङ्ग और लिङ्गी—साधन और साध्य के अविनाभाव रूप कारण से उत्पन्न होने वाला अनुमान प्रमाण भी आत्मा को जानने के लिये समर्थ नही है ॥११३॥ विरुद्ध आगम के सद्भाव से अन्वय की सत्यता निरस्त हो जाने के कारण बुद्धिमान् पुरुषों के लिये आगम भी आत्म स्वभाव का ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। भावार्थ—एक आगम आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है

---

१ विवादं कर्तुमिच्छुः २ गर्वयुक्तोऽपि ३ असाधारणाकृतेः ४ सुन्दरशरीरयुक्तः ५ स्वरूपरहितः। ६ साध्यसाधन ।

अन्तर्भावावशेषाणां तल्लक्षणजुषां धियाम् । तत्तद्ग्राहकतापोहे [1]मानान्तरनिराकृतिः ॥११५॥
तन्मूलः परलोकोऽपि [2]दुरालोको विवेकिनाम् । तस्मान्मुमुक्षुभिः पूर्वमात्मासाध्यः प्रयत्नतः ॥११६॥
तस्मै जलाञ्जलिं दत्वा धीमद्भिस्त्यज्यतामतः । परलोके मतिः कामे कार्यार्थे तन्निबन्धने ॥११७॥
नैरात्म्यं प्रतिपाद्येति तस्मिन्नवसिते बुधे । अगात् सभ्यैः समं भूपो जीवास्तित्वे स संशयम् ॥११८॥
वचस्तस्यानुमन्यापि सत्यमित्युदयात्क्षणम् । संमिश्रप्रकृतेर्भूपः पर्यनोद्यं[3] चेति निराकरोत् ॥११९॥
स्वान्यप्रकाशको ह्यात्मा स्वोपात्त[4]तनुमात्रकः । [5]स्थित्युत्पत्तिविपत्त्यात्मा स्वसंवेदननिश्चितः ॥१२०॥
[6]उन्मीलिताक्षियुगलः सकलो विमलाशयः । प्रत्यक्षेणाहमद्राक्षममुमत्रेति बोधयन् ॥१२१॥
अध्यक्षयन्नहमस्म्यर्थज्ञानेनात्मानमात्मवान् । आत्मानं को निराकुर्याद्वीक्षमाणो विचक्षणः[7] ॥१२२॥

तो दूसरा आगम उसका नास्तित्व सिद्ध करता है इसलिये आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने में आगम प्रमाण की क्षमता नहीं है ॥११४॥ आत्मा के लक्षण का निरूपण करने वाले समस्त ज्ञानों का उनकी आत्मग्राहकता का निराकरण करने वाले प्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है इसलिये अन्य प्रमाणों का निराकरण स्वयं हो जाता है । भावार्थ—आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण की असमर्थता ऊपर बतायी जा चुकी है इनके अतिरिक्त जो उपमान, अर्थापत्ति तथा अभाव आदि प्रमाण हैं उनका अन्तर्भाव इन्ही प्रमाणों में हो जाता है ॥११५॥ जब आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध नहीं है तब तन्मूलक परलोक भी विवेकी जनों के लिये कठिनाई से देखने योग्य—दुःसाध्य हो जाता है । इसलिये मुमुक्षुजनों को सबसे पहले प्रयत्न पूर्वक आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करना चाहिये ॥११६॥ तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान् जनों को परलोक के लिये जलाञ्जलि देकर परलोक, तत्सम्बन्धी कामना, तथा कार्यरूप प्रयोजन से युक्त परलोक सम्बन्धी कारण में अपनी बुद्धि छोड़ देनी चाहिये । भावार्थ—आत्मा का अस्तित्व सिद्ध न होने पर परलोक का अस्तित्व स्वयं समाप्त हो जाता है और जब परलोक का अस्तित्व स्वय समाप्त हो जाता है तब उसकी प्राप्ति का लक्ष्य रखना तथा तदनुकूल साधन सामग्री की योजना में सलग्न रहना व्यर्थ है ॥११७॥ इस प्रकार नैरात्म्यवाद का प्रतिपादन कर जब वह विद्वान् चुप हो गया तब सभासदों के साथ राजा भी आत्मा के अस्तित्व में संशय को प्राप्त हो गया ॥११८॥ सम्यङ् मिथ्यात्व के उदय से राजा ने यद्यपि क्षणभर के लिये 'आपका कहना सत्य है' यह कह कर उसके वचनों की अनुमोदना की परन्तु उसके प्रश्न का इस प्रकार निराकरण किया ॥११९॥

निश्चय से आत्मा स्व पर प्रकाशक है, अपने द्वारा गृहीत शरीर प्रमाण है, उत्पाद व्यय और ध्रौव्यरूप है तथा स्वसवेदन से निश्चित है ॥१२०॥ जिसके नेत्रयुगल खुले हुए है, जो वस्तुतत्त्व को ग्रहण करने की कला से युक्त है तथा जिसका अभिप्राय निर्मल है ऐसे मैने इस जगत् मे उस आत्मा को प्रत्यक्ष देखा है—स्वयं उसका अनुभव किया है .... यह भी राजा ने कहा ॥१२१॥ 'मै आत्मद्रव्य हूं' इस प्रकार के ज्ञान से जो आत्मा का स्वानुभव प्रत्यक्ष कर रहा है ऐसे आत्मा का कौन आत्मज्ञ

---

१ अन्य प्रमाणनिराकरणम् २ दुर्दृश्यः ३ प्रश्नम् ४ स्वगृहीत शरीरप्रमाणः ५ ध्रौव्योत्पाद व्ययुक्तः ६ उद्घाटित नयनयुग्मः ७ विद्वान् ।

नाहमित्युदयन्बोधो धर्मो देहस्य युज्यते । तस्य प्रत्यक्षभावे हि तत्प्रत्यक्षत्वसंगतिः ॥१२३॥
तदप्रत्यक्षतायां वा सा तस्याप्यनुषज्यते । तद्दैर्घ्यं स्पर्शरूपादिस्वभावो वा निरङ्कुशः[1] ॥१२४॥
विषादहर्षसंत्राससुखदुःखादिवर्तनैः । वर्तमानमथात्मानमेकमीक्षामहे पृथक् ॥१२५॥
ईक्षन्ते देहिनो देहं स्वान्यप्रत्यक्षगोचरम् । अनुमानात्परात्मानमपि सर्वे परीक्षकाः ॥१२६॥
[2]व्याहृतिव्यापृती स्वस्मिन्वाक्काया[3]वाप्तजन्मनी । अभवन्त्यौ विनात्मानमुच्छ्वासादिगुणाश्च ये ॥१२७॥
दृश्यमानाः परत्रापि परात्मास्तित्वसाधनाः । [4]प्रेक्षावतां नृणां प्रेक्षाप्रत्यक्षं सानुमा मता ॥१२८॥
अध्यक्षादत एवास्ति मानान्तरमितोऽपि च । साभासाध्यक्षमानत्वसङ्कराद्भुवाशिनाम् ॥१२९॥
अध्यक्षस्यापि मानत्वमत्र पर्यनुयोगतः । तस्यात्मेतरसद्भावज्ञानभावे भवो यतः ॥१३०॥

विवेकी विद्वान् निराकरण करेगा ? अर्थात् कोई नही ॥१२२॥ 'मैं हूं' इस प्रकार उत्पन्न होने वाला ज्ञान शरीर का धर्म तो हो नहीं सकता क्योंकि ज्ञान स्वसंवेदन का विषय होने से प्रत्यक्ष है यदि उसे शरीर का धर्म माना जाय तो शरीर में भी स्वसंवेदन रूप प्रत्यक्षता होनी चाहिये जो कि है नहीं ॥१२३॥ यदि शरीर में अप्रत्यक्षता है तो उसका धर्म जो ज्ञान है उसमें भी अप्रत्यक्षता होनी चाहिये अथवा शरीर का धर्म जो लम्बाई तथा स्पर्श रूपादि है वह उस ज्ञान में भी निर्बाध रूप से होना चाहिये, जो कि नहीं है ॥१२४॥ चूं कि विषाद, हर्ष, भय, सुख, दुःख आदि वृत्तियां सब की पृथक् पृथक् होती है इसलिये हम आत्मा को पृथक् पृथक् देखते हैं । भावार्थ—जीवत्व सामान्य की अपेक्षा सब जीव एक भले ही कहे जाते है परन्तु सुख दुःख आदि का वेदन सब का पृथक् पृथक् है इसलिये सब जीव पृथक् पृथक् हैं ॥१२५॥ जो स्व और पर–दोनों के प्रत्यक्ष का विषय है ऐसे जीव के शरीर को सब देखते है परन्तु समस्त परीक्षक जन अनुमान से दूसरे की आत्मा को भी देखते हैं । भावार्थ—अपनी आत्मा का सब को स्वानुभव प्रत्यक्ष हो रहा है तथा शरीर निज और पर को प्रत्यक्ष दिख रहा है । साथ ही पर के शरीर में आत्मा है इसका ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है ॥१२६॥ अपने आप में तथा शरीर से उत्पन्न होनेवाले जो वचन और काय के व्यापार है वे आत्मा के बिना नहीं हो सकते । इसी प्रकार जो श्वासोच्छ्वास आदि गुण दूसरे के शरीर में दिखाई देते है वे भी आत्मा के बिना नहीं हो सकते अतः वे दूसरे की आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने वाले हैं । बुद्धिमान् मनुष्यों का जो यह विवेक अथवा स्वसंवेदन पूर्वक प्रत्यक्ष है वह अनुमान माना गया है ॥१२७–१२८॥ कभी कदाचित् इसी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से दूसरा अनुमान भी हो सकता है परन्तु वह शरीर धारी प्राणियों का प्रत्यक्षाभास प्रमाण कहा जाता है । तो फिर इस प्रत्यक्ष को भी प्रमाणता कैसे आवेगी ? ऐसा यदि पूछा जाय तो उसका समाधान यह है कि वह प्रत्यक्ष, आत्मा तथा अन्य पदार्थ इनके अस्तित्व का ज्ञान होने पर ही उत्पन्न हुआ है अतः प्रमाण है ॥१२९–१३०॥* (?)

---

१ निर्बाधः २ वचनकायव्यापारौ ३ वाक्कायाभ्याम् अवाप्तं जन्म याभ्यां ते ४ बुद्धिमताम् ।

---

* इन श्लोकों का शब्दार्थ स्पष्ट नहीं हो रहा है अतः पं० जिनदासजी शास्त्री की मराठी टीका के आधार पर लिखा है । सं०

[1]आक्रोष्टुः प्रणिपातेन रोषः [2]क्रुद्धस्य नश्यति । उत्पादि प्रसादोऽपि स्थितश्चात्मा त्रयात्मकः ॥१३१॥
अविच्छिन्न[3]त्रयात्मात्मा सर्वैरेव परीक्षकैः । आरम्भानुभवात्स्पष्टादामृतेरनुभूयते ॥१३२॥
तस्य त्रयात्मना छित्तेरन्यथानुपपत्तितः । भूतभव्यभवद्भाविपर्यायानन्ततागतिः ॥१३३॥
[4]उपात्तं मर्त्यपर्यायं त्यक्त्वात्मान्यमुपाश्नुते । पर्यायं परलोकोऽपि [5]ध्रौव्योदयलयस्थितिः ॥१३४॥
किं चानुभूयमानात्मसुखदुःखादिचित्रता । सदृशाध्यायसेवानामदृष्टमनुमापयेत् ॥१३५॥
[6]तद्वैचित्र्यगतिश्चापि [7]दृष्टवैचित्र्यकार्यतः । [8]अचित्रात्कारणात्कार्यं [9]चित्रं नोत्पत्तिमर्हति ॥१३६॥
उत्पत्तावद्वयात्सर्वं जगदापद्यते बलात् । न चाद्वयाज्जगद्युक्तं प्रमाणविनिवृत्तितः ॥१३७॥
विनिवृत्तिः प्रमाणानां नियतेनात्मना विना । नियमश्चात्मनो भेदादन्योन्यस्माद्विना कथम् ॥१३८॥
किं चानियमने मानं स्यादसत्यं विपर्ययात् । नो [10]मानासत्यता युक्ता लोकद्वयविलोपतः ॥१३९॥

यदि गाली देने वाला व्यक्ति नम्र हो जाता है तो जिसे गाली दी गयी थी उसका क्रोध नष्ट हो जाता है और प्रसन्नता भी उत्पन्न हो जाती है, आत्मा दोनों अवस्थाओं में रहता है इससे प्रतीत होता है कि जीवतत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन रूप है ॥१३१॥

जो निर्बाध रूप से उत्पादादि तीन रूप है ऐसा यह आत्मा सभी परीक्षकों के द्वारा प्रारम्भ से लेकर मरण पर्यन्त स्पष्ट अनुभव से अनुभूत होता है ॥१३२॥ उस आत्मा का उत्पादादि तीन की अपेक्षा जो भेद है वह अन्यथा वन नहीं सकता इसलिये भूत भविष्यत् और वर्तमान पर्यायों का अनन्तपना सिद्ध होता है ॥१३३॥ यह आत्मा ग्रहण की हुई मनुष्य पर्याय को छोड़कर अन्य पर्याय को प्राप्त होता है इसलिये परलोक भी सिद्ध होता है और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य—इन तीन की भी सिद्धि होती है ॥१३४॥ समान अध्ययन और समान सेवा करने वाले मनुष्यों के जो अपने सुख दुःख आदि की विचित्रता है वह उनके अदृष्ट—कर्मोदय का अनुमान कराती है ॥१३५॥ चूंकि कार्यों में विचित्रता देखी जाती है इसलिये उसके कारणभूत अदृष्ट की विचित्रता भी सिद्ध होती है क्योंकि समान कारण से विभिन्न कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥१३६॥ अद्वैत से यदि सपूर्ण विश्व की उत्पत्ति होती तो समस्त जगत् हठात् युगपत् होना चाहिये क्योंकि अद्वैत के अक्रमरूप होने से क्रमवर्ती जगत् की उत्पत्ति संभव नही है। फिर अद्वैत से जगत् की उत्पत्ति मानने पर प्रमाण के अभाव का प्रसङ्ग आवेगा। क्योंकि प्रमाण के मानने पर उसके विषयभूत प्रमेय को भी मानना पडेगा और उस स्थिति में प्रमाण तथा प्रमेय का द्वैत हो जायगा ॥१३७॥ आत्मतत्त्व न माना जाय तो प्रमाण का अभाव हो जायगा इसलिये आत्मतत्त्व को मानना ही श्रेयस्कर है। आत्मतत्त्व मानकर भी उसे परस्पर—दूसरी आत्मा से भिन्न न माना जाय तो उसका नियम भी कैसे सिद्ध हो सकता है? ॥१३८॥ दूसरी बात यह है कि आत्मा का नियम न मानने पर विपर्यय के कारण प्रमाण असत्य हो जायगा और प्रमाण की असत्यता मानना उचित है नहीं क्योंकि वैसा करने पर प्रमाण मे असत्यता आ

---

१ कुवचन प्रयोक्तुः २ कुपितस्य ३ अविच्छिन्नं निर्बाध यद् त्रयम् उत्पादादिक त्रितयं तत् आत्मा स्वरूपं यस्य तथाभूतः ४ गृहीतम् ५ ध्रौव्योत्पादव्ययस्थितिः ६ तस्य अदृष्टस्य वैचित्र्यं नानात्वं तस्य गतिः सिद्धिः ७ दृष्ट प्रत्यक्षीभूतं वैचित्र्यं नानात्वं यस्य, तथाभूतं यत्कार्यं तस्मात् ८ एकरूपात् ९ नानारूपं १० मानस्य प्रमाणस्य असत्यता मानासत्यता।

तद्देहमात्रता चापि तत्रैवानुभवाद्भवेत् । देहान्तरगतेस्तस्य नानात्वं चापि युक्तिमत् ॥१४०॥
एवं पुंसः सतस्तस्य परिणामानुपेयुषः[1] । स्वेतरात्मप्रकाशस्य सकृत्सर्वान्प्रकाशयेत् ॥१४१॥
कारणं न स्वभावः स्याद्युक्तमात्मान्तरं न च । अग्नेर्वा दहतो दाह्यं प्रतिबन्धस्तु कारणम् ॥१४२॥
अनुभूयमानज्ञानेन कादाचित्कत्वमात्मनः । सप्रतिबन्धस्य सनिबन्धनतागतेः ॥१४३॥
यच्चानात्मन्यनात्मीयेऽप्यात्मात्मीयावबोधनम् । तन्मूलाः सर्वदोषाः स्युः कर्मबन्धनिबन्धनाः ॥१४४॥
तत्कर्मोदयजं दुःखमामनन्त्या[2]जवंजवम् । तद्धेतुप्रतिपक्षात्मा रत्नत्रितयभावना ॥१४५॥

जायगी ॥१३९॥ वह आत्मा शरीर प्रमाण है क्योंकि उस शरीर में ही आत्मा का अनुभव होता है और चूंकि आत्मा अन्य शरीर में चली जाती है इसलिये उसका शरीर से पृथक्पना भी युक्ति पूर्ण है ॥१४०॥

इस प्रकार अनेक पर्यायों को प्राप्त करने वाला यह आत्मा निजात्मा और परात्मा को प्रकाशित करने वाला है। इन सबको प्रकाशित करना इसका स्वभाव है। जब यह स्वभाव प्रकट होता है तब एक ही साथ समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर सकता है। समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने में अन्य कोई कारण नहीं है और न कोई अन्य आत्मा की मान्यता ही युक्ति युक्त है। जिस प्रकार अग्नि जलाने के योग्य पदार्थ को जलाती है तो यह उसका स्वभाव ही है। चन्द्रकान्त आदि मणियों का प्रतिबन्ध जिस प्रकार अग्नि के दाह स्वभाव के प्रकट होने में बाधक कारण है उसीप्रकार आत्माके ज्ञान स्वभाव के प्रकट होने में ज्ञानावरणादि कर्म का उदय बाधक कारण है। बाधक कारण के हटने पर आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव से सबको प्रकाशित करने लगता है ॥१४१-१४२॥

अनुभव में आने वाले ज्ञान से आत्मा का कथचित् अनित्यपना भी सिद्ध होता है क्योंकि प्रतिक्षण अन्य अन्य घट पटादि पदार्थों का ज्ञान होता रहता है। इसी प्रकार ज्ञान की सप्रतिबन्धता—बाधक कारणों से सहित पना और सनिबन्धनता—कारणों से सहितपना भी सिद्ध होता है भावार्थ—ज्ञान के विषयभूत घट पटादि पदार्थों की अनित्यता के कारण ज्ञान में भी कथंचित् अनित्यता है और क्षायोपशमिक ज्ञान चूंकि दीवाल आदि प्रतिबन्धक कारणों का अभाव होने पर तथा प्रकाश आदि अनुकूल कारणों के होने पर प्रकट होता है इसलिये ज्ञान में कथंचित् सप्रतिबन्धता और निनिबन्धनना भी विद्यमान है। हां-केवल ज्ञान इन दोनों से रहित होता है ॥१४३॥

अनात्मा और अनात्मीय पदार्थों मे जो आत्मा और आत्मीय का ज्ञान होता है तन्मूलक ही समस्त दोष होते हैं और समस्त दोष ही कर्मबन्ध के कारण होते है। भावार्थ—ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव वाला आत्मा है और ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि आत्मीय है क्योंकि इसके साथ ही आत्मा का व्याप्य व्यापक या त्रैकालिक सम्बन्ध है इसके विपरीत नोकर्म—शरीरादि को आत्मा तथा रागादि विकारी भावों अथवा स्त्री पुत्रादि को आत्मीय मानना अज्ञान है। संसार में कर्मबन्ध के कारण भूत जितने दोष हैं उन सबका मूल कारण यह अज्ञान भाव ही है ॥१४४॥ कर्मोदय से होने वाले दुःख को संसार मानते है और संसार के कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के विपरीत सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र जिसका स्वरूप है वह रत्नत्रय की भावना है ॥१४५॥ क्रम से पूर्णता

---

१ प्राप्तवतः २ आजवंजवस्य संसारस्येदम् आजवंजवम् संसारसम्बन्धि ।

क्रमतः पूर्णतां [1]इतादात्मात्मीयावबोधनात् । [2]आजवंजवहेतूनामशेषाणामनुद्गमे ॥१४६॥
तत्तन्निबन्धनात्पूर्वबन्धानां प्रतिबन्धने । निर्बन्धात्पूर्वबन्धानां कर्मणामपि निर्जरे ॥१४७॥
शुद्धात्मनः स्वभावोत्थशुद्धानन्तचतुष्टये । त्रैकाल्यानुत्कृष्टनिर्देश्यस्वभावे समवस्थितिः ॥१४८॥
तामित्याचक्षते मोक्षमव्याबाधां विचक्षणाः । स्पष्टीकृतं विशिष्टाद्यं परमं ते चतुष्टयम् ॥१४९॥
स [3]जीवास्तित्वसंशीतिमिति राजा निराकरोत् । प्रतिवाद्यपि तद्वाक्यं तथेति [4]प्रत्यपद्यत ॥१५०॥
नान्यस्त्वमिव सद्दृष्टिरितीशानो[5] यदभ्यधात् । स देवस्तत्तथेत्युक्त्वा तं प्रपूज्य दिवं ययौ ॥१५१॥
गतवत्यथ गीर्वाणे[6] तस्मिञ्जातकुतूहलैः । कोऽयं किमेतदित्युक्तः सभ्यैरित्याह भूपतिः ॥१५२॥
अयं महाबलो नाम व्योमचारी[7] महाहवे । दमितारिवधे क्रोधादभ्यघानि[8] मया पुरा ॥१५३॥
स संसृत्याथ संसारे सुरोऽभूत्सुरसंसदि । ईशानोऽद्याग्रहीन्नाम सम्यग्दृष्टिकथासु मे ॥१५४॥
अन्तः क्रुद्धोऽयमायासीत्ततश्छलयितुं स माम् । प्रवादिच्छद्मना देवः प्राग्वैरं हि सुदुस्त्यजम् ॥१५५॥
इत्युक्त्वा व्यरमद्राजा सुरागमनकारणम् । निवृत्तकारणस्तेषा[9]मनुगाम्यवधीक्षणः ॥१५६॥

को प्राप्त हुए आत्मा और आत्मीय के ज्ञान से जब संसार के समस्त कारणों—मिथ्यादर्शनादि का अभाव हो जाता है, तत् तत् कारणों से पूर्व में बँधने वाले कर्मों पर प्रतिबन्ध लग जाता है अर्थात् उनका संवर हो जाता है और पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा हो जाती है तब बन्ध रहित अवस्था होने से सहज शुद्ध अनन्त चतुष्टय रूप त्रैकालिक सर्वश्रेष्ठ स्वभाव में शुद्धात्मा की जो सम्यक् प्रकार से स्थिति होती है ज्ञानीजन उस निर्बाध स्थिति को मोक्ष कहते हैं इस प्रकार तेरे लिये जीव तत्त्व के सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि चतुष्टय का स्पष्ट कथन किया है ।।१४६–१४९।। इस प्रकार उस राजा ने जीव के अस्तित्व विषयक संशय का निराकरण कर दिया और प्रतिवादी ने भी उसके वचनों को 'तथेति'-ऐसा ही है यह कह कर स्वीकृत कर लिया ।।१५०।। 'आपके समान दूसरा सम्यग्दृष्टि नहीं है' ऐसा जो ईशानेन्द्र ने कहा था वह वैसा ही है' यह कह कर उस देव ने राजा की पूजा की पश्चात् वह स्वर्ग चला गया ।।१५१।।

तदनन्तर उस देव के चले जाने पर जिन्हें कौतूहल उत्पन्न हुआ था ऐसे सभासदों ने कहा कि यह कौन है ? यह सब क्या है ? इसके उत्तर में राजा ने कहा कि यह महाबल नामका विद्याधर उस महायुद्ध में जिसमें कि दमितारि का वध हुआ था क्रोधवश मेरे द्वारा पहले मारा गया था ।।१५२–१५३।। वह संसार में भ्रमण कर देव हुआ । देवसभा में आज ईशानेन्द्र ने सम्यग्दृष्टियों की कथा चलने पर मेरा नाम लिया ।।१५४।। तदनन्तर यह देव अन्तरङ्ग में क्रुद्ध हो मुझे छलने के लिये प्रवादी के कपट से यहां आया था सो ठीक ही है क्योंकि पहले का वैर बड़ी कठिनाई से छुटता है ।।१५५।। इस प्रकार अनुगामी अवधिज्ञान रूपी नेत्र से युक्त राजा उन सभासदों के लिये देव के आने का कारण कह कर अन्य कुछ कारण न होने से चुप हो गया ।।१५६।।

---

१ इतात् प्राप्तात् २ संसारकारणानाम् ३ जीवसद्भावसंशयम् ४ स्वीचकार ५ ऐशानेन्द्रः ६ देवे ७ विद्याधरः ८ हतः ९ अनुगामी पूर्वभवात् सहागतः अवधिअवधिज्ञानमेवरेव दक्षिण नेत्रं यस्य सः ।

❀ शार्दूलविक्रीडितम् ❀

इत्थं धर्मकथोद्यतोऽपि सततं राज्यस्थितिं च क्रमात्
[1]तन्त्रा[2]वापविशारदैरधिकृतां संवर्धयन्मन्त्रिभिः ।
अन्तःस्नेहरसार्द्रया मृगदृशामालोक्यमानो दृशा
कामानप्यविरुद्धमेव स विभुर्धर्मार्थयोः शिश्रिये ।।१५७।।

द्वेष्यं राजकमप्यशेषमभवद्गूर्जस्वलं च स्वयं
[3]वत्स्यच्चक्रभियेव तस्य पदयोरत्यादरादानमत् ।
लोकाह्लादनकारितद्गुणगणैराकृष्यमाणा स्वयं
पूर्वोपार्जितपुण्यसंपदपरा किं नातनोदद्भुतम् ।।१५८।।

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे वज्रायुधसंभवो वज्रायुधप्रतिवादिविजयो नाम

❀ नवमः सर्गः ❀

इस प्रकार जो निरन्तर धर्म कथा में उद्यत होता हुआ भी स्वराष्ट्र तथा पर राष्ट्र की चिन्ता में निपुण मन्त्रियों के द्वारा अधिकृत राज्य की स्थिति को क्रम से बढ़ा रहा था तथा स्त्रियां जिसे अन्तर्गत स्नेह रूपी रस से आर्द्र दृष्टि के द्वारा देखती थीं ऐसा वह राजा धर्म तथा अर्थ से अविरुद्ध काम का भी उपभोग करता था ।।१५७।। समस्त शत्रु राजा भी जो पहले शक्ति शाली थे, आगे प्रकट होने वाले चक्र के भय से ही मानों उसके चरणों में स्वयं आदर पूर्वक नम्रीभूत हो गये थे यह ठीक ही है क्योंकि लोकों को आनन्दित करने वाले उसके गुण समूह से स्वय आकृष्ट हुई पूर्वोपार्जित पुण्य रूपी अनिर्वचनीय संपदा किस आश्चर्य को विस्तृत नहीं करती है ? ।।१५८।।

इस प्रकार असग महा कवि के द्वारा विरचित शान्तिपुराण में वज्रायुध की उत्पत्ति तथा वज्रायुध ने प्रतिवादी को जीता····इसका वर्णन करने वाला नवम सर्ग समाप्त हुआ ।।९।।

---

१ स्वराष्ट्रचिन्तनं तन्त्रः २ परराष्ट्रचिन्तनम् अवापः ३ भविष्यच्चक्ररत्नभयेनेव ।

卐

अथान्यदा महीनाथमनाथजनवत्सलम् । इति नत्वायुधाध्यक्षो नन्दो वाचाऽभ्यनन्दयत् ॥१॥
उत्पन्नमायुधागारे[1] चक्रमाक्रमितुं जगत् । भवतो विक्रमेणेव स्पर्द्धया नमितद्विषा ॥२॥
तस्मिन्निवेदयत्येवं चक्रोत्पत्ति महीभुजे । इत्थमानम्य तं [2]दिष्टया विज्ञातोऽन्यो व्यजिज्ञपत् ॥३॥
घातिकर्मक्षयोद्भूतां नमिताशेषविष्टपाम् । उपायत् विमुक्तोऽपि गुरुस्ते केवलश्रियम् ॥४॥
पातुस्त्रिजगतां तस्य निवासात्परमेष्ठिनः । अद्य [3]श्रीनिलयोद्यानमभूदन्वर्थ[4]माख्यया ॥५॥
सहस्रांशुसहस्रेण स्पर्द्धमानोऽपि तेजसा । व्यद्योतिष्ट सुखालोको लोकानां स हितोद्यतः ॥६॥

दशम सर्ग

अथानन्तर किसी समय अनाथजनों के साथ स्नेह करने वाले राजा को नमस्कार कर शस्त्रों के अध्यक्ष नन्द ने इस प्रकार के वचनों द्वारा आनन्दित किया ॥१॥ हे राजन् ! शत्रुओं को नम्रीभूत करने वाले आपके पराक्रम के साथ ईर्ष्या होने से ही मानो जगत् पर आक्रमण करने के लिये आयुधशाला में चक्र उत्पन्न हुआ है ॥२॥ जब राजा के लिये नन्द इस प्रकार चक्र की उत्पत्ति का समाचार कह रहा था तब भाग्य के द्वारा जाते हुए—भाग्यशाली किसी अन्य मनुष्य ने नमस्कार कर उससे यह निवेदन किया कि आपके पिता ने परम विरक्त होने पर भी घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाली तथा समस्त जगत् को नम्रीभूत कर देने वाली केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी का वरण किया है ॥३-४॥ तीनो जगत् के रक्षक उन परमेष्ठी के निवास से आज श्रीनिलय नामका उद्यान नामकी अपेक्षा सार्थक हो गया है । भावार्थ—चूंकि श्रीनिलय उद्यान में वे विराजमान हैं इसलिये वह उद्यान सचमुच ही श्री-लक्ष्मी का निलय-स्थान हो गया है ॥५॥ जो तेज के द्वारा हजारों सूर्यों के साथ स्पर्द्धा करते हुए भी सुख पूर्वक देखे जाते हैं तथा लोगों का हित करने में उद्यत हैं ऐसे वे केवली भगवान् अतिशय देदीप्यमान हो रहे हैं ॥६॥ लक्ष्मी के निवास के लिये जिनका शरीर नीरजीभूत-कमलरूप परिणत हो

---

१ आयुधशालायाम् २ भाग्येन ३ एतन्नामोपवनम् ४ सार्थकम् ।

अस्त्रापितनतं तस्य त्रैलोक्यमवनि प्रभोः । [1]नीरजीभूतवपुषो निवासार्थमिव श्रियः ॥७॥
[2]वासवः प्रति[3]हारोऽभूद्धनदः[4] किङ्करः प्रभोः । [5]यस्यानवद्यमैश्वर्यं [6]प्रातिहार्याष्टकान्वितम् ॥८॥
अन्तर्भूतिबहिर्भूतिविभागावस्थितां स्थितिम् । तस्य तत्समये नेशे वक्तुमप्यद्भुतश्रियः ॥९॥
इत्यावेद्य प्रियं राज्ञे व्यरंसीद्वनपालकः । आनन्दभरसंभूतबाष्पव्याकुलचक्षुषे ॥१०॥
प्रहर्षातिभराद्वोढुं भूषणानि भुवः पतिः । अशक्तो वादिशत्तस्मै [7]स्वनद्धानि विमुच्य सः ॥११॥
विभूतिर्धर्ममूलेति चक्रोत्पत्तावनुत्सुकः । प्रायात्तीर्थकृतो नन्तुं पादौ तद्भूतिकाम्यया ॥१२॥
मेने तत्पदमालोक्य स त्रैलोक्यमिवापरम् । नरामरोरगाकीर्णं [8]पर्याप्तं चक्षुषः फलम् ॥१३॥
स वीक्ष्यानन्तरं दूराद्भक्त्याभ्यर्च्य यथोक्तया । पुनरुक्तमिवार्चीत्तं प्राप्य नाथं [9]सपर्यया ॥१४॥
[10]स्तावं स्तावं [11]परीत्येशं स्वं निवेद्य स्वयंभुवम् । ववन्दे भूपतिर्भूयो भक्तिभारादिवानतः ॥१५॥
पर्युपास्य तमीशानं श्रुत्वा श्रव्यं ततश्चिरम् । अन्तस्तत्परमैश्वर्यं ध्यायन्नायात्पुरं प्रभुः ॥१६॥

गया है (पक्ष में पाप रूपी धूली से रहित हो गया है) ऐसे उन प्रभु के लिये तीनों लोक स्वयं नम्रीभूत हो गये हैं ॥७॥ जिनका निर्दोष ऐश्वर्य आठ प्रातिहार्यों से सहित है उन प्रभु का इन्द्र तो द्वारपाल हो गया है और कुबेर किङ्कर—आज्ञाकारी सेवक बन गया है ॥८॥ उस समय अद्भुत लक्ष्मी से युक्त उन भगवान् की अन्तरङ्ग सम्पत्ति और बहिरङ्ग सम्पत्ति के विभाग से स्थित जो स्थिति है उसे कहने के लिये भी मैं समर्थ नहीं हूं ॥९॥ आनन्द के भार से उत्पन्न आसुओं से जिसके नेत्र व्याकुल हो रहे थे ऐसे राजा के लिये इस प्रकार का प्रिय समाचार कह कर वन पालक चुप हो गया ॥१०॥ राजा ने उसे अपने शरीर पर स्थित आभूषण उतार कर दे दिये जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों बहुत भारी हर्ष के भार से वह उन आभूषणों को धारण करने में असमर्थ हो गया था ॥११॥

विभूति तो धर्ममूलक है इसलिये चक्र की उत्पत्ति में उसे कोई उत्सुकता उत्पन्न नहीं हुई थी। वह उनकी विभूति प्राप्त करने की इच्छा से तीर्थकर के चरणों को नमस्कार करने के लिये गया ॥१२॥ मनुष्य देव और असुरों से व्याप्त दूसरे त्रैलोक्य के समान उनके चरणों का अवलोकन कर राजा ने ऐसा मानों मैंने चक्षु का फल परिपूर्ण से प्राप्त कर लिया है ॥१३॥ तदनन्तर दूर से ही दर्शन कर उसने यथोक्त भक्ति के द्वारा उनकी पूजा की। पश्चात् उन प्रभु के पास जाकर पुनरुक्त के समान सामग्री के द्वारा पूजा की ॥१४॥ जो बहुत भारी भक्ति के भार से ही मानों नम्रीभूत हो रहा था ऐसे राजा ने बार बार स्तुति कर, प्रदक्षिणा देकर तथा अपने आपका निवेदन कर उन स्वयंभू भगवान् की वन्दना की—उन्हें नमस्कार किया ॥१५॥ इस प्रकार उन तीर्थंकर परमदेव की उपासना कर तथा श्रवण करने योग्य उपदेश को चिरकाल तक सुनकर राजा हृदय में उनके परम ऐश्वर्य का ध्यान करता हुआ नगर में वापिस आया ॥१६॥

---

१ नीरजीभूतं कमलीभूतं वपुः शरीरं यस्य तस्य २ इन्द्रः ३ द्वारपालः ४ कुबेरः ५ अवद्यरहितम्, निर्दोषमिति यावत् ६ अशोकवृक्षादिप्रातिहार्याष्टकसहितम् ७ स्वशरीरधृतानि ८ परितः समन्तात् आप्तप्राप्तम् ९ पूजया १० स्तुत्वा स्तुत्वा ११ परिक्रम्य।

**पूर्वं तमायुधाध्यक्षं कृत्वा पूर्णमनोरथम् । यथागम मथानर्च चक्रं चक्रभृतां वरः ॥१७॥
ततश्चक्रपुरःसारी स्वीकृत्य सकलां धराम् । अचिरेणैव कालेन प्राविशत्स्वपुरं पुनः ॥१८॥
[1]सम्राट् चतुर्दशभ्योऽपि रत्नेभ्यः सुखसाधनम् । स्वस्यामन्यत [2]भव्यत्वाद्रत्नत्रितयमेव सः ॥१९॥
द्वात्रिंशता सहस्रेण सेव्यमानोऽपि भूभुजाम् । अभून्नवनिधीशोऽपि चित्रं [3]निर्विषयाशयः ॥२०॥
सम्राजमेकदा कश्चिद्विद्याभृत्सदसि स्थितम् । आययौ शरणं व्योम्नः शरण्यं शरणार्थिनाम् ॥२१॥
[4]खेचरी तदनुप्राप्य काचिदित्याह चक्रिणम् । अधिमस्तकमारोप्य विधृतासिपरौ करौ ॥२२॥
[5]कृतागसममुं देव तव रक्षितुमक्षमम् । दीक्षितस्य प्रजात्रातुमप्राकृतमहीक्षितः ॥२३॥
विक्रान्तविक्रमस्यापि पुरुषस्य तवाग्रतः । युक्तं न वक्तुमात्मीयं पौरुषं किं पुनः स्त्रियाः ॥२४॥
तस्यामित्थं [6]अपागर्भं ब्रुवत्यामथ भारतीम्[7] । वृद्धोऽतिवेगतः प्रापदपरो मुद्गरोद्यतः ॥२५॥
उत्सृज्य मुद्गरं दूरादुपेत्य विहितानतिः । ब्रूते स्मेति वचो वाग्मी प्राञ्जलिः परमेश्वरम् ॥२६॥
अपाच्यामिह [8]रूप्याद्रेः श्रेण्यां शुक्लप्रभं पुरम् । विद्यते तस्य नाथोऽस्मि ख्यातो नाम्ना प्रभञ्जनः ॥२७॥**

चक्रवर्तियों में श्रेष्ठ वज्रायुध ने सबसे पहले शस्त्रों के अध्यक्ष नन्द के मनोरथ को पूर्ण किय पश्चात् शास्त्रानुसार चक्र की पूजा की ॥१७॥ तदनन्तर चक्ररत्न को आगे आगे चलाने वाल चक्रवर्ती थोड़े ही समय में समस्त पृथिवी को वश कर पुनः अपने नगर में प्रविष्ट हुआ ॥१८॥ भव्यत्व गुण के कारण वह सम्राट चौदहों रत्नों की अपेक्षा रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को ही अपने सुख का साधन मानता था ॥१९॥ यद्यपि बत्तीस हजार राजा उसकी सेवा करते थे और नौ निधियों का वह स्वामी था तो भी उसका हृदय विषयों से विरक्त रहता था ॥२०॥

एक समय शरणार्थियों को शरण देने वाले सम्राट् सभा में विराजमान थे उसी समय कोई विद्याधर आकाश से उनकी शरण में आया ॥२१॥ उसके पीछे ही एक विद्याधरी आयी और तलवार से युक्त हाथों को मस्तक पर धारण कर चक्रवर्ती से इस प्रकार कहने लगी ॥२२॥ हे देव ! आप असाधारण राजा है तथा प्रजा की रक्षा करने के लिये दीक्षित हैं—सदा तत्पर हैं अतः आपको इस अपराधी की रक्षा करना योग्य नहीं है ॥२३॥ आपके आगे पराक्रमी मनुष्य को भी अपना पौरुष कहना उचित नहीं है फिर मुझ स्त्री की तो बात ही क्या है ? ॥२४॥ तदनन्तर जब वह स्त्री लज्जा-पूर्वक इस प्रकार के वचन कह रही थी तब मुद्गर उठाये हुए एक दूसरा वृद्ध पुरुष बड़े वेग से वहां आया ॥२५॥ दूर से ही मुदगर को छोड़कर तथा समीप में आकर जिसने नमस्कार किया था, जो प्रशस्त वक्ता था और हाथ जोड़कर खड़ा हुआ था ऐसे उस वृद्धपुरुष ने सम्राट से इस प्रकार के वचन कहे ॥२६॥

इस विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में एक शुक्लप्रभ नामका नगर है मै उसका राजा हूं तथा प्रभञ्जन नाम से विख्यात हूं ॥२७॥ शुभकान्ता इस नाम से प्रसिद्ध मेरी स्त्री है । शुभकान्त

---

१ चक्रवर्ती २ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूपम् ३ विरक्ताशयः ४ विद्याधरी ५ कृतापराधम् ६ लज्जायुक्तं यथास्यात्तथा ७ वाणीम् ८ विजयार्द्धपर्वतस्य ।

शुभकान्तेति नाम्ना मे धर्मपत्नी शुभाशया । आसीत्खेचरलोकैकराजलक्ष्मीरिवापरा ॥२८॥
उदपादि ततस्तस्यां पुत्री पुत्रीयता[1] मया । इयं शान्तिमती नाम्ना धीरा [2]धीराजितस्थितिः ॥२९॥
प्रज्ञप्तिं साधयन्तीयं [3]मुनिसागरपर्वते । कामं [4]कामयमानेन पर्यभाव्यमुना बलात् ॥३०॥
अस्याः सिद्धिमगाद्विद्या धैर्येणेव विलोभिता । वीतकामः स्वरक्षार्थी तत्क्षणादयमप्यभूत् ॥३१॥
[5]जगत्प्रतीक्ष्य मालोक्य शरणं त्वां समासदत् । अतोऽनुगम्यमानोऽयमनयापि युयुत्सया[6] ॥३२॥
आवर्त्याभोगिनीं विद्यां विज्ञायास्या व्यतिक्रियाम् । अहमप्यागमं क्रोधादप्रतीक्षितसैनिकः ॥३३॥
वध्योऽपि पूज्य एवायं ममास्त्वत्समाश्रयात् । स्वामिनानुगृहीतस्य कुर्यात्को वा विमाननाम्[7] ॥३४॥
इत्युक्त्वावसिते[8] तस्मिंस्तद्वृत्तं प्रभञ्जने । परावर्त्यावधिं राजा तत्प्राग्भवसम्बन्धमैक्षत ॥३५॥
उवाचेति ततः सभ्यान्स्ववक्त्रनिहितेक्षणान् । वीक्षतामीदृशीं जन्तोः प्राग्भवप्रेमवासनाम् ॥३६॥
अस्य जम्बूद्रुमाङ्कस्य द्वीपस्यैरावताह्वये । वर्षेऽस्ति [9]विषयो नाम्ना गान्धारोऽम्बुधरस्थितिः ॥३७॥

शुभ अभिप्राय वाली है तथा ऐसी जान पड़ती है मानों विद्याधर लोक की दूसरी ही राज लक्ष्मी है ॥२८॥ सन्तान की इच्छा रखते हुए मैंने उसमें यह शान्तिमती नामकी पुत्री उत्पन्न की है । यह पुत्री अत्यन्त धीरगम्भीर और बुद्धि से सुशोभित स्थिति वाली है ॥२९॥ यह पुत्री मुनिसागर पर्वत पर प्रज्ञप्ति नामकी विद्या सिद्ध कर रही थी परन्तु काम की इच्छा करने वाले इस पुरुष ने बल पूर्वक इसे परिभूत किया ॥३०॥ इसके धैर्य से ही मानों लुभाकर विद्या सिद्धि को प्राप्त हो गयी । विद्या सिद्ध होते ही यह काम को भूल गया और अपनी रक्षा का इच्छुक हो गया । भावार्थ—हमारे प्राण कैसे बचें इस चिन्ता मे पड़ गया ॥३१॥

तदनन्तर युद्ध की इच्छा से इस कन्या ने इसका पीछा किया । भागता हुआ यह जगत्पूज्य आपको देखकर आपकी शरण में आया है ॥३२॥ आभोगिनी विद्या की आवृत्ति कर अर्थात् उसके माध्यम से जब मुझे इसकी इस पराभूति का पता चला तब मैं भी क्रोध से सैनिको की प्रतीक्षा न कर आ गया हूं ॥३३॥ यद्यपि यह हमारा वध्य है—मारने के योग्य है तो भी आपकी शरण में आने से पूज्य ही हो गया है क्योकि स्वामी के द्वारा अनुगृहीत पुरुष का अनादर कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥३४॥ इस प्रकार उसके वृत्तान्त को कहकर जब प्रभञ्जन चुप हो गया तब राजा ने अवधिज्ञान को परिवर्तित कर अर्थात् उस ओर उसका लक्ष्य कर उनके पूर्वभव को देखा ॥३५॥

तदनन्तर अपने मुख पर जिनके नेत्र लग रहे थे ऐसे सभासदों से राजा ने इस प्रकार कहा—अहो ! जीव की ऐसी पूर्वभवसम्बन्धी प्रेम की वासना को देखो ॥३६॥ जम्बू वृक्ष से युक्त इस जम्बू द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में गान्धार नाम का एक ऐसा देश है जहां मेघ सदा विद्यमान रहते हैं ॥३७॥

---

१ आत्मनः पुत्रमिच्छता २ धिया बुद्धया राजिता शोभिता स्थितिर्यस्याः सा ३ एतन्नामधेयपर्वते ४ कामयते इति कामयमानः तेन ५ जगत्पूज्यम् ६ योद्धुमिच्छया ७ अनादरम् ८ तूष्णीभूते सति ९ देशः ।

तत्र विन्ध्यपुरं नाम पुरं [1]सुरपुरोपमम् । विद्यते रक्षिता[2] तस्य विन्ध्यसेनोऽभवन्नृपः ।।३८
देवी सुलक्षणा[3] तस्य नाम्नापि च सुलक्षणा[4] । सूनुर्नलिनकेत्वाख्यस्तयोर्जातः स्मरातुरः ।।३९
तत्र धर्मप्रियो नाम वणिग्ग्रामग्रणीरभूत् । ख्यातस्तद्धर्मपत्नी च श्रीदत्ता श्रीरिवापरा ।।४०
अभिरूपः[5] सुरूपश्च [6]ज्यायान्दत्तस्तयोः सुतः । अजनि स्वजनानन्दी प्रश्रयाश्रितमानसः ।।४१
पिता संयोजयामास यथाविधि [7]विधानवित् । तं प्रियंकरया सार्धं समानकुलरूपया ।।४२
कदाचिद् विहरन्तीं तामासेचनक[8]दर्शनाम् । ददर्श तत्पुरोद्याने राजसूनुः सखीवृताम् ।।४३
तामालोक्य जगत्सारां केवलं न विसिस्मिये । मनसा मदनावस्थामतिभूमिं[9] च शिश्रिये ।।४४
अङ्गीकृत्यायशोभारं तामुपायच्छते[10] स्म सः । [11]अपरागस्ततो भूपः सरागोऽप्यभवद्भुवि ।।४५
स दत्तस्तद्वियोगार्तः पितृभ्यां विधृतोऽपि सन् । रुद्राशयः सुभद्रस्य मुनेर्मूलेऽग्रहीत्तपः ।।४६
तपस्यन्नातुचिद्वीक्ष्य खेचरेन्द्रस्य संपदम् । [12]उन्मनायन्ननात्मज्ञो निदानमकृतात्मनः[13] ।।४७

उस देश में स्वर्ग के समान विन्ध्यपुर नामका नगर है। विन्ध्यसेन नामका राजा उसका रक्षक था ।।३८।। उस राजा की सुलक्षणा—अच्छे लक्षणों से सहित सुलक्षणा नामकी स्त्री थी उन दोनों के नलिन केतु नामका पुत्र हुआ जो सदा काम से आतुर रहता था ।।३९।। उसी नगर में धर्मप्रिय नामका श्रेष्ठ वणिक् रहता था। उसकी स्त्री का नाम श्रीदत्ता था जो मानों दूसरी लक्ष्मी ही थी ।।४०।। उन दोनों के दत्त नामका ज्येष्ठ पुत्र हुआ जो माता पिता के अनुकूल था सुन्दर था, कुटुम्बीजनों को आनन्दित करने वाला था तथा विनय से युक्त चित्त वाला था ।।४१।। लोकरीति के ज्ञाता पिता ने विधिपूर्वक उसे समान कुल तथा समान रूप वाली प्रियंकरा कन्या के साथ मिलाया ।।४२।।

जिसके देखने से कभी तृप्ति नहीं होती थी ऐसी वह कन्या कभी सखियों के साथ उस नगर के उद्यान में विहार कर रही थी उसी समय राजपुत्र—नलिन केतु ने उसे देखा ।।४३।। जगत् की सारभूत उस कन्या को देख कर न केवल वह आश्चर्य करने लगा किन्तु मन से उसने बहुत भारी कामावस्था का भी आश्रय लिया। भावार्थ—उस कन्या को देखकर वह मन में अत्यधिक काम से पीड़ित हो गया ।।४४।। उसने अपकीर्ति का भार स्वीकृत कर उसे बलपूर्वक ग्रहण कर लिया। राजा यद्यपि पुत्र से बहुत राग करता था परन्तु इस घटना से पृथिवी पर वह पुत्र सम्बन्धी राग से रहित हो गया ।।४५।। प्रियंकरा का पति दत्त उसके वियोग से बहुत दुखी हुआ। माता पिता ने यद्यपि उसे रोका तो भी उस रुद्रपरिणामी—कठोर हृदय ने सुभद्र मुनिराज के समीप तप ग्रहण कर लिया—दीक्षा ले ली ।।४६।। तपस्या करते हुए उसने किसीसमय विद्याधर राजा की संपदा देखी। देख कर वह उस संपदा के लिए उत्सुक हो गया। फल स्वरूप उस अज्ञानी ने अपने लिए उस संपदा का निदान कर लिया ।।४७।।

---

१ स्वर्गसदृशम् २ रक्षकः ३ सुष्ठु लक्षणानि यस्याः सा ४ एतन्नामधेया ५ अनुकूलः ६ ज्येष्ठः ७ विधिज्ञः ८ आसेचनकं अतृप्तिकरंदर्शनं यस्याः ताम् 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्' ९ अत्यधिका १० स्वीचक्रे ११ अवगतो रागोयस्य सः रागरहितः १२ उत्सुको भवन् १३ अकृत+आत्मनः इतिच्छेदः

रूप्याद्रेरुत्तरश्रेण्यां सुकच्छाविषयस्थितेः । अस्ति [1]काञ्चनशब्दादितिलकाख्यं पुरं महत् ॥४८॥
महेन्द्रस्तस्य नाथोऽभून्महेन्द्रसदृशः श्रिया । राज्ञी पवनवेगेति तस्य चाख्यातिमीयुषी ॥४९॥
भूत्वा दत्तस्तयोः सूनुरयं स स्वनिदानतः । प्रशास्त्यजितसेनाख्यो विजयार्द्धमशेषतः ॥५०॥
स चान्यदारसक्तोऽपि राजसूनुर्यदृच्छया । वासितायाः कृते युद्धं वृषयोरैक्षतान्यदा ॥५१॥
एकेनान्यस्य जठरं शृङ्गाग्रेण बलीयसा । व्यदार्यताचिरान्निर्यदन्त्रमालाकुलीकृतम् ॥५२॥
भर्त्ता तस्याः पतिर्भीरुर्नाभविष्यच्च दुर्बलः । अकरिष्यन्ममाप्येवं दध्याविति स तत्क्षणे ॥५३॥
विषयान्धीकृता नूनमिहामुत्र च देहिनः । प्राप्नुवन्ति परं दुःखमिति [2]निर्विवेदे भवात् ॥५४॥
प्रपद्य प्रियधर्माणं यतिं भूत्वा तपोधनः । अगान्नलिनकेतुः स प्रशान्तः [3]शाश्वतं पदम् ॥५५॥
प्रियङ्करा [4]प्रियापायहिमम्लानमुखाम्बुजा । सा सुस्थितार्यिकावाक्याच्चान्द्रायण[5]मवर्तयत् ॥५६॥
जाता शान्तिमती सेयमिमां दत्तोऽप्यदुद्रुवत् । नेच्छन्तीमप्ययं रागादहो कामः सुदुस्त्यजः ॥५७॥
परां मुक्तावलीमेषा तपस्यन्त्यपि बिभ्रती । ईशाने पुंस्त्वमभ्येत्य भविष्यति सुरोत्तमः ॥५८॥
ततोऽवतीर्य निर्धूतकर्माष्टकनिबन्धनः । देवः प्रपत्स्यते सिद्धिमस्या भव्यत्वमीदृशम् ॥५९॥

सुकच्छा देश में स्थित विजयार्धपर्वत की उत्तर श्रेणी में एक काञ्चनतिलक नामका बड़ा भारी नगर है ॥४८॥ उस नगर का राजा महेन्द्र था जो लक्ष्मी से इन्द्र के समान था। उसकी रानी का नाम पवनवेगा था ॥४९॥ वह दत्त अपने निदान से उन दोनों के अजितसेन नामका यह पुत्र हुआ है तथा संपूर्ण विजयार्द्ध पर्वत का शासन कर रहा है ॥५०॥ उधर राजपुत्र नलिनकेतु यद्यपि परस्त्री में आसक्त था तो भी एक दिन उसने स्वेच्छा से एक गाय के लिये दो बैलों का युद्ध देखा ॥५१॥ एक अत्यन्त बलवान् बैल ने सींग के अग्रभाग से दूसरे बैल का उदर विदीर्ण कर दिया जिससे वह शीघ्र ही निकलती हुई आंतों के समूह से आकुलित हो गया ॥५२॥ उस घायल बैल को देखकर नलिन केतु तत्काल ऐसा विचार करने लगा कि इस प्रियकरा का पति भीरु और दुर्बल नहीं होता तो मेरी भी ऐसी दशा करता ॥५३॥ निश्चित ही विषयान्ध मनुष्य इस लोक और परलोक में भारी दुःख प्राप्त करते है। ऐसा विचार कर वह संसार से विरक्त हो गया ॥५४॥ नलिनकेतु प्रियधर्मा मुनि के पास जाकर तपस्वी हो गया और अत्यन्त शान्त चित्त होता हुआ मोक्ष को प्राप्त हुआ ॥५५॥ पति के विरह रूपी तुषार से जिसका मुख कमल म्लान हो गया था ऐसी प्रियंकरा ने सुस्थिता नामक आर्यिका के कहने से चान्द्रायण व्रत किया ॥५६॥ वही प्रियंकरा मर कर यह शान्ति मती हुई है। यह दत्त भी जो अब अजितसेन हुआ है रागवश न चाहने पर भी इस शान्तिमती के पास गया था। आश्चर्य है कि काम बड़ी कठिनाई से छूटता है ॥५७॥ यह शान्तिमती श्रेष्ठ मुक्तावली व्रत को धारण करती हुई तपस्या करेगी और ईशान स्वर्ग में पुरुषपर्याय को प्राप्त कर उत्तम देव होगी ॥५८॥ वहां से अवतीर्ण होकर वह देव अष्टकर्मों के बन्धन को नष्ट कर मुक्ति को प्राप्त होगा। इसकी भव्यता ही

---

१ काञ्चनतिलकम् २ निर्विण्णोऽभूत् ३ नित्यं स्थानं, मोक्ष मित्यर्थः ४ प्रियस्य पत्युरपायो विरह एव हिमं तुषारस्तेन म्लानं मुखाम्बुजं मुखकमलं यस्याः सा ५ कवलचान्द्रायणव्रतम् ।

तयोः सम्बन्धमित्युक्त्वा नृपेन्द्रो व्यरमत्ततः । तं प्रपूज्य जिनाभ्यर्णे निर्व्याजास्ते प्रवव्रजुः ॥६०॥
तत्रास्ति विजयार्द्धाद्रौ नगरं शिवमन्दिरम् । विभुर्नभःसदां नाम्ना मेरुमाली तदावसत् ॥६१॥
नाम्ना तस्य महादेवी विमला विमलाशया । धृताशेषकला [1]राकाचन्द्रमूर्तिरिवाभवत् ॥६२॥
तयोः काञ्चनमालाख्या पुत्री सत्काञ्चनप्रभा । जाता त्रिजगतां कान्तेः प्रसिद्धिरधिदेवता ॥६३॥
विधिना मेरुमाली तां स चक्रधर गौरवात् । तत्क्षमायादित प्रीत्या सुतां कनकशान्तये ॥६४॥
रक्षन्पृथुकसाराख्यं नगरं स्वभुजौजसा[2] । जयसेनोऽभवत्खेटस्तज्जायाथ [3]जयाभिधा ॥६५॥
तयोरपि तनूजाथ वसन्तश्रीसमाकृतेः । पाणिं वसन्तसेनायाः सोऽग्रहीद्विधिपूर्वकम् ॥६६॥
तस्याः [4]पैतृष्वस्रेयोऽथ हिमचूलो नभश्चरः । तताम तामनासाद्य व्यर्थीभूतमनोरथः ॥६७॥
तस्मिन्वसन्तसेनायाः पत्यावपचिकीर्षया[5] । सोऽन्तर्निगूढकोपोऽभूद्भस्मच्छन्नाग्निसन्निभः ॥६८॥
यथाभिराममारामक्रीडापर्वतकादिषु । ताभ्यां मनोभिरामाभ्यां रामाभ्यामलसत्सकम् ॥६९॥

ऐसी है ॥५९॥ इस प्रकार उन दोनो के सम्बन्ध कह कर राजा चुप हो गया। और वे सब उसकी पूजा कर निश्छल हो जिनेन्द्र भगवान् के समीप दीक्षित हो गये ॥६०॥

उसी विजयार्ध पर्वत पर एक शिव मन्दिर नामका नगर है। उसमें विद्याधरों का राजा मेरुमाली निवास करता था ॥६१॥ उसकी निर्मल अभिप्राय वाली विमला नाम की महारानी थी। समस्त कलाओं से युक्त वह महारानी ऐसी जान पड़ती थी मानों पूर्णिमा के चन्द्र की मूर्ति ही हो ॥६२॥ उन दोनों के उत्तम सुवर्ण के समान आभावाली काञ्चनमाला नाम की पुत्री हुई। वह काञ्चनमाला तीनों जगत् की कान्ति की प्रकृष्ट सिद्धियों से युक्त अधिष्ठात्री देवी थी ॥६३॥ मेरुमाली ने चक्रवर्ती के गौरव से वह पुत्री उसके योग्य कनकशान्ति के लिये प्रीतिपूर्वक दी ॥६४॥ तदनन्तर अपनी भुजाओं के प्रताप से पृथुकसार नगर की रक्षा करने वाला एक जयसेन नामका विद्याधर था। उसकी स्त्री का नाम जया था ॥६५॥ उन दोनों की वसन्त सेना नामकी पुत्री थी। वसन्त सेना वसन्त लक्ष्मी के समान आकृति को धारण करने वाली थी। कनकशान्ति ने इस वसन्त सेना का भी विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ॥६६॥ उस वसन्तसेना की बुआ का लड़का हिमचूल विद्याधर था। वह उसे विवाहना चाहता था परन्तु कनकशान्ति के द्वारा विवाही जाने पर उसका मनोरथ व्यर्थ हो गया अतः वह वसन्तसेना को न पाकर बहुत दुखी हुआ ॥६७॥ हिमचूल विद्याधर वसन्तसेना के पति कनकशान्ति का अपकार करने की इच्छा से भीतर ही भीतर क्रोध को छिपाये रखता था। इसलिये वह भस्म से आच्छादित अग्नि के समान जान पड़ता था ॥६८॥

कनकशान्ति, अपनी दोनों सुन्दर स्त्रियों—काञ्चनमाला और वसन्तसेना के साथ इच्छा-नुसार उद्यान तथा क्रीडागिरि आदि पर क्रीड़ा करता था ॥६९॥ जिसे विद्याएं सिद्ध है ऐसा वह

---

१ पूर्णिमाचन्द्रबिम्बमिव २ स्वकीयबाहुप्रतापेन ३ जयेतिनामधेया ४ पितृष्वसुरपत्यं पुमान् पैतृष्वस्रेयः ५ अपकर्तुमिच्छया।

अन्येद्युः सिद्धविद्याको [1]रम्योद्देशदिदृक्षया । अभ्रंकषाग्रमगमत्प्रालेयाद्रिं प्रियासखः ॥७०॥
लतान्तुयातमुच्चित्य विशन्सुमनसो मुदा । स निर्विशेषमायच्छंस्तयोः सुमनसः स्थितिम् ॥७१॥
अयत्नरचितामोदपुष्पशय्यासमन्वितान् । [2]निकषा ध्रियमाणोऽपि ताभ्यां भ्राम्यँल्लतालयान् ॥७२॥
[3]वशाभिः प्रणयाद्दत्तान्पल्लवाननवहेलया । आददानं तयोः क्षीबं [4]यूथनाथं निदर्शयन् ॥७३॥
उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्तं मुहुर्वायुवशान्मृगम् । रमण्योर्निर्दिशन्नाराद्वनश्रीकन्दुकोपमम् ॥७४॥
किंनराणामथाकर्ण्य गीतिं गीत विशारदः । तत्प्रयोगसमं किञ्चिद् गायंस्ताभ्यां प्रचोदितः ॥७५॥
सेव्यमानः सुखस्पर्शैर्मन्दंमन्दं समीरणैः । तत्प्रियालकविन्यासविक्षोभारेकितैरिव ॥७६॥
सरस्यां नलिनीपत्रैः क्षणं वाच्छादिते प्रिये । विमुह्यन्त्यास्तयोः प्रेम कलयन् कोकयोषितः[5] ॥७७॥
स्फटिकोपलसंक्रान्तलतां कुसुमवाञ्छया । मुग्धत्वेनोपयान्त्यौ ते स्मित्वा स्मित्वावबोधयन् ॥७८॥
नद्यवस्कन्दमालोक्य विक्रमां हंसयोषितम् । मन्वानो विजिति तस्याः स्ववधूगतिविभ्रमैः ॥७९॥

कनकशान्ति किसी अन्य समय अपनी स्त्रियों के साथ सुन्दर स्थान देखने की इच्छा से गगनचुम्बी अग्रभाग से युक्त हिमालय पर्वत पर गया ॥७०॥ एक लता से दूसरी लता के पास जाता हुआ तथा हर्ष से फूल तोड़कर उन दोनों स्त्रियों को समान भाव से देता हुआ वह अपने शुभ हृदय की स्थिति को प्रकट कर रहा था। भावार्थ—दक्षिण नायक की तरह वह दोनों स्त्रियों के प्रति समान प्रेमभाव प्रकट कर रहा था ॥७१॥ उन स्त्रियों के द्वारा रोके जाने पर भी वह प्रयत्न के बिना ही बनी हुई सुगन्धित फूलों की शय्याओं से सहित लतागृहो के समीप घूम रहा था ॥७२॥ हथिनियों के द्वारा प्रेम से दिये हुए पल्लवों को उपेक्षा भाव से ग्रहण करने वाले मदोन्मत्त यूथपति को वह अपनी प्रियाओं के लिए दिखा रहा था ॥७३॥ जो वायु के वश बार बार उछल उछल कर जा रहा था तथा वन लक्ष्मी की गेंद के समान जान पडता था ऐसे समीपवर्ती मृग को वह अपनी प्रियाओं के लिए दिखा रहा था ॥७४॥ वह कनकशान्ति स्वयं संगीत में निपुण था इसलिए किन्नरों का गान सुनकर स्त्रियों के द्वारा प्रेरित होता हुआ अभिनय के साथ कुछ कुछ गा रहा था ॥७५॥ उन स्त्रियो के केश विन्यास के क्षोभ से शङ्कित—भयभीत हुए के समान धीरे धीरे चलने वाली सुखद वायु उसकी सेवा कर रही थी ॥७६॥ सरसी मे कमलिनी के पत्तो से चकवा क्षणभर के लिए आच्छादित हो गया—छिप गया इसलिए उसके विरह में चकवी मूर्च्छित हो गयी। कनकशान्ति अपनी प्रियाओं के लिए चकवी का वह प्रेम दिखला रहा था ॥७७॥ स्फटिक मणि में एक लता प्रतिबिम्बित हो रही थी। उसके फूल तोड़ने की इच्छा से भोलेपन के कारण दोनों स्त्रियां उसके पास जाने लगीं। कनकशान्ति हँस हँस कर उन्हें यथार्थता से अवगत कर रहा था ॥७८॥ कोई एक हंसी आगे नदी के विस्तार को देखकर खड़ी हो गयी थी। कनकशान्ति ने उसे देख ऐसा समझा मानों यह हंसी हमारी स्त्रियों की सुन्दर चाल से पराजित होकर ही खड़ी हो गयी है ॥७९॥ इस प्रकार अपनी ओर टक-

---

१ रमणीयस्थानदर्शनेच्छया २ समीपे ३ करिणीभिः ४ गजसमूहाधिपम् ५ चक्रवाक्याः ।

इति तत्र समं ताभ्यां विजहार हरन्मनः । तत्रत्यवनदेवीनां स्वनिर्निमेषार्पितचक्षुषाम् ॥८०॥
(एकादशभिः कुलकम्)

अन्यत्र मुनिमैक्षिष्ट निविष्टं मौक्तिकोपले । भूमिष्ठे मुक्तिदेशे वा वरिष्ठं धर्मिणां गुणैः ॥८१॥
[1]नमस्यमानः पप्रच्छ स्वहितं तं प्रपद्य सः । [2]तपोऽब्धिरित्यसौ तस्मै वचो वक्तुं प्रचक्रमे[3] ॥८२॥
अविद्यारागसंक्लिष्टो [4]बंभ्रमीति भवान्तरे । विद्यावैराग्यसंयुक्तः सिद्ध्यत्यविकलस्थितिः ॥८३॥
आत्मनीनमतः कार्यं तत्त्वावहितचेतसा । जैनं विश्व[5]जनीनं हि शासनं दुःखनाशनम् ॥८४॥
इति संक्षिप्ततत्त्वेन विपुलो वचसा हितम् । मुनिर्निवेदयामास तस्मै संप्राप्तबोधये ॥८५॥
संसृतेः स परं ज्ञात्वा दौः[6]स्थ्यं [7]सौस्थ्यं च निर्वृतेः । तस्मात्तपोभृतः प्राभूत्संयतः संयतात्मनः ॥८६॥
[8]प्रियजानिरपि क्रीडन् यतेराकस्मिकेक्षणात् । [9]उपायत तपोलक्ष्मीं भव्यता हि बलीयसी ॥८७॥
तत्प्रीत्यैव ततो देव्यावा[10]ददाते तपः परम् । गणिन्याः सुमतेर्मूले गण्यमानगुणोदये ॥८८॥

टकी लगाकर देखने वाली वहां की वन देवियों के मन को हरण करता हुआ वह उन प्रियाओं के साथ क्रीड़ा कर रहा था ॥८०॥

उसी कनकशान्ति ने वहां किसी अन्य जगह मोतियों की शिला पर विराजमान मुनिराज को देखा । वे मुनिराज ऐसे जान पड़ते थे मानों पृथिवीपर स्थित मुक्ति क्षेत्र मे ही विराजमान हों तथा गुणों के द्वारा मुनियों में श्रेष्ठ थे ॥८१॥ कनकशान्ति ने पास जाकर बार बार नम्रीभूत हो उनसे आत्महित पूछा—हे भगवन् ! मेरा हित कैसे हो सकता है ? यह पूछा । तत्पश्चात् तप के सागर मुनिराज उसके लिये इसप्रकार के वचन कहने के लिए उद्यत हुए ॥८२॥ अज्ञान और राग से संक्लिष्ट रहने वाला प्राणी संसार के भीतर कुटिल रूप से भ्रमण करता है और विद्या तथा वैराग्य से युक्त प्राणी अखण्ड मर्यादा का धारी होता हुआ सिद्ध होता है ॥८३॥ इसलिए तत्त्वों में चित्त लगाकर तुम्हें आत्म—हितकारी कार्य करना चाहिये क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का सर्वजन हितकारी शासन दुःखों का नाश करने वाला है ॥८४॥ इस प्रकार उन विपुल मुनिराज ने आत्मबोध को प्राप्त करने वाले उस कनकशान्ति के लिए संक्षिप्त रूप से तत्त्वों का विवेचन करने वाले वचनों के द्वारा हित का उपदेश दिया ॥८५॥

कनकशान्ति, उन तपस्वी मुनिराज से संसार का दुःख और मोक्ष का सुख जानकर संयमी बन गया ॥८६॥ क्रीड़ा करता हुआ कनकशान्ति यद्यपि स्त्रियों से बहुत प्रेम करता था तथापि उसने अकस्मात् दिखे हुए मुनिराज से तपोलक्ष्मी को स्वीकृत कर लिया सो ठीक ही है क्योंकि भवितव्यता—होनहार बलवती होती है ॥८७॥ तदनन्तर उसकी प्रीति से ही दोनों देवियों ने उत्तम गुणों के उदय से युक्त सुमति गणिनी के समीप उत्कृष्ट तप को स्वीकृत कर लिया ॥८८॥ वह बाह्य और

---

१ पुनपुनरतिशयेन वा नमन् २ तपःसागरः ३ तत्परो बभूव ४ कुटिल भ्रमति यङ्लुगन्तः प्रयोगः ५ समस्तजनहितकरम् ६ संसृतेः दौःस्थ्यं दुःखम् ७ निर्वृतेः मोक्षस्य सौस्थ्यम् सुखम् ८ प्रिया जाया यस्य तथाभूतोऽपि सन् ९ स्वीचकार १० देव्यौ आददाते इतिच्छेदः ।

बाह्याभ्यन्तरनैःसङ्ग्यमङ्गीकृत्य निरन्तरम् । तपस्यन् ददृशे तेन हिमचूलेन विद्विषा ॥८९॥
विद्यानिर्मितनारीभिर्विकल्पैरपि कौणपैः[1] । [2]प्रत्यूहं तपसस्तस्य कर्तुं प्रववृते क्रुधा ॥९०॥
तस्मिन्वैरायमाणं[3] तं धरणो वीक्ष्य कश्चन । वेगाद्विद्रावयामास साधुगृह्यो भवेन्न कः ॥९१॥
सपूर्वाण्यानुपूर्व्या स द्वादशाङ्गान्यसंगतः । अध्यैष्ट कालशुद्ध्यादिसहितः स्वहितोद्यतः ॥९२॥
तपःस्थितिं दधानोऽपि महतीमन्यदुर्धराम् । चित्रमाचारनिष्णातश्चित्तात्तृष्णां निराकरोत् ॥९३॥
रेजे घनागमोत्कण्ठो नीलकण्ठ[4] इवानिशम् । धन्वीवाधिगुणं[5] [6]धर्मं दध्रे स्वभ्यस्तमार्गणः[7] ॥९४॥
प्रशस्त[8]यतिवृत्तानां प्रवक्ता सत्कविर्यथा । अभवद्वीतरागोऽपि भूपराग[9] कलङ्कितः ॥९५॥
एकाकी विहरन् देशानीर्यापथविवर्जितान् । जातु मासमुपोष्यासौ प्रापद्रत्नपुरं पुरम् ॥९६॥
तस्येशो धृतिषेणाख्यस्तं दृष्ट्वा पात्रमागतम् । श्रद्धादिगुणसंपन्नः [10]पयसा [11]समतर्पयत् ॥९७॥

भीतर निर्ग्रन्थ अवस्था को स्वीकृत कर निरन्तर तप करने लगा । उसी समय उसे हिमचूल नामक शत्रु ने देखा ॥८९॥ हिमचूल, क्रोध से विद्याओं द्वारा निर्मित स्त्रियों तथा भयंकर राक्षसों के द्वारा उसके तप में विघ्न करने के लिये उद्यत हुआ ॥९०॥ उन मुनिराज के ऊपर वैर करने वाले उस हिमचूल को देखकर किसी धरणेन्द्र ने उसे शीघ्र ही भगा दिया सो ठीक ही है क्योंकि कौन मनुष्य साधु के द्वारा ग्राह्य नहीं होता ? अर्थात् सभी होते हैं ॥९१॥ कालशुद्धि आदि से सहित तथा आत्म हित के लिये प्रयत्नशील उन एकाकी मुनिराज ने क्रम से पूर्वसहित द्वादशाङ्गों का अध्ययन किया ॥९२॥ आचार निपुण मुनिराज ने अन्य मनुष्यों के लिये दुर्धर तप की स्थिति को धारण करते हुए भी चित्त से तृष्णा को दूर कर दिया था, यह आश्चर्य की बात थी ॥९३॥ जिस प्रकार मयूर निरन्तर घनागमोत्कण्ठ—मेघों के आगमन में उत्कण्ठित रहता है उसी प्रकार मुनिराज भी निरन्तर घनागमोत्कण्ठ—(घना आगमे उत्कण्ठायस्य सः) आगम विषयक तीव्र उत्कण्ठा से सहित थे और जिस प्रकार स्वभ्यस्तमार्गणः—अच्छी तरह बाणों का अभ्यास करने वाला धनुर्धारी मनुष्य अधिगुणं—डोरी से सहित धर्म—धनुष को धारण करता है उसीप्रकार स्वभ्यस्तमार्गणः—अच्छी तरह गति आदि मार्गणाओं का अभ्यास करने वाले उन मुनिराज ने अधिगुणं—अधिक गुणों से युक्त धर्म—उत्तम क्षमा आदि धर्म को धारण किया था ॥९४॥ जिस प्रकार उत्तम कवि प्रशस्तयति—निर्दोश विश्राम स्थानों से युक्त वृत्तों—छन्दों का प्रवक्त—श्रेष्ठ व्याख्याता होता है उसी प्रकार वे मुनि भी प्रशस्त—निरतिचार यतिवृत्त—मुनियों के आचार के श्रेष्ठ वक्ता थे तथा वीतराग—राग रहित होकर भी भूपराग—राजाओं सम्बन्धी राग से कलङ्कित थे (परिहार पक्ष में भू-पराग—पृथिवी सम्बन्धी धूलि से मलिन शरीर थे ॥९५॥ किसी समय एक मास का उपवास कर वे मुनिराज निर्दोष देशों में एकाकी विहार करते हुए रत्नपुर नगर पहुंचे ॥९६॥ पात्र को आया देख श्रद्धा आदि गुणों से

---

१ राक्षसैः २ विघ्नं ३ वैरायते इति वैरायमाणः तम् ४ मयूर इव ५ सप्रत्यञ्चं पक्षे प्रशमादि गुणसहितं ६ धनुः पक्षे उत्तमक्षमादिधर्मम् ७ बाणाः गत्यादि मार्गणाश्च ८ प्रशस्ता यतिः विश्रामस्थानं येषु तानि प्रशस्तयतीति । तथाभूतानिवृत्तानिछन्दांसि तेषां पक्षे प्रशस्त मुनिचारित्राणां ९ भूपस्यरागः पक्षेभुवः परागोधूलिभूपरागः १० दुग्धेन ११ संतृप्तं चकार ।

मुनेः पात्रतया तस्य श्रद्धया च विशुद्धया । आत्मनो भूपतिः प्रापद्देवेभ्योऽद्भुत[1]पञ्चकम् ।।९
अजस्रं सुरसंपातात्सुर[2]संपातनाम्नि सः । अतिष्ठत्तत्पुरोद्याने निशीथप्रतिमो[3] मुनिः ।।९
हिमचूलेन विद्याभिर्बाध्यमानोऽपि तत्र सः । न [4]तत्रासाचलस्थैर्यो न चचाल समाधितः ।।१०
पृथक्त्वैकत्वभेदेन प्रध्यायाध्यात्ममञ्जसा । जित्वा स घातिकर्माणि शिश्रिये केवलश्रियम् ।।१०
देवोपकृतमैश्वर्यं तस्याध्यात्मिकमप्यलम् । स दृष्ट्वा [5]वीतसंरम्भो विस्मयादित्यचिन्तयत् ।।१०
नैवोपेक्षावतः किञ्चित्सिध्यतीत्यनृतं वचः । व्यजेष्टोपेक्षयैवायं रागद्वेषौ च मामपि ।।१०
परमं सुखमभ्येति निगृहीतेन्द्रियः पुमान् । दुःखमेव सुखव्याजाद्विषयार्थी निषेवते ।।१०
आपदामिह सर्वासां जनयित्री पराऽक्षमा । [6]तितिक्षैव भवेन्नृणां कल्याणानां हि कारिका ।।१०
इति निश्चित्य मनसा वैराग्यं समुपेयिवान् । हिमचूलस्तमानम्य भेजे दीक्षां स दीक्षितः ।।१०
स चिरं संयमं धृत्वा [7]शतारे त्रिदशोऽभवत् । प्राणिनां गुणिभिः सार्धं वैरमप्यमृतायते[8] ।।१०
राजराजः समभ्येत्य पौत्रं संप्राप्तकेवलम् । सागन्ध्यात्स्फीतया भक्त्या तमानर्चाचितं सताम् ।।१०

युक्त वहां के भृतषेण नामक राजा ने उन्हें दूध के आहार से संतुष्ट किया ।।९७।। मुनि की पात्र और अपनी विशुद्ध श्रद्धा के कारण राजा ने देवों से पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये ।।९८।।

निरन्तर देवों का संपात—आगमन होते रहने से जिसका सुरसंपात नाम पड़ गया था उस नगर के उद्यान में वे मुनिराज रात्रि—के समय प्रतिमा योग लेकर विराजमान थे ।।९९।। यद्य हिमचूल ने उन्हें अपनी विद्याओं के द्वारा बहुत बाधा पहुँचायीं तो भी अचल धैर्य से युक्त होने कारण वे भयभीत नही हुए और न समाधि से विचलित ही हुए ।।१००।। किन्तु पृथक्त्व वितर्क अ एकत्व वितर्क शुक्लध्यान के द्वारा परमार्थ रूप से आत्मा का ध्यान कर तथा घातिया कर्मों को जं कर कैवल्यलक्ष्मी को प्राप्त हो गये ।।१०१।। उनके देवकृत तथा आध्यात्मिक ऐश्वर्य को अच्छी त देखकर हिमचूल क्रोध रहित हो गया और आश्चर्य से इस प्रकार विचार करने लगा ।।१०२ 'उपेक्षा करने वाले जीव का कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होता' यह कहना असत्य है क्योंकि इन्हें उपेक्षा के द्वारा ही राग द्वेष को और मुझे भी जीता है ।।१०३।। जितेन्द्रिय मनुष्य उत्कृष्ट सुख प्राप्त होता है और विषयों की इच्छा करने वाला मनुष्य सुख के बहाने दुःख का ही सेवन करता ।।१०४।। इस जगत् में अक्षमा ही समस्त आपत्तियों की उत्कृष्ट जननी है और क्षमा ही मनुष्यों कल्याण करने वाली है ।।१०५।। ऐसा मन से निश्चयकर हिमचूल परम वैराग्य को प्राप्त हो ग तथा उन्ही केवली को नमस्कार कर दिगम्बर मुद्रा का धारी होता हुआ दीक्षा को प्राप्त हो ग ।।१०६।। वह चिरकाल तक सयम धारण कर शतार स्वर्ग में देव हुआ सो ठीक ही है क्योंकि गुर मनुष्यों के साथ वैर भी प्राणियों के लिए अमृत के समान आचरण करता है ।।१०७।। राजाधिराज-चक्रवर्ती ने कौटुम्बिक सम्बन्ध के कारण बढ़ी हुई भक्ति से आकर केवलज्ञान को प्राप्त करने वा

---

१ पञ्चाश्चर्याणि २ एतन्नामधेये ३ रात्रौ प्रतिमायोगमास्थाय ४ न भीतोऽभूत् ५ वीतक्रो ६ क्षमा एव ७ द्वादशस्वर्गे ८ अमृतमिवाचरति ।

तस्मात्संशयितान्भावान्[1] ज्ञात्वा ज्ञाननिधेरसौ । [2]अनात्मनीनमात्मानं निनिन्दानिन्दितस्थितिः ॥१०९॥
प्राज्यसाम्राज्यसौख्यानि भुञ्जानस्य महीभुजः । व्यतीयुस्तस्य पूर्वाणि पूर्वपुण्यात्सहस्रशः ॥११०॥
एकदा तु समासाद्य ज्ञानमा[3]भिनिबोधिकम् । सम्राजा चकृषे चित्तं चित्त[4]जन्मोद्भवात्सुखात् ॥१११॥
वृथा लोको निरालोकः क्लिश्नाति विषयेच्छया । आत्माधीने सुखे सत्ये सत्यपि प्रशमोद्भवे ॥११२॥
इति निश्चित्य चक्रेशश्चक्रे शास्तार[5]मात्मजम् । [6]सहस्रांशुसमं नाम्ना स सहस्रायुधं भुवः ॥११३॥
नत्वा क्षेमङ्करं[7] सम्राट् सतां क्षेमङ्करं[8] जिनम् । दीक्षां दैगम्बरीं भूपैस्त्रिसहस्रैः सहाग्रहीत् ॥११४॥
सम्यगालोचिताशेषकर्मप्रकृतिविस्तरः । स तपःस्थोऽप्यभूच्चित्रं [9]क्षमापालनतत्परः ॥११५॥
वृथा विहाय मां [10]रक्तां तपस्यां त्वमुपाययाः । प्रीत्येवेति तमाश्लिष्यद्रजो[11]व्याजेन भूवधूः ॥११६॥
साम्राज्येऽप्यथ यस्यासीदेकमेव [12]धनुः पुरा । तपोधनोऽपि सोऽधत्त चित्रं दशविधं धनुः[13] ॥११७॥
स यद्वच्छत्ररत्नस्य छायामण्डलमध्यगः । तद्वदम्लानशोभोऽभूदभिसूर्यमपि स्थितः ॥११८॥

तथा सत्पुरुषों से पूजित अपने पौत्र कनकशान्ति की पूजा की ॥१०८॥ अनिन्दित—प्रशस्त मर्यादा से युक्त राजाधिराज—चक्रवर्ती ने ज्ञान के भाण्डार स्वरूप कनकशान्ति से संशयापन्न पदार्थों को जानकर आत्महित न करने वाले अपने आप की बहुत निन्दा की ॥१०९॥ पूर्वपुण्य से श्रेष्ठ साम्राज्य सुखों का उपभोग करते हुए राजा के हजारों पूर्व व्यतीत हो गये ॥११०॥

एकसमय वैराग्योत्पादक मतिज्ञान को प्राप्त कर चक्रवर्ती ने काम सुख से अपना चित्त खींच लिया ॥१११॥ वे विचार करने लगे कि प्रशमभाव से उत्पन्न होने वाले स्वात्माधीन सत्य सुख के रहते हुए भी अज्ञानी मानव विषयों की इच्छा से व्यर्थ ही खेद उठाता है ॥११२॥ ऐसा निश्चय कर चक्रवर्ती ने अपने पुत्र सहस्रायुध को जो तेज से सूर्य के समान था पृथिवी का शासक बनाया ॥११३॥ और स्वयं सत्पुरुषों का कल्याण करने वाले क्षेमंकर जिनेन्द्र को नमस्कार कर तीन हजार राजाओं के साथ दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली ॥११४॥ जिन्होंने समस्त कर्म प्रकृतियों के विस्तार का अच्छी तरह विचार किया है ऐसे चक्रवर्ती—मुनिराज, तप में स्थित होते हुए भी क्षमापालनतत्पर—पृथिवी का पालन करने में तत्पर थे, यह आश्चर्य की बात थी (परिहार पक्ष में क्षमा गुण के पालन करने में तत्पर थे) ॥११५॥ अपने राग से युक्त मुझे छोड़कर व्यर्थ ही तपस्या का आश्रय लिया है ऐसा कहती हुई पृथिवी रूपी वधू धूलि के बहाने प्रीति पूर्वक मानों उनका आलिङ्गन ही कर रही थी ॥११६॥ जिनके पहले साम्राज्य अवस्था में भी एक ही धनुष था अब वे तपोधन—मुनि होकर भी दश प्रकार के धनुष को धारण करते थे यह आश्चर्य की बात थी। (परिहार पक्ष में उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्म को धारण करते थे ॥११७॥ वे जिस प्रकार छत्र रत्न के छाया मण्डल के मध्य में स्थित होकर उज्ज्वल शोभा से युक्त रहते थे उसी प्रकार सूर्य के सन्मुख खडे होकर भी उज्ज्वल शोभा से युक्त थे ॥११८॥ उन्हें छह खण्ड के भूमण्डल की रक्षा का अभ्यास था, इसीलिये मानों वे

---

१ पदार्थान् २ अनात्महितकरम् ३ वैराग्योत्पादक मतिज्ञानं ४ कामोत्पन्नात् ५ रक्षकम् ६ सूर्यसंनिभम् ७ एतन्नामधेयं विदेहस्थतीर्थंकरम् ८ कल्याणकरम् ९ पृथिवीपालनतत्परः पक्षे क्षान्तिपालनतत्परः १० अनुरागयुक्तां ११ धूलिच्छद्मना १२ कोदण्डम् १३ धर्मम् ।

षट्खण्डमण्डलक्षोणीपालनाभ्यसनादिव । प्रयत्नात्पालयामास [1]षड्विधां प्राणिसंहतिम् ॥११९॥
यथा प्रावर्तत पारार्थ्यं नवभिर्निधिभिः पुरा । श्रुतैस्तपस्यता तेन तथैवा[2]नवमैरपि ॥१२०॥
लोकानां स यथा पूज्यः साक्षाद्दण्डधरः[3] पुरा । तथैव [4]वीतदण्डोऽपि जातो जातदयार्द्रधीः ॥१२१॥
तपसा ज्वलितं नाम दधानोऽप्यतिभास्करम् । स निर्वाणरुचिश्चित्रमासीद्दासीवते हितः ॥१२२॥
ज्ञातगुप्तिविधानोऽपि युक्त्या क्षपितविग्रहः । तपस्यन् राजसंमोहमरीरहद्यथात्मनः ॥१२३॥
अनुप्रेक्षासु [5]सुप्रेक्षः [6]प्रसितो द्वादशस्वपि । स [7]समाप्रतिमामस्थात् सिद्धाद्रौ सिद्धिलालसः ॥१२४॥
आराद्दावानलेनोष्णैस्तस्मिन्वलयितस्तपे[8] । त्यक्तेनापि प्रतापेन सेव्यमान इवाभवत् ॥१२५॥
दिवा [9]प्रावृषिकैर्मेघैरिन्द्रनीलघटैरिव । अभिषिक्तोऽप्यनुत्सिक्त[10]श्चित्रमासीद् घनागमे ॥१२६॥
कम्पकेनान्यलोकस्य शीतेनारिगणेन वा । कम्पनं तस्य नाकारि मेरोरिव नभस्वता[11] ॥१२७॥

प्रयत्न पूर्वक छह प्रकार के प्राणिसमूह की रक्षा करते थे ॥११९॥ जिस प्रकार वे पहले नौ निधियों के द्वारा पर हित में प्रवृत्ति करते थे उसी प्रकार तपस्या करते हुए भी उत्कृष्ट श्रुत के द्वारा पर हित में प्रवृत्ति करते थे ॥१२०॥ जिस प्रकार वे पहले साक्षात् दण्ड—राज्यशासन को धारण करते हुए लोगों के पूज्य थे उसी प्रकार अब वीत दण्ड—मन वचन काय की प्रवृत्ति रूप दण्ड से रहित होने पर भी लोगों के पूज्य थे। उनकी बुद्धि दया से आर्द्र थी ॥१२१॥ दुखी प्राणियों का हित करने वाले वे मुनिराज यद्यपि तप से उत्पन्न हुए सूर्यातिशायी तेज को धारण कर रहे थे तो भी निर्वाण रुचि—कान्ति रहित थे यह आश्चर्य की बात थी (परिहार पक्ष में मोक्ष की रुचि से सहित थे) ॥१२२॥ तपस्या करने वाले वे मुनिराज यद्यपि रक्षा की विधि को जानते थे और युक्ति पूर्वक उन्होंने विग्रह-युद्ध को नष्ट भी किया था तो भी उन्होंने अपने राजसं मोहं-रजोगुण प्रधान मोह को अथवा राज-संमोह—राज के ममत्व को नष्ट कर दिया था। (परिहार पक्ष में वे गुप्तियों—के भेदों को अच्छी तरह जानते थे। और उन्होंने उपवास के द्वारा विग्रह—शरीर को कृश कर दिया था फिर भी राज—संबन्धी मोह से रहित थे ॥१२३॥

तदनन्तर जो सुविचार अथवा सुबुद्धि से युक्त होकर अनित्य आदि बारहों अनुप्रेक्षाओं में संलग्न रहते थे तथा मुक्ति प्राप्त करने की लालसा रखते थे ऐसे वे मुनिराज सिद्धगिरि पर एक वर्ष का प्रतिमा योग लेकर खड़े हो गये ॥१२४॥ उस पर्वत पर ग्रीष्म ऋतु में वे निकटवर्ती प्रचण्ड दावा-नल से घिर जाते थे और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानों छोड़े हुए भी प्रताप के द्वारा सेवित हो रहे हों। भावार्थ—उन्होंने मुनिदीक्षा लेते ही प्रताप को यद्यपि छोड़ दिया था तो भी वह उनकी सेवा कर रहा था ॥१२५॥ वर्षा ऋतु में आकाश, यद्यपि इन्द्र नीलमणि के घड़ों के समान वर्षा कालीन मेघों के द्वारा यद्यपि उनका अभिषेक करता था तो भी वे उत्सिक्त-जलसे अभिषिक्त नहीं हुए थे यह आश्चर्य की बात है। परिहार पक्ष में उत्सिक्त गर्वयुक्त नहीं हुए थे ॥१२६॥ जिस प्रकार अन्य

---

१ पञ्चस्थावरैकत्रसभेदेन षोढाम् २ उत्कृष्टैः ३ दण्डधारकः शासकः ४ व्यपगतमनोवाक्काय व्यापारः ५ सुविचारः ६ संलग्नः ७ वर्षावधिकं प्रतिमा योगम् ८ ग्रीष्मर्तौ ९ प्रावृट्कालोत्पन्नैः १० न उत्सिक्तः अनुत्सिक्तः पक्षे गर्वरहितः ११ वायुना ।

नूनं वनलताव्याजमादायेव स पद्मया[1] । जन्मान्तरोपभोगाय पर्युपास्यत पादयोः ॥१२८॥
इति तत्र तपस्यन्तं तमालोक्य महासुरौ । उपेयतुरतिक्रोधादतिवीर्यमहाबलौ ॥१२९॥
अश्वग्रीवस्य यौ पुत्रौ तेनात्तौ[2] पञ्चमे भवे । प्रावर्तेतां ततस्तस्य [3]तावुज्जासयितुं रिपू ॥१३०॥
तत्पूजनार्थमायान्त्यौ वीक्ष्य रम्भातिलोत्तमे । असुरौ सस्तुरालोक्य तावत्युग्रं वतां द्रुतम् ॥१३१॥
त्रिःपरीत्यतमभ्यर्च्य दिव्यगन्धादिभिर्मुनिम् । तदङ्गेभ्यो लतावेष्टमास्थया[4] ते निरास्यताम् ॥१३२॥
इति वात्सरिकं योगं[5] निर्वर्त्यार्ति[6]विवर्जितः । प्रभावुपोढकल्याणः स विसोढपरीषहः ॥१३३॥
पितुः सुदुष्करां श्रुत्वा तपस्यां तद्गुणोत्सुकः । राज्यं प्रीतिकरे सूनौ त्वं सहस्रायुधो न्यधात् ॥१३४॥
पिहितास्रवमानम्य स संजातशुभास्रवः । दीक्षां महीभृतां वर्यै राददार्याशयैः समम् ॥१३५॥
[7]अधिसिद्धाद्रि विधिवत्त्यक्त्वा वज्रायुधस्तनुम् । अधाविष्टोपरिस्वर्गं क्षणाद् ग्रैवेयकं यतिः ॥१३६॥
शान्तभावोऽप्यभून्नाम्ना श्रीमानमितविक्रमः । [8]एकत्रिंशत्समुद्रायुः स तत्र त्रिदिवेश्वरः ॥१३७॥

लोगों को कम्पित कर देने वाली वायु के द्वारा मेरु पर्वत का कम्पन नहीं किया जाता उसी प्रकार अन्य लोगों को कम्पित कर देने वाली शीत लहर अथवा शत्रु समूह के द्वारा उनका कम्पन नहीं किया गया था ॥१२७॥ ऐसा जान पड़ता था मानों वनलताओं का बहाना लेकर लक्ष्मी ही जन्मान्तर के उपभोग के लिये उनके चरणों की उपासना कर रही थी ॥१२८॥ इस प्रकार तपस्या करते हुए उन मुनिराज को देखकर तीव्र क्रोध से अतिवीर्य और महाबल नामके महान् असुर उनके समीप आये ॥१२९॥ अश्वग्रीव के जो दो पुत्र पञ्चम भव में चक्रवर्ती के द्वारा मारे गये थे वे ही महान असुर हुए थे । तदनन्तर वे दोनों शत्रु उन मुनिराज का घात करने के लिये प्रवृत्त हुए ॥१३०॥ उसी समय रम्भा और तिलोत्तमा नामकी दो अप्सराएँ उन मुनिराज की पूजा के लिये देवों तथा साज सामग्री के साथ आ रही थीं उन्हें देखकर वे असुर शीघ्र ही भाग गये ॥१३१॥ उन अप्सराओं ने तीन प्रदक्षिणाएं देकर उन मुनिराज की दिव्यगन्ध आदि से पूजा की और श्रद्धा पूर्वक उनके शरीर से लताओं का वेष्टन दूर किया ॥१३२॥ इस प्रकार जो पीड़ा से रहित थे, कल्याण से युक्त थे तथा परिषहों को जीतने वाले थे ऐसे वे मुनिराज एक वर्ष का प्रतिमायोग समाप्त कर सुशोभित हो रहे थे ॥१३३॥

पिता की अत्यन्त कठिन तपस्या को सुनकर उनके गुणों में उत्सुक होते हुए तुम सहस्रायुध ने अपने पुत्र प्रीतिकर के लिए राज्य भार सौंप दिया ॥१३४॥ तथा शुभास्रव से युक्त हो उत्तम अभिप्राय वाले अनेक श्रेष्ठ राजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण कर ली ॥१३५॥ वज्रायुध मुनिराज सिद्धगिरि पर विधि पूर्वक शरीर का परित्याग कर क्षण भर में स्वर्गों के ऊपर उपरिम ग्रैवेयक में जा पहुंचे ॥१३६॥ वहां वे शान्तभाव से सहित होते हुए भी नाम से अमितविक्रम थे, लक्ष्मी सहित थे, इकतीस सागर की आयु से सहित थे तथा देवों के स्वामी—अहमिन्द्र थे ॥१३७॥

---

१ लक्ष्म्या २ नाशितौ ३ हिंसितुम् ४ श्रद्धया ५ एकवर्षव्यापिनं योगं ध्यानं ६ पीडाविरहितः ७ सिद्धाद्रौ इति, अधिसिद्धाद्रिः सिद्धगिरिं परि , ८ एकत्रिंशत्सागरप्रमाणायुष्कः ।

शार्दूलविक्रीडितम्

तस्मिन्विस्मयनीयकान्तिसहितं वीताङ्गनासंगतं—
धर्म्यध्यानरसानुविद्धमिव स प्राप्यातिवीध्रं[1] वपुः ।
मुक्ती वा त्रिसरीपदेन हृदये रत्नत्रयेणान्वभू—
ल्लीलाध्यासितसौमनस्यकुसुमः सत्सौमनस्यं[2] सुखम् ॥१३८॥

[3]उद्धां संयमसंपदं चिरतरं धृत्वा सहस्रायुधः
प्राग्भारे विधिवद्विहाय स गिरावीषत्पदाद्यो तनुम् ।
निःकाङ्क्षोऽपि दिदृक्षमाण इव तं तत्रस्थमात्मेश्वरं
तत्रैव त्रिदशेश्वरः समभवत्कान्तप्रभाकारितः ॥१३९॥

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे वज्रायुधस्य ग्रैवेयकसौमनस्यसंभवो नाम
॥ दशमः सर्गः ॥

वहां वे आश्चर्यकारक कान्ति से सहित, स्त्रियों के समागम से रहित तथा धर्म्यध्यान के रस से परिपूर्ण अत्यन्त शुक्ल शरीर को प्राप्त कर वक्षःस्थल पर पडे हुए तीन लड़ के हार से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों हृदय में स्थित रत्नत्रय से ही सुशोभित हो रहे हों । लीलापूर्वक सौमनसवन के पुष्पों को धारण करने वाला वह अहमिन्द्र वहां देवों के उत्तम सुख का उपभोग करने लगा ॥१३८॥ सहस्रायुध ने चिरकाल तक श्रेष्ठ संयम रूपी संपदा को धारण कर ईषत्प्रागभार नामक पर्वत पर विधिपूर्वक शरीर का त्याग किया । यद्यपि वे काङ्क्षा से रहित थे तो भी वहां अपने स्वामी वज्रायुध को देखने की इच्छा करते हुए के समान उसी उपरिम ग्रैवेयक में कान्तप्रभ नामके अहमिन्द्र हुए ॥१३९॥

इस प्रकार महाकवि 'असग' द्वारा विरचित शान्ति पुराण में वज्रायुध के ग्रैवेयक गमन का वर्णन करने वाला दशम सर्ग समाप्त हुआ ।

---

१ अतिशुक्लं २ सुमनसां देवानामिदं सौमनस्यम् ३ प्रशस्ताम् ।

एकादशः सर्गः

卐

अथालंकारभूतोऽस्ति द्वीपो [1]जम्बूद्रुमाङ्कितः । मध्यलोकस्य मध्यस्थो [2]रसनानायको यथा ।।१।।
तस्य पूर्वविदेहेषु विषयः पुष्कलावती । अस्त्युत्तरतटे नद्याः सीतायाः समवस्थितः ।।२।।
[3]प्रबुद्धजनसंकीर्णा तस्मिन्पूः पुण्डरीकिणी । [4]शारदी सरसीवोच्चैर्भासते पुण्डरीकिणी[5] ।।३।।
पुरःसरो विदां[6] तस्या भावी घनरथो जिनः । [7]पुरः सरोजवक्त्रोऽभूत्त्रैलोक्यैकपतिः पतिः ।।४।।
मनोहराकृतिस्तस्य देवी नाम्ना मनोहरी । आसीदासादिताशेषकला कमललोचना ।।५।।
ताभ्यां प्राभूत्ततश्च्युत्वा नाकादमितविक्रमः । पुत्रो मेघरथो नाम्ना जगत्प्रख्यातविक्रमः ।।६।।
विज्ञाततत्त्वमार्गस्य यस्य धैर्यमहोदधेः । [8]विधातुर्विनयस्यासीद्वार्धक्यमिव शैशवम् ।।७।।

एकादश सर्ग

अथानन्तर जम्बूवृक्ष से चिह्नित, मध्यलोक का अलंकारभूत जम्बूद्वीप है । यह जम्बूद्वीप मेखला के मध्यमणि के समान समस्त द्वीप समुद्रों के मध्य में स्थित है ।।१।। उसके पूर्व विदेह क्षेत्रों में सीता नदी के उत्तर तट पर स्थित पुष्कलावती देश है ।।२।। उस देश में ज्ञानी जनों से परिपूर्ण पुण्डरीकिणी नगरी है जो कमलों से सहित शरद ऋतु की सरसी के समान अत्यधिक सुशोभित होती है ।।३।। वह घनरथ उस नगरी का स्वामी था जो ज्ञानीजनों में अग्रसर था, भावी तीर्थंकर था, त्रिलोकीनाथ था तथा कमल के समान मुख से युक्त था ।।४।। जिसकी आकृति मनोहर थी, जिसने समस्त कलाएं प्राप्त की थीं तथा जिसके नेत्र कमल के समान थे ऐसी मनोहर नामकी उसकी रानी थी ।।५।। अमितविक्रम देव उस ग्रैवेयक स्वर्ग से च्युत होकर उन दोनों के जगत्प्रसिद्ध पराक्रम का धारक मेघरथ नामका पुत्र हुआ ।।६।। जिसने तत्त्वमार्ग को जान लिया था, जो धैर्य का महासागर था तथा विनय का विधाता था ऐसे उस मेघरथ का शैशव—बाल्यकाल वृद्धावस्था के समान था ।

---

१ जम्बूवृक्षोपलक्षितः २ मेखलामध्यमणिरिव ३ ज्ञानिजनकृतनिवासा ४ शरदिभवा शारदी शरदृतु-सम्बन्धिनी ५ श्वेतारविन्दयुक्ता ६ ज्ञानिनाम् ७ पुण्डरीकिणीनगर्याः ८ विनयस्य विधातुः कर्तुः यस्य शैशवं वार्धक्यमिव बभूवेतिभावः स शिशुरपि वृद्ध इव विनयं करोति।

भूषितात्युद्धवंशस्य यस्य मुक्तामणेरिव । जन्मवत्ता परार्थाय जातातिविशदात्मनः ।।८।।
दयार्द्रहृदयोऽराजद्दुर्निरीक्ष्योऽपि तेजसा । अन्तर्धृतसमग्रेन्दुरंशुमालीव योऽपरः ।।९।।
[1]पद्मानिवासपद्मोऽपि न जातु जलसंगतः[2] । योऽभूत्कुलप्रदीपोऽपि प्रवृद्ध[3]सुदशान्वितः ।।१०।।
[4]अवधिर्गुणिनामेकः प्रादुर्भूतामलावधिः[5] । यो बभार भुवो भारं [6]दभ्रोऽपि [7]गुरुणा समम् ।।११।।
सदा विकासिनी यस्य सहजैव कृपाऽभवत् । सुमनःकल्पवृक्षस्य यथेच्छफलदायिनः ।।१२।।
तस्यैव भूभृतः पुत्रः पश्चात्कान्तप्रभोऽप्यभूत् । प्रीतिमत्यां[8] [9]गुरुप्रीत्या दृढो दृढरथाख्यया ।।१३।।
[10]कृतकेतरसौहार्दद्रवार्द्रीकृतमानसः । जातो मेघरथस्तस्मिन्प्राक्सम्बन्धो हि तादृशः ।।१४।।
विधिनोपायत ज्यायान्प्रियमित्रां[11] [1]प्रियंवदाम्[12] । मनोरमतया मान्यामन्यामपि मनोरमाम्[13] ।।१५।।
अपरास्वपि कान्तासु सतीषु सुमतिः प्रिया । आसीत्कानिष्ठिकेयस्य[14] रोहिणीव कलावतः[15] ।।१६।।

भावार्थ—वह शैशव काल में ही वृद्ध के समान तत्त्ववेत्ता, धैर्यवान् तथा विनयवान् था ।।७।। जिस प्रकार *श्रेष्ठ वंश वृक्ष को विभूषित करने वाले अतिशय उज्ज्वल मुक्तामणि का जन्म परोपकार के लिए होता है* उसी प्रकार श्रेष्ठ कुल को भूषित करने वाले निर्मल हृदय मेघरथ का जन्म परोपकार के लिये था ।।८।। यद्यपि तेज के द्वारा उसकी ओर देखना कठिन था तो भी वह दया से आर्द्र हृदय था—परम दयालु था । वह ऐसा जान पड़ता था मानों अपने भीतर पूर्ण चन्द्रमा को धारण करने वाला दूसरा सूर्य ही हो ।।९।। जो लक्ष्मी का निवासभूत कमल होकर भी कभी जल से संगत नहीं था (परिहार पक्ष में जड़—मूर्खजनो से संगत नहीं था) तथा कुल का श्रेष्ठ दीपक होकर भी प्रवृद्ध सुदशान्वित—बढ़ी हुई—बुझी हुई उत्तम बत्ती से सहित था (परिहारपक्ष में श्रेष्ठ वृद्धजन की उत्तम अवस्था से सहित था ।) भावार्थ—वह लक्ष्मीमान् था, मूर्खजनों की संगति से दूर रहता था, कुल को प्रकाशित करने वाला था तथा वृद्ध के समान गम्भीर और विनयी था ।।१०।। जो गुणवान् मनुष्यों की अद्वितीय अवधि था अर्थात् जिससे बढ़कर दूसरा गुणवान् नही था और जिसे निर्मल अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था ऐसा वह मेघरथ शरीर से कृश होता हुआ भी पिता के साथ पृथिवी का भार धारण करता था ।।११।। विद्वज्जनों के लिए कल्पवृक्ष के समान यथेच्छ फल देने वाले जिस मेघरथ की सहज कृपा सदा विकसित रहती थी ।।१२।।

तदनन्तर उसी राजा घनरथ की दूसरी रानी प्रीतिमती के कान्तप्रभ भी बहुत भारी प्रीति से दृढ़ दृढरथ नामका पुत्र हुआ ।।१३।। मेघरथ, उस भाई पर स्वाभाविक स्नेह रस से आर्द्र हृदय रहता था सो ठीक ही है क्योंकि उनका पूर्वभव का सम्बन्ध वैसा ही था ।।१४।। बड़े पुत्र मेघरथ ने प्रियभाषिणी प्रियंवदा और मनोरम पने के कारण माननीय मनोरमा नाम की अन्य, इस प्रकार दो कन्याओं को विधिपूर्वक विवाहा ।।१५।। छोटे भाई दृढरथ की यद्यपि और भी सुन्दर स्त्रियां थीं परन्तु उनमें सुमति नाम की स्त्री चन्द्रमा के रोहिणी के समान प्रिय थी ।।१६।। जिनके मुख कमल

---

१ लक्ष्मीनिवासभूतकमलमपिभूत्वा २ जलसंगत: पक्षे जडसगत. ३ प्रवृद्धस्येव सुदशा शोभनावस्या तया अन्विता, पक्षे प्रवृद्धा वृद्धिगतानिर्वाणोमुदवा या सुदशा—शोभनवर्तिका तयान्वित: सहिता ४ सीमा ५ अवधिज्ञानं ६ कृशोऽपि ७ पित्रा सह ८ एतन्नामपत्न्याम् ९ श्रेष्ठस्नेहेन १० अकृत्रिम ११ एतन्नामधेयां १२ प्रिय-भाषिणीम् १३ लक्ष्मीम् १४ लघुपुत्रस्य दृढरथस्य १५ चन्द्रमस: ।

तौ धर्मार्थाविरोधेन सुखानि निरविशताम्[1] । सस्नेहदयितापाङ्गभृङ्गालीढमुखाम्बुजौ ॥१७॥
राजा स्वच्छन्दमाक्रीडीद्विहरन्ससुतोऽन्यदा । युध्यमानौ सभामध्ये कृकवाकू[2] कृपात्मकः ॥१८॥
उत्पत्योत्पत्य वेगेन प्रहरन्तौ परस्परम् । [3]आराभ्यां च दशन्तौ तौ युयुधाते क्रुधा चिरम् ॥१९॥
महीयसापि कालेन तौ जेतुमितरेतरम् । [4]अप्रभू प्रभुरालोक्य स्मित्वेत्याह सुतोत्तमम् ॥२०॥
किञ्चिद्वत्सानयोर्वैरं वेत्सि जन्मान्तरागतम् । पक्षिणोरश्रमत्वं च तद्यथावत्त्वयोच्यताम् ॥२१॥
इति जिज्ञासमानेन[5] पित्रा तद्बोधमञ्जसा । पृष्टो मेघरथो वक्तुं क्रमेणेत्थं प्रचक्रमे ॥२२॥
अथास्य भारते [6]वास्ये जम्बूद्वीपस्य विद्यते । पुरं रत्नपुरं नाम्ना प्रथिम्ना[7] प्रथितं परम् ॥२३॥
तत्र शाकटिकावेतावभूतां [8]भूतनिर्दयौ । नाम्नैवैकस्तयोर्धन्यो भद्रकोऽन्योऽप्यभद्रधीः ॥२४॥
अन्यदा श्रीनदीतीर्थसंघट्टे [9]धुर्यघट्टनात् । जघ्नतुस्तावनिघ्नेन[10] क्रुधा निघ्नौ[11] परस्परम् ॥२५॥
जाम्बूनदापगातीरे जम्बूजम्बीरराजिते । जङ्गमोत्तुङ्गशैलाभौ [12]मातङ्गौ तौ बभूवतुः ॥२६॥
प्रवविष्टामथान्योन्यं तौ तत्रापि मतङ्गजौ[13] । परस्पररदाघातभिन्ननिर्याण[14]मस्तकौ ॥२७॥

स्नेह युक्त प्रियाओं के कटाक्ष रूपी भ्रमरों से व्याप्त थे ऐसे वे दोनों भाई धर्म और अर्थ पुरुषार्थ का विरोध न करते हुए सुखों का उपभोग करते थे ॥१७॥

किसी समय दयावन्त राजा घनरथ स्वेच्छा से क्रीड़ा करते हुए पुत्रों के साथ सभा के बीच बैठे हुए थे। वहां उन्होंने युद्ध करते हुए दो मुर्गों को देखा। वे मुर्गे वेग से उछल उछल कर परस्पर प्रहार कर रहे थे, चोंचों से एक दूसरे को काटते थे। इस तरह वे क्रोध से चिर काल तक युद्ध करते रहे परन्तु बहुत समय में भी एक दूसरे को जीतने के लिये जब समर्थ न हो सके तब राजा ने हंसकर बड़े पुत्र से कहा ॥१८-२०॥ हे वत्स ! इन पक्षियों के जन्मान्तर से आये हुए वैर को तथा इनके न थकने के कारण को कुछ जानते हो तो यथावत्—जैसा का तैसा कहो ॥२१॥ इस प्रकार उन पक्षियों के यथार्थ ज्ञान को जानने की इच्छा करने वाले पिता के द्वारा पूछा गया मेघरथ क्रम से इस प्रकार कहने के लिये उद्यत हुआ ॥२२॥

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में विस्तार से अत्यन्त प्रसिद्ध रत्नपुर नामका नगर है ॥२३॥ वहां ये दोनों, प्राणियों के साथ निर्दयता का व्यवहार करने वाले गाड़ीवान् थे। उनमें से एक का नाम धन्य था जो नाम मात्र से धन्य था और दूसरे का नाम भद्रक था परन्तु वह भी अभद्र बुद्धि था ॥२४॥ किसी एक समय श्रीनदी के घाट पर बैलों की टक्कर हो जाने से दोनों को क्रोध आ गया और उसके कारण दोनों ने एक दूसरे को मार डाला ॥२५॥ पश्चात् वे जामुन और जम्बीर के वृक्षों से सुशोभित जाम्बूनद नामक नदी के तीर पर चलते फिरते ऊंचे पर्वतों के समान आभा वाले हाथी हुए ॥२६॥ वहां भी परस्पर दांतों के प्रहार से जिनका आंखों का समीपवर्ती प्रदेश तथा मस्तक विदीर्ण हो गया था ऐसे उन दोनों हाथियों ने परस्पर एक दूसरे को मारा ॥२७॥

---

१ भुञ्जाते स्म २ कुक्कुटौ ३ चञ्चूभ्याम् ४ असमर्थौ ५ ज्ञातुमिच्छता ६ क्षेत्रे ७ विस्तारेण ८ भूतेषु प्राणिषु निर्दयौ दयारहितौ ९ धुरं वहति धुर्यः वृषभः तस्य घट्टनात् ताडनात् १० स्वतन्त्रेण ११ अधीनौ १२ हस्तिनौ १३ हस्तिनौ १४ अपाङ्गसमीपप्रदेशः ।

अस्त्ययोध्यापुरी चास्ये जम्बूद्वीपस्य भारते । भूषयन्ती स्वकान्त्याथ देशानुत्तरकोशलान् ॥२८॥
अधिपस्तां पुरीं राजा राजकार्यविचक्षणः । निर्जितोभयशत्रुत्वात्ख्यातः शत्रुञ्जयाख्यया ॥२९॥
तद्घोषाधिपतेर्घोषे[1] नन्दिमित्रस्य विस्तृते । महिषौ तौ महीयांसावभूतामिभसन्निभौ[2] ॥३०॥
युध्यमानौ पुरो राज्ञो मृत्वा तत्रैव तावकौ[3] । भूत्वा भूयोऽपि युद्धेन मृतः स्मान्योन्यमन्यदा ॥३१॥
तावेतौ [4]विष्किरौ जातौ ताम्र[5]चूडाविहोद्धतौ । पुरातन्या क्रुधा वैरमाभ्यामेवं प्रतन्यते ॥३२॥
संसारे संसरन्त्येवं कषायकलुषीकृताः । आददानास्त्यजन्तोऽपि देहिनो देहपञ्जरम् ॥३३॥
अपरिश्रमहेतुश्च श्रव्योऽयं शृणुतानयोः । भव्या व्योमचरेशाभ्यां गूढाभ्यां विहितस्ततः ॥३४॥
द्वीपेऽस्मिन् भारतान्तःस्थे राजताद्रौ विराजिते[6] । पुरं हिरण्यनाभाख्य[7]मुदग्भागैकभूषणम् ॥३५॥
गोप्ता गरुडवेगाख्यो [8]गुप्तमूलबलो नृपः । नगरस्याभवत्तस्य [9]नगराज इवोन्नतः ॥३६॥
जाता धृतिमती तस्य धृतिषेणाभिधा प्रिया । अजायेतामुभौ पुत्रौ तयोरय[10]नयान्वितौ ॥३७॥
आख्यया चन्द्रतिलकः कुलस्य तिलकोपमः । तयोर्ज्यायान्कनिष्ठोऽपि नभस्तिलक इत्यभूत् ॥३८॥

अथानन्तर जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अपनी कान्ति से उत्तर कोशल देश को विभूषित करने वाली अयोध्या नगरी है ॥२८॥ राज कार्य में निपुण तथा अन्तरङ्ग बहिरङ्ग शत्रुओं को जीत लेने के कारण शत्रुञ्जय नाम से प्रसिद्ध राजा उस अयोध्या नगरी का शासन करता था ॥२९॥ उसी अयोध्या में अहीरों का स्वामी नन्दिमित्र रहता था। उसकी विस्तृत बस्ती में वे दोनों, हाथियों के समान विशाल काय भैंसा हुए ॥३०॥ वे भैंसे राजा के आगे युद्ध करते हुए मरे और मर कर उसी अयोध्या में मेंढा हुए। मेंढा पर्याय में भी दोनों युद्ध द्वारा एक दूसरे को मार कर मरे ॥३१॥ अब ये मुर्गा नामके उद्दण्ड पक्षी हुए हैं तथा पूर्वभव सम्बन्धी क्रोध के कारण इनके द्वारा इस प्रकार वैर बढाया जा रहा है ॥३२॥ इसप्रकार कषाय से कलुषता को प्राप्त हुए जीव शरीर रूपी पींजड़ा को ग्रहण करते और छोड़ते हुए संसार में भ्रमण करते रहते है ॥३३॥ इनके न थकने का कारण भी सुनने के योग्य है ! अहो भव्यजनो ! सुनो। यह कारण छिपे हुए विद्याधर राजाओं के द्वारा विस्तृत किया गया है ॥३४॥

इसी जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में स्थित शोभायमान विजयार्ध पर्वत पर उत्तर श्रेणी के अद्वितीय आभूषण स्वरूप हिरण्यनाभ नामका नगर है ॥३५॥ जिसका मंत्री आदि मूल वर्ग और सेनाका समूह सुरक्षित था तथा सुमेरु के समान उन्नत (उदार) था ऐसा गरुड़वेग नामका राजा उस नगर का रक्षक था ॥३६॥ उसकी धैर्य से युक्त धृतिषेणा नामकी स्त्री थी। उन दोनों के भाग्य और नय-विज्ञान से सहित दो पुत्र हुए ॥३७॥ उनमें बड़ा पुत्र चन्द्रतिलक नामका था जो कुल के तिलक के समान था तथा छोटा पुत्र नभस्तिलक था ॥३८॥ वे एक बार अपनी इच्छा से फूले हुए नमेरु वृक्षों

---

१ आभीर वसतिकायां २ हस्तिसदृशौ ३ तौ अवी इतिच्छेदः अवी मेषौ ४ पक्षिणौ ५ कुक्कुटौ ६ सुशोभिते ७ उत्तरश्रेण्यलंकारभूतम् ८ मूल मन्त्र्यादिवर्गः, बल सैन्य तयोर्द्वन्द्वः गुप्ते सुरक्षिते मूल बले यस्य सः ९ सुमेरुरिव १० अयः शुभावहो विधिः, नयो नीतिः, ताभ्यां सहितौ।

मेरौ [1]पुष्यन्नमेरौ तौ विहरन्तौ यदृच्छया । मुनिं सागरचन्द्राख्यमैक्षिषातां जिनालये ॥३९॥
चूडारत्नांशुमञ्जर्या समभ्यर्च्यार्चितं सताम् । स्वमतीतभवं भव्यौ भव्येशं पृच्छतः स्म तौ ॥४०॥
अथावर्त्यावधिज्ञानमित्याह मुनिसत्तमः । निरस्य[2]न्नमलैर्वाक्यैः स तयोर्हृदि [3]तत्तमः ॥४१॥
द्वीपस्यैरावते क्षेत्रे द्वितीयस्य प्रकाशते । पृथिवीतिलकाकारं पृथिवीतिलकं पुरम् ॥४२॥
अभूदभयघोषाख्यः पुरस्याभयमानसः । तस्य त्राता महासत्त्वो द्विषतामभिमानसः[4] ॥४३॥
कनकादिलता नाम्नी [5]लताङ्गी तस्य भूषणम् । महिषी महनीयर्द्धेर्वेला वार्द्धेरिवाभवत् ॥४४॥
तस्यामुत्पादयामास जयन्त विजयाभिधौ । सुतौ स नीतिमान्भूपः [6]कोषदण्डाविव क्षितौ ॥४५॥
सुभौमनगरेशस्य शङ्खाख्यस्य महीक्षितः[7] । तनयां पृथिवीषेणामुपायत स चापराम् ॥४६॥
तस्यां परिवृढः[8] सक्तो[9] नवोढायां महीभृताम्[10] । विरक्तोऽभून्महादेव्यां कामिनो हि नवप्रियाः ॥४७॥
तामभ्यरीरमद्भूपस्तत्सौभाग्यविलोभितः । रम्यासु हर्म्यमालासु नवे चोद्यानमण्डले ॥४८॥

से युक्त सुमेरु पर्वत पर विहार कर रहे थे । वहां उन्होंने एक जिनालय में सागरचन्द्र नामक मुनि को देखा ॥३९॥ उन दोनों भव्यों ने सत्पुरुषों के पूज्य भव्योत्तम मुनिराज की चूडारत्न की किरण रूप मञ्जरी से पूजा कर अपना अतीतभव पूछा ॥४०॥

तदनन्तर मुनिराज अवधिज्ञान को परिवर्तित कर —इस ओर संलग्न कर इस प्रकार कहने लगे । वे मुनिराज बोलते समय निर्मल वाक्यों के द्वारा उन भव्यों के हृदय में विद्यमान अन्धकार को नष्ट कर रहे थे ॥४१॥ द्वितीय–धातकीखण्ड द्वीप के ऐरावत क्षेत्र में पृथिवी के तिलक के समान पृथिवी तिलक नामका नगर प्रकाशमान है ॥४२॥ जिसका मन निर्भय था तथा जो शत्रुओं की ओर अपना ध्यान रखता था ऐसा महा पराक्रमी अभयघोष नामका राजा उस नगर का रक्षक था ॥४३॥ जिस प्रकार वेला समुद्र का आभूषण होती है उसीप्रकार कनकलता नामकी कृशाङ्गी रानी उस महान् संपत्ति के धारक राजा की आभूषण थी ॥४४॥

उस नीतिमान् राजा ने जिस प्रकार पृथिवी में कोष (खजाना) और दण्ड (सेना) उत्पन्न की थी उसी प्रकार उस कनकलता रानी में जयन्त और विजय नामके दो पुत्र उत्पन्न किये ॥४५॥ राजा अभयघोष ने सुभौमनगर के स्वामी शङ्ख नामक राजा की पृथिवीषेणा नामक अन्य पुत्री के साथ विवाह कर लिया ॥४६॥ राजाओं का स्वामी अभयघोष उस नवविवाहित रानी में आसक्त हो गया और महादेवी कनकलता में विरक्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि कामी मनुष्य नव प्रिय होते हैं—नवीन स्त्री के साथ प्रेम करते ही है ॥४७॥ पृथिवीषेणा के सौभाग्य से लुभाया हुआ राजा सुन्दर महलों की पंक्तियों तथा नवीन बाग बगीचों में उसे रमण कराता था ॥४८॥ अपना सौभाग्य निःसार हो जाने

---

१ पुष्यन्तो नमेरवो यस्मिन् तस्मिन् मेरु विशेषणम् २ निराकुर्वन् ३ विद्यमान अज्ञानतिमिरम् ४ संमुखहृदयः ५ कृशाङ्गी ६ कोषो निधिः, दण्डःसैन्यम् कोषश्च दण्डश्चेति कोषदण्डौ ७ राज्ञः ८ स्वामी ९ आसक्तः कृतगाढस्नेह इत्यर्थः १० राज्ञाम् ।

निःसारीभूतसौभाग्यतयाग्रमहिषी रुषा । सा विश्लेषयितुं भूपमभि[1]चारमचीकरत् ॥४९॥
संदर्श्य कृत्रिमां मालां मन्त्रधूपाधिवासिताम् । वसन्तागमने राज्ञे सा सखीभिर्न्यमन्त्रयत् ॥५०॥
तामालोक्य विरक्तोऽभूद्वल्लभायाः स तत्क्षणे । मणिमन्त्रौषधीनां हि शक्त्या किं वा न साध्यते ॥५१॥
किञ्चिद्विमुखितं ज्ञात्वा तच्चित्तं सा मनस्विनी । तेनानुनीयमानापि पुनर्भोगान्न चाददे ॥५२॥
मुनेर्दत्ताभिधानस्य मूले संयमसाधनम् । प्रकरोत्स्वं वपुर्भव्यं भव्यतायाः फलं हि तत् ॥५३॥
जातविप्रतिसारेण मनसा व्याकुलोऽपि सन् । धैर्येण तद्वियोगार्तिं कथं कथमशीशमत् ॥५४॥
संसारदेहभोगानां प्रविचिन्त्य [2]पुलाकताम् । नत्वानन्तजिनं रागादव्यग्रः सोऽग्रहीत्तपः ॥५५॥
लक्ष्मीं क्रमागतां त्यक्त्वा तौ तृणावज्ञया ततः । प्राव्राजिष्टां समं पित्रा जयन्तविजयावपि ॥५६॥
[3]तीर्थकृद्भावनाः सम्यग्भावयित्वा यथागमम् । हित्वा प्रापत्तनुं धैर्यादच्युतेन्द्रत्वमच्युते ॥५७॥
तत्पुत्रावपि तत्रैव [4]कल्पे तत्प्रणयादिव । अभूतां [5]भूतसंप्रीती तस्मिन्सामानिकौ[6] सुरौ ॥५८॥
राज्ञो हेमाङ्गदस्यासीदवतीर्याच्युतात्सुतः । स देव्यां मेघमालिन्यां नाम्ना घनरथोऽनघः ॥५९॥
[7]कल्याणद्वितयं प्राप्य देवेन्द्रेभ्यः स भासते । पुण्डरीकेक्षणो रक्षन्नगरीं पुण्डरीकिणीम् ॥६०॥

से प्रधानरानी ने उससे राजा को अलग करने के लिए मन्त्र तन्त्र कराया ॥४९॥ वसन्त ऋतु आने पर उसने अपनी सखियों के द्वारा राजा के लिए मन्त्र और धूप से संस्कार की हुई कृत्रिम माला दिखला कर आमन्त्रित किया ॥५०॥ उस माला को देखकर राजा उसी क्षण वल्लभा—पृथिवीषेणा नामक प्रियस्त्री से विरक्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि मणि मन्त्र और औषधी की शक्ति से क्या नहीं सिद्ध किया जाता ? ॥५१॥ मानवती पृथिवीषेणा ने राजा के चित्त को कुछ विमुख जानकर उनके द्वारा मनाये जाने पर भी फिर भोगों को ग्रहण नहीं किया ॥५२॥ किन्तु दत्त नामक मुनिराज के समीप अपने उत्तम शरीर को संयम का साधन कर लिया अर्थात् आर्यिका के व्रत लेकर तपस्या करने लगी सो ठीक ही है क्योंकि भव्यता का फल वही है ॥५३॥ खिन्न मन से व्याकुल होने पर भी राजा ने धैर्यपूर्वक पृथिवीषेणा की विरहजनित पीड़ा को किसी किसी तरह शान्त किया ॥५४॥ पश्चात् उसने संसार शरीर और भोगों की निःसारता का विचार कर अनन्त जिन को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया तथा निराकुल हो कर उन्हीके पास तप ग्रहण कर लिया ॥५५॥ जयन्त और विजय भी वंश परम्परा से आई हुई लक्ष्मी को तृण के समान अनादर से छोड़कर पिता के साथ दीक्षित हो गये ॥५६॥ अभयघोष मुनि तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध योग्य षोडश कारण भावनाओं का शास्त्रानुसार अच्छी तरह चिन्तवन कर तथा धैर्य से शरीर छोड़कर अच्युत स्वर्ग में इन्द्र पद को प्राप्त हुए ॥५७॥ उनके पुत्र जयन्त और विजय भी उनके स्नेह से ही मानों उसी अच्युत स्वर्ग में परस्पर प्रीति को धारण करने वाले सामानिक देव हुए ॥५८॥ वह अच्युतेन्द्र, अच्युत स्वर्ग से च्युत हो कर राजा हेमाङ्गद की मेघमालिनी रानी के घनरथ नामका निष्कलङ्क पुत्र हुआ ॥५९॥ इन्द्रों से दो कल्याणक प्राप्त कर वह कमल लोचन, पुण्डरीकिणी नगरी की रक्षा करता हुआ सुशोभित हो रहा है ॥६०॥

१ मन्त्रतन्त्रप्रयोगम् २ निःसारताम् ३ दर्शनविशुद्धयादि भावनाः ४ स्वर्गे ५ भूता समुत्पन्ना संप्रीतिर्ययोस्तौ ६ देवविशेषौ ७ गर्भजन्मकल्याणक युगं ।

अनुभूय दिवः सौख्यं जयन्तविजयौ युवाम् । अभूतां खेचराधीशावानताखिलखेचरौ ।।६१।।
इत्यतीतभवाम्बस्य श्रुत्वा तस्मात्तपोनिधेः । तरसागमतां व्योम्ना सुतौ ते त्वद्दिदृक्षया ।।६२।।
योधयेतामिमावेवं ताम्रचूडौ स्वविद्यया । दिदृक्षुरनयोर्युद्धं भवानित्यवगम्य तौ ।।६३।।
तद्वृत्तं निगद्यैवं विरते भूपतेः सुते । आविश्चक्रतुरात्मानं व्योम्नि व्योमचरेश्वरौ ।।६४।।
जन्मान्तरागतानूनप्रीतिभारानतेन तौ । शिरसा मनसा सार्द्धं पादावानर्चतुः पितुः ।।६५।।
अप्राकृतोऽप्यसौ गाढं तावाश्लिष्यद्विशांपतिः । केषां न संभ्रमं कुर्यात्प्रेम जन्मान्तरागतम् ।।६६।।
तौ चिराद् भूभृताश्लिष्य मुक्तौ तच्चरणद्वयम् । प्रीत्योत्फुल्लमुखाम्भोजौ भूयोभूयः प्रणेमतुः ।।६७।।
युवेशेनापि तौ प्रीत्या ददृशाते कृतानती । स्वसहोदरसामान्यप्रतिपत्त्या प्रतीयता ।।६८।।
स्मृतजन्मान्तरोदन्तौ तौ संभाव्य नरेश्वरः । [1]स्वकरामर्शनैर्जह्रे तयोरागमनश्रमम् ।।६९।।
तत्प्रीत्योचितसन्मानप्रवृद्धप्रणयान्वितौ । तौ विसृष्टौ चिराद्राज्ञा स्वधाम प्रतिजग्मतुः ।।७०।।
तौ लक्ष्मीं पुत्रसात्कृत्य नत्वा गोवर्धनं मुनिम् । संसारवासतस्त्रस्ता[2]वजायेतां तपोधनौ ।।७१।।

जयन्त और विजय स्वर्ग के सुख भोगकर समस्त विद्याधरों को नम्रीभूत करने वाले आप दोनों विद्याधर राजा हुए हैं ।।६१।। इस प्रकार उन मुनिराज से अपने पूर्वभव सुनकर तुम्हारे वे पुत्र आपको देखने की इच्छा से वेग पूर्वक आकाश द्वारा यहां आये थे ।।६२।। आप इन मुर्गों का युद्ध देखना चाहते है यह जानकर उन्होंने इन मुर्गों को अपनी विद्या द्वारा इस प्रकार लड़ाया है ।।६३।। इस प्रकार उनका वृत्तान्त कह कर जब राजा घनरथ के पुत्र मेघरथ चुप हो रहे तब उन विद्याधर राजाओं ने आकाश में अपने आप को प्रकट किया ।।६४।।

उन्होंने जन्मान्तर से आयी हुई प्रीति के बहुत भारी भार से ही मानों नम्रीभूत शिर से मन के साथ पिता के चरणों की पूजा की ।।६५।। राजा घनरथ यद्यपि असाधारण पुरुष थे तथापि उन्होंने उनका गाढ आलिङ्गन किया सो ठीक ही है क्योंकि जन्मान्तर से आया हुआ प्रेम किन्हे हर्ष उत्पन्न नहीं करता ? ।।६६।। राजा ने चिरकाल तक आलिङ्गन कर जिन्हें छोड़ा था तथा प्रीति से जिनके मुख कमल विकसित हो रहे थे ऐसे उन दोनो ने बार बार राजा के चरणयुगल को नमस्कार किया ।।६७।। युवराज ने भी नमस्कार करने वाले उन दोनों को प्रीति पूर्वक देखा । युवराज उन्हें भाई के समान सन्मान दे रहा था तथा उनकी प्रतीति कर रहा था ।।६८।। जिन्हें अपने जन्मान्तर का वृत्तान्त स्मृत हो गया था ऐसे उन दोनों का राजा ने खूब सन्मान किया और अपने हाथ के स्पर्श से उनके आगमन का श्रम दूर कर दिया ।।६९।। उनकी प्रीति के कारण जो योग्य सन्मान से बढ़े हुए स्नेह से सहित थे ऐसे दोनों विद्याधर चिर काल बाद राजा से विदा लेकर अपने स्थान पर चले गये ।।७०।। वहां जा कर संसार वास से भयभीत दोनों विद्याधर राजा पुत्रों को लक्ष्मी सौपकर तथा गोवर्धन मुनि को नमस्कार कर साधु हो गये ।।७१।। तदनन्तर मुर्गो ने अपने भवान्तर जानकर कर्मजन्य वैर को

---

१ स्वहस्तस्पर्शनेन २ भीतौ ।

कृकवाकू परिज्ञाय जन्मान्तरमथात्मनः । [1]व्यसाष्टां कर्मजं वैरं प्रत्याख्याय वपुश्च तौ ॥७२॥
तौ भूतरमणाटव्यामभूतां भूतनायकौ । [2]प्रमथौ प्रथिताचिन्त्य प्रभावपरिशोभितौ ॥७३॥
भक्त्या लौकान्तिकैर्नत्वा देवैर्घनरथोऽन्यदा । तपसः काल इत्युच्चैर्बोधितोऽबोधि च स्वयम् ॥७४॥
ततो मेघरथे सूनौ विन्यस्य स्वकुलश्रियम् । शिश्रिये स तपः श्रीमान् देवेन्द्रैः कृतसत्क्रियः ॥७५॥
अशेषमपि भूभारं यौवराज्यापदेशतः । स प्रेम प्रथयामास संनियुज्यानुजेऽग्रजः ॥७६॥
प्राप्य मेघरथं भूतावन्यदा मेघवर्त्मना[3] । प्राञ्जली प्रणिपत्यैवं मुदा वाचमवोचताम् ॥७७॥
तवोपदेशतो भद्र प्राप्नुवः स्मेदृशीं गतिम् । [4]अगतिं विपदामेतां चारुचित्राकृतिं कृतात् ॥७८॥
पश्यावयोर्विमूढत्वं त्वत्तो लब्धात्मभावयोः । तव केनोपयोगत्वं यास्याव इति ताम्यतोः ॥७९॥
कृतकृत्यस्य ते स्वामिन्किमावाभ्यां विधीयते । निदेशैर्भृत्यसामान्यैस्तथाप्यनुगृहाण नौ ॥८०॥
इत्युरीकृत्य तौ पत्युः स्वं निवेद्य विरेमतुः । तत्कृतज्ञतया तुष्टो भूतावित्याह भूपतिः । ८१॥
साधुः स्वार्थालसो नित्यं परार्थनिरतो भवेत् । स्वच्छाशयः कृतज्ञश्च पापभीरुश्च तथ्यवाक् ॥८२॥

छोड़ दिया तथा शरीर का परित्याग कर वे भूतरमण नामक अटवी में भूतों के नायक और प्रसिद्ध अचिन्त्य प्रभाव से शोभित व्यन्तरदेव हुए ॥७२–७३॥

तदनन्तर किसी समय लौकान्तिक देवों ने भक्ति पूर्वक नमस्कार कर राजा घनरथ को यह कह कर संबोधित किया कि यह तप का उत्कृष्ट काल है । राजा घनरथ स्वयं भी बोध को प्राप्त हो रहे थे ॥७४॥ तदनन्तर देवेन्द्रों के द्वारा जिनका सत्कार किया गया था ऐसे उन श्रीमान् राजा घनरथ ने वंश परम्परा की लक्ष्मी मेघरथ पुत्र के लिए सौपकर तप धारण कर लिया ॥७५॥ अग्रज मेघरथ ने युवराज पद के बहाने समस्त पृथिवी का भार छोटे भाई दृढ़रथ के लिए सौपकर प्रेम को विस्तृत किया ॥७६॥

किसी अन्य समय दो भूत आकाश से मेघरथ के पास आये और हाथ जोड़ नमस्कार कर हर्ष से इस प्रकार के वचन कहने लगे ॥७७॥ हे भद्र ! आपके किए हुए उपदेश से हम ऐसी इस गति को प्राप्त हुए हैं जो विपत्तियों का स्थान नहीं है तथा सुन्दर और आश्चर्यकारी है ॥७८॥ आप से जिन्हें आत्मबोध प्राप्त हुआ है तथा किस कार्य के द्वारा हम आपके उपयोग को प्राप्त होंगे, ऐसा विचार कर जो निरन्तर दुखी रहते हैं ऐसे हम दोनों की विमूढ़ता—अज्ञानता को आप देखें ॥७९॥ हे स्वामिन् ! यद्यपि आप कृतकृत्य हैं—आपको किसी कार्य की इच्छा नही है अतः हम आपका क्या कर सकते हैं ? तथापि सामान्य सेवकों को जैसी आज्ञा दी जाती है वैसी आज्ञा देकर हम दोनों को अनुगृहीत कीजिये ॥८०॥ इस प्रकार राजा के लिये अपनी बात कहकर वे भूत चुप हो रहे । राजा मेघरथ उनकी कृतज्ञता से संतुष्ट होते हुए उनसे इस प्रकार कहने लगे ॥८१॥ साधुजन—सत्पुरुष अपने कार्य में अलस, दूसरे के कार्य में निरन्तर तत्पर, स्वच्छ हृदय, कृतज्ञ, पापसे डरने वाला और सत्यवादी होता है ॥८२॥ जिनका चित्त सौहार्द से भरा हुआ है ऐसे आप लोगों के इस आगमन से ही अनुमान होता है

---

१ तत्यजतुः २ व्यन्तर देवविशेषौ: ३ आकाशेन ४ अस्थानम् ।

एतत्समुचितं सर्वं भवतोरनुमीयते । अमुनागमनेनैव भृतसौहार्दचेतसोः ॥८३॥
जायन्ते सत्सहायानां वाञ्छितार्थस्य सिद्धयः । अतो नस्त्वादृशैर्मित्रैः किं न पर्याप्तिमेष्यति ॥८४॥
द्रष्टुं जिनालयान्पूतान्मर्त्यलोकेऽप्यकृत्रिमान् । बुद्धिर्मे विद्यते भूरिविद्यमानावधेरपि ॥८५॥
इत्युदीर्य [1]विशां भर्ता व्यरंसीत्स्वमनोरथम् । प्रीतावित्याहतुर्भूतौ प्राप्यावसरमात्मनः ॥८६॥
त्वं द्रष्टा प्रापकावावां दृश्या जैनालया जिनः । वन्द्योऽस्मात्रापरं किञ्चिच्चतुर्भद्रं जगत्त्रये ॥८७॥
इत्युक्त्वा तत्क्षणादेव राज्ञः स्वांसगतस्य तौ । दर्शयामासतुः कृत्स्नानकृत्रिमजिनालयान् ॥८८॥
ज्ञानेनावधिना पूर्वं दृष्टान्पश्चाद्यथात्मना । पुनरुक्तमिवालोक्य ववन्दे तान्यथाक्रमम् ॥८९॥
क्षणाद्भूतसहाय्येन राज्ञा निर्वृत्य पिप्रिये । तीर्थयात्रामभीष्टेऽर्थे सिद्धे को न सुखायते ॥९०॥
दृश्यमानः पुरं पौरैः सोऽविशद्भूतवाहनः । क्व गत्वा नभसायात इति संजातकौतुकैः ॥९१॥
स राजकुलमासाद्य सद्यो भूतौ विसृष्टवान् । वचसा प्रीतिबन्धेन न पुनश्चेतसा प्रभुः ॥९२॥
ततः सभागतो भूपः क्षणादिव सभासदाम् । प्रीत्यानुमोदमानानां स्वप्रेक्षितमचीकथत् ॥९३॥
इति धर्मानुरक्तात्मा राजमार्गस्थितोऽपि सः । अभूत्संयमिनां [2]धुर्यः शमस्थः संयमं विना ॥९४॥

कि साधु पुरुष के यह समस्त गुण आप दोनों में परिपूर्ण हैं ॥८३॥ क्योंकि अच्छे सहायकों से सहित मनुष्यों के अभिलषित कार्यों की सिद्धियां होती हैं अत: आप जैसे मित्रों से हमारा कौन कार्य पूर्णता को प्राप्त न होगा ? ॥८४॥ यद्यपि मुझे अवधिज्ञान है तथापि मनुष्य लोक में विद्यमान पवित्र अकृत्रिम जिनालयों के दर्शन करने की मेरी भावना है ॥८५॥ इस प्रकार राजा अपने मनोरथ को प्रकट कर चुप हो गये । तदनन्तर अपने लिये अवसर प्राप्त कर प्रसन्न भूत इस प्रकार कहने लगे ॥८६॥

आप दर्शन करने वाले हैं, हम दोनों पहुंचाने वाले हैं, जिनालय दर्शनीय है और जिनेन्द्र देव वन्दनीय हैं इन चारों माङ्गलिक कार्यों से युक्त दूसरा कुछ भी कार्य तीनों जगत् में नहीं है ॥८७॥ इतना कहकर उसीक्षण अपने कन्धे पर बैठे हुए राजा के लिये उन भूतों ने समस्त अकृत्रिम जिनालय दिखलाये ॥८८॥ अपने अवधि ज्ञान के द्वारा जिन्हें पहले देख लिया था ऐसे जिनालयों को पश्चात् पुनरुक्त के समान देखकर राजा ने यथाक्रम से उनकी वन्दना की ॥८९॥ भूतों की सहायता से क्षण-भर में तीर्थयात्रा को पूरा कर राजा मेघरथ बहुत प्रसन्न हुए सो ठीक ही है क्योंकि वाञ्छित कार्य के सिद्ध होने पर कौन सुखी नही होता है ? ॥९०॥ 'कहां जाकर आकाश से आये हैं' इस प्रकार के कौतूहल से युक्त नगरवासी जिन्हें देख रहे थे ऐसे भूतवाहन—भूतों के कन्धे पर बैठे हुए राजा ने नगर में प्रवेश किया ॥९१॥ स्वामी मेघरथ ने राजभवन को प्राप्तकर शीघ्र ही उन भूतो को विदा कर दिया । परन्तु प्रीति युक्त वचनों से ही विदा किया था हृदय से नहीं ॥९२॥ तदनन्तर क्षणभर में ही मानों सभा में पहुंचे हुए राजा ने प्रीति से अनुमोदना करने वाले सभासदों को अपना आंखों देखा कहा ॥९३॥ इस प्रकार राज मार्ग में स्थित होने पर भी जिनकी आत्मा धर्म में अनुरक्त थी तथा जो प्रशमगुण में स्थित थे ऐसे वे राजा मेघरथ संयम के बिना भी संयमियों में प्रधान हो रहे थे ॥९४॥

---

१ प्रजानाम् २ प्रधान: ।

तस्य कामयमानस्य कामान्सत्पुत्रजन्मने । अभवत्प्रियमित्रायां तनयो नन्दिवर्धनः ॥९५॥
देव्यां दृढरथस्यापि सुमत्यां सुमतिः सुतः । धनसेनाख्यया ख्यातो बभूव धनदोपमः ॥९६॥
अन्तःपुरोपरोधेन स देवरमणं वनम् । मधुमासेऽन्यदा द्रष्टुं ययौ मेघरथो रथी ॥९७॥
अनुभूय यथाकामं [1]मधुलक्ष्मीं मधूपमः । क्रीडापर्वतमध्यास्त तत्र मध्यस्थवेदिकम् ॥९८॥
स्मृतेरनन्तरं तस्य भूतौ प्राप्य तदन्तिकम् । विविधैर्वल्गनैर्वल्गु क्रीडन्तौ चक्रतुर्मुदम् ॥९९॥
इति सप्रमदं तस्मिंस्तिष्ठति प्रमदासखे । क्रीडाचलस्ततोऽकस्माच्चचाल चलितोपलः ॥१००॥
स वामचरणाङ्गुष्ठकान्त्या तं निश्चलं पुनः । व्यधात्त्रस्यत्प्रियाश्लेषसुखासक्तोऽपि भूधरम् ॥१०१॥
उदपादि ततो भूयानार्तनादः समन्ततः । उत्पातमारुताघातक्षुभिताब्धेरिवोद्धतः ॥१०२॥
दिवः प्रादुरभूत्काचित् खेचरी साश्रुलोचना । प्राञ्जलिर्याचमाना तं पतिभैक्षं पतिव्रता ॥१०३॥
इत्यवादीत्समानम्य सा साधुं साधुवत्सलम् । अन्तःशोकानलप्लोषात्प्रम्लानवदनाम्बुजा ॥१०४॥
द्रुह्यद्भ्योऽपि महासत्त्वः क्षुद्रेभ्यो नैव कुप्यति । नक्रैराहन्यमानोऽपि तान्निरस्यति नाम्बुधिः ॥१०५॥

सत्पुत्र की उत्पत्ति के लिये कामभोग की इच्छा करने वाले राजा मेघरथ की प्रियमित्रा रानी में नन्दिवर्धन नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥९५॥ दृढ़ रथ की भी सुमति नाम की स्त्री में सद्बुद्धि का धारक, कुबेर तुल्य धनसेन नामका पुत्र हुआ ॥९६॥ किसी समय अन्तः पुर के आग्रह से वे मेघरथ रथपर सवार हो चैत्रमास में देवरमण वन को देखने के लिये गये ॥९७॥ इच्छानुसार वसन्त लक्ष्मी का उपभोग कर मधुतुल्य राजा मेघरथ देवरमण वन के उस क्रीडा पर्वत पर बैठ गये जिसके बीच में वेदिका—बैठने का आसन बना हुआ था ॥९८॥ राजा के स्मरण करते ही दो भूत उनके पास आ गये और नाना प्रकार के सुन्दर नृत्य आदि के द्वारा क्रीडा करते हुए उन्हे हर्ष उपजाने लगे ॥९९॥ इस प्रकार स्त्रियों सहित राजा हर्ष से उस क्रीडापर्वत पर बैठे थे परन्तु अकस्मात् ही वह क्रीडा पर्वत चञ्चल हो उठा और उसके पाषाण इधर उधर विचलित होने लगे ॥१००॥ भयभीत स्त्रियों के आलिङ्गन सम्बन्धी सुख में आसक्त होने पर भी उन्होंने बायें पैर के अंगूठा से दबाकर उस पर्वत को फिर से स्थिर कर दिया ॥१०१॥ तदनन्तर प्रलय काल की वायु के आघात से क्षुभित समुद्र के भारी शब्द के समान चारों ओर अत्यधिक आर्त्तनाद उत्पन्न हुआ ॥१०२॥ उसी समय कोई विद्याधरी आकाश से प्रकट हुयी जो अश्रुपूर्ण लोचनों से युक्त थी, हाथ जोडे हुयी थी पतिव्रता थी और उनसे पति की भीख मांग रही थी ॥१०३॥ अन्तर्गत शोक रूपी अग्नि की दाह से जिसका मुखकमल मुरझा गया था ऐसी वह विद्याधरी सज्जनों से स्नेह करने वाले सज्जन मेघरथ को नमस्कार कर इस प्रकार कहने लगी ॥१०४॥

महाबलवान् पुरुष द्रोह करने वाले भी क्षुद्रजनों से कुपित नहीं होता है क्योंकि मगर मच्छों के द्वारा आघात को प्राप्त होने पर भी समुद्र उन्हें दूर नहीं करता है ॥१०५॥ जिसके चित्त को

---

१ वसन्तश्रियम् ।

सत्त्वानामभयं दातुं सतामीशत्वमीशिषे । यस्यैकापि कृपा विश्वमासाद्यानन्ततां गता ॥१०६॥
मद्भर्तुर्जगतां भर्तः प्रसीदास्तैव सीदतः । त्वद्वामचरणाङ्गुष्ठहेलाक्रान्त्याति[1]कूजतः ॥१०७॥
इति विज्ञापितो राजा तया खेचरयोषया । अङ्गुष्ठं श्लथयामास कृपालुः कान्तभूधरम् ॥१०८॥
ततो रसातलात्सद्यो निर्गत्य खचरेश्वरः । विश्लिष्टमौलिबन्धेन शिरसा प्रणनाम तम् ॥१०९॥
न तथा [2]निर्ववौ श्रान्तः स्वप्रियांशुकमारुतैः । यथा महीक्षितस्तस्य सुप्रसन्नैर्निरीक्षितैः ॥११०॥
क्षणमात्रमिव स्थित्वा विश्रम्य विहिताञ्जलिः । इति प्रसृतवाग्भूपं खेचरेन्द्रो व्यजिज्ञपत् ॥१११॥
आत्मनश्चापलोद्रेकं निस्त्रपः किं ब्रवीम्यहम् । ममाभूत्त्वन्महत्त्वैव प्राणितव्यस्य कारणम् ॥११२॥
भूयते हि प्रकृत्यैव [3]सानुक्रोशैर्महात्मभिः । केनान्तर्गन्धितोयेन संसिक्ताश्चन्दनद्रुमाः ॥११३॥
अक्षान्त्या सर्वतः क्षुद्रो व्याकुलीक्रियते जनः । सदोन्मार्गप्रवर्तिन्या भूरेणुरिव वात्यया ॥११४॥
जिघांसोर्मादृशस्यैव शत्रोरभ्याशवर्तिनः । क्षन्तुमुत्सहते नान्यः समर्थो नीतिमान्नृपः ॥११५॥
इत्थं कृतापराधेऽपि प्रसादमधुरेक्षणम् । तवालोक्याननं भर्तुर्न विशीर्ये [4]नृशंसधीः ॥११६॥

पा कर एक ही कृपा अनन्तपने को प्राप्त हो गयी है ऐसे आप जीवों को अभय और सत्पुरुषों को स्वामित्व देने के लिये समर्थ हैं ॥१०६॥ हे जगत् के स्वामी ! आपके बायें पैर के अंगूठे के दबाने से जो अत्यन्त दुखी हो रहा है तथा अत्यधिक चिल्ला रहा है ऐसे मेरे पति पर प्रसन्न होइये ॥१०७॥ उस विद्याधरी के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर दयालु राजा ने पर्वत को दबाने वाला अगूठा ढीला कर लिया ॥१०८॥ तदनन्तर रसातल से शीघ्र ही निकलकर विद्याधर राजा ने जिसका मुकुटबन्धन अस्त व्यस्त हो गया था ऐसे शिर से राजा मेघरथ को प्रणाम किया ॥१०९॥ थका हुआ वह विद्याधर राजा अपनी स्त्री के अंचल द्वारा की हुई हवा से उस तरह सुखी नहीं हुआ था जिस तरह उस राजा के अतिशय प्रसन्न अवलोकन से हुआ था ॥११०॥ क्षणमात्र ठहर कर तथा विश्राम कर जब वाणी निकलने लगी तब उस विद्याधर राजा ने हाथ जोड़कर राजा घनरथ से इस प्रकार कहा ॥१११॥

मैं निर्लज्ज अपनी चपलता के उद्रेक को क्या कहूं ? मेरे जीवित रहने का कारण आपकी महत्ता ही है ॥११२॥ महात्मा स्वभाव से ही दयालु होते हैं क्योंकि भीतर सुगन्धित जल से चन्दन के वृक्ष किसके द्वारा सींचे गये हैं ? भावार्थ—जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष स्वभाव से ही सुगन्धित होते हैं उसी प्रकार महापुरुष स्वभाव से ही दयालु होते हैं ॥११३॥ जिस प्रकार सदा उन्मार्ग में चलने वाली आंधी के द्वारा पृथिवी की धूलि सब ओर से व्याकुल हो जाती है उसी प्रकार सदा कुमार्ग में प्रवर्ताने वाली अक्षमा—क्रोधपरिणति के द्वारा क्षुद्र जीव सब ओर से व्याकुल कर दिया जाता है ॥११४॥ घात करने के इच्छुक तथा समीप में वर्तमान मेरे जैसे शत्रु को क्षमा करने के लिए अन्य नीतिमान् राजा समर्थ नहीं है ॥११५॥

इस प्रकार मुझ दुष्ट बुद्धि ने यद्यपि आपका अपराध किया है तथापि आपका मुख प्रसाद मधुर नेत्रों से सहित है—आप मुझे प्रसन्नता पूर्ण मनोहर दृष्टि से देख रहे हैं। आपका मुख देख मैं

---

१ अतिपूत्कुर्वतः २ संतुष्टोऽभूत् ३ सदयैः ४ क्रूरधीः 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इतिकोषः ।

आत्मानमनुशोच्यैवं व्यरंसीत्खेचरेश्वरः । असत्कृत्वाप्यहो पश्चादनुशेते[1] कुलोद्भवः ॥११७॥
महीयस्तस्य सौन्दर्यमैश्वर्यं च विलोकयन् । भूपोऽपि विस्मयं भेजे का कथा प्राकृते जने ॥११८॥
प्रियमित्रा ततोऽप्राक्षीत्प्रियमित्रं तमीश्वरम् । प्रदीप इव यद्बोधो [2]रूपिद्रव्ये प्रकाशते ॥११९॥
किंनामायं महानुभावः खेचरः कस्य वा सुतः । केनेयं तन्यते लक्ष्मीरस्य शुद्धेन कर्मणा ॥१२०॥
दम्पत्योरनयोर्देव प्राक् सम्बन्धश्च कीदृशः । कृतकेतरमेतस्याः प्रेमास्मिन् दृश्यते यतः ॥१२१॥
इदमामूलतः सर्वमार्यपुत्र निवेदय । आश्चर्यैः सकलैर्लोके यतस्त्वत्तः प्रसूयते ॥१२२॥
इति देव्या तया पृष्टस्ततोऽवादीद्विशांपतिः । गम्भीरध्वनिना धीरं गिरेर्मुखरयन् गुहाम् ॥१२३॥
द्वीपस्य पुष्कराख्यस्य भारते विद्यते पुरम् । नाम्ना शङ्खपुरं कान्त्या स्वर्गान्तरमिवापरम् ॥१२४॥
तस्य गोप्तुरुदारस्य राजगुप्तः प्रियोऽप्यभूत् । [3]गजतन्त्रेषु [4]निष्णातो [5]महामात्रोऽतिदुर्गतिः[6] ॥१२५॥
न विद्याव्यवसायाद्या हेतवो जन्तुसंपदाम् । इत्यमन्यत यं वीक्ष्य [7]बालिशोऽपि सदा जनः ॥१२६॥
समानकुलशीलासीद्गेहिनी तस्य शङ्खिका । मूर्तेव तन्मनोवृत्तिः प्रीतिविस्रम्भयोः स्थितिः ॥१२७॥

विदीर्ण नहीं हो रहा हूँ—लज्जा से विखिर नहीं रहा हूँ यह आश्चर्य की बात है ॥११६॥ इस प्रकार विद्याधर राजा अपने आप के प्रति शोक कर—पश्चाताप से दुखी होकर चुप हो रहा सो ठीक ही है क्योंकि कुलीन मनुष्य असत् कार्य करके भी पीछे पश्चात्ताप करता है ॥११७॥

उस विद्याधर राजा के बहुत भारी सौन्दर्य और ऐश्वर्य को देखता हुआ राजा मेघरथ भी जब आश्चर्य को प्राप्त हो रहे थे तब साधारण मनुष्य की क्या कथा है ? ॥११८॥ तदनन्तर मित्रों से प्रेम करने वाले उन राजा मेघरथ से प्रियमित्रा ने पूछा जिनका कि ज्ञान रूपी द्रव्य—पुद्गल द्रव्य में किसी बड़े दीपक के समान प्रकाशमान हो रहा था ॥११९॥ यह महानुभाव विद्याधर किस नाम वाला है ? किसका पुत्र है ? और किस शुद्ध कर्म से इसकी यह लक्ष्मी विस्तृत हो रही है ? ॥१२०॥ हे देव ! इस दम्पति का पूर्वभव का सम्बन्ध कैसा है ? क्योंकि इस स्त्री का इस पुरुष में अकृत्रिम प्रेम दिखायी दे रहा है ॥१२१॥ हे आर्यपुत्र ! यह सब आप प्रारम्भ से बताइये क्योंकि लोक में आपसे समस्त आश्चर्य उत्पन्न होते हैं ॥१२२॥ इस प्रकार रानी प्रियमित्रा के द्वारा पूछे गये राजा मेघरथ, गम्भीर ध्वनि से पर्वत की गुहा को मुखरित करते हुए धीरता पूर्वक बोले ॥१२३॥

पुष्कर द्वीप के भरत क्षेत्र में एक शङ्खपुर नामका नगर है जो कान्ति से ऐसा जान पड़ता है मानों दूसरा स्वर्ग ही हो ॥१२४॥ उस नगर के राजा उदार का राजगुप्त नामका एक महावत था जो हस्तिविज्ञान में कुशल था, राजा का प्रिय भी था परन्तु अत्यन्त दरिद्र था ॥१२५॥ जिसे देखकर मूर्ख मनुष्य भी सदा यह मानने लगता था कि जीवों की सम्पत्ति के हेतु विद्या तथा व्यवसाय आदि नहीं है ॥१२६॥ उसकी समान कुल और समान शील वाली शङ्खिका नामकी स्त्री थी जो प्रीति और विश्वास का स्थान थी तथा ऐसी जान पड़ती थी मानों उसकी मूर्तिधारिणी मनोवृत्ति ही हो ॥१२७॥ जिसकी बुद्धि धर्म में तत्पर रहती थी ऐसे उस महावत ने एक बार शङ्खपर्वत पर विद्यमान,

---

१ पश्चात्तापं करोति २ पुद्गलद्रव्ये ३ हस्तिविज्ञानेषु ४ निपुणः ५ 'महावती' इति प्रसिद्धः ६ अत्यन्तदरिद्रः ७ मूर्खोऽपि ।

धर्मोद्युक्तमतिः प्राप्य शङ्खपर्वतवर्तिनम् । सर्वगुप्तं ननामासौ त्रिगुप्तिसहितं मुनिम् ॥१२८॥
तस्मात्सागारिकं धर्मं गृहीत्वा गृहिणीसखः । चतुर्गुणाष्ट[1]कल्याणमुपवासमुपावसत् ॥१२९॥
महाधृतिस्तदन्तेऽसौ लब्ध्वा व्रतधरं यतिम् । काले गृहागतं तुष्यन्नन्धसा[2] समतर्पयत् ॥१३०॥
ध्रियमाणः कलत्रस्य प्रेम्णा चारित्रशालिना । उदस्थित शमस्थोऽपि किञ्चित्कालं गृहस्थितौ ॥१३१॥
बोधिनोपशमेनापि स विधायाधिसंयमम्[3] । मनः सुनिश्चलं धीरो निबधावधि[4]संयमम् ॥१३२॥
मुनेः समाधिगुप्तस्य पादावानम्य सौम्यधीः । आददे स तपश्चर्यां कदर्यो भार्यया समम् ॥१३३॥
एकाग्रमनसाधीत्याचाराङ्गान्यसंगतः । उपावसद्यथाचारं मुनिराचाम्ल[5]वर्धनम् ॥१३४॥
स चतुष्टयमाराध्य हित्वा वेणुवने[6] वपुः । [7]दशार्णवस्थितौ जज्ञे ब्रह्मलोके सुरोत्तमः ॥१३५॥
शङ्खिकाप्यभवद्देवी सौधर्मे स्वेन कर्मणा । परिणामवशाल्लोके भिन्ना स्त्रीपुंसयोर्गतिः ॥१३६॥
राजा विद्युद्रथो नाम राजमानमहोदयः । अशेषितारिरशिषद्विजयार्धमशेषतः ॥१३७॥
तस्य मानसवेगाख्या महादेवी दिवस्पते[8] । [9]पौलोमीवाभवत्कान्ता गुणैरनिमिषेक्षणा ॥१३८॥
तयोर्महात्मनोरेव ताम्यतोः पुत्रकाम्यया[10] । पुत्रो हेमरथाख्योऽभूत्सत्यवागनवद्यधीः ॥१३९॥

तीन गुप्तियों से सहित सर्वगुप्त नामक मुनिराज के पास जा कर उन्हें नमस्कार किया ॥१२८॥ स्त्री सहित उस महाव्रत ने उन मुनिराज से श्रावक का धर्म ग्रहण कर द्वात्रिंशत् कल्याण नामका उपवास किया ॥१२९॥ महाधैर्य शाली उस महावत ने उपवास के पश्चात् चर्या के समय घर पर पधारे हुए व्रतधर मुनिराज को प्राप्त कर हर्षित हो आहार से संतुष्ट किया ॥१३०॥ यद्यपि वह महावत शमभाव में स्थित था—गृह त्यागकर दीक्षा लेना चाहता था तो भी स्त्री के चारित्र से सुशोभित प्रेम से रुककर कुछ समय तक गृहस्थावस्था में उदासीन भाव से स्थित रहा ॥१३१॥ आत्मज्ञान और उपशमभाव से सहित उस धीर वीर ने अपने संयमसुवासित मन को संयम में निश्चल किया ॥१३२॥ सौम्य बुद्धि से युक्त उस दरिद्र वैश्य (महावत) ने समाधिगुप्त मुनि के चरणों को नमस्कार कर स्त्री के साथ तपश्चर्या को स्वीकृत कर लिया ॥१३३॥ निर्ग्रन्थ मुनि ने एकाग्रचित्त से आचाराङ्ग—चरणानुयोग के शास्त्रों का स्मरण कर आचार शास्त्र के अनुसार आचाम्लवर्धन नामका उपवास किया ॥१३४॥ पश्चात् चार आराधनाओं की आराधना कर तथा बांसों के वन में शरीर छोड़कर वह दश सागर की स्थिति वाले ब्रह्मलोक में उत्तम देव हुआ ॥१३५॥ शङ्खिका भी अपने कर्म से सौधर्म स्वर्ग में देवी हुई सो ठीक ही है क्योंकि लोक में परिणामों के वश से स्त्री और पुरुषों की भिन्न भिन्न गति होती है ॥१३६॥ जिसका महान् अभ्युदय शोभायमान था तथा जिसने शत्रुओं को समाप्त कर दिया था ऐसा विद्युद्रथ नामका राजा सपूर्ण रूप से विजयार्ध पर्वत का शासन करता था ॥१३७॥ जिस प्रकार इन्द्र की इन्द्राणी होती है उसी प्रकार उस विद्युद्रथ की मानसवेगा नामकी महादेवी—पट्टरानी थी। वह मानसवेगा सुन्दर थी तथा गुणों से निमेषरहित नेत्रों वाली—देवी थी ॥१३८॥ पुत्र की इच्छा से विकल रहने वाले उन दोनों महानुभावों के यह देव हेमरथ नामका सत्यवादी तथा निष्कलङ्क बुद्धि

---

१ द्वात्रिंशद् २ भोजनेन ३ अधिगतःप्राप्तः संयमो येन तत् ४ संयमे इति अधिसंयमम् ५ आचाम्लवर्धननामतपोविशेषम् ६ वंशवने ७ दशसागरस्थितियुक्तः ८ इन्द्रस्य ९ इन्द्राणीव १० पुत्रेच्छया ।

तदनन्तरं पुरोरेष [1]प्रकृतीरनुरञ्जयन् । व्यधाद्वृद्धिं पितुः श्रीमान्पुत्रो हि कुलदीपकः ॥१४०॥
शङ्खिकापि दिवश्च्युत्वा सैषा प्राप्य शुभा गतीः । नाम्ना पवनवेगेति वर्ततेऽस्य प्रियाधुना ॥१४१॥
जन्मान्तरसहस्राणि विरहः प्राणिनां प्रियैः । कर्मपाकस्य वैषम्यात्स्यात्साम्याच्च समागमः ॥१४२॥
जिनधर्मानुरागेण निषेव्यामितवाहनम् । निवृत्यागच्छतोऽस्यास्माद्विमानं व्योम्नि कीलितम् ॥१४३॥
मामत्र स्थितमालोक्य विमानस्तम्भकारणम् । उन्मूल्य क्षेप्तुमैहिष्ट शैलमामूलतोऽप्ययम् ॥१४४॥
इति खेचरनाथस्य पुराभवमशेषतः । अभिधाय स्वरामायै विरराम महीपतिः ॥१४५॥
खेचरेन्द्रस्ततः श्रुत्वा मेघेन्द्रादात्मनो भवम् । मुमुदे न मुदे केषां स्ववृत्तं सद्भिरीरितम् ॥१४६॥
तस्मिन्काले विनिर्धूय घातिकर्मचतुष्टयम् । समार्हन्त्यश्रियं प्रापच्छुक्लध्यानाद्घनरथोऽमलाम् ॥१४७॥
प्रायाज्जिनपतेः पादौ नन्तुं तस्य क्षतैनसः[2] । भूपो देवागमं वीक्ष्य समं हेमरथेन सः ॥१४८॥
अतिकौतुकवत्पुण्यमतिपूतं समुन्नतम् । तेन तत्पदमासेदे राज्ञा लक्ष्म्या समं ततः ॥१४९॥
[3]चतुस्त्रिंशद्गुणोऽप्येकस्त्रिदशोपासितोऽप्यलम् । यो वीतत्रिदशोऽराजत्सार्वोऽप्यनुपमाननः ॥१५०॥

का धारक पुत्र हुआ ॥१३९॥ तदनन्तर मन्त्री आदि प्रजाजनों को अनुरक्त करते हुए उस लक्ष्मीमान् पुत्र ने पिता की लक्ष्मीवृद्धि की सो ठीक ही है क्योंकि पुत्र कुलदीपक—कुल को प्रकाशित करने वाला होता है ॥१४०॥ वह शङ्खिका भी स्वर्ग से चय कर तथा शुभगतियों को प्राप्त कर इस समय इसकी पवनवेगा नामकी स्त्री हुई है ॥१४१॥ कर्मोदय की विषमता से प्राणियों का प्रेमी जनों के साथ हजारों जन्मो तक विरह रहता है और कर्मोदय की समानता होने पर समागम होता है ॥१४२॥ जिनधर्म के अनुराग से अमितवाहन की सेवा कर वापिस आते हुए इस मानी का विमान आकाश में अटक गया ॥१४३॥ यहां बैठे हुए मुझे देखकर इसने समझा कि विमान के रुकने का कारण यही है इसलिए यह इस पर्वत को जड़ से उखाड़ कर फैकने की चेष्टा करने लगा ॥१४४॥ इस प्रकार राजा मेघरथ अपनी प्रिया के लिए विद्याधर राजा का पूर्वभव पूर्णरूप से कह कर चुप हो गये ॥१४५॥

तदनन्तर विद्याधर राजा, मेघरथ से अपना पूर्वभव सुनकर प्रसन्न हुआ सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषों के द्वारा कहा हुआ अपना वृत्तान्त किनके हर्ष के लिए नही होता ? ॥१४६॥ तदनन्तर उसी समय घनरथ मुनिराज शुक्ल ध्यान से चार घातिया कर्मों को नष्ट कर निर्मल अर्हन्त्य लक्ष्मी—अनन्त चतुष्टय रूप विभूति को प्राप्त हुए ॥१४७॥ देवों का आगमन देख राजा मेघरथ पापों को नष्ट करने वाले उन जिनराज के चरणों को नमस्कार करने के लिए हेमरथ के साथ गये ॥१४८॥ तदनन्तर जो अत्यन्त कौतुक से युक्त था, अतिशय श्रेष्ठ था, पवित्र था, समुन्नत था, और लक्ष्मी से सहित था ऐसा उन जिनराज का स्थान राजा मेघरथ ने प्राप्त किया ॥१४९॥

जो चौतीस गुणों से सहित होकर भी एक थे (परिहार पक्ष में अद्वितीय थे), त्रिदशोपासित—देवों के द्वारा अच्छी तरह उपासित हो कर भी वीतत्रिदश—देवों से रहित थे (पक्ष में बाल यौवन

---

१ मन्त्र्यादिवर्गान् २ नष्टपापस्य ३ चतुस्त्रिंशदतिशय सहितः ।

सहस्रांशुसहस्रौघभासमानेन तेजसा । अन्तर्बहिः स्वदेहस्य भासमानेन संयुतः ॥१५१॥

निराधिः साधितात्मार्थो निष्कलङ्कः पुष्कलः श्रिया । अनश्वरः स्वभावेन कान्तो विद्यामहेश्वरः ॥१५२॥

निरञ्जनं तमीशानं भव्यानामभिरञ्जनम् । जिनेन्द्रं प्राणमद्भक्त्या भूभृद्विद्याभृता समम् ॥१५३॥

अथ हेमरथः पीत्वा तद्वाक्यामृतमञ्जसा । वीततृष्णः प्रवव्राज विमुक्तिसुखलोभितः ॥१५४॥

शार्दूलविक्रीडितम्

भक्त्या तस्य जिनेश्वरस्य चरणावाराधनीयौ सतां
आराध्य श्रुतिपेशलं[1] श्रवणयोः कृत्वा तदीयं वचः ।
रुन्धानस्तपसि प्रसह्य नितरामुत्कण्ठमानं मनो
भूपः कालमपेक्ष्य [2]कालविदसौ प्रायात्पुरं स्वं पुनः ॥१५५॥

धीरः कारुणिकः प्रदानरसिकः सन्मार्गविन्निर्भयो
नान्योऽस्मान्नृपतेरिति प्रियगुणैरुद्घुष्यमाणो जनैः ।

और वृद्ध इन तीन अवस्थाओं से रहित थे) तथा सर्व हितकारी हो कर भी उग्रशासन कठोर आज्ञा से युक्त (पक्ष में अनुल्लङ्घनीय शासन से सहित) थे ॥१५०॥ जो भीतर हजारों सूर्य समूहों के समान देदीप्यमान केवलज्ञान रूप तेज से सहित थे तथा बाहर अपने शरीर के देदीप्यमान भामण्डल रूप तेज से युक्त थे ॥१५१॥ जो मानसिक व्यथा से रहित थे, कृत कृत्य थे, निष्कलंक थे, लक्ष्मी से परिपूर्ण थे, अविनाशी थे, स्वभाव से सुन्दर थे और विद्याओं के महास्वामी थे ॥१५२॥ ऐसे निरञ्जन—कर्म कालिमा से रहित, ऐश्वर्य सम्पन्न तथा भव्यजीवों को आनन्दित करने वाले उन जिनराज-घनरथ केवली को राजा मेघरथ ने विद्याधर राजा हेमरथ के साथ प्रणाम किया ॥१५३॥ तदनन्तर उनके वचनामृत को पीकर जो सचमुच ही तृष्णा रहित हो गया था तथा मुक्ति सुख से लुभा रहा था ऐसे हेमरथ ने दीक्षा ले ली ॥१५४॥

उन जिनेन्द्र भगवान् के सत्पुरुषाराधित चरणों की भक्ति से आराधना कर तथा श्रुतिसुभग वचन सुनकर तप के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होने वाले अपने मन को जिन्होंने बल पूर्वक रोका था ऐसे समय के ज्ञाता राजा घनरथ समय की प्रतीक्षा कर अपने नगर को पुनः वापिस गये ॥१५५॥ इस राजा के सिवाय धीर, दयालु, दान प्रेमी, सन्मार्ग का ज्ञाता तथा निर्भय दूसरा राजा नहीं है इस प्रकार गुणों के प्रेमी लोग जिनकी उच्च स्वर से घोषणा कर रहे थे ऐसे राजा घनरथ अपनी

---

१ कर्णप्रियम् २ कालज्ञः ।

कीर्तेः संश्रवमात्मनो नरपतिः शृण्वन्मुदा प्राविशत्
प्रासादैः प्रचलद्ध्वजायतकरै[1]राकारितो वा पुरीम् ॥१५६॥

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे मेघरथसंभवो नाम
*** एकादशः सर्गः ***

विरुदावली को सुनते हुए हर्ष से नगरी में प्रविष्ट हुए। प्रवेश करते समय वे ऐसे जान पड़ते थे मानों नगरी के भवन अपने ऊपर फहराने वाली ध्वजा रूप लम्बे हाथों से उन्हें बुला ही रहे थे ॥१५६॥

इस प्रकार महाकवि असग द्वारा विरचित शान्तिपुराण में मेघरथ की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला ग्यारहवां सर्ग समाप्त हुआ।

---

१ आहूत इव।

卐

अथ तस्य भुवो भर्तुः समुद्धर्तुर्धनायताम् । व्यतीयुरसमस्यापि [1]समाः काश्चित्सुखान्विताः ॥१॥
जातु कार्तिकमासस्य ज्योत्स्नापक्षे समागते । अघोषयदमोघाज्ञो [2]माघातं परितः पुरीम् ॥२॥
स्थित्वा चाष्टमभक्तेन[3] स स्वभक्तजनैः समम् । जिनस्याष्टाह्निकीं पूजां कुर्वन्नास्ते जिनालये ॥३॥
आययौ शरणं कश्चिद्भीतः [4]पारापतोऽन्यदा । पाहि पाहीति भूपालं वदन् विस्पष्टया गिरा ॥४॥
श्येनोऽपि तदनु प्राप्तं [5]जिघांसुर्बलोद्धतः । विस्मितैर्वीक्ष्यमाणोऽथ सभ्यैरित्याह भूपतिम् ॥५॥

द्वादश सर्ग

अथानन्तर पृथिवी के भर्ता और धन के इच्छुक—निर्धन मनुष्यों का उद्धार करने वाले वे राजा मेघरथ यद्यपि असम थे—समा-वर्षों से रहित थे (परिहार पक्ष में उपमा से रहित थे) तथापि उनकी सुख से सहित कितनी ही समा—वर्ष व्यतीत हो गयी थीं ॥१॥ किसी समय कार्तिक मास का शुक्ल पक्ष आने पर अव्यर्थ आज्ञा के धारक राजा मेघरथ ने नगरी में चारों ओर घोषणा कराई कि कोई जीव किसी जीव का घात न करे ॥२॥ और स्वयं तेला का नियम लेकर अपने भक्तजनों के साथ जिनेन्द्र भगवान् की आष्टाह्निक पूजा करते हुए जिन मन्दिर में बैठ गये ॥३॥ अन्य समय एक भयभीत कबूतर स्पष्ट वाणी से रक्षा करो, रक्षा करो इस प्रकार राजा से कहता हुआ उनकी शरण में आया ॥४॥ उसके पीछे ही बल से उद्धत एक बाज पक्षी भी जो उस कबूतर को मारना चाहता था, आ पहुंचा । आश्चर्य से चकित सभासद उस बाज पक्षी की ओर देख रहे थे । आते ही बाज ने राजा से इस प्रकार कहा ॥५॥ जब आप इस समय अच्छे और बुरे—सब जीवों पर समवृत्ति रक्खे

---

१ वर्षाणि 'हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः। २ 'कश्चित्कस्यचिद् घातं न करोतु' इत्याज्ञाम्
३ दिनत्रयोपवासेन ४ कपोतः ५ हन्तुमिच्छुः ।

सत्स्वसत्स्वपि सत्त्वेषु [1]समवृत्तेस्तवाधुना । कोऽधिकारः शमस्थस्य [2]मत्तस्त्रातुमिमं खगम्[3] ॥६॥
मन्येथा यदि भीतस्य धर्मः संरक्षणादिति । मरणादस्याधर्मोऽपि ॐममैवमशनायतः[4] ॥७॥
दृश्यते सर्वभूतेषु कृपा ते कृतकेतरा[5] । मत्पापात्साऽपि मय्येव निरपेक्षा प्रवर्तते ॥८॥
राज्ञो मेघरथस्याग्रे मृतः श्येनो बुभुक्षया । इति संभृतकीर्तेस्ते मा भूत्कीर्ति[6]विपर्ययः ॥९॥
अस्य वान्यस्य वा मांसैः प्राणान्क्रव्या[7]शिनो मम । ईशिषे त्वं परित्रातुं सर्वभूतहितोद्यतः ॥१०॥
इत्यादाय वचः श्येनो विरराम महीभुजः । लीयमानं तमुत्सङ्गे पश्यन्पारापतं क्रुधा ॥११॥
प्रबोधि क्षणमात्रेण परावर्त्यावधिं प्रभुः । पक्षिणोः प्राक्तनं वैरं प्रवृत्तिं च तदातनीम् ॥१२॥
ततो विशांपतिः श्येनमित्युवाच शनैः शनैः । धर्म्याभिर्लम्भयन्वाग्भिस्तन्मनः प्रशमं परम् ॥१३॥
जिनैरनादिरित्युक्तः सम्बन्धो जीवकर्मणोः । पिण्डशुद्धस्वरूपैस्तु जीवस्त्रेधावतिष्ठते ॥१४॥
एकं कर्म च सामान्यात्तद्भेदाद्भिद्यतेऽष्टधा । हेतवः कर्मणां योगाः कषायवशतः स्थितिः ॥१५॥

हुए हैं और शान्तभाव में स्थित हैं तब मुझसे इस पक्षी की रक्षा करने का आपको क्या अधिकार है ? ॥६॥ यदि आप ऐसा मानते हैं कि भयभीत पक्षी की रक्षा करने से धर्म होता है तो इस तरह मुझ भूखे का मरण होने से अधर्म भी तो होगा ॥७॥ आपकी सब प्राणियों पर स्वाभाविक दया दिखायी देती है परन्तु मेरे पाप से वह दया भी एक मेरे ही विषय में निरपेक्षा हो रही है । भावार्थ— आप सब पर दया करते हैं परन्तु मेरे ऊपर आपको दया नहीं आ रही है ॥८॥ एक बाज भूख से राजा मेघरथ के आगे मर गया यह अपकीर्ति आपकी नही होनी चाहिये क्योंकि आपकी कीर्ति सर्वत्र छायी हुई है ॥९॥ आप सब प्राणियों का हित करने में उद्यत हैं अतः इस कबूतर के अथवा किसी अन्य जीव के मांस से मुझ मासभोगी की प्राण रक्षा करने के लिये समर्थ हैं ॥१०॥ इस प्रकार के वचन कह कर वह बाज चुप हो रहा । वह राजा की गोद में छिपते हुए कबूतर को क्रोध से देख रहा था ॥११॥

राजा मेघरथ अपने अवधिज्ञान को उस ओर परावर्तित कर क्षणभर में उन पक्षियों के पूर्वभव सम्बन्धी वैर और उनकी तत्काल सम्बन्धी प्रवृत्ति को जान गये ॥१२॥ तदनन्तर राजा मेघरथ धर्मयुक्त वचनों से उस बाज पक्षी के मन को धीरे धीरे परम शान्ति प्राप्त कराते हुए इसप्रकार कहने लगे—॥१३॥

जिनेन्द्र भगवान् ने जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है ऐसा कहा है और जीव भी बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार का है ॥१४॥ कर्म सामान्य से एक है परन्तु उत्तर भेदों की अपेक्षा आठ प्रकार से विभक्त हो जाता है । योग, कर्मों के हेतु हैं अर्थात् योगों के कारण कर्मों का आस्रव होता है और कषाय के वश उन कर्मों में स्थिति पड़ती है ॥१५॥ कर्मों से

---

१ समानव्यवहारस्य २ मत्सकाशात् ३ पक्षिणम् ॐ ममैतमशनायतः ब० ४ अशन मिच्छतः बुभुक्षोरित्यर्थः ५ अकृत्रिमा ६ अकीर्तिः ७ मांसभोजिनः ।

कर्मभिः प्रेर्यमाणः सञ्जीवो गतिचतुष्टये । [1]निर्विशन् सुखदुःखानि बम्भ्रमीति समन्ततः ॥१६॥
संसारोत्तरणोपायो नान्योऽस्ति जिनशासनात् । भव्येनैवाप्यते तच्च नाभव्येन कदाचन ॥१७॥
तस्मिन्श्रौ[2]पासको धर्मो निर्मलः स्याच्चतुर्विधः । *शीलोपवासदानेज्यास्तत्प्रकाराः प्रकीर्तिताः ॥१८॥
दानं चतुर्विधं तेषु दानशीलाः प्रचक्षते । आहाराभयशास्त्राणि भैषजं चेति तद्भिदाः ॥१९॥
दानेष्वाहारदानं च पञ्चधेति प्रवर्तते । विधिर्द्रव्यं प्रदाता च पात्रं फलमिति क्रमात् ॥२०॥
अभ्युत्थानं सुमूः शौचं पादयोरर्चना नतिः । त्रिशुद्धिरन्धसः[3] शुद्धिरिति स्यान्नवधा विधिः ॥२१॥
योग्यायोग्यात्मना द्रव्यं द्विधा तेषु विभिद्यते । काल्याणिकं भवेद्योग्यमयोग्यं कनकादिकम् ॥२२॥
श्रद्धा शक्तिः क्षमा भक्तिर्ज्ञानं सत्त्वमलुब्धता । इति सप्त [4]वदान्यस्य वदान्यैरीरिता गुणाः ॥२३॥
पात्रं च त्रिविधं तस्मिन्नुत्तमः संयतो मतः । विरताविरतस्थोऽपि मध्यम. संप्रकीर्तितः ॥२४॥
तत्रासंयतसद्दृष्टिर्जघन्यं पात्रमीरितम् । मिथ्यादृष्टिरपात्रं स्यादिति पात्रविधिः स्मृतः ॥२५॥
स्वर्गभोगभुवां सौख्यं पात्रदानस्य सत्फलम् । [5]इतरस्यापि दानस्य स्यात्फलम् कुमनुष्यता ॥२६॥
द्विधैवाभयदानं स्याद् द्वैविध्याद्भूत[6]संहतेः । अपीडाकरणं तच्च त्रसेषु स्थावरेषु च ॥२७॥

प्रेरित हुआ जीव चारों गतियों में सुख दुःख को भोगता हुआ सब ओर भटक रहा है ॥१६॥ संसार से पार होने का उपाय जिन शासन के सिवाय दूसरा नहीं है। वह जिनशासन भव्य जीव को ही प्राप्त होता है अभव्य जीव को नहीं ॥१७॥ उसमें श्रावक का निर्मल धर्म चार प्रकार का कहा गया है— १ शील व्रत २ उपवास ३ दान और ४ पूजा ॥१८॥ इन चार प्रकार के श्रावक धर्मों में दान शील मनुष्य दान के चार भेद कहते हैं—आहार, अभय, शास्त्र और औषध ॥१९॥ उपर्युक्त दानों में आहार दान, क्रम से विधि द्रव्य, प्रदाता, पात्र और फल के भेद से पांच प्रकार का प्रवर्तता है ॥२०॥ सामने जाकर पड़गाहना, उच्चासन, पाद प्रक्षालन, पूजा, नमस्कार, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, काय शुद्धि, और आहार शुद्धि यह नौ प्रकार की विधि है ॥२१॥ योग्य और अयोग्य के भेद से द्रव्य दो प्रकार का है। कल्याणकारी वस्तु योग्य द्रव्य कहलाती है और सुवर्णादिक अयोग्य द्रव्य ॥२२॥ श्रद्धा, शक्ति, क्षमा, भक्ति, ज्ञान, सत्त्व और अलुब्धता; दाता के ये सात गुण दान शील मनुष्यों ने कहे हैं ॥२३॥ पात्र तीन प्रकार का है। उनमें उत्तम पात्र मुनि माने गये हैं विरता विरत गुणस्थान में स्थित देशव्रती मध्यम पात्र कहे गये हैं और असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र कहा गया है। मिथ्यादृष्टि अपात्र होता है। इसप्रकार पात्रविधि कही गयी है ॥२४-२५॥ स्वर्ग और भोगभूमि का सुख पात्रदान का उत्तम फल है। कुपात्र दान का फल कुभोग भूमि का मनुष्य होना है ॥२६॥ चूंकि जीव समूह दो प्रकार का है अतः अभयदान भी दो प्रकार का है। त्रस तथा स्थावर जीवों को पीड़ा नहीं पहुचाना अभयदान है ॥२७॥ चार अनुयोगों के भेद से उन दानों में शास्त्र दान चार प्रकार का है ऐसा भव्य जीवों के

---

१ भुञ्जानः २ श्रावकीयः * एषा पंक्तिः म प्रतौ त्रुटिता ३ भोजनस्य ४ दातुः ५ कुपात्रदानस्य ६ जीवसमूहस्य ।

चतुर्णामनुयोगानां भेदास्तेषु चतुर्विधम् । भव्यात्मनां प्रशास्तारः शास्त्रदानं प्रचक्षते ॥२८
औषधैश्चात्मना वाचा रोगार्तेषु प्रतिक्रिया । चातुर्वर्ण्येषु सङ्घेषु भैषजं तन्निरुच्यते ॥२९
नीरोगो निर्भयस्वान्तः सर्वविद्भोगवान्भवेत् । भेषजाभय शास्त्रान्नदानानां फलतो भवेत् ॥३०
न त्वं पात्रमिदं देयं न च सन्मार्गवेदिनः । महान्तो नाम कृच्छ्रेऽपि नैवाकार्यं प्रकुर्वते ॥३१
विमुञ्चतु भवान्वैरं राजीवेऽस्मिन्पुरातनम् । भवतोर्वैरसम्बन्धं वदाम्यवहितो भव ॥३२
अस्यैवैरावतक्षेत्रे जम्बूद्वीपस्य संद्युतेः* । विद्यते नगरं नाम्ना पद्मिनीखेटकं महत् ॥३३
तस्मिन्निभ्यकुलोद्भूतः प्रभुर्विपणिनामभूत् । ख्यातः सागरसेनाख्यः स्थित्याकलितसागरः ॥३४
तस्यामितमतिर्नाम्ना विशुद्धमतिसंयुता । रमणी रमणीयाङ्गी धर्मोद्युक्ता प्रियाभवत् ॥३५
तयोः कालेन दम्पत्योर्बभूवतुरुभौ सुतौ । ज्यायान्दत्तस्तयोर्नाम्ना नन्दिषेणस्तथा परः ॥३६
पितर्युपरते[1] कालादशिक्षितकलागुणौ । तावजीगमतां[2]मर्थमनर्थनिरतौ क्षयम् ॥३७
नैर्धन्याद् व्याकुलीभूतमानसौ मानशालिनौ । [3]स्वापतेयार्जनोद्युक्तौ तौ नागपुरमीयतुः ॥३८
[4]मौल्यं तत्पुरवास्तव्यात्पितृमित्रादवाप्य तौ । वणिज्यायै समं वैश्यैर्जग्मतुः स्थलयात्रया ॥३९
अर्जयित्वा यथाकामं सिद्धयात्रतया धनम् । ताभ्यां प्रतिनिवृत्ताभ्यां प्राप्तं शङ्खनदीतटम् ॥४०

हितोपदेशक कहते हैं ॥२८॥ रोग से पीड़ित चतुर्विधसंघ मे औषध, शारीरिक सेवा तथा वचनों द्वारा उनके रोग का प्रतिकार करना औषध दान कहलाता है ॥२९॥ औषध, अभय, शास्त्र औ अन्नदान के फल से यह मनुष्य नीरोग, निर्भय हृदय, सर्वज्ञ और भोगवान् होता है ॥३०॥ न तु पात्र हो और न यह देय है । सन्मार्ग के ज्ञाता ज्ञानी पुरुष कष्ट के समय भी अकार्य नहीं करते ॥३१॥ इस राजीव पर आप अपना पुराना वैर छोड़ो । आप दोनों के वैर का सम्बन्ध मैं कहता सावधान होओ ॥३२॥

इस कान्ति संयुक्त जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में पद्मिनीखेट नामका एक बड़ा नगर है ॥३३ उसमें वैश्य कुलोत्पन्न तथा मर्यादा से समुद्र की उपमा प्राप्त करने वाला सागरसेन नामका एक वैश्य शिर मणि था ॥३४॥ उसकी अमितमति नामकी स्त्री थी । जो विशुद्ध बुद्धि से सहित थी, सुन्दर शरी वाली थी, धर्म में सदा तत्पर रहती थी और पति को अत्यन्त प्रिय थी ॥३५॥ उन दोनों के कालक्र से दो पुत्र हुए बड़े पुत्र का नाम दत्त और छोटे पुत्र का नाम नन्दिषेण था ॥३६॥ उन दोनों पुत्रों कोई कला तथा गुण नही सीखे तथा अनर्थकारी कार्यों में संलग्न हो गये । इसलिये पिता का देहान होने पर उन्होंने कुछ समय में ही धन नष्ट कर दिया ॥३७॥ निर्धनता के कारण उनका मन व्याकु हो गया । अन्त में मान से सुशोभित वे दोनों धन कमाने के लिये उद्यत हो नागपुर गये ॥३८॥ उ पद्मिनीखेट नगर में उनके पिता का एक मित्र रहता था उससे पूंजी लेकर वे व्यापार के लिए वैश्य के साथ स्थल यात्रा से गये ॥३९॥ उनकी यात्रा सफल हुई इसलिए इच्छानुसार धन कमाकर लौटे लौटते समय वे शङ्ख नदी के तट पर आये ॥४०॥ बड़ा भाई दत्त श्रम से दुखी हो गया था इसलि

---

* सद्द्युतेः ब० १ मृते २ प्रापयताम् ३ धनोपार्जन तत्परौ ४ मूलद्रव्यम् ।

ज्येष्ठस्तस्मिन् ह्रदोपान्तरूढजम्बूतरोस्तले । अशेत शीतलच्छाये पीततोयः श्रमातुरः ॥४१॥
हनिष्यामीति तं लोभात्कनीयान्समचिन्तयत् । केषां मनः सकालुष्यं कषायैर्न विधीयते ॥४२॥
तस्य [1]कौक्षेयकाघाताज्ज्यायान्सुप्तोत्थितोऽवधीत् । तं पुनः कुपितावेवं तावन्योन्यं प्रजघ्नतुः ॥४३॥
परस्परासिघातेन तौ पतित्वा व्रणाङ्कितौ । ह्रदस्य मम्रतुर्मध्ये ग्राहग्रस्तान्त्रमण्डलौ ॥४४॥
तत्रैवोपवने रम्ये दत्तः पारावतोऽभवत् । नन्दिषेणोऽभवस्त्वञ्च श्येनो निर्दयमानसः ॥४५॥
इति भूपतिना प्रोक्तं स्वस्य श्रुत्वा पुराभवम् । खगौ जातिस्मरौ भूत्वा स्वतो वैरं निरासताम् ॥४६॥
तावुद्बाष्पदृशौ भूयः कूजन्तौ गद्गदस्वरम् । अन्योऽन्यं पक्षपालिभ्यां प्रीतावाश्लिक्षतां क्षणम् ॥४७॥
तयोर्विस्पष्टवाक्यस्य कारणं करुणापरः । अभ्यधादिति भूपेन्द्रो भ्रात्रा पृष्टोऽतिकौतुकात् ॥४८॥
संजयन्त्याः पुरः स्वामी संजयो नाम खेचरः । दमितारिवधे [2]अघ्ने क्रुधानिघ्नेन यो मया ॥४९॥
संसृतौ सुचिरं कालं स संसृत्याभवत्सुतः । तापसस्याथसोमस्य श्रीदत्तागर्भसंभवः ॥५०॥
सरितो निर्वृतेस्तीरे कैलासोपान्तिकस्थितेः । अचरत्स तपो घोरं प्रकाशे काश्यपाश्रमे ॥५१॥
ऐशानं कल्पमासाद्य चिराय तपसः फलात् । सुरः सुरूप इत्यासीन्नाम्ना च वपुषा च सः ॥५२॥

पानी पीकर ह्रद के समीप उत्पन्न जम्बू वृक्ष के शीतल छाया से युक्त तल में सो गया ॥४१॥ लोभवश छोटे भाई ने विचार किया कि मैं इसे मार डालूं। ठीक ही है क्योंकि कषायों के द्वारा किनका मन कलुषित नहीं किया जाता ? ॥४२॥ उसकी तलवार पड़ने से बड़ा भाई सोते से उठ खड़ा हुआ और छोटे भाई को मारने लगा। इस प्रकार क्रोध से भरे हुए दोनों भाई परस्पर एक दूसरे को मारने लगे ॥४३॥ परस्पर तलवार के प्रहार से दोनों घायल होकर ह्रद के बीच में गिर कर मर गये तथा मगर-मच्छों ने उनकी आंतों के समूह खा लिये ॥४४॥ उसी नगर के सुन्दर उपवन में दत्त तो कबूतर हुआ और तू नन्दिषेण क्रूर हृदय बाज हुआ है ॥४५॥ इस प्रकार राजा के द्वारा कहे हुये अपने पूर्वभव को सुनकर दोनों पक्षियों को जाति स्मरण हो गया जिससे उन्होंने स्वयं ही वैर छोड़ दिया ॥४६॥ जिनके नेत्रों से आंसू निकल रहे थे तथा जो बार बार गद्‌गद् स्वर से शब्द कर रहे थे ऐसे पीति से युक्त दोनों पक्षी क्षण भर अपने पङ्खों से परस्पर आलिङ्गन करते रहे ॥४७॥ भाई दृढ़ रथ ने अत्यधिक कौतुक के कारण राजा मेघरथ से उन पक्षियों के मनुष्य के समान स्पष्ट बोलने का कारण पूछा इसलिए दयालु होकर वे इस प्रकार कहने लगे ॥४८॥

संजयन्तीपुर का स्वामी एक संजय नाम का विद्याधर था जो दमितारि के वध के समय क्रोध के अधीन हुए मेरे द्वारा मारा गया था ॥४९॥ संसार में चिरकाल तक भ्रमण कर वह सोम नामक तापस का उसकी श्रीदत्ता स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होने वाला पुत्र हुआ ॥५०॥ उसने कैलास पर्वत के समीप में स्थित निर्वृति नामक नदी के तीर पर काश्यप ऋषि के आश्रम में प्रकाश में बैठकर घोर तपश्चरण किया ॥१५१॥ चिरकाल बाद वह तप के फल से ऐशान स्वर्ग को प्राप्तकर नाम और शरीर दोनों से

---

१ खड्गनिपातात्   २ मारितः ।

प्राणिनामभयं दातुं तेषां विनयनाय च । क्षमो मेघरथाद्भूपो नान्य इत्यभ्यधाद् वृषा[1] ।।५३।।
इतीन्द्रेणेरितं श्रुत्वा मद्यशस्तत्पिधित्सया । वाग्वृत्तिः पक्षिणोरेषा तेनाकारि [2]सुधाभुजा ।।५४।।
इत्युक्त्वावसिते तस्मिन्स्ववृत्तान्तं महीपतिः । प्रादुरासीत्सुरः प्रह्वः स्वरुचा द्योतयन्सभः ।।५५।।
तस्याप्य[3]पारिजातस्य [4]पारिजाताञ्चितौ पदौ । कृत्वा राज्ञः क्रमादेवं स देवो वाक्यमाददे ।।५६।।
संतापः सर्वलोकस्य निरासि कृपया तव । वृष्टया नवाम्बुदस्येव विनिर्धूतरजःस्थितेः ।।५७।।
केऽन्ये प्रशममाधातुं तिरश्चामेवमीशते । भूभृतापि त्वयाभारि कथं धाम तपोभृताम् ।।५८।।
परप्रशमनायैव त्वादृशस्योदयः सतः । यथा तमोपहस्येन्दोर्जगदानन्ददायिनः ।।५९।।
लक्ष्यते पारमैश्वर्यं भावि ते भावितात्मनः । एवंविधैर्गुणैरेभिर्न्यक्कृतान्यगुणोत्करैः ।।६०।।
इति स्तुत्वा महीनाथं सुरः स्वावासमभ्यगात् । घनान्सेन्द्रायुधीकुर्वन्मार्गस्थान्मुकुटांशुभिः ।।६१।।

सुरूप देव हुआ । भावार्थ—उस देव का नाम सुरूप था तथा शरीर से भी वह सुन्दर रूप वाला था ।।५२।। एक बार इन्द्र ने कहा कि प्राणियों को अभय दान देने तथा उन्हें शिक्षित करने के लिए समर्थ मेघरथ के सिवाय दूसरा राजा नहीं है ।।५३।। इस प्रकार इन्द्र के द्वारा कहे हुए मेरे यश को सुनकर उसे छिपाने की इच्छा से उस देव ने इन पक्षियों की यह वचन वृत्ति कर दी है ।।५४।। इस प्रकार अपना वृत्तान्त कह कर जब राजा मेघरथ चुप हो रहे तब वह देव अपनी कान्ति से सभा को देदीप्यमान करता हुआ नम्र भाव से प्रकट हुआ ।।५५।। राजा मेघरथ यद्यपि अपारिजात थे—पारिजात—कल्प वृक्ष के पुष्पों से रहित थे (पक्ष में शत्रु समूह से रहित थे) तथापि उस देव ने उनके चरणों को पारिजाताञ्चित—कल्पवृक्ष के पुष्पों से पूजित किया था । पूजा करने के बाद उसने क्रम से इस प्रकार के वचन कहे ।।५६।।

जिस प्रकार विनिर्धूतरजः स्थितेः—धूली की स्थिति को दूर करने वाले नूतन मेघ की वृष्टि से सर्वजगत् का संताप दूर हो जाता है उसी प्रकार विनिर्धूतस्थितेः—पाप की स्थिति को दूर करने वाले आपकी कृपा से सर्व जगत् का संताप दूर किया गया है ।।५७।। ऐसे दूसरे कौन हैं, जो तिर्यञ्चों के भी शान्ति धारण कराने के लिए समर्थ हों ? आपने राजा होकर भी तपस्वियों का भार धारण किया है ।।५८।। जिस प्रकार अन्धकार को नष्ट करने वाले तथा जगत् को आनन्ददायी चन्द्रमा का उदय दूसरों को शान्ति प्रदान करने के लिए होता है उसी प्रकार अज्ञानान्धकार को नष्ट करने तथा जगत को आनन्द देने वाले आप जैसे सत्पुरुष का उदय दूसरों की शान्ति के लिये हुआ है ।।५९।। आप आत्मस्वरूप की भावना करने वाले हैं । अन्य मनुष्यों के गुण समूह को तिरस्कृत करने वाले आपके ऐसे गुणों से आपका आगे होने वाला पारमैश्वर्य—परमेश्वरपना प्रकट होता है ।।६०।। इस प्रकार राजा की स्तुति कर वह देव मुकुट की किरणों से मार्गस्थित मेघों को इन्द्रधनुष से युक्त करता हुआ अपने निवास स्थान पर चला गया ।।६१।। मार्ग का उपदेश देने वाले राजा मेघरथ के द्वारा

---

१ इन्द्रः २ देवेन ३ अपगतं विनष्टम् अरिजात शत्रुसमूहो यस्य तस्य ४ पारिजाताञ्चितौ कल्पवृक्ष पुष्प पूजितौ ।

राज्ञा प्रणीतमार्गेण कृत्वोत्क्रान्तिं पतत्रिणौ । ग्रत्युद्धभवनाभोगावभूतां [1]भावनौ सुरौ ।।६२।।
उपवासावसानेऽथ संप्रपूज्य जिनेश्वरम् । ग्रगादवभृथस्नातो भूपो हृष्टः स्वमन्दिरम् ।।६३।।
[2]निशान्तमेकदा तस्य प्रशान्तचरितान्वितः । यतिर्दमधरो धाम्नो विवेश विशदश्रियः ।।६४।।
ग्रचिन्तितागतं राजा तं यथाविध्यभोजयत् । भुक्त्वा यथागमं सोऽपि तद्गृहान्निरगाद्यतिः ।।६५।।
ग्रावर्तत प्रावृडम्भोदगम्भीरध्वनिना ततः । दिव्यदुन्दुभिघोषेण दिक्षु तद्दानघोषिणा ।।६६।।
ग्रनुद्भूतरजोभ्रान्तिर्निर्वापितमहीतलः । मन्दं मन्दं सुराजेव सुगन्धिः पवनो ववौ ।।६७।।
ग्रपाति सुमनोवृष्टया सुमनीकृतभृङ्गया । सौरभाक्रान्तककुभा दिवो दिविजमुक्तया ।।६८।।
दिशः पिशङ्गयन्त्याशा निपतन्त्या रुचाप्यवत् । विद्युतामिव संहत्या वसुधा [3]वसुधारया ।।६९।।
ग्रहो दानमहो दानमिति वाचो [4]दिवौकसाम् । ग्रङ्गुलीस्फोटसंमिश्रा विचेरुः परितः पुरीम् ।।७०।।
स [5]इत्यर्यः सतां प्राप्तपञ्चाश्चर्यः समं सुरैः । विस्मयाद् ददृशे पौरैर्बहुदृष्टोऽप्यदृष्टवत् ।।७१।।
ईशानेन्द्रोऽन्यदा मौलिन्यस्तहस्तसरोरुहः । ननाम क्षितिमुद्दिश्य नमितामरसंहतिः ।।७२।।

जीवन में उत्कृष्टक्रान्ति—ग्रत्यधिक सुधार कर दोनों पक्षी ग्रत्यन्त श्रेष्ठ भवनों के विस्तार से सहित भवनवासी देव हुए ।।६२।।

तदनन्तर उपवास की समाप्ति होने पर जिनेन्द्र भगवान् की पूजा कर यज्ञान्तस्नान करने वाले राजा मेघरथ हर्षित हो ग्रपने भवन गये ।।६३।। एक समय निर्मल लक्ष्मी के स्थान स्वरूप राजा मेघरथ के ग्रन्तःपुर में प्रशान्तचारित्र से सहित दमधर नामक मुनिराज ने प्रवेश किया ।।६४।। ग्रचिन्तित ग्राये हुए उन मुनिराज को राजा ने विधिपूर्वक ग्राहार कराया ग्रौर वे मुनिराज भी ग्रागम के ग्रनुसार ग्राहार कर उनके घर से चले गये ।।६५।। तदनन्तर वर्षाकालीन मेघ के समान गम्भीर शब्द से युक्त तथा उनके दान की घोषणा करने वाला दिव्यदुन्दुभियों का शब्द दिशाग्रों में होने लगा ।।६६।। उत्तम राजा के समान रज—धूली (पक्ष में पाप) के संचार को रोककर पृथिवी तल को संतुष्ट करने वाली सुगन्धित वायु धीरे धीरे बहने लगी ।।६७।। जिसने भ्रमरों को हर्षित किया था तथा सुगन्धि से दिशाग्रों को व्याप्त किया था ऐसी देवों के द्वारा ग्राकाश से छोड़ी हुई पुष्पवृष्टि होने लगी ।।६८।। कान्ति से दिशाग्रों को पीला करने वाली, ग्राकाश से पड़ती हुई रत्नों की धारा से पृथिवी ऐसी सुशोभित हो गई मानों बिजलियों के समूह से ही सुशोभित हुई हो ।।६९।। 'ग्रहोदानम्' 'ग्रहोदानम्' यह देवों के वचन उनकी तालियों के शब्दों से मिश्रित होकर नगरी के चारों ग्रोर फैल रहे थे ।।७०।। इस प्रकार जिसे पञ्चाश्चर्य प्राप्त हुए थे ऐसा वह सज्जनों का स्वामी राजा मेघरथ, यद्यपि ग्रनेको बार देखा गया था तो भी देवों के साथ नगरवासियों के द्वारा ग्राश्चर्य से ग्रदृष्ट के समान देखा गया ।।७१।।

तदनन्तर किसी ग्रन्य समय देव समूह को नम्रीभूत करने वाले ईशानेन्द्र ने पृथिवी को लक्ष्य कर हस्तकमलों को मस्तक पर लगा नमस्कार किया ।।७२।। ग्राश्चर्य से युक्त इन्द्राणी ने उस इन्द्र

---

१ भवनवासिनौ २ गृहम् ३ रत्नधारया 'वसु तोये धने मणौ' इति कोषः ४ देवानाम् ५ स्वामी 'ग्रर्यः स्वामिवैश्ययोः' ।

¹स्वयं वामभिवन्द्येन कस्त्वया वन्दितः प्रभो । तमपृच्छदितीन्द्राणी सुरेन्द्रं विस्मयाकुला ॥७३॥
राजा मेघरथो नाम धैर्यराशिर्मया नतः । तिष्ठन्नप्रतिमो रात्रिप्रतिमां प्रीतचेतसा ॥७४॥
इतीन्द्रेणेरितं तस्य भेत्तुं धैर्यं सुरस्त्रियौ । श्रुत्वावतेरतुर्भूमिमरजा विरजा च ते ॥७५॥
अथ चैत्यालयस्याग्रे ²विविक्तबलिशोभिते । ऊर्ध्वस्थितमतिप्रांशुमानस्तम्भमिवापरम् ॥७६॥
बाह्यकक्षाविभागस्थैः शान्तभावैरनायुधैः । वाचं³यमायमानैः स्वैर्भृत्यैः कैश्चिदुपासितम् ॥७७॥
चिन्तयन्तमनुप्रेक्षां ⁴घोणाग्रनिहितेक्षणम् । दधानं शान्तया वृत्त्या सजीवप्रतिमाकृतिम् ॥७८॥
तारागणैः ⁵प्रतीकेषु सर्वतः प्रतिबिम्बितैः । निष्पतद्भिः स्वतो युक्तं यशसः प्रकरैरिव ॥७९॥
ध्यानाच्छिथिलगात्रेभ्यः पतद्भिर्मणिभूषणैः । रागभावैरिवान्तःस्थैर्मुच्यमानं समन्ततः ॥८०॥
अतरङ्गमिवाम्भोधिमकाननमिवाचलम् । क्ष्मापं ददृशतुर्देव्यौ तं विमुक्तपरिच्छदम् ॥८१॥

(षड्भिः कुलकम्)

वचसा चेष्टितेनापि शृङ्गाररसशालिना । ते तस्य मनसः क्षोभं चक्रतुर्न सुरस्त्रियौ ॥८२॥
⁶सौभाग्यभङ्गसंभूतत्रपाविनमितानने । ततः सुराङ्गने नत्वा पुनः स्वास्पदमीयतुः ॥८३ ।

से पूछा कि हे प्रभो ! आप स्वयं देवों के वन्दनीय हैं फिर आपने किसे नमस्कार किया है ? ॥७३॥ प्रसन्न चित्त इन्द्र ने कहा कि रात्रि के समय प्रतिमा योग धारण करने वाले धैर्य की राशि स्वरूप अनुपम राजा मेघरथ को मैंने नमस्कार किया है । इसप्रकार इन्द्र का कथन सुन कर राजा मेघरथ के धैर्य को भग्न करने के लिये अरजा और विरजा नाम की दो देवाङ्गनाएं पृथिवी पर उतरीं ॥७४-७५॥ तदनन्तर पवित्र रङ्गावली से सुशोभित चैत्यालय के आगे जो खडे हुए थे तथा अत्यन्त ऊंचे दूसरे मानस्तम्भ के समान जान पड़ते थे । बाह्य कक्षा के विभाग में स्थित, शान्तचित्त, शस्त्ररहित और मौन से स्थित अपने कुछ भृत्य जिनकी उपासना कर रहे थे, जो अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन कर रहे थे, नासिका के अग्रभाग पर जिनकी दृष्टि लग रही थी, जो शान्तवृत्ति सजीव प्रतिमा की आकृति को धारण कर रहे थे, अङ्गों में सब ओर से प्रतिबिम्बित तारागणों से जो ऐसे जान पड़ते थे मानों अपने आप से निकलने वाले यश के समूहों से ही युक्त हों, ध्यान से शिथिल शरीर से गिरते हुए मणिमय आभूषणों से जो ऐसे जान पड़ते थे मानों भीतर स्थित राग भाव ही उन्हें सब ओर से छोड़ रहे हों, जो लहरों से रहित समुद्र के समान थे, वन से रहित पर्वत के समान जान पड़ते थे और जिन्होंने सब वस्त्रादि को छोड़ दिया था ऐसा राजा मेघरथ को उन देवाङ्गनाओं ने देखा ॥७६-८१॥ शृङ्गार रस से सुशोभित वचन और चेष्टा के द्वारा भी वे देवाङ्गनाएं उनके मन में क्षोभ उत्पन्न नही कर सकीं ॥८२॥ तदनन्तर सौभाग्य के भङ्ग से उत्पन्न लज्जा के द्वारा जिनके मुख नीचे की ओर झुके हुए थे ऐसी वे देवाङ्गनाएं नमस्कार कर पुनः अपने स्थान पर चली गयीं ॥८३॥ इस प्रकार परमार्थ से

---

१ देवानाम् २ पवित्ररङ्गावली शोभिते ३ मौनस्थितैः ४ नासिकाग्रस्थापितलोचनं ५ अवयवेषु
६ सौभाग्यस्य भङ्गेन संभूता समुत्पन्ना या त्रपा लज्जा तया विनमितं आननं ययोस्ते ।

इति निर्वृत्य[1] शुद्धात्मा [2]यामिनीयोगमञ्जसा । चिरं रराज राजेन्द्रो जनैः प्रातरपीक्षितः ॥८४॥
अथाभ्यागमतां केचित्प्रियमित्रां प्रियस्थितिम् । [3]नार्यावर्यकलत्राभे प्रतिहार्या प्रवेशिते ॥८५॥
[4]उपनीतोपदे सम्यगासीने स्वोचितासने । देव्येत्यभिदधाते स्म किमर्थं मामुपागते ॥८६॥
ते प्रश्नानन्तरं तस्या वाचमित्थमवोचताम् । विद्धि नौ तव सौन्दर्यं कौतुकाद् द्रष्टुमागते ॥८७॥
इति स्वाकूतमावेद्य स्थितवत्योस्तयोरसौ । द्रक्ष्यथो मामथेत्याह युवां स्नानविभूषिताम् ॥८८॥
इत्युदीर्य तथात्मानमाकल्प्या[5]कल्पशोभितम् । सा तयोर्दर्शयामास ते च वीक्ष्येत्यवोचताम् ॥८९॥
तव रूपं पुरा दृष्टादगाद्बहुतरं क्षयम् । तथा हि नश्वरी कान्तिरसारा मर्त्यधर्मिणाम् ॥९०॥
तथापि तव लावण्यं गलत्तारुण्यमप्यलम् । जेतुमप्सरसां रूपमपि [6]स्थायुकयौवनम् ॥९१॥
सुरूपस्त्रीकथास्विन्द्रः प्राशंसीद्भवतीं यथा । तथा त्वमिति ते प्रोच्य तिरोऽभूतां सुरस्त्रियौ ॥९२॥
जाता भूयिष्ठनिर्वेदा रूपह्रासश्रवात्ततः । राज्ञे न्यवेदयद्राज्ञी तद्वृत्तान्तं त्रपान्विता ॥९३॥
अथ क्षणमिव ध्यात्वा जगाद जगतीपतिः । कायस्य [7]फल्गुतामित्थं वल्लभां वल्गु बोधयन् ॥९४॥

रात्रि योग पूरा कर जिनकी आत्मा शुद्ध हुई थी तथा प्रातःकाल भी जिन्हें लोगों ने देखा था ऐसे राजाधिराज मेघरथ चिरकाल तक सुशोभित हुए ॥८४॥

अथानन्तर कोई दो स्त्रियां जो रानी के समान सुशोभित थीं और प्रतिहारी ने जिन्हें भीतर प्रवेश कराया था, मर्यादा का पालन करने वाली रानी प्रियमित्रा के सन्मुख आयी ॥८५॥ जब वे स्त्रियां भेंट देकर अपने योग्य आसन पर अच्छी तरह बैठ गयीं तब प्रियमित्रा ने उनसे कहा कि आप किस लिए मेरे पास आई हैं ? ॥८६॥ इस प्रश्न के बाद उन स्त्रियों ने इस प्रकार का वचन कहा कि आप हम दोनों को कौतूहल वश आपका सौन्दर्य देखने के लिए आई हुई समझें ॥८७॥ इस प्रकार अपना अभिप्राय कहकर जब वे स्त्रियां बैठ गयी तब प्रियमित्रा ने उनसे कहा कि जब मैं स्नान कर आभूषण विभूषित हो जाऊं तब आप देखिए ॥८८॥ यह कहकर तथा अपने आपको आभूषणों से विभूषित कर उसने उन स्त्रियों के लिए दिखाया । देखकर उन स्त्रियों ने कहा कि तुम्हारा रूप पहले देखे हुए रूप से बहुत क्षय को प्राप्त हो गया है—कम हो गया है ठीक ही है क्योंकि मनुष्यों की कान्ति नश्वर तथा निःसार होती ही है ॥८९–९०॥ इतने पर भी यद्यपि तुम्हारा लावण्य ढलती हुई जवानी से युक्त है तो भी वह स्थायी यौवन से सुशोभित अप्सराओं के भी रूप को जीतने के लिए समर्थ है ॥९१॥ इन्द्र ने सुरूपवती स्त्रियों की कथा चलने पर आपकी जैसी प्रशंसा की थी आप वैसी ही हैं, यह कहकर दोनो देवाङ्गनायें तिरोहित हो गयी ॥९२॥

तदनन्तर रूप के ह्रास की बात सुन कर जिसे अत्यधिक वैराग्य उत्पन्न हो गया था ऐसी रानी ने लज्जायुक्त हो राजा के लिये उन देवियों का वृत्तान्त कहा ॥९३॥ पश्चात् क्षणभर ध्यान कर राजा प्रिया को शरीर की निःसारता बतलाते हुए सुन्दरता पूर्वक इस प्रकार कहने लगे ॥९४॥

---

१ समाप्तं कृत्वा २ रात्रिप्रतिमायोगम् ३ नार्यौ अर्यकलत्राभे इतिच्छेदः ४ समर्पितोपहारे ५ अलंकारालंकृताम् ६ स्थिरतारुण्यम् ७ निःसारताम् ।

देहस्यास्य नृणां हेतू स्यातां [1]लोहितरेतसी । किं तन्मयस्य सौन्दर्यमध्याहार्यं तु केवलम् ।।९५।।
कष्टं तथाविधं बिभ्रदप्यहंयुः[2] कलेवरम् । [3]शुभंयुर्न भवेज्जातु जीवः कर्ममलीमसः ।।९६।।
मानुष्यकं तथापीदं भवकोटिसुदुर्लभम् । देहिनां धर्महेतुत्वात्सुधर्माणः प्रचक्षते ।।९७।।
अनेकरागसंकीर्णं [4]घनलग्नमपि क्षणात् । मानुष्यं यौवनं वित्तं नश्यतीन्द्रधनुर्यथा ।।९८।।
तडिदुन्मेषतरला मर्त्यानां किं न संपदः । आयुश्च वायुनिर्धूततृणबिन्दुपरिप्लवम् ।।९९।।
वपुर्निसर्गबीभत्सं पूतिगन्धि विनश्वरम् । मलस्यन्दिनवद्वारं किं रम्यं कृमिसंकुलम् ।।१००।।
तथाप्यन्योन्यमुत्पन्नमोहात्कामयमानयोः । वपू रम्यमिवाभाति किं न स्त्रीपुंसयोरिदम् ।।१०१।।
[5]आपातमधुरान्भोगान् विप्रयोगाभिपातिनः । दुःप्राप्यानप्यहो वाञ्छन्मूढस्ताम्यति केवलम् ।।१०२।।
यत्सुखायान्यसांनिध्यात्तन्न दुःखाय किं भवेत् । तदपायादिति व्यक्तं रागान्धो नावगच्छति ।।१०३।।
इन्द्रियार्थगणेनापि सेव्यमानेन सन्ततम् । नात्मनोऽपास्यते तृष्णा सतृष्णः कः सुखायते ।।१०४।।
अनभ्यासात्सुदुर्बोधं विमुक्तिसुखमङ्गिनाम् । दुःखमेव हि संसारे सुखमित्युपचर्यते ।।१०५।।

मनुष्यों के इस शरीर का हेतु रज और वीर्य है इसलिये रज और वीर्य से तन्मय शरीर की सुन्दरता क्या है ? वह तो मात्र काल्पनिक है ।।९५।। कष्ट इस बात का है कि ऐसे शरीर को धारण करता हुआ भी यह कर्ममलिन जीव अहंकार से युक्त होता है शुभभावों से युक्त कभी नही होता ।।९६।। फिर भी यह मनुष्य का भव धर्म का हेतु होने से प्राणियों के लिये करोड़ों भवों में दुर्लभ है, ऐसा धर्मात्मा जीव कहते हैं ।।९७।। जिसप्रकार अनेक रङ्गों से युक्त इन्द्र धनुष, घनलग्न—मेघ में सलग्न होने पर भी क्षण भर में नष्ट हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य जन्म, यौवन और धन घनलग्न—अत्यंत निकटस्थ होने पर भी क्षण भर में नष्ट हो जाता है ।।९८।। मनुष्यो की संपदाएं क्या बिजली की कौंद के समान चञ्चल नही हैं ? और आयु वायु से कम्पित तृण की बूंद के समान विनश्वर नहीं है ? ।।९९।। जो स्वभाव से ग्लानि युक्त है, दुर्गन्धमय है, विनश्वर है, जिसके नव द्वार मल को झराते रहते हैं तथा जो कीड़ों से भरा हुआ है ऐसा यह शरीर क्या रमणीय है ? अर्थात् नहीं है ।।१००।। तो भी उत्पन्न हुए मोह से परस्पर–एक दूसरे को चाहने वाले स्त्री पुरुषो के लिये यह शरीर क्या सुन्दर के समान नही जान पड़ता ? ।।१०१।। जो प्रारम्भ मे मनोहर है, पीछे वियोग में डालने वाले हैं तथा कठिनाई से प्राप्त होते है ऐसे भोगों की इच्छा करता हुआ यह मूर्ख मनुष्य केवल दुःखी होता है यह आश्चर्य की बात है ।।१०२।। जो अन्य पदार्थों के सांनिध्य से सुख के लिये होता है वह उनके नष्ट हो जाने से दुःख के लिये क्यों न हो, इस स्पष्ट बात को राग से अन्धा मनुष्य नहीं जानता है ।।१०३।। इन्द्रियों के विषय समूह का निरन्तर सेवन किया जाय तो भी उससे आत्मा की तृष्णा दूर नहीं होती है सो ठीक ही है क्योंकि तृष्णा से युक्त कौन मनुष्य सुखी होता है ? अर्थात् कोई नहीं ।।१०४।। प्राणियों के लिये मोक्ष सुख का अभ्यास नहीं है इसलिए वह दुर्ज्ञेय—कठिनाई से जानने योग्य है

---

१ रजोवीर्ये २ अहंकारयुक्तः ३ शुभोपेतः ४ घनं सान्द्रं यथा स्यात्तथा लग्नं पक्षे घने मेघे लग्नं
५ आपाते प्रारम्भे मधुरास्तान् ।

सर्वं दुःखं पराधीनमात्माधीनं परं सुखम् । इतीदं वदते लोको निरालोकेऽपि वर्तते ॥१०६॥
[1]योगहेतुभिरत्यन्तनिर्बध्यमानस्य कर्मभिः । अवेलकटुविपाकान्तैः कुतः स्वातन्त्र्यमात्मनः ॥१०७॥
इन्द्रियाणि शरीराणि पञ्च च क्षेत्रवेदिनः । आत्मनोऽत्यन्तभिन्नानि कार्मणानि प्रचक्षते ॥१०८॥
[2]कर्मपाथेयमादाय चतुर्गतिमहाटवीम् । आत्माध्वगः सदा भ्राम्यन्सुखदुःखानि निर्विशेत् ॥१०९॥
[3]आङ्गिकं मानसं दुःखमपि श्वभ्रनिवासिना[4] । सदानुभूयते घोरमात्मना कर्मपाकतः ॥११०॥
तस्मात्किञ्चिदिव न्यूनं तैरश्चीं गतिमीयुषः । दुःखमित्याहुरात्मज्ञा जीवस्यानात्मवेदिनः ॥१११॥
किञ्चित्सुखलवाक्रान्तं मधुदिग्धविषोपमम् । मर्त्यधर्माश्नुते दुःखमिन्द्रियार्थैः [5]कदर्थितः ॥११२॥
देवो ह्यष्टगुणैश्वर्यो [6]निराधिर्नैव विद्यते । अतो दुःखपरिप्लुष्टं मतं गतिचतुष्टयम् ॥११३॥
अतो विभ्यत्प्रबुद्धात्मा संसारात्सारवर्जितात् । मुक्तावुत्तिष्ठते भव्यो रत्नत्रयभूषितः ॥११४॥
भव्यः पर्याप्तकः संज्ञी जीवः पञ्चेन्द्रियान्वितः । काललब्ध्यादिभिर्युक्तः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते ॥११५॥
सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धानं परिकीर्तितम् । तस्यौपशमिको भेदः क्षायिको मिश्र इत्यपि ॥११६॥
सप्तानां प्रशमात्सम्यक् क्षयादु[7]भयतोऽपि वा । प्रकृतीनामिति प्राहुस्तत्त्रैविध्यं सुमेधसः ॥११७॥

वस्तुतः संसार में दुःख ही सुख समझा जाता है ॥१०५॥ जो मनुष्य अन्धकार में बैठा है वह भी यह कहता है कि पराधीन सभी कार्य दुःख हैं और स्वाधीन सभी कार्य परम सुख हैं ॥१०६॥ जिनका योग कारण है तथा जिनका अन्त अत्यन्त कटुक—दुखदायी है ऐसे आठ कर्मों से बधिन जीव को स्वतन्त्रता कैसे हो सकती है ? ॥१०७॥ क्षेत्रज्ञ—आत्मज्ञ मनुष्य कर्मनिर्मित पांच इन्द्रियों तथा पांच शरीरों को आत्मा से अत्यन्त भिन्न कहते हैं ॥१०८॥ आत्मा रूपी पथिक कर्म रूपी संवल को लेकर चतुर्गति रूपी महाअटवी में सदा भ्रमण करता हुआ सुख दुःख भोगता है ॥१०९॥ नरक में निवास करने वाला जीव कर्मोदय से सदा शारीरिक और मानसिक भयकर दुःख भोगता है ॥११०॥ आत्मा को नहीं जानने वाला जीव जब तिर्यञ्च गति में पहुँचता है तब वह नरक गति से कुछ कम दुःख भोगता है ऐसा आत्मज्ञ मनुष्य कहते हैं ॥१११॥ जब यह मनुष्य होता है तब इन्द्रिय विषयों से पीडित होता हुआ कुछ सुख कणों से मधुलिप्त विष के समान दुःख भोगता है ॥११२॥ आठ गुणों के ऐश्वर्य से युक्त देव भी मानसिक व्यथा से रहित नहीं है अतः चारों गतियां दुःख से संतप्त मानी गयी हैं ॥११३॥ यही कारण है कि ज्ञानी भव्यजीव असार संसार से भयभीत होता हुआ रत्नत्रय से विभूषित हो मुक्ति के लिए उद्यम करता है ॥११४॥

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीव काललब्धि आदि से युक्त होता हुआ सम्यक्त्व को प्राप्त होता है ॥११५॥ तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहा गया है। उसके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इसप्रकार तीन भेद है ॥११६॥ वह तीन भेद भी अनन्त वन्धी क्रोध मान माया लोभ तथा मिथ्यात्व सम्यङ्मिथ्यात्व और सभ्यक्त्व प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम क्षय और

---

१ योगो हेतुर्येषां तैः २ कर्मैव पाथेयं सम्बलं तत् ३ शारीरिकं ४ नरकनिवासिना ५ पीडितः ६ मानसिक व्यथा रहितः ७ क्षयोपशमात् ।

एकं प्रशमसंवेगदयास्तिक्यादिलक्षणम् । आत्मनः शुद्धिमात्रं स्यादितरच्च समन्ततः ॥११८॥
सम्यक्त्वाधिष्ठितो भावान्भव्यः शुश्रूषते ततः । साधूनुदीक्षते तेभ्यः श्रुतज्ञानमवाप्नुयात् ॥११९॥
विज्ञातागमसद्भावो विरतिं प्रतिपद्यते । विरतेरास्रवापायः प्रादुःस्यात्संवरस्ततः ॥१२०॥
संवरस्तपसो हेतुस्तपसा निर्जरा परा । ततः क्रियानिवृत्तिः स्यात्क्रियाहानेरयोगिता ॥१२१॥
भवसन्ततिविच्छेदः परो योगनिरोधतः । ततो मोक्षो भवेदेवं सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम् ॥१२२॥
आत्मनस्तपसा तुल्यं न हितं विद्यते परम् । तस्मात्सर्वात्मना भव्यैस्तस्मिन्यत्नो विधीयताम् ॥१२३॥
इत्यादेश्य हितं तस्यै भव्येसममुदारधीः । राज्यभोगांस्तदा राजा [1]जिहासुः स्वयमप्यभूत् ॥१२४॥
अथान्तिकस्थमालोक्य तनयं नन्दिवर्धनम् । इत्यवादीत्प्रजास्त्रातुं पर्यायस्तव वर्तते ॥१२५॥
इत्युक्त्वा राजचिह्नानि तस्मै दत्वाग्रहीत्तपः । पितुस्तीर्थकृतो मूले भ्रात्रा मेघरथः समम् ॥१२६॥
अन्येऽपि बहवो भूपास्तं वीक्ष्यासंस्तपोधनाः । प्रणम्य सुव्रतामार्यां प्रियमित्रापि सुव्रता ॥१२७॥
नृपानधरयामास नृपासनगतो यथा । स तथैव मुनीनुच्चैः श्रुतस्कन्धमधिष्ठितः ॥१२८॥

क्षयोपशम से होते हैं ऐसा सुबुद्धिमान् जीव कहते हैं ॥११७॥ [उस सम्यक्त्व के सराग और वीतराग के भेद से दो भेद भी होते हैं] उनमें एक तो प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि लक्षणों से युक्त है और दूसरा सब ओर से आत्मा की विशुद्धि मात्र है ॥११८॥ सम्यग्दृष्टि जीव, जीवाजीवादि पदार्थों को सुनने की इच्छा रखता है इसलिये साधुओं के संपर्क में आता है और उनसे श्रुतज्ञान को प्राप्त होता है ॥११९॥ आगम के अभिप्राय को जानने वाला मनुष्य विरति—पांच पापों से निवृत्ति को प्राप्त होता है, विरति से आस्रव का अभाव होता है और उससे संवर प्रकट होता है ॥१२०॥ संवर तप का कारण है, तपसे अत्यधिक निर्जरा होती है, निर्जरा से क्रिया का अभाव होता है और क्रिया के अभाव से अयोगी अवस्था प्राप्त होती है ॥१२१॥ योगनिरोध से ससार की संतति का सर्वथा उच्छेद हो जाता है और उससे मोक्ष प्राप्त होता है, इस प्रकार सम्यग्दर्शन मुक्ति का कारण है ॥१२२॥ तप के समान आत्मा का दूसरा हित नहीं है इसलिए भव्य जीवों को सब प्रकार से तप में प्रयत्न करना चाहिए ॥१२३॥ इस प्रकार उत्कृष्टबुद्धि के धारक राजा मेघरथ सभा के बीच में रानी के लिये हित का उपदेश देकर स्वयं भी उस समय राज्यभोगों को छोड़ने के लिए इच्छुक हो गये ॥१२४॥

तदनन्तर समीप में स्थित नन्दिवर्धन पुत्र को देखकर इस प्रकार कहने लगे कि प्रजा की रक्षा करने का क्रम तुम्हारा है ॥१२५॥ ऐसा कहकर तथा उसके लिए छत्र चमर आदि राज चिह्न देकर मेघरथ ने भाई दृढ़रथ के साथ पिता घनरथ तीर्थकर के समीप तप ग्रहण कर लिया ॥१२६॥ अन्य अनेक राजा भी उन्हें देखकर साधु हो गये । प्रियमित्रा रानी भी सुव्रता नाम की आर्या को नमस्कार कर सुव्रता—उत्तम व्रतों से युक्त हो गयी अर्थात् आर्यिका बन गयी ॥१२७॥ जिस प्रकार राजासन पर आरूढ राजा मेघरथ, अन्य राजाओं को अपने से हीन करते थे उसीप्रकार अत्यन्त उन्नत श्रुतस्कन्ध पर आरूढ़ होकर अन्य मुनियों को अपने से हीन करते थे ॥१२८॥ जिस प्रकार पहले—

---

१ हातुं त्यक्तुमिच्छुः ।

यथा तस्याभवद्राज्यं पुरा बद्धैररातिभिः । [1]हृषीकैः शक्तिसम्पन्नैस्तथा नयविदस्तपः ॥१२९॥
स ररक्ष यथापूर्वं मन्त्रं [2]पञ्चाङ्गसंभृतम् । तपश्चरंस्तथा यत्नात्संयमं यमिनां मतम् ॥१३०॥
गुणैर्यथावदभ्यस्तैर्व्यशोभिष्ट यथा पुरा । अप्रमत्तस्तथा षड्भिः[3] शमस्थो नित्यकर्मभिः ॥१३१॥
पूर्वं यथा स राज्याङ्गैः प्राज्यैर्लोकमनोहरः । तथा वनगतः स्वाङ्गैः कृशैरपि तपस्यया ॥१३२॥
रञ्जयन्प्रकृतीर्नित्यं यथा राज्यगतो बभौ । तथासौ क्षपयन्सप्तप्रकृतीस्तपसि स्थितः ॥१३३॥
उपास्थित यथामात्यान्पुरा नयविशारदान् । स तथा श्रमणान्पूर्वान्परलोकजिगीषया ॥१३४॥
पुरा प्रवर्तयामास राज्यं द्वादशधा स्थितम् । तथा यथागमं धीरश्चिरकालं तपः परम् ॥१३५॥
भावयामास भावज्ञः शङ्काकाङ्क्षाविवर्जितः । सम्यक्त्वशुद्धिमव्यग्रसमग्रसुखहेतुकाम् ॥१३६॥
गुरुष्वाचार्यवर्येषु श्रुते चापि बहुश्रुतः । यथागम[4]मनुत्तानो विनयं वितताम सः ॥१३७॥

गृहस्थावस्था में उनका राज्य नियन्त्रित शत्रुओं से सुशोभित होता था उसीप्रकार नयों के ज्ञाता मुनिराज मेघरथ का तप भी नियन्त्रित शक्ति शाली इन्द्रियों से सुशोभित हो रहा था। भावार्थ—गृहस्थावस्था में वे जिस प्रकार शक्तिशाली शत्रुओं को बांधकर रखते थे उसी प्रकार तपस्वी अवस्था में शक्तिशाली इन्द्रियों को बांधकर स्वाधीन कर रखते थे ॥१२९॥ जिसप्रकार वे पहले सहायक साधनोपाय, देशविभाग, काल विभाग और आपत्प्रतिकार इन पांच अङ्गों से सहित मन्त्र—राज्य तन्त्र की रक्षा करते थे उसी प्रकार तपश्चरण करते हुए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच अङ्गों से सहित मुनिसंमत संयम की रक्षा करते थे ॥१३०॥

जिसप्रकार वे पहले अच्छी तरह अभ्यस्त किये हुए सन्धि विग्रह आदि छह गुणों से सुशोभित होते थे उसी प्रकार प्रमाद रहित तथा प्रशम गुण में स्थित रहते हुए वे अच्छी तरह अभ्यस्त समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सर्ग इन छह नित्य कार्यों से सुशोभित होते थे ॥१३१॥ जिसप्रकार वे पहले मंत्री आदि श्रेष्ठ राज्य के अङ्गों से लोक प्रिय थे उसीप्रकार वन में पहुंच कर तपस्या से कृश हुए अपने अङ्गों—शरीर के अवयवों से लोक प्रिय थे ॥१३२॥ जिस प्रकार राज्यावस्था में निरन्तर मन्त्री आदि सात प्रकृतियों को प्रसन्न करते हुए सुशोभित होते थे उसी प्रकार तप अवस्था में भी वे सात कर्म प्रकृतियों का क्षय करते हुए सुशोभित हो रहे थे ॥१३३॥ जिस प्रकार वे पहले परलोक—शत्रु समूह को जीतने की इच्छा से नीति निपुण मन्त्रियों के पास बैठते थे उसी प्रकार अब परलोक—नरकादि गतियों को जीतने की इच्छा से पूर्वविद् मुनियों के पास बैठते थे ॥१३४॥ जिसप्रकार वे धीर वीर पहले बारह प्रकार से स्थित राज्य को प्रवर्तित करते थे उसीप्रकार अब चिरकाल तक आगमानुसार बारह प्रकार के उत्कृष्ट तप को प्रवर्तित करते थे ॥१३५॥

भावों के ज्ञाता तथा शङ्का कांक्षा आदि दोषों से रहित उन मुनिराज ने संपूर्ण निराकुल सुख की कारणभूत दर्शन—विशुद्धि भावना का चिन्तवन किया था ॥१३६॥ अनेक शास्त्रों के ज्ञाता तथा गर्व से रहित वे मुनिराज गुरुओं, श्रेष्ठ आचार्यों तथा शास्त्रों की आगमानुसार विनय करते थे ॥१३७॥

---

१ इन्द्रियैः। २ 'सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते' पक्षे अहिंसादिपञ्चभेदसहितं ३ समता-वन्दना-स्तुति-प्रतिक्रमण-स्वाध्याय-कायोत्सर्गाख्यैः षडावश्यकैः ४ अगर्वः।

व्रतेष्वनतिचारेण शीलेषु च समाचरन् । सुधीः सुधीरतां स्वस्य प्रथयामास चेतसः ॥१३८॥
नयप्रमाणनिक्षेपमयमभ्यस्यतः श्रुतम् । षड्द्रव्यनिचितं तस्य जगत्प्रत्यक्षतामगात् ॥१३९॥
व्यापृतोऽभूद्यथान्याय्यं वैयावृत्ये निरत्ययम् । स समाधिं च साधूनां निराधिरधिकाधिकम् ॥१४०॥
दुष्करामपि तपश्चर्यां तेनाचर्यत शक्तितः । [1]क्रियासुरथ कौसीद्यं[2] क्रियासु स्वहितासु के ॥१४१॥
रागादिकं स्वसंसक्तं त्यजतस्तस्य दुस्त्यजम् । लोकातीतापरा काचित्त्यागशक्तिर्विदिद्युते ॥१४२॥
भक्त्या जिनागमाचार्यबहुश्रुतसभक्तया । प्रह्वीकृतोऽप्यभूच्चित्रमव्यग्रात्मा समुन्नतः ॥१४३॥
धर्मेऽनुरज्यतो नित्यं तस्य धर्मफलेषु च । प्रादुर्बभूव संवेगश्चित्रं मन्दगतेरपि ॥१४४॥
यथाकालं षडावश्यककर्मसु [3]प्रसृतोऽभवत् । तथापि सुखिनामासीदेकः प्राग्रहरः[4] परः ॥१४५॥
ज्ञानेन तपसोद्धेन[5] जिनस्य च सपर्यया । संगतः साधुचक्रेण[6] चक्रे मार्गप्रभावनाम् ॥१४६॥
[7]ग्रन्थग्रन्थिषु संशीतिमपरेषामशेषयन्[8] । नित्यं प्रवचने तेने वात्सल्यं साधुवत्सलः ॥१४७॥

व्रतों तथा शीलों के अतिचार बचा कर निर्दोष तपश्चरण करते हुए वे ज्ञानवान् मुनिराज अपने चित्त की सुधीरता को प्रकट करते थे ॥१३८॥ नय प्रमाण और निक्षेपों से तन्मय श्रुत का अभ्यास करने वाले उन मुनिराज के लिये छहद्रव्यों से व्याप्त जगत् प्रत्यक्षता को प्राप्त हुआ था ॥१३९॥ वे निरन्तर यथा योग्य वैयावृत्य में तत्पर रहते थे तथा मानसिक व्यथा—ग्लानि आदि से रहित हो अत्यधिक रूप से साधु समाधि कराते थे ॥१४०॥ वे शक्ति अनुसार कठिन तपश्चर्या भी करते थे सो ठीक ही है क्योंकि आत्महितकारी क्रियाओं में शिथिलता कौन करते हैं ? अर्थात् कोई नहीं ॥१४१॥ जिनका छोड़ना कठिन है ऐसे आत्म संबन्धी रागादिक को छोड़ने वाले उन मुनिराज की कोई अनिर्वचनीय लोकोत्तर त्याग शक्ति विशिष्ट रूप से शोभायमान हो रही थी ॥१४२॥

जिनकी आत्मा निराकुल थी ऐसे वे मुनिराज जिनागम, आचार्य तथा बहुश्रुतजनों की भक्ति से नम्रीभूत होने पर भी समुन्नत थे यह आश्चर्य की बात थी ॥१४३॥ धर्म तथा धर्म के फल में निरन्तर अनुराग करने वाले वे मुनिराज यद्यपि मन्दगति—ईर्यासमिति से धीरे धीरे चलते थे (पक्ष में निर्भय मनुष्य के समान मन्थर गति से चलते थे) तोभी उनके संवेग—धर्म और धर्म के फल में उत्साह (पक्ष में भय) प्रकट हुआ था, यह आश्चर्य की बात थी । भावार्थ—भयवान् मनुष्य जल्दी भागता है परन्तु वे परलोक सम्बन्धी भय से युक्त होकर भी मन्द गति से चलते थे यह आश्चर्य था परिहार पक्ष में ईर्या समिति के कारण धीरे धीरे चलते थे ॥१४४॥ वे छह आवश्यक कार्यों में यथा समय तत्पर रहते थे तोभी सुखी मनुष्यों में अद्वितीय, श्रेष्ठ तथा अग्रसर थे ॥१४५॥ वे प्रशस्त ज्ञान, निर्दोष तप, जिनेन्द्र पूजा तथा साधु समूह से युक्त हो मार्ग प्रभावना करते थे ॥१४६॥ साधुओं से स्नेह रखने वाले वे मुनिराज ग्रन्थ के कठिन स्थलों में दूसरों का संशय दूर करते हुए निरन्तर प्रवचन मे वात्सल्यभाव को विस्तृत करते थे ॥१४७॥ इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध में कारणभूत सोलह

---

१ आशीर्लिङ्प्रयोग: २ शैथिल्यम् ३ तत्पर. ४ श्रेष्ठः ५ प्रशस्तेन ६ साधुसमूहेन ७ शास्त्र-कठिनस्थलेषु: ८ समापयन् ।

तीर्थंकृत्कारणान्येवं सम्यगभ्यस्यता सता। तेनाकारि तपो घोरमघ[1]संघातघातकृत् ॥१४८॥
[2]खण्डयन् राजसान्भावानघरहिताशयः । श्रुताधिकोऽप्यभूच्चित्रं नितरां भुवि विश्रुतः[3] ॥१४९॥
वैराग्यस्य परां कोटिमध्यासीनः समन्ततः । उदस्थित तथाप्युच्चैः सिंह[4]निःक्रीडितस्थितौ ॥१५०॥
इत्थं तपस्यता तेन कषायारीन्निरस्यता[5] । कालोऽनायि नयज्ञेन भूयान्भूतहितार्थिना ॥१५१॥
ग्रहणस्य च शिक्षायाः कालं नीत्वा यथागमम् । गणपोषणकालं च चिरकालमधत्त सः ॥१५२॥
आत्मसंस्कारकालेन वर्तयित्वार्तवर्जितः । ततः सल्लेखनाकालमन्वतिष्ठदनिष्ठितम् ॥१५३॥
अङ्गैः सह तनूकृत्य कषायान्बन्धकारणान् । [6]चतुरो यमिनां मार्गे [7]चतुरो नितरामभूत् ॥१५४॥
मुनीनां तिलको नित्यं प्रोत्फुल्लतिलकोत्करे । तिलकाख्ये गिरावास्त प्राज्ञः प्रायोपवेशने[8] ॥१५५॥
धीरः स्वपरसापेक्षनिरपेक्षश्चतुर्विधम् । धर्म्यध्यानमिति ध्यातुमात्माधीनः प्रचक्रमे ॥१५६॥
यथागमगतं सम्यग्द्रव्यमर्थं च चिन्तयन् । आज्ञाविचयसद्भावं भावयामास तत्त्वतः ॥१५७॥

कारण भावनाओं का अभ्यास करते हुए उन्होंने पाप समूह का नाश करने वाला घोर तप किया था ॥१४८॥

जो राजस—रजोगुणप्रधान भावों को खण्डित कर रहे थे तथा जिनका अभिप्राय पाप से रहित था ऐसे वे मुनिराज श्रुताधिक—शास्त्र ज्ञान से अधिक होकर भी विश्रुत—शास्त्रज्ञान से रहित थे यह आश्चर्य की बात थी। (परिहार पक्ष में विश्रुत—विख्यात थे) ॥१४९॥ वे सब ओर से वैराग्य को परम सीमा को प्राप्त थे तो भी उत्कृष्ट सिंह जैसी क्रीड़ा की स्थिति में उद्यत रहते थे—सिंह के समान शूरता दिखलाते थे (पक्ष में उत्कृष्ट सिंह निष्क्रीडित व्रत का पालन करते थे) ॥१५०॥ इस प्रकार तपस्या करते, कषाय रूपी शत्रुओं को नष्ट करते तथा जीव मात्र के हित की इच्छा करते हुए उन नयों के ज्ञाता मुनिराज ने बहुत काल व्यतीत किया ॥१५१॥ शिक्षा ग्रहण का काल आगमानुसार व्यतीत कर उन्होंने चिरकाल तक गणपोषण का काल भी धारण किया अर्थात् आचार्य पद पर आसीन होकर मुनिसंघ का पालन किया ॥१५२॥ तदनन्तर आत्मा को सुसंस्कृत करने का काल व्यतीत कर अर्थात् आत्मा में ज्ञान और वैराग्य के संस्कार भर कर उन्होंने किसी क्लेश के बिना ही चिरकाल तक सल्लेखना काल को धारण किया ॥१५३॥

अङ्गों के साथ तीव्र बन्ध के कारणभूत चार कषायों को कृश कर वे मुनि—मार्ग में अत्यंत चतुर हो गये थे ॥१५४॥ वे श्रेष्ठ मुनिराज जहां निरन्तर तिलक वृक्षों का समूह फूला रहता था ऐसे तिलक नामक पर्वत पर प्रायोपगमन संन्यास में बैठे ॥१५५॥ सल्लेखना काल में जो अपने शरीर की टहल स्वयं तो करते थे पर दूसरे से नही कराते थे तथा जिन्होंने अपनी मनोवृत्ति को अपने अधीन कर लिया था ऐसे वे धीर वीर मुनि चार प्रकार के धर्म्यध्यान का इसप्रकार ध्यान करने के लिये उद्यत हुए ॥१५६॥ आगम में जैसा वर्णन है वैसा द्रव्य और अर्थ का चिन्तन करते हुए उन्होंने परमार्थ से आज्ञाविचय नामक धर्म्य ध्यान का चिन्तवन किया था ॥१५७॥ समीचीन मार्ग को न पाने वाले जीव

---

१ पापसमूहविघातकृत् २ खण्डयन् ३ विगतं श्रुतं यस्य तथाभूतः पक्षे प्रसिद्धः ४ सिंहनिष्क्रीडित नामकविशिष्टतपसि ५ निराकुर्वता ६ चतुःसंख्याकान् ७ दक्षः ८ प्रायोपगमनसंन्यासे ।

अनासादित सन्मार्गा जीवा भ्राम्यन्ति संसृतौ । तेनेत्यपायविचये तेने स्मृतिरनारतम् ॥१५८॥
विचिन्त्य कर्मणां पाकं विचित्रतरशक्तिकम् । स स्मरन्नस्मरो[१] ऽस्थे विपाकविचये स्थिरः ॥१५९॥
अधस्तिर्यगथोर्ध्वं च लोकाकारं विचिन्वता । लोकसंस्थानविचयस्तेनेत्यस्मर्यत क्रमात् ॥१६०॥
जातु दध्याविति ध्येयमपरि[२]प्लवमानसः । भावनास्वपि चोत्तस्थे पारिप्लवतयात्मनः ॥१६१॥
मासमेकं विधायैवं धीरः प्रायोपवेशकम् । प्रक्षीणं कायमत्याक्षीत्प्रियः कस्याथवा कृशः ॥१६२॥
सर्वार्थसिद्धिमासाद्य ततः सर्वार्थसिद्धितः । [३]चन्द्रावदातया [४]मूर्त्या कीर्त्या चाजनि राजितः ॥१६३॥
स तत्र [५]हस्तदघ्नोऽपि बभूवात्युच्छ्रितावधिः । अहमिन्द्रोऽभिधां बिभ्रन्महेन्द्र इति विश्रुताम् ॥१६४॥
स सिद्धसुख[६]देशीयमप्रवीचारमन्वभूत् । सुखं तत्र त्रयस्त्रिंशत्समुद्रस्थितिमुद्रितम् ॥१६५॥
ततः [७]परिवृढो भूत्वा साधूनां दृढसंयमः । अतप्यत तपो बाढं चिरं दृढरथोऽप्यसौ ॥१६६॥
सम्यक्त्वज्ञान चारित्रतपांस्याराध्य शुद्धधीः । प्रायोपवेशमार्गेण तनुं तत्याज तत्त्ववित् ॥१६७॥

संसार में भ्रमण करते हैं ऐपा उन्होंने अपायविचय धर्म्यध्यान में निरन्तर विचार किया था ॥१५८॥ कर्मों का उदय अत्यंत विचित्र शक्ति से युक्त होता है ऐसा विचार करते हुए वे निष्काम योगी, चिरकाल तक विपाकविचय नामक धर्म्यध्यान में स्थिर हुए थे ॥१५९॥ नीचे, मध्य में तथा ऊपर लोकके आकार का विचार करते हुए उन्होंने क्रम से लोकसंस्थानविचय नामका धर्म्यध्यान का चिन्तवन किया था ॥१६०॥ इस प्रकार स्थिर चित्त के धारक वे मुनिराज कभी ध्येय का इस प्रकार ध्यान करते थे और कभी आत्मा की चञ्चलता से भावनाओं में उद्यत रहते थे। भावार्थ—चित्त की एकाग्रता में ध्यान करते थे और कभी चित्त की चञ्चलता होने पर अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्तवन करते थे ॥१६१॥ इसप्रकार उन धीर वीर मुनिराज ने एक मास तक प्रायोपगमन करके अतिशय क्षीण शरीर का त्याग किया सो ठीक ही है क्योंकि कृश किसे प्रिय होता है? ॥१६२॥ तदनन्तर सर्वार्थ सिद्धि को प्राप्त कर वहां समस्त प्रयोजनों की सिद्धि होने से वे चन्द्रमा के समान शरीर और कीर्ति से सुशोभित होने लगे ॥१६३॥ वहां वे एक हाथ प्रमाण होकर भी उच्छ्रितावधि—अत्यधिक अवधि—सीमा से सहित (परिहार पक्ष में श्रेष्ठ अवधिज्ञान से युक्त थे) तथा महेन्द्र इस प्रसिद्ध सज्ञा को धारण करने वाले अहमिन्द्र हुए ॥१६४॥ वहां वे सिद्ध सुख से किंचित् ऊन, प्रवीचार—मैथुन से रहित तथा तेतीस सागर प्रमाण स्थिति से युक्त सुख का उपभोग करते थे ॥१६५॥

तदनन्तर दृढ़ संयम के धारक दृढ रथ ने भी मुनियों के स्वामी बन कर चिरकाल तक ठीक तप किया ॥१६६॥ शुद्ध बुद्धि से युक्त तत्त्वज्ञ दृढ़रथ मुनिराज ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्तप नामक चार आराधनाओं की आराधना कर सल्लेखना की विधि से शरीर छोड़ा ॥१६७॥ पहले बडे भाई मेघरथ ने आरूढ होकर जिस स्वर्ग रूपी गजराज को अलंकृत किया था, उन्ही के गुणो का अभ्यास होने से ही मानों दृढ़रथ भी उसी स्वर्ग रूपी गजराज पर आरूढ हुए।

---

१ अकामः २ स्थिरचित्तः ३ चन्द्रवदुज्ज्वलया ४ शरीरेण ५ हस्तप्रमाणः ६ सिद्धसुखात् किञ्चिदूनमिति सिद्धसुखदेशीयम् ७ स्वामी ।

नाकनाथः पुरारूढ़ ज्यायसा यः प्रसाधितः । आरुरोह तमेवासौ तद्गुणाभ्यसनादिव ॥१६८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

लक्ष्मीं बिभ्रदपि प्रकाममसुभगां [1]मुक्तावदातद्युतिः
शुद्धात्मापि महेन्द्रतः प्रति तदा निर्भासमानावधिः ।
लीलोद्भासितनीरजस्थितिरपि त्यक्तालिकेलिक्रमो
नाम्ना तत्र सुरेन्द्रचन्द्र इति स ख्यातोऽहमिन्द्रोऽभवत् ॥१६९॥
भास्वद्भूषण पद्मरागकिरणव्याजेन तौ सर्वतो
रागेणेव निराकृतेन मनसः संसेव्यमानौ बहिः ।
सम्यक्त्वस्य च संपदा विमलया प्रीतावभूतामुभौ
बोधेनावधिना युतौ शमगुणालंकारिणा हारिणा[2] ॥१७०॥

इत्यसगकविकृतौ शान्तिपुराणे मेघरथस्य सर्वार्थसिद्धिगमनो नाम
*** द्वादशः सर्गः ***

भावार्थ—जिस सर्वार्थ सिद्धि विमान में मेघरथ उत्पन्न हुए थे उसी सर्वार्थ सिद्धि विमान में दृढ़रथ भी उत्पन्न हुए ॥१६८॥

जो अत्यन्त सुन्दर शोभा को धारण करते हुए भी निर्मल कान्ति से रहित थे (पक्ष में मोती के समान निर्मल कान्ति वाले थे), शुद्धात्मा—विरक्त हृदय होकर भी मेघरथ के जीव महेन्द्र के प्रति अवधि ज्ञान को प्रकाशमान करने वाले थे तथा क्रीडा कमल की स्थिति को धारण करने वाले होकर भी भ्रमरों की क्रीड़ा से रहित थे ऐसे सुरेन्द्रचन्द्र इस नाम से प्रसिद्ध अहमिन्द्र हुए ॥१६९॥ वे दोनों अहमिन्द्र देदीप्यमान आभूषणों में सलग्न पद्मराग मणियों की किरणों के बहाने ऐसे जान पड़ते थे मानों मन से निकाले हुए राग के द्वारा ही बाहर सब ओर से सेवित हो रहे हों । साथ ही सम्यक्त्व की निर्मल संपदा से प्रसन्न थे तथा प्रशमगुण से अलंकृत मनोहर अवधि ज्ञान से सहित थे ॥१७०॥

इसप्रकार महाकवि असग द्वारा विरचित शान्तिपुराण में मेघरथ के सर्वार्थसिद्धि गमन का वर्णन करने वाला बारहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१२॥

---

१ मुक्ता-त्यक्ता आवदात द्युतिः निर्मलकान्तिर्येन सः, पक्षे मुक्ता वत् मौक्तिकवत् अवदाता-उज्ज्वला-द्युतिर्यस्य सः २ मनोहरेण ।

त्रयोदशः सर्गः

卐

अथास्ति भारते वास्ये जम्बूद्वीपोपशोभिते । [1]अनान्तः※ कुरवो लक्ष्म्या जितोत्तरकुरुद्युतिः ।।१।।
यत्र धीरैः समर्यादैः सागरैरिव साधुभिः । नार्थी स्वयंग्राहरसप्रसरो जातु वार्यते ।।२।।
अन्योन्यप्रणयाकृष्टमानसेषु वियोगिता[2] । यत्र कोकयुगेष्वेव लक्ष्यते [3]जलसंगतिः ।।३।।
अन्तःसंक्रान्ततीरस्थरक्ताशोकालिपल्लवैः । सरोभिर्भूयते यत्र [4]सविद्रुमवनैरिव ।।४।।
चित्रपत्रान्विता रम्याः पुष्पेषूज्ज्वलया[5] श्रिया । कल्पवल्ल्य इवाभान्ति यत्र रामा मनोरमाः ।।५।।

त्रयोदश सर्ग

अथानन्तर जम्बूद्वीप में सुशोभित भरत क्षेत्र में लक्ष्मी से उत्तरकुरु की शोभा को जीतने वाला कुरु देश है ।।१।। जहां समुद्रों के समान मर्यादा से सहित, धीरवीर साधु पुरुषों के द्वारा स्वयंग्राह रस के समूह—मन चाही वस्तु को स्वयं लेने की भावना से सहित याचक कभी रोका नहीं जाता है । भावार्थ—जहां मन चाही वस्तु को स्वयं उठाने वाले याचक जन को कभी कोई रोकता नहीं है ।।२।। जहां परस्पर के प्रेम से आकृष्ट हृदय वाले चकवा चकवी में ही वियोगिता—विरह था जल संगति—पानी की संगति देखी जाती है वहां के मनुष्यों में विरह तथा जड़-मूर्ख जनों की संगति नहीं देखी जाती है ।।३।। जहा भीतर प्रतिबिम्बित तटवर्ती लाल अशोक वृक्षावलि के पल्लवों से युक्त सरोवर ऐसे हो जाते हैं मानों मूंगा के वन से ही सहित हों ।।४।। जहां सुन्दर स्त्रियां कल्पलताओं के समान सुशोभित हैं क्योंकि जिसप्रकार स्त्रियां चित्रपत्रान्वित—नाना प्रकार के बेल बूटों से सहित होती हैं उसी प्रकार वहां की लताएं भी नाना प्रकार के पत्तों से सहित थी, और जिस प्रकार स्त्रियां पुष्पेषू-उज्ज्वलया श्रिया—काम से उज्ज्वल शोभा से रमणीय होती है उसी प्रकार वहां की लताएं भी पुष्पेषु-फूलों पर उज्ज्वल शोभा से रमणीय थीं ।।५।। जिन्होंने अपनी विभूति याचकों के उपभोग के लिये

---

१ देशः ※ आकुलः ब० २ विरहिता ३ जलसंगतिः पक्षे जडसंगतिः ४ प्रवालवनसहितैरिव
५ रामा पक्षे पुष्पेषुः कामस्तेन उज्ज्वलया शुक्लया । कल्पवल्ली पक्षे पुष्पेषु कुसुमेषु उज्ज्वलया दीप्तया ।

अर्थिनामुपभोगाय कल्पितात्मविभूतिभिः । सद्वृत्त[1]मुह्यते यस्मिन्नारण्यैरपि पादपैः ।।६।।
जगत्तापनुदो यस्मिन्विशुद्धतर[2]वारयः । पद्माकराः सुभूपाश्च सेव्यन्ते धवलद्विजैः[3] ।।७।।
सरितो यत्र राजीवरजःपरिपिञ्जरम् । जलं हेमरसप्रख्यं दधते हिमशीतलम् ।।८।।
[4]विपल्लवतया हीना पान्थभुक्तफलश्रियः । मार्गस्था जनता यस्मिन्वीरुधश्च[5] चकासति ।।९।।
[6]तुङ्गैर्धवलता[7]धारैरन्तः[8]सरलवृत्तिभिः । महीध्रैः सुजनैर्यत्र [9]महासत्त्वैरलंकृतः ।।१०।।

संकलित की है ऐसे वनवृक्षों के द्वारा भी जहां सद्पुरुषों का आचार धारण किया जाता है । भावार्थ—जहां के मनुष्यों की बात ही क्या, वन वृक्ष भी सत्पुरुषों के आचार का पालन करते हैं ।।६।। जिस देश में धवलद्विज—राजहंस पक्षी, जगत् की गर्मी को दूर करने वाले तथा अत्यन्त निर्मल जल से युक्त तालाबों की सेवा करते हैं और निष्कलंक ब्राह्मण जगत् के दुःख को दूर करने वाले तथा निर्दोष तलवार को धारण करने वाले उत्तम राजाओं की सेवा करते हैं । भावार्थ—जहां तालाब उत्तम राजा के समान थे क्योंकि जिस प्रकार तालाब जगत्तापनुदः—जगत् की गर्मी को दूर करते हैं उसीप्रकार उत्तम राजा भी जगत् के दारिद्र्यजनित दुःख को दूर करते थे और जिस प्रकार तालाब विशुद्धतरवारि—अत्यंत विशुद्ध-निर्मल जल से युक्त होते हैं उसी प्रकार उत्तम राजा भी अत्यन्त विशुद्ध-दीन हीन जनों पर प्रहार न करने वाली तलवार से युक्त था । धवलद्विज—सफेदपक्षी अर्थात् हंस तालाबों की सेवा करते थे और धवलद्विज—निर्मल-निर्दोष ब्राह्मण उत्तम राजाओं की सेवा करते थे ।।७।।

जहां की नदियां कमलों की पराग से पीत वर्ण अतएव सुवर्ण रस के समान दिखने वाले हिमशीतल—बर्फ के समान शीतल जल को धारण करती हैं ।।८।। जहां विपल्लवतया हीनाः—विपत्ति के अंश मात्र से रहित (पक्ष में पल्लवों के अभाव से रहित अर्थात् हरे भरे पल्लवों से सहित) पथिकों के द्वारा उपभुक्त फल श्री से सहित अर्थात् जिनकी लक्ष्मी-संपत्ति का उपभोग मार्ग चलने वाले पथिक भी करते थे ऐसे, (पक्ष में जिनके फल पथिक खाया करते थे) ऐसे, तथा मार्गस्थ-समीचीन आचार विचार में स्थित (पक्ष में मार्ग में स्थित) जन समूह और लताएं सुशोभित होती है ।।९।। जो देश परस्पर समानता रखने वाले पर्वतों और सज्जनों से अलंकृत है क्योंकि जिस प्रकार पर्वत तुङ्ग—ऊंचे होते हैं उसी प्रकार सज्जन भी तुङ्ग—उदार हृदय थे, जिस प्रकार पर्वत धवलताधार—धव के वृक्ष तथा लताओं-बेलों के आधार होते हैं उसी प्रकार सज्जन भी धवलताधार—धवलता-उज्ज्वलता के आधार थे । जिसप्रकार पर्वत अन्तःसरल वृत्ति—भीतर देवदारु के वृक्षों के सद्भाव से सहित होते हैं

---

१ सत इव वृत्तं सद्वृत्तं-सज्जनाचारः २ पद्माकर पक्षे विशुद्धतरं निर्मलतरं वारि जलं येषां ते, सुभूपपक्षे विशुद्धा निर्दोषाः तर वारयः कृपाणा येषां ते ३ हंसैः, निर्मलब्राह्मणैः ४ विपदां लवा विपल्लवास्तेषां भावः विपल्लवता तया हीना जनता । लतापक्षे विगतकिसलयतया हीनाः सपल्लवा इत्यर्थः ५ लताः ६ उन्नतैः, उदारैः ७ महीध्रपक्षे धवाश्च वृक्ष विशेषाश्च लताश्चेति धवलतास्तासामाधारैः सुजनपक्षे धवलताया। शुक्लतायानिर्मलताया आधारा स्तैः ८ महीध्रपक्षे अन्तः मध्ये सरलानां देव दारु वृक्षाणां वृत्तिः सद्भावो येषु तैः । सुजन—पक्षे अन्तः सरला अकुटिला वृत्तिर्येषां तैः ९ महाप्राणिभिः पक्षे महापराक्रमैः ।

तत्रास्ति हास्तिनं नाम्ना नगरं भरतश्रियः । निर्जितत्रिजगत्कान्तेर्निवासैकमहोत्पलम् ॥११॥
यस्मिन्निवासिलोकोऽभूद्वि[1]बुधोऽप्यविमानगः[2] । [3]निस्त्रिंशग्राहयुक्तोऽपि [4]विजलस्थितिराजितः ॥१२॥
सुवृत्त[5]स्योन्नतस्यापि[6] स्तनयुग्मस्य योषिताम् । यत्रोपर्यभवद्धारः[7] स्वं व्याख्यातुं [8]गुणस्थितिम् ॥१३॥
यस्मिन्विपणिमार्गेषु विचित्रमणिरश्मिभिः । [9]कल्माषिताङ्गतया लोकैर्न [10]व्यभाजि परस्परम् ॥१४॥
यत्र चन्द्रावदातेषु प्रासादेष्वेव केवलम् । अलक्ष्यत महामान[11]स्तम्भसंभारविभ्रमः ॥१५॥
यत्रासीत्कोकिलेष्वेव [12]सहकारपरिभ्रमः । अत्यन्तकमलायासः[13] प्रत्यहं भ्रमरेषु च ॥१६॥
यस्मिन्सौधाश्च योधाश्च [14]परदारेषु संगताः । अतिचित्रं तथाप्यूहुः पताकामन्यदुर्लभाम् ॥१७॥

उसी प्रकार सज्जन भी अन्तःसरलवृत्ति—भीतर से निष्कपट व्यवहार से युक्त थे और जिसप्रकार पर्वत महासत्त्व—सिंह-व्याघ्र आदि बडे बडे जीवों से सहित होते हैं उसीप्रकार सज्जन भी महासत्त्व—महान् पराक्रम से युक्त थे ॥१०॥

उस कुरुदेश में हस्तिनापुर नामका नगर है जो तीनों जगत् की कान्ति को जीतने वाली भरत क्षेत्र की लक्ष्मी का निवास भूत अद्वितीय कमल है ॥११॥ जिसमें निवास करने वाला मनुष्य विबुध—देव होकर भी अविमानग—विमान से गमन करने वाला नहीं था (परिहार पक्ष में विशिष्ट विद्वान होकर भी अत्यधिक अहंकार को प्राप्त करने वाला नहीं था) तथा निस्त्रिंशग्राहयुक्तः—क्रूर ग्राह—जल जन्तुओं से युक्त होकर भी विजलस्थितिराजित—जल के सद्भाव से सुशोभित नहीं था (पक्षमें तलवार को ग्रहण करने वाले लोगों से सहित होकर भी मूर्खों के सद्भाव से सुशोभित नहीं था) ॥१२॥ जहां स्त्रियों का स्तन युगल यद्यपि सुवृत्त—अत्यन्त गोल था (पक्ष में सदाचार से युक्त था) तथा उन्नत—ऊंचा उठा हुआ (पक्ष में उत्कृष्ट था) तो भी उस पर हार - मणियों का हार (पक्ष में पराजय) पड़ा हुआ था जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों वह हार अपने आपको गुणस्थिति—सूत्रों की स्थिति से सहित (पक्ष में गौणअप्रधान स्थिति से युक्त) कहने के लिये ही पड़ा हुआ था ॥१३॥

जहां बाजार के मार्गों में चित्र विचित्र मणियों की किरणों से शरीर के कल्मासित—विविध रङ्गों से युक्त हो जाने के कारण लोग परस्पर—एक दूसरे को पहिचानते नहीं थे ॥१४॥ जहां महामान स्तम्भसंभारविभ्रम—ऊंचे ऊंचे खम्भों के भार की शोभा केवल चन्द्रमा के समान उज्ज्वल महलों में ही दिखायी देती थी वहां के मनुष्यों में अत्यधिक अहंकार से उत्पन्न हुए गत्यवरोध के समूह का विशिष्ट

---

१ देवोऽपि पक्षे विशिष्ट बुधोऽपि २ विमानेन न गच्छतीति अविमानगः पक्षे विशिष्टं मानं गच्छतीति विमानगः, तथा न भवतिः इति अविमानगः । ३ क्रूरग्राह युक्तोऽपि पक्षे खड्गग्राहिजनयुक्तोऽपि ४ जलाभावस्थित्या राजितः शोभितः पक्षे विगता विनष्टा या जडस्थितिः धूर्तजन सदभावः तया राजितः ५ सदाचारस्यापि पक्षे वर्तुलाकारस्यापि ६ श्रेष्ठस्य पक्षे उन्नतस्यापि ७ हारः पराजय. पक्षे कण्ठालंकारः ८ गुणाना सूत्राणां स्थितिः सद्भावो यस्मिन् तथाभूतं पक्षे अप्रधानस्थितिम् ९ कल्माषित शरीरतया १० पर्यचारि ११ महोत्तुङ्गस्तम्भ समूह शोभा पक्षे महामानेन अधिकगर्वेण यः स्तम्भो गत्यवरोधस्तस्य संभारः तेन विभ्रमः १२ अतिसौरभाम्र-वृक्षेषु परिभ्रमण पक्षे सहायकेषु परिभ्रमः परितः संदेहः १३ कमल पुष्प प्राप्त्यर्थमधिकप्रयासः पक्षे कमलायैलक्ष्म्यै अत्यन्त आयासः खेदः १४ उत्कृष्ट स्त्रीषु पक्षे शत्रुविदारणेषु ।

पीनस्तनयुगश्रोणिभारमन्थरगामुकः । तथापि स्त्रीजनो यत्र कामेनास्त्रीकृतः[1] कथम् ॥१८॥
संसारस्थोऽपि यत्रासीज्जनस्स्वाधीनः सुखान्वितः । मुक्तात्मेव जनः सर्वः समानगुणलक्षितः ॥१९॥
वाताः पुष्पमया यस्मिन्पुष्पेषोरिव सायकाः । अभिकामिजनं पेतुर्मन्मथोन्मादहेतवः ॥२०॥
अध्यास्त तत्पुरे राजा विश्वसेनो विशालधीः । अधारि लीलया येन विश्वो [2]विश्वम्भराभरः ॥२१॥
प्रतापाक्रान्तलोकोऽपि सुखालोको यथा विधुः । [3]सारदः परकार्येषु विद्युते यो विशारदः[4] ॥२२॥
साधु[5]वृत्ताहितरतिः [6]सदर्थघटनोद्यतः । चित्तस्थाशेषलोकोऽमुष्यः प्रभुः सत्कविर्यथा ॥२३॥

संचार नहीं देखा जाता था ॥१५॥ जहां पर सहकार परिभ्रमः—सुगन्धित आमों पर परिभ्रमण करना कोयलों में ही था वहां के मनुष्यों में सहायक विषयक व्यापक संदेह नहीं था अर्थात् ये हमारी सहायता करेंगे या नहीं ऐसा संदेह नहीं था तथा अत्यन्त कमलायास—कमलपुष्पों की प्राप्ति के लिये अत्यधिक खेद भ्रमरों में ही प्रति दिन देखा जाता था वहां के मनुष्यों में लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये अत्यधिक खेद नहीं देखा जाता था ॥१६॥

जिस नगर के भवन और योद्धा यद्यपि पर दारों—पर स्त्रियों—उत्कृष्ट स्त्रियों और शत्रु के विदारणों में संगत—संलग्न थे तथापि बड़े आश्चर्य की बात थी कि वे अन्य दुर्लभ पताकाओं को धारण कर रहे थे। भावार्थ—भवन श्रेष्ठ स्त्रियों से सहित थे तथा उन पर पताकाएं फहरा रही थीं और योद्धा शत्रुओं के विदारण करने में संलग्न थे तथा युद्ध में विजय पताका प्राप्त करते थे ॥१७॥ जहां का स्त्री समूह यद्यपि स्थूल स्तनयुगल और नितम्बों के भार से धीरे धीरे चलता था तथापि काम ने उसे अस्त्रीकृत—स्त्रीत्व से रहित (पक्ष में अस्त्र स्वरूप) कैसे कर दिया ॥१८॥ जहां रहने वाले समस्त मनुष्य संसारी होने पर भी मुक्तात्मा के समान स्वाधीन, सुख सहित तथा समान गुणों से युक्त थे ॥१९॥ जहां काम के उन्माद को करने वाली वायु काम के पुष्पमय वाणों के समान कामीजनों के सन्मुख बहा करती थी। भावार्थ—पुष्पों से सुवासित सुगन्धित वायु कामीजनों को ऐसी जान पड़ती थी मानों कामदेव अपने पुष्पमय वाणही चला रहा हो ॥२०॥

उस हस्तिनापुर नगर में विशालबुद्धि का धारक वह राजा विश्वसेन रहता था जिसने समस्त पृथिवी का भार लीलापूर्वक—अनायास ही धारण कर लिया था ॥२१॥ जो प्रताप के द्वारा लोक को आक्रान्त करने वाला होकर भी चन्द्रमा के समान सुखालोक—सुखसे दर्शन करने योग्य था। दूसरों के कार्यों में सारद—महत्त्वपूर्ण सहयोग देने वाला था तथा विशारद—अत्यन्त बुद्धिमान था ऐसा वह राजा अतिशय देदीप्यमान था ॥२२॥ जो राजा उत्तम कवि के समान था क्योंकि जिस प्रकार उत्तम कवि साधुवृत्ताहितरति उत्तम छन्दों में प्रीति को धारण करने वाला होता है उसी प्रकार वह राजा भी सत्पुरुषों के आचार में प्रीति को धारण करने वाला था। जिस प्रकार उत्तम कवि सदर्थघटनोद्यत—उत्तम अर्थ के प्रतिपादन में उद्यत रहता है उसी प्रकार वह राजा भी

---

१ न स्त्रीकृतः पक्षे अस्त्रीकृतः। २ पृथिवीभारः। ३ सारं श्रेष्ठं ददातीति सारदः ४ विद्वान् ५ सत्कविपक्षे साधुवृत्तेषु निर्दोष छन्दःसु आहिता रतिः प्रीतिर्येन सः पक्षे सत्पुरुषाचारे धृतप्रीतिः ६ सतः प्रशस्तस्य अर्थस्य वाच्यस्य घटने संयोजने उद्यतः तत्परः सत्कविः। पक्षे सतां साधूनाम् अर्थस्य प्रयोजनस्य घटनायां संघटनायामुद्यतः

महिम्ना सामरागेण[1] सुमेरुरिव यो बभौ । [2]पादोपान्तचराशेषसुरसेनोपशोभित: ॥२४॥
यस्यारि[3] विभु[4] चात्यन्तमासीदरिकुलं परम् । [5]बीत्यलंकृतमत्युद्ध[6] विभ्रतोऽपि पराक्रमम् ॥२५॥
येन ख्यातावदानेषु[7] भूरिदानेषु[8] भूतय:[9] । भृत्येषु लम्भिता[10] रेजुर्भद्रेषु द्विरदेषु च ॥२६॥
[11]हारावरुद्धकण्ठेन मित्रामित्रवधूजन: । [12]सुमध्य: प्रथयामास यस्य मध्यस्थतां पराम् ॥२७॥
भ्रमन्त्यपि [13]सुरावासान्भुजङ्ग[14]वसती: सदा । यस्य कीर्तिवधूर्लोके निष्पङ्कैव[15] तथाप्यभूत् ॥२८॥

सदर्थघटनोद्यत—सज्जनों का प्रयोजन सिद्ध करने में उद्यत रहता था और जिसप्रकार उत्तम कवि के हृदय में समस्त लोक जगत् स्थित रहता है उसीप्रकार उस राजा के हृदय में भी समस्त लोक—जनसमूह स्थित रहता था अर्थात् वह समस्त लोगों के हित का ध्यान रखता था ॥२३॥ जो राजा सुमेरु पर्वत के समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिस प्रकार सुमेरु पर्वत सामरग—कल्पवृक्षों से युक्त महिमा से सहित है उसीप्रकार वह राजा सामराग—साम उपाय सम्बन्धी राग से युक्त महिमा से सहित था तथा जिसप्रकार सुमेरु पर्वत प्रत्यन्त पर्वतों के समीप चलने वाली समस्त देवसेनाओं से सुशोभित होता है उसी प्रकार वह राजा भी चरणों के समीप चलने वाले समस्त उत्तम राजाओं से सुशोभित था ॥२४॥ वह राजा यद्यपि अकुश प्रयोग से अलंकृत तथा अतिशय प्रशस्त उत्कृष्ट पराक्रम को धारण कर रहा था तोभी उसका शत्रुसमूह अत्यधिक अरिविभु—चक्र रत्न से समर्थ—शक्ति शाली था (पक्ष में अरि—निर्धन और विभु—पृथिवी से रहित था ॥२५॥ जिसने प्रसिद्ध साहस से युक्त तथा अत्यधिक दान-त्याग (पक्ष मे मद) से सहित भद्रप्रकृति वाले सेवकों और हाथियों को भूतियां—संपदाएं (पक्ष में चित्रकर्म) प्राप्त कराये थे । भावार्थ—जिनका पराक्रम प्रसिद्ध था तथा जिन्होंने बहुत भारी त्याग किया था ऐसे उत्तम सेवकों के लिए वह पुरस्कार स्वरूप संपदाएं देता था तथा जिनका अवदान - तोड़ फोड़ का कार्य प्रसिद्ध था तथा जिनके गण्डस्थल से बहुत भारी दान—मद चू रहा था ऐसे हाथियों के गण्डस्थलों तथा सू डोंपर उसने रङ्ग बिरङ्ग चित्र बनवा कर उन्हें अलंकृत किया था ॥२६॥ सुमध्य- सुन्दर मध्य भाग से युक्त मित्रों की स्त्रियां और सुमध्य—जंगलों में भटकने के कारण फूलों का ध्यान करने वाली शत्रुओं की स्त्रियां हारावरुद्ध कण्ठ के द्वारा (मित्र वधूजन पक्ष में हार से युक्त कण्ठ के द्वारा और अमित्रवधूजन पक्ष में 'हा' इस दु:ख सूचक शब्द से रु धे हुए कण्ठ के द्वारा) जिसकी मध्यस्थता को प्रकट करती थी ॥२७॥ जिस राजा की कीर्तिरूपी वधू यद्यपि निरन्तर सुरावास—मदिरालयों (पक्ष में स्वर्गों) और भुजङ्गवसती—अभद्र

---

१ साम्नि सामोपाये रागस्तेन पक्षे अमरागै: कल्प वृक्षै: सहितेन 'महिम्ना' इत्यस्य विशेषणम् २ पादाना प्रत्यन्त पर्वताना उपान्तचरा समीप गामिनी या सुरसेना देवसेना तया उपशोभित: पक्षे पादयोश्चरणयो: उपान्ते चरा मे सुरसाया: सुपृथिव्या इना: स्वामिन: तै: उपशोभित: ३ अरा विद्यन्ते यस्य तत् अरि चक्रमित्यर्थ: तेन विभु समर्थ पक्षे न विद्यते रा: धनं यस्य तत् अरि निर्धनमित्यर्थ: ४ विगता भू: पृथिवी यस्य तत् ५ बीत्या अंकुशकर्मणा अलंकृतम् ६ अतिश्रेष्ठम् ७ प्रसिद्धपराक्रमेषु ८ अत्यधिकत्यागेषु, प्रचुरमदेषु, ९ सम्पत्तय: चित्रकर्माणि १० प्रापिता। ११ मित्रपक्षे हारेण ग्रैवेयकेण अवरुद्धो युक्तो य: कण्ठस्तेन । अमित्र पक्षे 'हा' इति रावेण शब्देन रुद्धो य: कण्ठो गलस्तेन १२ शोभनमध्यभागयुक्तो मित्रवधूजन:, अमित्रवधूजन पक्षे सुमानिपुष्पाणि ध्यायति इति सुमध्य: १३ देवनिवासान् मदिराया स्थानानि पक्षे स्वर्गान् १४ विटनिवासान् नागलोकान्-पातालान् १५ निष्कलङ्कैव पक्षे उज्ज्वलैव ।

यस्यार्थिनो[1] न पर्याप्ता[2] वर्षुकस्य[3] निरन्तरम् । अवग्रहविमुक्तस्य[4] सारङ्गा[5] इव [6]वार्मुचः ।।२९।।
[7]निर्विवापयिषुः स्वं वा प्रतापानलतापितम् । अब्धिस्रोतोऽन्तरालेषु यस्यास्तारा[8]तिसंहतिः ।।३०।।
तस्यैरेति महादेवी महनीयगुणस्थितिः । सद्वृत्तिरिव तच्चित्तादनपेता सदाभवत् ।।३१।।
या मन्दगतिसंपन्ना भद्रभावा मृगेक्षणा । अप्यसंकीर्णशोभाङ्गैः प्रतीकैरद्युतत्तराम् ।।३२।।
अन्तः प्रसन्नया वृत्त्या साधुभूयमनारतम् । यया विधृतमित्येतदत्यद्भुतमभूद् भुवि ।।३३।।
यस्याः कान्त्याभिभूतेव पद्मा[9] पद्माकरेऽवसत् । तत्पादपल्लवच्छायां सोऽप्यधत्तेव तद्भयात् ।।३४।।
तया [10]सत्यरतः सत्या समं शमधनं सताम् । स धर्मार्थाविरोधेन प्रकामं काममन्वभूत् ।।३५।।
कुरून्कुरुपतावेवं शासत्यूर्जितशासने । तस्मिन्वेलावनोपान्तभ्रान्तविश्रान्तसैनिके ।।३६।।

कामीजनों के निवास स्थानों (पक्ष में पाताल लोक) मे भ्रमण करती थी तथापि वह लोक में निष्कलङ्क निर्दोष (पक्ष में उज्ज्वल) ही रहती थी ।।२८।। जिस प्रकार वृष्टि के प्रतिबन्ध से रहित अर्थात् निरन्तर वर्षा करने वाले मेघ के लिये पर्याप्त चातक नहीं मिलते हैं उसी प्रकार निरन्तर दान वर्षा करने वाले जिस राजा के लिए पर्याप्त याचक नहीं मिलते थे ।।२९।। जिसके प्रताप रूपी अग्नि से संतप्त अपने आप को शान्त करने के लिए इच्छुक हुए के समान शत्रुओं का समूह समुद्रप्रवाहों के बीच रहने लगे थे । भावार्थ—इस राजा के शत्रु भागकर समुद्रों के बीच में स्थित टापुओं पर रहने लगे थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों राजा की प्रतापाग्नि से संतप्त अपने आपको शान्त करने के लिये ही वहां रहने लगे हों ।।३०।।

उस राजा की श्रेष्ठ गुणों के सद्भाव से सहित एरा नाम की महारानी थी जो सद्वृत्ति के समान सदा उसके चित्त में समायी रहती थी उससे कभी अलग नहीं होती थी ।।३१।। मन्दगति से सहित, भद्रपरिणामों से युक्त तथा मृग के समान नेत्रों से सुशोभित जो रानी पृथक् पृथक् विशाल शोभा से संपन्न अवयवों से अत्यधिक सुशोभित हो रही थी ।।३२।। जिस रानी के द्वारा अन्त:करण की स्वच्छ वृत्ति से सदा सज्जनता धारण की गयी थी, पृथिवी पर यह एक बड़ा आश्चर्य था ।।३३।। जिस ऐरा की कान्ति से पराभूत होकर ही मानों लक्ष्मी पद्माकर—कमल समूह में निवास करने लगी थी और वह पद्माकर भी उसके भय से ही मानों उसके चरण पल्लवों की छाया—कान्ति को धारण कर रहा था ।।३४।। जो सत्यभाषण में तत्पर रहता था तथा सत्पुरुषों के प्रशमधन रूप था ऐसा राजा विश्वसेन उस पतिव्रता रानी के साथ धर्म और अर्थ का विरोध न करता हुआ इच्छानुसार काम सुख का उपभोग करता था ।।३५।।

इस प्रकार जिनका शासन अत्यन्त बलिष्ठ था और जिनके सैनिक समुद्र के तटवर्ती वनों में भ्रमण कर विश्राम करते थे ऐसे कुरुपति राजा विश्वसेन जब कुरुदेश का शासन कर रहे थे तब सर्वहितकारी तथा उत्तम ऋद्धियों का धारक महेन्द्र (राजा मेघरथ का जीव) भव्यजीवों को संबोधने

---

१ याचकाः २ प्रचुराः ३ वर्षणशीलस्य—दानशीलस्य ४ वृष्टिप्रतिबन्धरहितस्य ५ चातका इव ६ मेघस्य ७ शान्तं-संताप रहितं कर्तुमिच्छुः ८ शत्रुसमूहः ९ लक्ष्मी। १० सत्ये रतः सत्यरतः ।

अथ भव्यप्रबोधार्थं सार्वः सर्वार्थसिद्धितः । महेन्द्रो महनीयर्द्धिराययिया[1]सुरभूर्भुवम् ॥३७॥
ततः पुरेव षण्मासान्वसुधारा निरन्तरम् । तत्पुरं परितो दीप्रा प्रारब्धा पतितुं दिवः ॥३८॥
भव्यानां मनसा सार्धं प्रसन्नमभवन्नभः । सौम्यं कान्ततया युक्तं जगच्च सचराचरम् ॥३९॥
अनभ्रवृष्टिसेकेन रेणुः शममगाद्भुवः । [2]आर्द्रसंपर्कतः केषां नापयाति रजःस्थितिः[3] ॥४०॥
पवनः पावनीकुर्वन् वसुधां वा सुधामयः । अवात्सुरभयन्नाशा [4]दिव्यामोदोत्करं किरन् ॥४१॥
विधुः क्षपासु कृष्णासु क्षीयमाणोऽप्यलक्ष्यत । चन्द्रिकां विकिरन्सान्द्रां समग्र इव सर्वतः ॥४२॥
अम्बुजाकरस्येव सुखस्पर्शो दिवाकरः । परं सर्वस्य लोकस्य सुखालोककरैः करैः[5] ॥४३॥
[6]अवकेशिभिरप्यूहे पादपैः [7]सशलाटुका । लक्ष्मीर्जिनावतारेषु कः स्याज्जगति निष्फलः ॥४४॥
तस्मिन्कालेऽथ शक्रस्य निदेशात्प्रीतचेतसः । ऐरामरालकेशीं[8] तां दिक्कुमार्यः प्रपेदिरे ॥४५॥
ताभिर्निगूढरूपाभिर्यथास्थानमधिष्ठिता । [9]अभिख्यां कामपि प्राप तृणीकृतजगत्त्रया ॥४६॥
सत्सौधान्तर्गते साधु शयाना शयने मृदौ । सा [10]निशान्ते [11]निशान्तेशा स्वप्नानेतानवैक्षत ॥४७॥

के लिए पृथिवी पर आने का इच्छुक हुआ ॥३६–३७॥ तदनन्तर छह माह पहले से ही उस नगर के चारों ओर आकाश से देदीप्यमान रत्नों की धारा निरन्तर पड़ना शुरू हो गयी ॥३८॥ भव्य जीवों के मन के साथ आकाश स्वच्छ हो गया तथा चराचर पदार्थों से सहित जगत् सुन्दरता से युक्त हो गया ॥३९॥ मेघ के बिना होने वाली वर्षा के सिञ्चन से पृथिवी की धूलि शान्त भाव को प्राप्त हो गयी सो ठीक ही है क्योंकि आर्द्र—सजल वस्तुओं (पक्ष में दयालुजनों) के संपर्क से किनकी रजः स्थिति-धूलि की स्थिति (पक्ष में पाप की स्थिति) दूर नहीं हो जाती ? ॥४०॥ पृथिवी को पवित्र करता हुआ, दिशाओं को सुगन्धित करता हुआ और दिव्य सुगन्ध के समूह को बिखेरता हुआ पवन बहने लगा ॥४१॥ चन्द्रमा कृष्ण रात्रियों में यद्यपि क्षीण होता जाता था तो भी सब ओर सघन चादनी को बिखेरता हुआ पूर्ण के समान दिखाई देता था ॥४२॥ कमल समूह के समान समस्त जगत् को सुखी करने वाली किरणों से सूर्य अत्यन्त सुखदायक स्पर्श से सहित हो गया था ॥४३॥ वन्ध्य—न फलने वाले वृक्षों ने भी नये नये फलों से सहित शोभा धारण की थी सो ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् का अवतरण होने पर जगत् में निष्फल कौन रहता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥४४॥

तदनन्तर उस समय प्रसन्नचित्त इन्द्र की आज्ञा से दिक्कुमारी देवियां उस कुटिल केशी ऐरा देवी के पास आयीं ॥४५॥ जो अन्तर्हित रूप वाली उन देवियों से यथा स्थान अधिष्ठित थी तथा जिसने तीनों जगत् को तृण के समान तुच्छ कर दिया था ऐसी वह ऐरा देवी किसी अनिर्वचनीय शोभा को प्राप्त हुयी थी ॥४६॥ जिसका पति अत्यन्त शान्त था अथवा जो गृह की स्वामिनी थी

---

१ आयातुमिच्छुः २ सदयजनसंसर्गात् पक्षे सजल संपर्कात् ३ धूलिस्थितिः पक्षे पापस्थितिः ४ दिव्यसौरभसमूहं ५ किरणैः ६ फलरहितैरपि ७ हरितफलसहिता ८ कुटिल केशीम् ९ शोभाम् 'अभिख्या नाम शोभयोः' इत्यमरः १० निशाया अन्ते ११ नितरां शान्त ईशो भर्ता यस्याः सा अथवा निशान्तस्य गृहस्य ईशा स्वामिनी ।

गजराजं सदा क्षीबं महोक्षं[1] धीरगर्जितम् । लङ्घयन्तं नगान्[2] सिंहं पद्मां पद्मासनस्थिताम् ॥४८॥
दामद्वयं भ्रमद्भृङ्गं [3]धुतान्धतमसं विधुम् । [4]उज्जिहानं सहस्रांशुं क्रीडन्मत्स्ययुगं ह्रदे ॥४९॥
शातकुम्भमयौ कुम्भौ सरः सरसिजाविलम्[5] । चञ्चद्वीचिचयं वार्धिं [6]हैमं सिंहासनं महत् ॥५०॥
विमानमामरं[7] कान्तमाहीनं[8] सद्म सन्मणि । स्फारांशुरत्नसंघातं हुताशं च स्फुरत्प्रभम् ॥५१॥
एतान्विलोक्य सा बुद्धा गृहीतप्रतिमङ्गला । सुव्रताय नरेन्द्राय सदःस्थाय न्यवेदयत् ॥५२॥
श्रुत्वा श्रव्यांस्ततः स्वप्नानन्तःप्रमदनिर्भरः । तेषामित्थं फलान्यस्या वक्तुं प्रववृते प्रभुः ॥५३॥
गजात्त्रिजगतां त्राता वृषात्कर्ता [9]वृषस्थितेः । सिंहात्सिंह इवाभीको[10] लक्ष्म्या जन्माभिषेकवान् ॥५४॥
दामभ्यां यशसा स्यात्सुश्चन्द्राद्भुवि तमोपहः[11] । [12]हंसाद्भव्याम्बुजद्योती मत्स्ययुग्मात्सुनिर्वृतः[13] ॥५५॥
कुम्भाभ्यां [14]लक्षणाधारो वीततृष्णः सरोवरात् । सागरात्सकलज्ञानी मुक्तिभाक्सिंहविष्टरात् ॥५६॥

और जो उत्तम भवन के भीतर बिछी हुई कोमल शय्या पर अच्छी तरह शयन कर रही थी ऐसी उस ऐरा देवी ने रात्रि के अन्त भाग में ये स्वप्न देखे ॥४७॥

निरन्तर उन्मत्त रहने वाला हाथी, गम्भीर गर्जना से युक्त महावृषभ, पर्वतों को लांघता हुआ सिंह, कमल रूप आसन पर स्थित लक्ष्मी, मंडराते हुए भ्रमरों से युक्त दो मालाएं, सघन अन्धकार को नष्ट करने वाला चन्द्रमा, उगता हुआ सूर्य, तालाब में क्रीडा करता हुआ मछलियों का युगल, सुवर्णमय दो कलश, कमलों से परिपूर्ण सरोवर, लहराता हुआ समुद्र, सुवर्णमय महान् सिंहासन, सुन्दर देव विमान, श्रेष्ठ मणियों से युक्त धरणेन्द्र का भवन, विशाल किरणों से सहित रत्नराशि, और देदीप्यमान अग्नि; इन स्वप्नों को देखकर वह जाग उठी । तदनन्तर मङ्गलमय कार्यों को सम्पन्न कर उसने सभा में बैठे हुए व्रती राजा विश्वसेन के लिए ये सब स्वप्न कहे ॥४८–५२॥

तदनन्तर श्रवण करने के योग्य उन स्वप्नों को सुनकर भीतर हर्ष से भरे हुए राजा विश्वसेन रानी के लिये उन स्वप्नों का इस प्रकार फल कहने के लिए प्रवृत्त हुए ॥५३॥ हाथी से तीन जगत् का रक्षक, वृषभ से धर्म स्थिति का कर्ता, सिंह से सिंह के समान निर्भीक, लक्ष्मी से जन्माभिषेक से सहित, माला युगल से यशस्वी, चन्द्रमा से पृथिवी पर अन्धकार को नष्ट करने वाला, सूर्य से भव्य रूपी कमलों को विकसित करने वाला, मत्स्य युगल से अत्यन्त सुखी, कलशयुगल से लक्षणों का आधार, सरोवर से तृष्णा रहित, समुद्र से सर्वज्ञ, सिंहासन से मुक्ति को प्राप्त करने वाला, विमान से स्वर्ग से आने वाला, धरणेन्द्र के भवन से तीर्थ का कर्ता, रत्नराशि से गुण रूपी रत्नों का स्वामी,

---

१ महावृषभम् २ पर्वतान् ३ दूरीकृतसान्द्रतिमिरम् ४ उदीयमानम् ५ कमलाकीर्णम् ६ सौवर्णम् ७ अमराणामिदम् आमरम् ८ अहीनस्य नागेन्द्रस्येदम् आहीनम् ९ धर्मस्थितेः १० भयरहितः ११ अज्ञान-तिमिरनाशकः १२ सूर्यात् १३ अतिसंतुष्टः सातिशयसुखी १४ सामुद्रिक शास्त्र प्रोक्ताष्टोत्तरसहस्रलक्षणानां शरीरगतशुभचिह्नानामाधारः ।

एष्यन्विमानतो [1]नाकात्तीर्थकृन्नागवेश्मनः । रत्नौघाद्गुरुरत्नेशो दृष्टाद्वह्नेश्च कर्मंहा[2] ॥५७॥
ईदृशस्तनयो देवि भविष्यति तवाचिरात् । इति तत्फलमाख्याय प्रीतोऽभूद्भूभुजां प्रभुः ॥५८॥
शान्तस्वप्नफलाभीतप्रमोदभरविह्वला । राज्ञा विसर्जितायासीद्देवी स्वभवनं शनैः ॥५९॥
[3]नभस्यसितपक्षस्य भावने भरणीस्थिते । सप्तम्यां निशि नाकाग्रान्महेन्द्रोऽवतरद्भुवम् ॥६०॥
ऐरायाः प्राविशच्चास्यं दधदैरावता[4]कृतिम् । अनुग्रहाय भव्यानां तीर्थकर्मप्रचोदितः ॥६१॥
ततस्तदवतारेण कम्पितात्मीयविष्टरैः । देवैश्चतुर्विधै[5] प्रापे तत्पुरं सपुरन्दरैः ॥६२॥
विमानमयमाकाशं दिव्यामोदमयो मरुत् । तूर्यध्वानमयं विश्वमासीद्रत्नमयीव भूः ॥६३॥
इन्दुबिम्बसहस्रेण निर्मितेवाभवत्तदा । रजनी दिव्यनारीणां मुखैः कीर्णा मनोरमैः ॥६४॥
दिशो दिविषदुक्ताभिः पुष्पवृष्टिभिराचिताः । स्फीतानकप्रतिध्वानाः साट्टहासा इवाबभुः ॥६५॥
नृत्यदप्सरसां वृन्दं स्फुरन्मणिविभूषणम् । प्रचलत्कल्पवल्लीनां वनं वा दिवि दिद्युते ॥६६॥
देवानां देहलावण्यप्रवाहैः प्लावितं तदा । तत्पुरं सहसा कृत्स्नं तेजोमयमिवाभवत् ॥६७॥

और दिखी हुयी अग्नि से कर्मों को नष्ट करने वाली हे देवी ! तुम्हारे शीघ्र ही ऐसा पुत्र होगा । इस प्रकार उन स्वप्नों का फल कह कर राजाधिराज विश्वसेन बहुत प्रसन्न हुए ॥५४–५८॥ शान्त स्वप्नों के फल से प्राप्त हर्ष के भार से जो विह्वल हो रही थी ऐसी रानी ऐरा, राजा से विदा होकर धीरे धीरे अपने भवन को चली गयी ॥५९॥ भाद्रपद शुक्ल पक्ष की सप्तमी की रात्रि में जब चन्द्रमा भरणी नक्षत्र पर स्थित था, तब महेन्द्र (मेघरथ का जीव) सर्वार्थ सिद्धि से पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ ॥६०॥ तीर्थंकर प्रकृति से प्रेरित वह महेन्द्र अहमिन्द्र भव्यजीवों के अनुग्रह के लिये ऐरावत हाथी की आकृति को धारण करता हुआ ऐरा देवी के मुख में प्रविष्ट हुआ । भावार्थ ऐरा देवी ने ऐसा स्वप्न देखा कि ऐरावत हाथी हमारे मुख में प्रवेश कर रहा है ॥६१॥

तदनन्तर उसके अवतरण से जिनके अपने आसन कंपायमान हो गये थे ऐसे चतुर्णिकाय के देव इन्द्रों सहित उस नगर में आ पहुंचे ॥६२॥ उस समय आकाश विमानमय हो गया, पवन दिव्य सुगन्ध मय हो गया, संसार वादित्रों की ध्वनि से तन्मय हो गया और पृथिवी रत्नमयी हो गयी । देवाङ्गनाओं के सुन्दर मुखो से व्याप्त रात्रि ऐसी हो गयी मानों हजारों चन्द्रबिम्बों से रची गयी हो ॥६३–६४॥ देवों के द्वारा छोड़ी हुई पुष्पवृष्टिओं से व्याप्त तथा बाजों की विस्तृत प्रतिध्वनि से युक्त दिशाएं ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों अट्टहास से सहित ही हों ॥६५॥ चमकते हुए मणियों के आभूषणों से सहित, नृत्य करने वाली अप्सराओ का समूह आकाश में ऐसा देदीप्यमान हो रहा था मानों चञ्चल कल्पलताओं का वन ही हो ॥६६॥ उस समय देवो के शरीर सम्बन्धी सौन्दर्य के प्रवाहों से डूबा हुआ वह समस्त नगर तेज से तन्मय जैसा हो गया था अर्थात् ऐसा जान पड़ता था मानों तेज से ही निर्मित हो ॥६७॥ उस समय महान् ऋद्धियों के धारक इन्द्रों से व्याप्त आकाश अमूर्तिक होने

---

१ न विद्यते अकंदुःख यत्र स तस्मात् स्वर्गात् २ कर्माणि हन्तीति कर्मंहा ३ भाद्रपद शुक्लपक्षस्य ४ ऐरावतस्येव आकृतिस्ताम् ५ भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकभेदेन चतुःप्रकारैः ।

विपन्नवृष्टिकैः कीर्णं तत्काले विबुधाधिपैः । अमूर्तमपि पुण्यस्य कीर्तिस्तम्भत्वमाययौ ॥६८॥
आघ्रातुं दिव्यामोदमुड्डीनैरलिनां[1] कुलैः । पापैरमुच्यमानेव सर्वतोऽप्यभवद्धरा ॥६९॥
इति तत्पुरमासाद्य सद्यः सर्वे सुरेश्वराः । [2]ऐरामभ्यर्च्य[3] [4]तेऽभ्यर्च्यामवापुः स्वपदं पुनः ॥७०॥
दिष्टिवृद्धिस्ततोऽकारि पुनरुक्तापि नागरैः । अमरैः स्पर्द्धयेवोच्चैः स्फुरितात्मविभूतिभिः ॥७१॥
स्पर्द्धया रत्नवृष्ट्येव निपतन्त्या विहायसः । महारत्ननिधानानि तदा निरगमन्भुवः ॥७२॥
धर्मपल्लवसंकाशैः सौधानां धवलध्वजैः । छादितं गगनं रेजे तद्यशःपटलैरिव ॥७३॥
गर्भस्थस्यानुभावेन तामभ्येत्य धनाधिपः । उपास्त प्रत्यहं प्रीत्या [5]स्वहस्तविधृतोपदः ॥७४॥
ज्ञानत्रितयसंपन्नो मलैरनुपप्लुतः । अतो हिरण्यगर्भोऽभून्मातुर्गर्भगतोऽपि सः ॥७५॥
न जातु पीडयन्नम्बामङ्गैरेव समुज्ज्वलैः । ववृधे प्रत्यहं देवो नासौ ज्ञानादिभिर्गुणैः ॥७६॥
दधाना तेजसां राशिं गर्भस्थं सा विदिद्युते । द्यौरिवाभ्र[6]दलान्तस्थस्फुरद्बालदिवाकरा ॥७७॥
वीतसांसारिकक्लेशमधात्सा परमेश्वरम् । [7]गर्भोन्माथाः कथं तस्या भवेयुर्दोहदादयः ॥७८॥

पर भी पुण्य के कीर्तिस्तम्भपने को प्राप्त हुआ था अर्थात् ऐसा जान पड़ता था मानों पुण्य का कीर्तिस्तम्भ ही हो ॥६८॥ दिव्य गन्ध को ग्रहण करने के लिये उड़ते हुए भ्रमरों से पृथिवी ऐसी हो गयी थी मानों सभी ओर से पापों के द्वारा छोड़ी जा रही हो ॥६९॥ इस प्रकार के उस नगर को शीघ्र ही प्राप्त कर उन देवेन्द्रों ने पूजनीय ऐरा देवी की पूजा की और पूजा कर पुनः अपने अपने स्थानों को प्राप्त किया ॥७०॥

तदनन्तर देवों के साथ स्पर्धा होने के कारण ही मानों अत्यधिक रूप से अपनी विभूति को प्रकट करने वाले नागरिक जनों ने पुनरुक्त होने पर भी भाग्यवृद्धि की थी ॥७१॥ आकाश से पड़ने वाली रत्नवृष्टि से स्पर्धा होने के कारण ही मानों उस समय पृथिवी से महारत्नों के खजाने निकले थे ॥७२॥ महलों के ऊपर फहराने वाली, धर्म पल्लवों के समान सफेद ध्वजाओं से आच्छादित आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों गर्भस्थ बालक के यशः समूह से ही आच्छादित हो रहा हो ॥७३॥ गर्भस्थित जिन बालक के प्रभाव से कुबेर प्रतिदिन ऐरा देवी के संमुख आकर प्रीति पूर्वक अपने हाथ से भेंट देता हुआ उसकी उपासना करता था ॥७४॥ यतश्च वह बालक माता के गर्भ में स्थित होने पर भी तीन ज्ञानों से सहित तथा मल से अनुपद्रुत था इसलिये हिरण्यगर्भ हुआ था ॥७५॥ माता को कभी पीड़ा न पहुंचाते हुए वह गर्भस्थ जिनेन्द्र अतिशय उज्ज्वल अङ्गों के द्वारा ही वृद्धि को प्राप्त नहीं हो रहे थे किन्तु ज्ञानादि गुणों के द्वारा भी वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे ॥७६॥ गर्भस्थित तेज की राशि को धारण करती हुई वह जिनमाता उस आकाश के समान सुशोभित हो रही थी जिसके मेघदल के भीतर स्थित बाल सूर्य देदीप्यमान हो रहा था ॥७७॥ क्योंकि वह संसार सम्बन्धी क्लेशों से रहित परमेश्वर को धारण कर रही थी इसलिये उसके गर्भ को पीड़ा देने वाले दोहले आदि कैसे हो सकते

---

१ अलिन् शब्दस्य षष्ठी बहुवचनान्तप्रयोगः २ जिनमातरम् ३ पूजयित्वा ४ पूजनीयाम्
५ स्वपाणिसमर्पितोपहारः ६ मेघखण्डमध्यस्थदेदीप्यमानबालसूर्या ७ गर्भपीडकाः ।

अन्तःस्थितस्य तेजोभिः स्फुरद्भिः सा बहिर्बभौ । रत्नौघस्येव मञ्जूषा [1]शुभ्राभ्रकदलैः कृता ।।७९
बभूव सैव सर्वेषां मङ्गलानां सुमङ्गलम् । बिभ्रती तादृशं पुत्रमन्तर्लोकैकमङ्गलम् ।।८०
अथैरायाः स्वमाहात्म्यात्स प्राभूज्जगतां पतिः । ज्येष्ठासितचतुर्दश्यां भरण्यामुषसि स्वयम् ।।८१
तीर्थकृन्नामकर्मर्द्धे देवीनां चातिपालनात् । स्वपुण्यातिशयाच्चापि रूपातिशययोगतः ।।८२
सर्वलक्षणसंपूर्णस्तेजसातीतभास्करः । महोत्साहबलः श्रीमांस्त्रिज्ञानाध्यासितस्तथा ।।८३
[2]वर्षवर्धितबालाभो जातमात्रोऽपि राजते । जिनाधीशोऽमरव्रात[3]नेत्रचेतोहरोऽनघः ।।८४
महाभिषेकयोग्याङ्गो धीरो भीतिविवर्जितः । बालोऽप्यबालचरितो जनानभिभवाकृतिः ।।८५
त्रिजगत्स्वामितां स्वस्य सूचयन् स्वेन तेजसा । महानुभावसंपन्नो दिव्यमर्त्योपमः [4]सुवाक् ।।८६
ततो विबुध[5]नाथानां तस्मिञ्जाते [6]महौजसि । चित्तैः सिंहासनान्युच्चैः सहसैवाचकम्पिरे ।।८७
सौधर्मस्याथ[7]वादेन घण्टाटङ्कारचोदिताः । इत्थमारेभिरे गन्तुं तत्पुरं कल्पवासिनः ।।८८
एकः प्रियांससंसक्तं वामबाहुं कथंचन । आकृष्योदगमद्गन्तुं विधृतोऽपि तया मुहुः ।।८९

थे ? ।।७८।। भीतर स्थित जिनबालक के, बाहर देदीप्यमान तेज से वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों सफेद भोडल के खण्डों से निर्मित रत्न समूह की मञ्जूषा ही हो ।।७९।। लोक के अद्वितीय मङ्गलस्वरूप वैसे पुत्र को भीतर धारण करती हुई वह जिनमाता ही समस्त मङ्गलों में उत्तम मङ्गल हुई थी ।।८०।।

अथानन्तर ऐरा देवी के अपने माहात्म्य से वह त्रिलोकीनाथ ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन प्रात:काल के समय भरणी नक्षत्र मे स्वयं उत्पन्न हुए ।।८१।। तीर्थंकर नाम कर्म की महिमा से, देवियों के अतिशय पालन से, स्वकीय पुण्य के अतिशय से तथा श्रेष्ठ रूप के योग से जो समस्त लक्षणों से परिपूर्ण थे, जिन्होंने तेज से सूर्य को उल्लंघित कर दिया था, जो महान् उत्साह और बल से सहित थे, श्रीमान् थे, तीन ज्ञानों से सहित थे, जो उत्पन्न होते ही एक वर्ष के बालक के समान थे, देव समूह के नेत्र और मन को हरने वाले थे, निष्पाप थे, जिनका शरीर महाभिषेक के योग्य था, जो धीर थे, भय से रहित थे, बालक होने पर भी अबालकोचित चरित्र से युक्त थे, जिनकी आकृति मनुष्यों के द्वारा अनभिभवनीय थी, जो अपने तेज के द्वारा अपने आपके तीनों जगत् के स्वामी पने को प्रकट कर रहे थे, महानुभाव से सहित थे, दिव्य मनुष्यों के तुल्य थे तथा सुन्दर वचन बोलने वाले थे ऐसे वह जिनराज अत्यंत सुशोभित हो रहे थे ।।८२-८६।।

तदनन्तर उन महाप्रतापी जिनेन्द्र भगवान् के उत्पन्न होने पर इन्द्रों के उच्च सिंहासन उनके चित्तों के साथ सहसा ही कांपने लगे ।।८७।। सौधर्मेन्द्र के आह्वान से घण्टा की टंकार से प्रेरित हुए कल्पवासी देव इसप्रकार उस नगर को जाने के लिये तत्पर हुए ।।८८।। कोई एक देव प्रिया के कंधे पर रक्खे हुए वाम बाहु को किसी तरह खीच कर उसके द्वारा बारबार रोके जाने पर भी चलने

---

१ शुभ्राणि शुक्लानि यानि अभ्रकदलानि 'भोडल' इति प्रसिद्धवस्तु खण्डानि तैः २ एकवर्षीयबालकसदृशः ३ देवसमूहनयनमनोहरः ४ शोभनवाणीकः ५ इन्द्राणां ६ महाप्रतापे ७ आह्वानेन ।

रामां मनोरमां कश्चिद्वल्लकीं[1] वा [2]कलस्वनाम् । भर्तृतः शङ्कमानोऽपि चिराद्[3]क्रोडान्निराकरोत् ॥९०॥
अपरः [4]स्ववधूलास्यप्रेक्षाव्याक्षिप्तमानसः । तत्संगीतकमेवाग्रे विधायोदचलद्गृहात् ॥९१॥
अप्यन्यो गमनायाशु मिलिताशेषसैनिकः । अनायाते प्रिये सख्यौ किञ्चित्कालं व्यलम्बत ॥९२॥
प्रसीदोत्तिष्ठ यास्यामः किं त्वया कुप्यते वृथा । इत्येकेन प्रिया क्रुद्धा गमनायान्वनीयत ॥९३॥
मित्रस्यांसस्थलं कश्चिद्वामेनालम्ब्य पाणिना । दक्षिणेनानताङ्गार्द्धं गन्तुं कान्तामुदक्षिपत् ॥९४॥
अनुयान्तीं प्रियां कश्चित्पश्यन्व्यावृत्य संततम् । अगारान्निरगात्तस्यां स्वासक्तिं वा प्रकाशयन् ॥९५॥
कण्ठासक्तां प्रियामन्यो मालामिव समुद्वहन् । प्रातिष्ठतान्यनारीभिः [5]सासूयं प्रेक्षितो मुहुः ॥९६॥
संभ्रान्तैर्गमनायैवं गीर्वाणैश्चित्रवाहनैः[6] । वासवस्य सभाद्वारमापुपूरे समन्ततः ॥९७॥
अथैशानादिनाकेशान्विलोक्य सहसागतान् । उदतिष्ठद्गमायेन्द्रः[7] सौधर्मः सिंहविष्टरात् ॥९८॥
प्रास्थितैरावतारूढो भ्रमयंल्लीलयांकुशम् । पृष्ठारोपितया शच्या [8]त्रासाश्लेषैः प्रतर्पितः ॥९९॥
अपूर्यत ततस्तूर्यध्वनिभिर्भुवनोदरम् । समन्ताद्दिविजानीकैः[9] समं लोकान्तवर्तिभिः ॥१००॥

लिए उद्यम करने लगा ॥८९॥ कोई एक देव स्वामी से शङ्कित होता हुआ भी वीणा के समान मधुर भाषिणी सुन्दर स्त्री को चिरकाल बाद अपनी गोद से अलग कर सका था ॥९०॥ अपनी स्त्री का नृत्य देखने से जिसका चित्त व्याक्षिप्त हो गया था ऐसा एक देव उसके संगीत को ही आगे कर घर से चला था ॥९१॥ चलने के लिये जिसके समस्त सैनिक यद्यपि शीघ्र ही इकट्ठे हो गये थे तो भी वह देव प्रिय मित्र के न आने पर कुछ काल तक विलम्ब करता रहा ॥९२॥ 'प्रसन्न होओ, उठो, चलेंगे, तुम व्यर्थ ही क्यों क्रोध कर रही हो ?' इसप्रकार किसी देव ने अपनी कुपित प्रिया को चलने के लिये मना लिया था ॥९३॥ कोई एक देव बांए हाथ से मित्र के कन्धे का आलम्बन कर दाहिने हाथ से कुछ झुक कर चलने के लिये स्त्री को उठा रहा था ॥९४॥ कोई एक देव पीछे आती हुई प्रिया को बार बार मुड़ कर देखता हुआ उसमें अपनी आसक्ति को प्रकट करता घर से निकला था ॥९५॥ कोई देव कण्ठ में सलग्न प्रिया को माला के समान धारण करता हुआ चलने लगा जब कि अन्य स्त्रियां ईर्ष्या के साथ उसे वार वार देख रही थी ॥९६॥ इसप्रकार चलने के लिये उत्कण्ठित नाना वाहनों वाले देवों से इन्द्र का सभा द्वार सब ओर से परिपूर्ण हो गया ॥९७॥

तदनन्तर ऐशानेन्द्र आदि को सहसा आया देख सौधर्मेन्द्र चलने के लिये सिंहासन से उठा ॥९८॥ ऐरावत हाथी पर आरूढ होकर जो लीला पूर्वक अंकुश घुमा रहा था तथा पीछे बैठी हुई इन्द्राणी भय से होने वाले आलिङ्गनों के द्वारा जिसे संतुष्ट कर रही थी ऐसे सौधर्मेन्द्र ने प्रस्थान किया ॥९९॥ तदनन्तर सब ओर लोक के अन्त तक वर्तमान देवों की सेनाओं के साथ तुरही के शब्दों से जगत् का मध्यभाग परिपूर्ण हो गया ॥१००॥ आगे चलने वाले देवों की ध्वजाओं से मार्ग सब ओर

---

१ वीणा २ मधुरभाषिणीं रम्यस्वरां च, ३ क्रोडात् ४ स्ववध्वा लास्यस्य प्रेक्षायां व्याक्षिप्तं मानसं यस्य सः ५ सेर्ष्यायथा स्यात्तथा ६ चित्राणि विविधानि वाहनानि येषां तैः ७ गमनाय ८ त्रासेन भयेन कृता आश्लेषा आलिङ्गनानि तैः ९ देवसैन्यैः ।

ध्वजैः पुरः प्रवृत्तानां रुद्धे वर्त्मनि सर्वतः । तेषामपि पुरः केचित्त्वरमाणाः प्रतस्थिरे ॥१०१॥
देवानां मुकुटाग्रस्थपद्मरागांशुमण्डलैः । तदाभ्रौ गगनं कृत्स्नं सिन्दूरितमिवाभवत् ॥१०२॥
[1]वीताभ्रमपि दिक्चक्रं विद्युन्मयमिवाद्युतत् । तेषां विभूषणालोकैस्ततं चाङ्गरुचां चयैः ॥१०३॥
विधृतैः काशनीकाशैश्छत्रैः केचिदनुद्रुताः । स्वैः पुण्यैरिव विस्मित्य दृश्यमाना इवाबभुः ॥१०४॥
विमानस्थः प्रियामन्यः पौनःपुन्यं विभूषयन् । प्रयात्प्रयाणसंघट्टं क्वचित्पश्यन्ननाकुलम् ॥१०५॥
प्रस्तुतं वन्दिनां घोषं निवार्य सुहृदा समम् । परिहासाद्वदन्किञ्चिल्लीलया कश्चिदाययौ ॥१०६॥
प्रतिक्षणं परावृत्य गृह्णन्वेषपरम्पराम् । आपतन्नपरो वेगात्कुशीलव[2] इवाभवत् ॥१०७॥
वाहवेगवशादंस[3]स्रस्तधम्मिल्लमल्लिकाः । पताका इव [4]पुष्पेषो रेजुः काश्चित्सुरस्त्रियः ॥१०८॥
काचित्प्राणसमे काञ्चिदन्यां व्यावृत्य [5]पश्यति । वपुषैवागमत्तिर्यग्नानुरक्तेन चेतसा ॥१०९॥
काश्चिल्लीलास्मितालोकैः सृजन्त्य इव कौमुदीम्[6] । अगुर्देहप्रभाजालजलसिक्तदिगन्तराः ॥११०॥
इत्यायद्भिः[7] समं चेलुर्ज्योतिःकल्पनिवासिभिः । चन्द्राद्याः सिंहनादेन व्याहूतनिजसैनिकाः ॥१११॥

रुक गया था परन्तु शीघ्रता करने वाले कितने ही देव उनके भी आगे चल पडे ॥१०१॥ उस समय देव मुकुटों के अग्रभाग में स्थित पद्मराग मणिओं की किरणों के समूह से समस्त आकाश सिन्दूर से व्याप्त हुए के समान लाल २ हो गया था ॥१०२॥ उन देवों के आभूषणों के प्रकाश तथा शरीर सम्बन्धी कान्ति के समूह से व्याप्त दिङ् मण्डल मेघ रहित होने पर बिजलियों से तन्मय के समान देदीप्यमान हो गया था ॥१०३॥ कितने ही देव काश के फूलों के समान लगाये हुए छत्रों से ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों उनके अपने पुण्य ही उनके पीछे पीछे चल रहे थे। ऐसे देवों को दूसरे देव बड़े आश्चर्य से देख रहे थे ॥१०४॥ कोई एक देव विमान में बैठ कर जा रहा था। वह अपनी प्रिया को बार बार विभूषित करता था तथा कहीं इकट्ठी हुई भीड़ को निराकुलता पूर्वक देखता जाता था ॥१०५॥ कोई एक देव वन्दी जनों के द्वारा प्रस्तुत जयघोष को बंद कर मित्र के साथ हास्यपूर्वक कुछ वार्तालाप करता हुआ लीला से जा रहा था ॥१०६॥ कोई एक देव प्रतिक्षण बदल बदल कर नये नये वेषों को धारण करता हुआ बड़े वेग से आ रहा था जिससे वह नट के समान जान पड़ता था ॥१०७॥

वाहन के वेग वश जिनकी चोटी की मालाएं कंधों पर लटकने लगी थीं ऐसी कितनी ही देवियां कामदेव की पताकाओं के समान सुशोभित हो रही थीं ॥१०८॥ किसी देवी का पति मुड़ मुड़ कर दूसरी देवी की ओर देख रहा था इसलिये वह शरीर से उसके साथ जा रही थी अनुरक्त चित्त से नहीं ॥१०९॥ शरीर सम्बन्धी प्रभा समूह रूपी जल से जिन्होंने दिशाओं के मध्य भाग को सींचा था ऐसी कितनी ही देवियां लीला पूर्वक होने वाली मन्द मुसक्यानों के प्रकाश से चांदनी को सृजती हुई के समान जा रही थीं ॥११०॥ सिंह नाद से जिन्होंने अपने सैनिकों को बुला रक्खा था ऐसे चन्द्रमा आदि देव, पूर्वोक्त प्रकार से आने वाले ज्योतिष लोक के निवासी देवों के साथ चलने लगे ॥१११॥

---

१ निर्मेघमपि २ नट इव ३ अंसे स्कन्धे स्रस्ता लम्बिता धम्मिल्ल मल्लिकाः चूडास्रजो यासां ताः
४ कामस्य ५ पश्यति सति ६ चन्द्रिकाम् ७ आगच्छद्भिः ।

चन्द्रलोकमयीं चन्द्रः कुर्वन् [1]द्यां भानुना समम् । तत्काले संगतोऽभासीज्जिनजन्मानुभावतः ॥११२॥
[2]अङ्गारः स्वरुचां चक्रैः साग्न्यङ्गारमयं वियत् । विदधानोऽप्यभूच्चित्रं तत्काले लोकशान्तये ॥११३॥
[3]बुधोऽपि बुधतां स्वस्य प्रथयन्निव तत्क्षणे । प्रतस्थे पुरतस्तेषामानन्दभरनिर्भरः ॥११४॥
वाक्पथातीतमाहात्म्यः कथं वा स्तोष्यते जिनः । इतीव [4]वाक्पतिर्ध्यायन्नायादाशङ्कया शनैः ॥११५॥
[5]सितोऽप्यवातरद्व्योम्नः सितिम्ना नितरां सितः । प्रहास इव धर्मस्य तदा रेजे प्रहृष्यतः ॥११६॥
[6]अशनैः शनिरप्यार[7] स्पर्द्धयेवापरैस्तदा । न हि मन्दायते कश्चित्तादृशे जगदुत्सवे ॥११७॥
[8]स्वर्भानुरतसीसूनसमानात्मरुचां चयैः । तमालपल्लवान्दिक्षु विक्षिपन्वा तदा ययौ ॥११८॥
[9]केतुः [10]केतुसहस्रेण विमलेनोपलक्षितः । गङ्गातुङ्गतरङ्गौघमध्यगो वा समापतत् ॥११९॥
इति ते तत्पुरं प्रापुः पटहध्वनिचोदितैः । समन्ताद्व्यन्तरानीकैर्दुःप्रवेशोपशल्यकम् ॥१२०॥
प्रागेव कम्बुनिस्वानादभ्येत्य [11]चमरादिभिः । [12]भावनैर्विहिताशेषमङ्गलं [13]शुभभावनैः ॥१२१॥
तत्कालोपनताशेषत्रैलोक्यश्रीप्रसाधितम् । प्रापे राजकुलद्वारं शक्राद्यैः क्रमशः सुरैः ॥१२२॥
(युग्मम्)

उस समय सूर्य के साथ मिला हुआ चन्द्रमा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों जिनेन्द्र जन्म के प्रभाव से वह आकाश को चन्द्रलोक मय कर रहा हो ॥११२॥ उस समय मङ्गलग्रह अपनी कान्तियों के समूह से आकाश को अग्नि सहित अङ्गारों से तन्मय करता हुआ भी लोक की शान्ति के लिए हुआ था यह आश्चर्य की बात थी । ॥११३॥ आनन्द के भार से भरा हुआ बुधग्रह भी उस समय अपने वैदुष्य को विस्तृत करते हुए के समान उन सब के आगे चल रहा था ॥११४॥ जिनकी महिमा वचन मार्ग से परे है ऐसे जिनेन्द्रदेव की स्तुति कैसे की जा सकती है ? ऐसा ध्यान करता हुआ ही मानों वृहस्पति आशङ्का से धीरे धीरे आ रहा था ॥११५॥ सफेदी से अत्यन्त सफेद शुक्रग्रह भी उस समय आकाश से नीचे उतरा था और ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों हर्षित होते हुए धर्म का प्रकृष्ट हास ही हो ॥११६॥ उस समय दूसरे देवों से स्पर्द्धा होने के कारण ही मानों शनिग्रह जल्दी जल्दी चल रहा था सो ठीक ही है क्योंकि जगत् के वैसे उत्सव में कोई पुरुष मन्द नहीं होता ॥११७॥ उस समय राहु अलसी के फूल के समान अपनी किरणों के समूह से दिशाओं में तमाल वृक्ष के पल्लवों को विखेरता हुआ सा जा रहा था ॥११८॥ हजारों निर्मल पताकाओं से सहित केतुग्रह, गङ्गा की उन्नत तरङ्गों के बीच चलता हुआ सा आ रहा था ॥११९॥ इस प्रकार वे सब देव उस नगर को प्राप्त हुए जिसके चारों ओर समीपवर्ती प्रदेश में पढह की ध्वनि से प्रेरित व्यन्तरों की सेना से प्रवेश करना कठिन था ॥१२०॥ प्रशस्त भावना से सहित चमर आदि भवनवासी देवों ने शङ्ख ध्वनि से आकर पहले ही जिसमें समस्त माङ्गलिक कार्य सम्पन्न कर लिये थे तथा जो तत्काल उपस्थित हुयी समस्त तीन लोक सम्बन्धी लक्ष्मी से सुशोभित हो रहा था ऐसा राजभवन का द्वार इन्द्र आदि देवों के द्वारा क्रम से प्राप्त किया गया ॥१२१-१२२॥

---

१ आकाशम् २ मङ्गलग्रहः ३ बुधग्रहः ४ वृहस्पतिः ५ शुक्रग्रहोऽपि ६ शीघ्रम् ७ आजगाम ८ राहुः ९ केतुग्रहः १० पताकासहस्रेण ११ चमरप्रभृतिभिः १२ भवनवासिभिः १३ शुभा भावना येषां तैः ।

दूरादुत्तीर्य यानेभ्यः स्वं निवेद्य महीभुजे । इन्द्रैः प्रविविशे भूभृन्मन्दिरं [1]मन्दरोपमम् ।।१२३।।
पुरंव सिक्तसंमृष्टं कैश्चिदन्तर्हितात्मभिः । गायकैः किन्नरैः कीर्णैः प्रग्रीवैरुपशोभितम् ।।१२४।।
क्वचिद्रत्नविटङ्कानां विबुधैरुपरिस्थितैः । वीक्ष्यमाणैर्मुदा नृत्तैः प्रवृत्तै राजिता[2]जिरम् ।।१२५।।
क्वचित्[3]प्रघणवेदीषु सामन्तैर्लीलया स्थितैः । सुरैरिवापरैर्युक्तमत्यद्भुतविभूतिभिः ।।१२६।।
क्वचिन्मुक्ताकलापौघैश्चन्द्रांशुभिरिवाततम् । अन्यत्र [4]विद्रुमालोकैर्बालातपदलैरिव ।।१२७।।
क्वचिन्मुरजनिस्वानप्रहृष्टशिखिकेकितैः । जिनजन्माभिषेकाय मेघानुच्चैरिवाह्वयत् ।।१२८।।
क्वचिद्रङ्गावलीन्यस्तनानारत्नप्रभोत्करैः । स्फुरद्भिः सर्वतो व्योम सेन्द्रायुधमिवादधत् ।।१२९।।
सर्वभव्यप्रजापुण्यैर्निर्मितं वा मनोरमम् । सुरेन्द्रैर्ददृशे तत्र जिनजन्मगृहं मुदा ।।१३०।।
(सप्तभिः कुलकम्)
त्रिधा परीत्य तत्पूर्वं भक्त्या नमितमौलयः । शक्राः प्रविविशुः [5]पस्त्यमालोक्य मुखराननाः ।।१३१।।
अथैक्षन्त सुरेन्द्रास्तं जातमात्रं जिनेश्वरम् । महिम्ना[6]क्रान्तलोकान्तमपि मातुः पुरः स्थितम् ।।१३२।।

इन्द्रादिक देवो ने दूर से ही वाहनों से उतर कर तथा राजा के लिए अपना परिचय देकर मेरुतुल्य राजभवन मे प्रवेश किया ।।१२३।। अन्तर्हित रूप वाले कितने ही देवों ने जिसे पहले ही सींच कर साफ कर लिया था, जो फैले हुए सुन्दर कण्ठ वाले किन्नर गवैयों से सुशोभित था, जो कहीं रत्नमय छज्जों के ऊपर स्थित देवों के द्वारा देखे जाने वाले हर्ष से प्रवृत्त नृत्यों से सुशोभित आंगन से सहित था अर्थात् जिसके आगन मे नृत्य हो रहा था और देव लोग उसे छज्जों पर बैठकर देख रहे थे, जो कहीं देहरी की समीपवर्ती वेदिकाओं पर लीलापूर्वक बैठे हुए आश्चर्यकारक विभूति वाले उन सामन्तों से युक्त था जो दूसरे देवों के समान जान पड़ते थे, जो कहीं मोतियों के समूह से युक्त होने के कारण ऐसा जान पड़ता था मानों चन्द्रमा की किरणों से ही व्याप्त हो और कहीं मूंगाओ के प्रकाश से ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों प्रातः काल के लाल लाल आतप खण्डों से ही युक्त हो, जो कहीं मृदंगों के शब्द से हर्षित मयूरों की केकावाणी से ऐसा जान पड़ता था मानों जिनेन्द्र भगवान् के जन्माभिषेक के लिए मेघों को ही बुला रहा हो, जो कही रङ्गावली (रांगोली) में रखे हुए नाना रत्नों की देदीप्यमान प्रभावों के समूह से आकाश को सभी ओर इन्द्र धनुषों से युक्त करता हुआ सा जान पड़ता था, तथा जो समस्त भव्य प्रजा के पुण्यो से रचे हुए के समान मनोहर था ऐसे जिन जन्मगृह को वहां देवों ने बड़े हर्ष से देखा ।।१२४-१३०।। उस जन्मगृह को देखकर जिनके मुकुट भक्ति से झुक गये थे तथा मुख स्तोत्रों से शब्दायमान हो उठे थे ऐसे इन्द्रों ने पहले तीन प्रदक्षिणाएं देकर पश्चात् उस गृह में प्रवेश किया ।।१३१।।

तदनन्तर इन्द्रों ने उत्पन्न हुए उन जिनराज को देखा जो महिमा के द्वारा लोकान्त को व्याप्त करने वाले होकर भी माता के आगे स्थित थे, जो प्रभामण्डल के मध्य में स्थित तथा सुखद कान्ति से

---

१ मेरुसदृशम् २ शोभिताङ्गणम् ३ देहलीसमीपवर्तिवेदिकासु ४ प्रवालप्रकाशैः ५ भवनं
६ महिम्ना आक्रान्तो लोकान्तो येन तथाभूतमपि शरीरेण मातु रग्रे विद्यमानम् ।

तेजोवलयमध्यस्थैरङ्गै रध्यक्षकान्तिभिः । ब्रुवाणमुपमातीतं स्वयं स्वमिव सर्वतः ॥१३३॥
एकमूर्ति त्रिधा भिन्नमलौकिकसमुद्भवम् । [1]प्रभवं सर्वविद्यानामचिन्त्य[2]मजात्मकम् ॥१३४॥
लोकातीतगुणोपेतमपि लोकैकनायकम् । अप्यर्भकं हृदि न्यस्तसमस्तभुवनस्थितम् ॥१३५॥
(चतुर्भिःकलापकम्)

[3]मायार्भकं निवेश्याथ तन्मातुः पुरतो हरिः[4] । अपाहरत्तमीशानं[5] कः कार्यापेक्षया शुचिः[6] ॥१३६॥
तं निधाय ततः स्कन्धे [7]सिन्धुरेन्द्रस्य बन्धुरे । प्रारब्धेति वृषा[8] गन्तुमभिमेरु[9] विहायसा[10] ॥१३७॥
तन्मज्जनार्थमायात[11]क्षीरोदारेकया सुरैः । वीक्ष्यमाणं सितच्छत्रं तस्यैशान[12]स्तदावहत् ॥१३८॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रौ लीलाकम्पितचामरौ । तस्य पक्षगजारूढौ शोभां कामप्यवापतुः ॥१३९॥
इन्द्राण्यः पुरतस्तेषां करिणीभिः प्रतस्थिरे । ललन्त्यो लीलयोत्क्षिप्तैरुत्क्षेपाविकमङ्गलैः ॥१४०॥
व्यजृम्भत ततो [13]मन्द्रं दिव्यदुन्दुभिनिस्स्वनः । दिग्भित्तिस्खलनोद्भूतस्वप्रतिध्वानवर्धितः ॥१४१॥

युक्त अङ्गों के द्वारा स्वयं ही अपने आप को सब ओर से उपमा रहित—अनुपम कह रहे थे, जो एक मूर्ति होकर भी तीर्थंकर, चक्रवर्ती और कामदेव के भेद से तीन प्रकार से विभक्त थे, जिनका लोकोत्तर जन्म था, जो समस्त विद्याओं के कारण थे, अचिन्तनीय थे और जिनकी आत्मा जन्म से रहित थी, जो लोकातीत गुणों से सहित होने पर भी लोक के अद्वितीय नायक थे और बालक होने पर भी जिनके हृदय में समस्त लोक स्थित था ॥१३२-१३५॥

तदनन्तर इन्द्र ने उनकी माता के आगे मायामय बालक रखकर उन जिनराज को उठा लिया सो ठीक ही है क्योंकि कार्य की अपेक्षा पवित्र कौन है ? अर्थात् कार्य सिद्ध करने के लिए सभी माया का प्रयोग करते हैं ॥१३६॥ तदनन्तर गजराज—ऐरावत हाथी के सुन्दर स्कन्ध पर उन जिनराज को विराजमान कर इन्द्र आकाश मार्ग से मेरु की ओर चला ॥१३७॥ उस समय ऐशानेन्द्र ने जिनराज के ऊपर वह सफेद छत्र लगा रक्खा था । जिसे देव लोग उनके जन्माभिषेक के लिए आये हुए क्षीरसमुद्र की शङ्का से देख रहे थे ॥१३८॥ जिनराज के दोनों ओर हाथियों पर आरूढ तथा लीलापूर्वक चमरों को चलाते हुए सानत्कुमार और माहेन्द्र किसी अनिर्वचनीय शोभा को प्राप्त हो रहे थे ॥१३९॥ जो लीलापूर्वक ऊपर उठाये हुए ठौना आदि मङ्गल द्रव्यों से सुशोभित हो रही थीं ऐसी इन्द्राणियां उन इन्द्रों के आगे हस्तिनियों पर सवार होकर जा रही थी ॥१४०॥

तदनन्तर दिशा रूपी दीवालो मे टकराने से उत्पन्न अपनी प्रतिध्वनि से बढ़ा हुआ देवदुन्दुभियों का शब्द गम्भीर रूप से वृद्धि को प्राप्त हो रहा था ॥१४१॥ कही आकाश किन्नरों की वीणा और बांसुरी के निरन्तर शब्दों तथा अप्सराओ के नृत्यों से आतोद्यमय—नृत्य गायन और

---

१ कारणं २ अजः अग्रिमपर्यायेजन्मरहित आत्मा यस्य तम् ३ मायामयबालकं ४ इन्द्रः ५ जिन बालकम् ६ पवित्रो-माया रहित इत्यर्थः ७ गजराजस्य ८ इन्द्रः ९ मेरुसन्मुखं १० गगनेन ११ आगत क्षीर समुद्र शङ्कया १२ ऐशानेन्द्रः १३ गंभीरं ।

[1]विपञ्चीवेणुनिक्वाणैः किन्नराणां निरन्तरैः । लौ[2]रातोद्यमयीवाभून्नृत्यैश्चाप्सरसां क्वचित् ॥१४२॥
चित्ररूपैरिव व्योम्नि स्फुरमाणैरितस्ततः । [3]प्रमथैः पप्रथे क्रीडा वल्गनक्ष्वेलनादिका ॥१४३॥
[4]गन्धर्वैरिव [5]गन्धर्वैर्धावमानैरपि द्रुतम् । अविनष्टक्रियास्थानं चित्रं तस्योज्जगे यशः ॥१४४॥
क्षणादिव ततः प्रापे सुमेरुस्तैः सुरेश्वरैः । जम्बूद्वीपसरोजस्य कर्णिकाकृतिमुद्वहन् ॥१४५॥
तस्यापि शैलनाथस्य ते शिलां पाण्डु[6]कम्बलाम् । प्रापुश्चन्द्रकलाकारां तत्पूर्वोत्तर[7]दिग्गताम् ॥१४६॥
तस्याः सिंहासने पूर्वं तं निधाय यथागमम् । इत्थमारेभिरे भक्त्या तेऽभिषेक्तुं सुरेश्वराः ॥१४७॥
तस्मादारभ्य शैलेन्द्राद्याक्षीरोदं सुरेश्वराः । धृतरत्नघटाः केचित्परिपाट्यावतस्थिरे ॥१४८॥
सामानिकास्ततः सर्वे भूत्वा मङ्गलपाठकाः । तं तस्थुः परितो दूरात्समं भवनवासिभिः ॥१४९॥
नान्दीप्रभृतितूर्याणि वादयन्तः समन्ततः । ज्योतिष्कव्यन्तराधीशाः प्रादुरासन्महौजसः ॥१५०॥
वपुर्धन्योन्नमादाय [8]सहस्रकरशोभितम् । सौधर्मः स्नापको भूत्वा तस्थौ तस्य पुरः प्रभोः ॥१५१॥
त्रिजगत्पतिनामाङ्कं त्रिजगद्दण्डकं क्रमात् । उच्चार्य मधुरस्निग्धगम्भीरस्वरसंपदा ॥१५२॥

वादन से तन्मय जैसा हो गया था ॥१४२॥ आकाश में इधर उधर देदीप्यमान होने से जो नाना रूप के धारक जान पडते थे ऐसे प्रमथ (व्यन्तर के भेद-विशेष) देवों ने उछल कूद आदि नाना प्रकार के खेल प्रकट किये ॥१४३॥ घोड़ों के समान शीघ्र दौडते हुए भी गन्धर्व देवों ने जिनराज का वह यश उच्च स्वर गाया था जिसमें क्रिया—करण—नृत्य मुद्राएं आदि नष्ट नहीं हुई थी, यह आश्चर्य की बात थी ॥१४४॥

तदनन्तर उन इन्द्रों ने जम्बूद्वीप रूपी कमल की कर्णिका की आकृति को धारण करने वाला सुमेरु पर्वत मानों क्षणभर में प्राप्त कर लिया ॥१४५॥ उस सुमेरु पर्वत की ऐशान दिशा में स्थित चन्द्र कला के आकार वाली पाण्डुकम्बला नामक शिला को भी वे इन्द्र प्राप्त हुए ॥१४६॥ उस पाण्डुकम्बला शिला के सिंहासन पर पहले आगमानु उन जिनराज को विराजमान कर इन्द्र भक्ति पूर्वक इस प्रकार अभिषेक करने के लिए तत्पर हुए ॥१४७॥ रत्नमय कलशों को धारण करने वाले कितने ही इन्द्र उस सुमेरु पर्वत से लेकर क्षीर समुद्र तक पंक्तिरूप से खड़े हो गये ॥१४८॥ तदनन्तर मङ्गल पाठ पढ़ने वाले समस्त सामानिक देव उन जिनराज के चारों ओर भवन वासी देवो के साथ दूर खड़े हो गये ॥१४९॥ नान्दी आदि वादित्रों को बजाते हुए महा—तेजस्वी ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों के इन्द्र चारो ओर खड़े हुए ॥१५०॥ सौधर्मेन्द्र हजार हाथों से सुशोभित सुन्दर शरीर लेकर स्नपन करने वाला बन उन जिनराज के आगे खड़ा हो गया ॥१५१॥

तदनन्तर मधुर स्निग्ध और गम्भीर स्वर से क्रमपूर्वक त्रिलोकीनाथ के नामों से अङ्कित त्रिजगद्दण्डक का उच्चारण कर इन्द्र ने पहले ऋचाओं और हजारों मन्त्रों का भी अच्छी तरह

---

१ वीणा २ नृत्यगायनवादनमयीव ३ देवविशेषैः ४ आश्वैरिव ५ देवविशेषैरिव ६ एतन्नामधेयाम् ७ ऐशानदिक्स्थिताम् ८ सहस्रहस्त शोभितम् ।

ऋचः पुरा समुच्चार्य मन्त्रानपि सहस्रशः । दूर्वायवाक्षतकुशैर्विधिना तं व्यवर्धयत् ॥१५३॥
इन्द्राणीहस्तसंप्राप्तं क्षीरोदजलपूरितम् । धृत्वा घटसहस्रं तैः सहस्रैरपि बाहुभिः ॥१५४॥
दृश्यमानं वृषा देवैर्विस्मयात्तमथार्भकम्[1] । सममभ्यषिचन्नाथं सहस्रघटवारिभिः ॥१५५॥
तस्याभिषेकमालोक्य क्रान्तत्रैलोक्यवैभवम् । तन्महत्त्वेति [2]गीर्वाणैरभ्यधायि परस्परम् ॥१५६॥
केनाप्यविधृतः पश्चादेष सिंहासनं शिशुः । [3]महीयोऽप्यात्मतेजोभिः पिधायैवाधितिष्ठति ॥१५७॥
अस्य देहरुचा भिन्नं कर्णिकारसमत्विषा । स्नानादापिञ्जरीभूय क्षीरवार्यपि धावति ॥१५८॥
कक्षेणोभयतः पश्यंश्चामराण्येव लीलया । देवेन्द्रानादिशन्नन्तः किमपीवावभासते ॥१५९॥
अमुनाध्यासितो मेरुः [4]पावनः [5]पार्थिवोऽप्यभूत् । इदमेव महच्चित्रं महतामपि वर्तते ॥१६०॥
अप्यसंस्पृशतोरस्य पादयोः पादपीठकम् । चित्रं नखमणिज्योत्स्ना सुरमौलिषु लक्ष्यते ॥१६१॥
[6]पृथुकत्वमथान्वर्थमस्यैव भुवि दृश्यते । मातुर्गर्भगतेनापि येनाक्रान्तं जगत्त्रयम् ॥१६२॥
नेत्रा भव्यसमूहानां नेत्रानन्दकरं वपुः । अनेन [7]साध्वभार्यैव किमन्येनाप्यनेनसा ॥१६३॥
न रोदिति वियुक्तोऽपि मात्रा धैर्यनिधिः परम् । वेदयन्निव लोकेभ्यो [8]वेदत्रितयमात्मनः ॥१६४॥

उच्चारण किया। पश्चात् दूर्वा, जौ, अक्षत और कुशा के द्वारा विधिपूर्वक उनका वर्धापन—आरती आदि के द्वारा मङ्गलाचार किया ॥१५२-१५३॥ पश्चात् इन्द्र ने इन्द्राणी के हाथ से दिये, क्षीर समुद्र के जल से भरे हजार कलशों को अपने हजार भुजाओं से लेकर हजार कलशों के जल से जिन बालक का अभिषेक किया। भगवान् के इस अभिषेक को देव बड़े आश्चर्य के साथ देख रहे थे ॥१५४-१५५॥ तीन लोक के वैभव को आक्रान्त करने वाले उनके उस अभिषेक को देखकर देव परस्पर उनकी महिमा को इस प्रकार कह रहे थे ॥१५६॥ देखो यह बालक पीछे से किसी के पकडे बिना ही अपने तेज से विशाल सिंहासन को आच्छादित कर बैठा हुआ है ॥१५७॥ कनेर के फूल के समान कान्ति वाली इनकी शरीर सम्बन्धी प्रभा से मिश्रित क्षीर जल भी अभिषेक से पीला पीला होकर बह रहा है ॥१५८॥ बगल से दोनों ओर लीलापूर्वक चमरों को देखता हुआ यह बालक ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों मन ही मन इन्द्रों को कुछ आदेश दे रहा हो ॥१५९॥ यह मेरु पर्वत पृथिवीमय होकर भी इनसे अधिष्ठित होकर पवित्र हो गया है बड़े बडे लोगों को भी यही सबसे बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥१६०॥ यद्यपि इनके चरण पादपीठ का स्पर्श नहीं कर रहे हैं तो भी इनके नख रूपी मणियों की चांदनी देवों के मुकुटों पर दिखायी दे रही है यह आश्चर्य है ॥१६०॥ पृथिवी पर इसी का पृथुकत्व—बालकत्व पक्ष में विपुलत्व सार्थक दिखायी देता है जिसने माता के गर्भ में स्थित रहते हुए भी तीन जगत् को आक्रान्त कर लिया था ॥१६२॥ भव्यसमूह के नेता स्वरूप इस जिन बालक के द्वारा ही नेत्रों को आनन्द देने वाला उत्तम शरीर धारण किया गया है निष्कलंक होने पर भी अन्य पुरुष से क्या प्रयोजन है ? ॥१६३॥ अतिशय धैर्य का भण्डार स्वरूप यह बालक माता से

---

१ जिनबालकम् २ देवैः ३ अतिशयेन महत् ४ पवित्रः ५ पृथिवी सम्बन्धी, ६ शिशुत्वं, विपुलत्वम् ७ साधु + अधारि + एव इतिच्छेदः ८ ज्ञानत्रयम् ।

वीततृष्णतयाहारं नाभिलष्यति केवलम् । लोकानुग्रहबुद्धचास्ते बद्ध्वा पर्यङ्कमञ्जसा ॥१६५॥
इत्येवमादिकं केचिदभिधायानमन्सुराः । पाणिभिः कुड्मलीभूतैर्मनोभिश्च विकासिभिः ॥१६६॥
अभिषेकावसानेऽथ समभ्यर्च्याक्षतादिभिः । शक्रः प्रववृते स्तोतुमिति स्तुतिविशारदः ॥१६७॥
नमः प्रभवते तुभ्यं स्तुवतां पापशान्तये । निःशेषोत्तीर्णसंसारसिन्धवे भव्यबन्धवे ॥१६८॥
तव वज्रमयः कायो निरपायः प्रकाशते । करुणारसनिष्यन्दि चेतश्चेत्यतिकौतुकम् ॥१६९॥
दूराभ्यर्णचराणां त्वं सेवकानामनुत्तमाम् । विभूतिमुचितज्ञोऽपि निर्विशेषं दिशस्यहो ॥१७०॥
[1]उद्भवस्तव भव्यानां प्रबोधायैव केवलम् । यथेन्दोरवदातस्य[2] कुमुदानां [3]जलात्मनाम् ॥१७१॥
प्रयोजनमनुद्दिश्य न [4]मन्दोऽपि प्रवर्तते । [5]अनपेक्ष्यैव [6]बुद्धोऽपि लोकानामुपकारकः ॥१७२॥
किङ्करः सकलो लोकः किंकरः सशरासनः । अत्यद्भुतमिदं पुण्यं तवैव बत दृश्यते ॥१७३॥
आश्रितानां भवावासस्त्वया किमिति भज्यते । अतिधीरस्य ते युक्तं किमिदं शिशुचापलम् ॥१७४॥

वियुक्त होकर भी नहीं रो रहा है । ऐसा जान पड़ता है मानों यह लोगों के लिए अपने तीन ज्ञानों की सूचना ही दे रहा हो ॥१६४॥ तृष्णा से रहित होने के कारण यह आहार की इच्छा नहीं कर रहा है मात्र लोकोपकार की बुद्धि से अच्छी तरह पर्यङ्कासन बाध कर बैठा है ॥१६५॥ इत्यादि वचन कह कर कितने ही देवों ने कुड्मलाकार—अञ्जलि बद्ध हाथों से तथा विकसित मनों से जिनराज को नमस्कार किया ॥१६६॥

तदनन्तर अभिषेक समाप्त होने पर अक्षत आदि से पूजा कर स्तुति में निपुण इन्द्र इसप्रकार स्तुति करने के लिये प्रवृत्त हुआ ॥१६७॥ जो लोकोत्तर प्रभाव से सहित हैं, स्तुति करने वालों के पाप शान्त करने वाले है, जिन्होंने संसार रूपी समुद्र को संपूर्णरूप से पार कर लिया है तथा जो भव्यजीवों के बन्धु हैं ऐसे आपके लिये नमस्कार हो ॥१६८॥ हे प्रभो ! रोगादि की बाधा से रहित आपका शरीर तो वज्रमय प्रकाशित हो रहा है और चित्त करुणारस को झरा रहा है यह बड़े कौतुक की बात है ॥१६९॥ हे भगवान् ! आप उचित के ज्ञाता होकर भी दूरवर्ती तथा निकटवर्ती सेवकों के लिये समानरूप से उत्कृष्ट विभूति को प्रदान करते है यह आश्चर्य की बात है ॥१७०॥ जिसप्रकार निर्मल चन्द्रमा का उदय जलरूप कुमुदों के विकास के लिये होता है उसीप्रकार आपका जन्म केवल जड़बुद्धि—अज्ञानी भव्यजीवों के प्रबोध—प्रकृष्ट ज्ञान के लिये हुआ है ॥१७१॥ प्रयोजन का उद्देश्य किये बिना मन्दबुद्धि भी कोई कार्य नहीं करता है परन्तु आप प्रबुद्ध—ज्ञान सम्पन्न होकर भी किसी अपेक्षा के बिना ही लोकों का उपकार करते हैं ॥१७२॥ समस्त संसार आपका सेवक है और धनुष लेकर 'क्या करूं' इस प्रकार आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा है । हर्ष है कि यह अत्यधिक आश्चर्यकारी पुण्य आपका ही दिखाई देता है ॥१७३॥ आश्रित मनुष्यों का भवावास आपके द्वारा क्यों भग्न किया जाता है ? अत्यन्त धीर वीर आपकी यह बालकों जैसी चपलता क्या ठीक है ? ॥१७४॥ जिस

---

१ जन्म २ उज्ज्वलस्य ३ जडात्मनाम् ४ मूर्खोऽपि ५ प्रत्युपकार भावनारहित एव, ६ ज्ञानी अपि ।

अनारतं यतो लोकस्त्वत्तः शान्तिमवाप्नुयात् । अतो नाम्नासि शान्तिस्त्वं शान्तसंसारकारणः ॥१७५॥
इति स्तुत्वा मुदा शक्रस्तमादाय विभूषितम् । [1]पुरेव परया भूत्या तत्पुराभिमुखं ययौ ॥१७६॥
आराद्भेरीरवं श्रुत्वा सुरकोलाहलान्वितम् । प्रत्युद्यीयं ततः पौरैर्विधृतार्घैः ससंभ्रमम् ॥१७७॥
आरूढाः सर्वतः स्त्रीभिः [2]स्थेयांसोऽप्याचकम्पिरे । प्रासादास्तन्मनःसक्तकौतुकातिभरादिव ॥१७८॥
सुराः पुरजनीकान्त्या निर्जितं स्ववधूजनम् । आलोक्यावतरन् व्योम्नस्त्रपयेवावनिं[3] शनैः ॥१७९॥
अमरैः सह पौराणां सर्वतोऽप्यैक्यमीयुषाम्[4] । अन्तरं [5]निमिषैरेव चक्रे चित्रं महत्तदा ॥१८०॥
प्रक्लृप्ताट्टपथाकल्पं [6]नीरजीकारिताजिरम् । तत्पुरं स्वरुचेवासीद्देवानपि विलोभयत् ॥१८१॥
वीक्षमाणाः परां भूतिं तस्य प्रविशतः पुरम् । इति सौधस्थिताः प्राहुर्विस्मयात्पुरयोषितः ॥१८२॥
निरुच्छ्वासमिदं व्याप्तं नगरं सर्वतः सुरैः । अन्तर्बहिश्च कस्येयं लक्ष्मीर्लोकातिशायिनी ॥१८३॥
एकस्यैवातपत्रस्य छायया कुन्दगौरया । क्रान्तं दिवापि गगनं सज्ज्योत्स्नमिव वर्तते ॥१८४॥
चामराणां प्रभाजालव्याजेनेव समन्ततः । दिग्धाः पुण्याङ्गरागेण विभान्ति हरिदङ्गनाः[7] ॥१८५॥

कारण संसार आपसे निरन्तर शान्ति को प्राप्त करेगा उस कारण आप नाम से शान्ति है । आपने संसार के कारणों को शान्त कर दिया है ॥१७५॥ इस प्रकार हर्ष से स्तुति कर तथा विभूषित उन भगवान् को लेकर इन्द्र पहले के समान बड़ी विभूति से उस नगर की ओर चला ॥१७६॥

तदनन्तर देवों के कोलाहल से सहित भेरी का शब्द दूर से सुनकर नगरवासी जन अर्घ ले लेकर संभ्रमपूर्वक अगवानी के लिए निकल पड़े ॥१७७॥ जिन पर सब ओर से स्त्रियां चढी हुई थीं ऐसे महल स्थिर होने पर भी कांपने लगे थे इससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानों मन में स्थित कौतुक के बहुत भारी भार से ही कांपने लगे थे ॥१७८॥ देव, नगर की स्त्रियों की कान्ति से अपनी स्त्रियों को पराजित देख लज्जा से ही मानों आकाश से धीरे धीरे पृथिवी पर उतर रहे थे ॥१७९॥ उस समय सभी ओर से देवों के साथ एकता को प्राप्त हुए मनुष्यों का अन्तर पलकों के द्वारा ही किया गया था यह बड़े आश्चर्य की बात थी ॥१८०॥ जिसमें अट्टालिकाओं और मार्गों की सजावट की गयी थी तथा जिसके आंगन धूली से रहित किये गये थे ऐसा वह नगर अपनी कान्ति से मानों देवों को भी लुभा रहा था ॥१८१॥

नगर में प्रवेश करते हुए भगवान् की उत्कृष्ट विभूति को देखती हुई महलों पर चढीं नगर की स्त्रियां आश्चर्य से ऐसा कह रहीं थी ॥१८२॥ देखो, यह नगर भीतर और बाहिर, सब ओर देवों से ऐसा व्याप्त हो गया कि सांस लेने को भी स्थान नहीं है, यह लोकोत्तर लक्ष्मी किसकी है ? ॥१८३॥ एक ही छत्र की कुन्द के समान शुक्ल कान्ति से व्याप्त हुआ आकाश दिन में भी चांदनी से सहित जैसा हो रहा है ॥१८४॥ चामरों की कान्ति कलाप के बहाने दिशा रूपी स्त्रियां ऐसी जान पड़ती हैं मानों सब ओर से पुण्य रूपी अङ्गराग से ही लिप्त हो रही हैं ॥१८५॥ चंदेवा के नीचे वर्तमान और दिव्य

---

१ पूर्ववत् २ अतिशयेन स्थिरा अपि ३ पृथिवीम् ४ प्राप्तवताम् ५ नयनपक्ष्मपातैरेव ६ निर्धूलीकृताङ्गणम् ७ दिक्स्त्रियः ।

[1]वितानतलवर्तिन्यो दिव्यातोद्यै रनुद्रुताः । प्रतिरथ्यमिमाः स्वैरं नृत्यन्त्यप्सरसो भुवि ॥१८६॥
सुरनारीमुखालोकज्योत्स्नास्नापितदिङ्मुखम् । सौभाग्येनेव निर्वृत्तं दिनमप्यतिभासते ॥१८७॥
एते वेत्रलतां धृत्वा केचित् तत्कांक्षिणः सुराः । आयान्ति प्रेक्षकान्किञ्चिदुत्सार्योत्सार्य लीलया ॥१८८॥
ईदृशे जनसंमर्दे बालकोऽप्यतिदुर्गमे । नावसीदति कस्यायमनुभावोऽत्र लक्ष्यते ॥१८९॥
सर्वगीर्वाणतेजांसि परिभूयातिवर्तते । [2]तप्तचामीकराकारा शिशोरेषा तनुप्रभा ॥१९०॥
गजस्कन्धनिविष्टोऽपि लोकस्यैवोपरि स्थितः । शक्रेणालम्बितो भाति भुवनालम्बनोऽप्ययम् ॥१९१॥
पौरस्त्रीमुच्यमानार्घ्यलाजवृष्टिपरम्परा । [3]सितिम्ना द्विरदस्यास्य[4] कुम्भभागे[5] न भाव्यते ॥१९२॥
दृश्यते सममेवायं सुवीथिमतिहस्तयन् । एकोऽप्यनेकदेशस्थैः सम्मुखीनो यथा जनैः ॥१९३॥
एते [6]क्रव्याशिनो [7]व्यालाः [8]सानुक्रोशा इवासते । अभूद्धर्ममयो लोकः सकलोऽप्यस्य वैभवात् ॥१९४॥
इति नारीभिरप्युच्चैः कीर्त्यमानगुणोदयम् । तं पुरोधाय सौधर्मो राजद्वारं समासदत् ॥१९५॥
प्रवृत्तनिर्भरानेकजनसम्मर्ददुर्गमम् । कृच्छ्राविघाति[9]चक्राम गोपुरं सुरसंहतिः[10] ॥१९६॥
भूपेन्द्रोऽपि समं भूपैर्माङ्गल्यव्यग्रपाणिभिः । सप्तकक्षा व्यतिक्रम्य क्रमात्प्रत्युद्ययौ प्रभुम् ॥१९७॥

साज से सहित ये अप्सराएं पृथिवी पर गली गली में इच्छानुसार नृत्य कर रही हैं ॥१८६॥ देवियों के मुख की कान्ति रूपी चांदनी से जिसमें दिशाओं के अग्रभाग नहलाये गये हैं ऐसा यह दिन भी सौभाग्य से रचे हुए के समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥१८७॥ जिनबालक के देखने की इच्छा करने वाले ये कितने ही देव वेत्रलता—छड़ी को धारण कर दर्शकों को कुछ हटा हटा कर लीला पूर्वक आ रहे हैं ॥१८८॥ ऐसी बहुत भारी भीड़ मं भी यह बालक दुखी नहीं हो रहा है सो यहां यह किसका प्रभाव दिखायी दे रहा है ? ॥१८९॥ तपाये हुए सुवर्ण के आकार वाली यह बालक के शरीर की प्रभा सब देवों के तेज को परिभूत—तिरस्कृत कर विद्यमान है ॥१९०॥ यह बालक हाथी के कन्धे पर बैठा हुआ भी ऐसा लगता है मानों लोक के ही ऊपर स्थित हो और इन्द्र के द्वारा आलम्बित होने पर भी ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों समस्त संसार का आलम्बन हो ॥१९१॥ नगर की स्त्रियों द्वारा छोडे जाने वाले अर्घ्य की लाज वृष्टि की संतति इस हाथी के गण्डस्थल पर उसकी सफेदी के कारण मालूम नहीं पड़ती है ॥१९२॥

राजमार्ग में प्रवेश करता हुआ यह बालक यद्यपि एक है तो भी अनेक देशों में स्थित मनुष्यों के द्वारा एक ही साथ ऐसा देखा जा रहा है मानों सबके संमुख स्थित हो ॥१९३॥ ये मांस भोजी दुष्ट जन्तु भी ऐसे बैठे है मानों दया से सहित ही हों । इस बालक के प्रभाव से समस्त लोक ही धर्ममय हो गया है ॥१९४॥ इसप्रकार स्त्रियों के द्वारा उच्च स्वर से जिनके गुणों का उदय प्रशंसित हो रहा था ऐसे उस बालक को आगे कर सौधर्मेन्द्र राजद्वार को प्राप्त हुआ ॥१९५॥ अनेक मनुष्यों की बहुत भारी भीड़ से जिसमें निकलना कठिन था ऐसे गोपुर को देव समूह बड़ी कठिनाई से पार कर सका था ॥१९६॥ राजाधिराज विश्वसेन ने भी माङ्गलिक द्रव्यों को हाथ में लेने वाले राजाओं के साथ क्रम

---

१ उल्लोचतलविद्यमानाः २ निष्टप्तसुवर्णसदृशी ३ शौक्ल्येन ४ गजस्य ५ गण्डस्थलभागे ६ मांसाशिनोः, ७ क्रूरा. ८ सदयाः ९ उल्लङ्घयामास १० देवसमूहः ।

निषिद्धाशेषगीर्वाणास्तमादाय सुरेश्वराः । निन्यिरेऽभ्यन्तरं नाथं महीनाथपुरःसराः ॥१६८॥
मायार्भकापनयने किञ्चिद्व्याकुलचेतसः । ऐरायास्तं पुरो देवं प्रतिष्ठाप्येति तेऽभ्यधुः[1] ॥१६६॥
सुतापहरणार्वातिर्माभूदिति तवापरम् । मायामयं निधायाग्रे नीतो मेरुमयं जिनः ॥२००॥
अभिषिच्य ततोऽस्माभिरानीतः शान्तिराख्यया । आत्मभूरपि ते पुत्रः क्रमोऽयं जिनजन्मनः ॥२०१॥
इत्युक्त्वा तेऽथ निर्गत्य जिनजन्मालयात्ततः । सुरेन्द्राः स्वपदं जग्मुः प्रनृत्य प्रमदाच्चिरम् ॥२०२॥
निकाये नाकिनां वेगाद्गतवत्यपि तत्पुरम् । न जहौ सुरलोकश्रीस्तत्पुरेणेव लोभिता ॥२०३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

किं मन्त्राक्षरमालया त्रिजगतां त्रातुर्निजेनौजसा
बालादित्यसमद्युतेः किमपरैः कृत्यं प्रदीपैः पुरः ।
किं वा [2]आधिकमण्डलेन महता साध्यं प्रबुद्धात्मनो
रक्षां तस्य तथाप्यहो शिशुरिति व्यर्थां पुरोधा व्यधात् ॥२०४॥

से सात कक्षाएं पार कर प्रभु की अगवानी की ॥१६७॥ जिन्होंने समस्त देवों को मना कर दिया था और राजा विश्वसेन जिनके आगे चल रहे थे ऐसे इन्द्र–भगवान् को भीतर ले गये ॥१६८॥ मायामय बालक के दूर करने पर जिनका चित्त कुछ व्याकुल हुआ था ऐसी ऐरा देवी के आगे उस जिन बालक को प्रतिष्ठित कर इन्द्रों ने इसप्रकार कहा ॥१६६॥ पुत्र के ले जाने से दुःख न हो इसलिये आपके आगे मायामय दूसरा पुत्र रख कर यह जिनराज मेरु पर्वत पर ले जाये गये थे ॥२००॥ अभिषेक कर वहां से वापिस ले आये हैं, आपके पुत्र का नाम शांति है, तीर्थंकर के जन्म का यह क्रम है ॥२०१॥ तदनंतर यह कह कर इन्द्र जिनेन्द्र भगवान् के जन्मगृह से बाहर आये और चिरकाल तक हर्ष से श्रेष्ठ नृत्य कर अपने स्थान पर चले गये ॥२०२॥ यद्यपि देवों का समूह वेग से चला गया था तो भी स्वर्गलोक की शोभा ने उस नगर को नहीं छोड़ा, मानों वह उस नगर के द्वारा लुभा ली गयी थी ॥२०३॥

अपने प्रताप से तीनों जगत् की रक्षा करने वाले शान्ति जिनेन्द्र को मन्त्र सम्बन्धी अक्षरों की पंक्ति से क्या प्रयोजन था ? बाल सूर्य के समान कान्ति वाले उन शान्ति जिनेन्द्र को आगे रखे गये अन्य दीपों से क्या प्रयोजन था ? तथा स्वयं प्रबुद्धात्मा से युक्त उन शान्ति जिनेन्द्र को बहुत बड़े पहरेदारों के समूह से क्या साध्य था ? फिर भी पुरोहित ने 'यह शिशु है' यह समझकर उनकी व्यर्थ ही रक्षा की थी यह आश्चर्य है ॥२०४॥ जिसमें अभी दन्त रूपी केशर प्रकट नहीं हुई थी । ऐसे

---

१ निजगदुः २ प्रहरिकसमूहेन ।

यस्यानुद्गतदन्तकेसरमपि प्राप्याननाम्भोरुहं
वाचाभासि चिराय मुग्धहसितव्याजेन निर्व्याजतः ।
लक्ष्म्याकारि भुजान्तरे[1] विलसितं सर्वात्मना संततं
बालस्याप्यनुभावसंपदपरा तस्याभवद्भूयसी[2] ।।२०५।।

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे जन्माभिषेकवर्णनो नाम
* त्रयोदशः सर्गः *

जिनके मुख रूपी कमल को प्राप्त कर सरस्वती सुन्दर हास्य के बहाने चिरकाल तक निश्छल भाव से सुशोभित होती रही और लक्ष्मी ने जिनके वक्षःस्थल पर निरन्तर संपूर्ण रूप से क्रीड़ा की उन शान्ति जिनेन्द्र की बाल्यावस्था में भी बहुत भारी अनिर्वचनीय प्रभुत्व रूप सपदा थी ।।२०५।।

इस प्रकार असग महा कवि कृत शान्ति पुराण में जन्माभिषेक का वर्णन करने वाला तेरहवां सर्ग समाप्त हुआ ।।१३।।

---

१ वक्षसि २ विपुला ।

चतुर्दशः सर्गः

卐

अथ स्वस्यानुभावेन यत्नेन च दिवौकसाम्[1] । जिनेन्द्रो ववृधे शान्तिः समं भव्यमनोरथैः ।।१।।
अस्वेदो निर्मलो मूर्त्या हरिचन्दनसौरभः । क्षीरगौरा[2]सृजा युक्तः समग्रशुभलक्षणः ।।२।।
[3]आद्यसंहननोपेतः [4]प्रथमाकृतिराजितः । सौन्दर्येणोपमातीतोऽनन्तवीर्यः प्रियंवदः ।।३।।
[5]चत्वारिंशद्धनुर्बघ्नः कर्णिकारसमप्रभः । प्रभविष्णुः स संप्रापद् भ्राजिष्णु नवयौवनम् ।।४।।
अपारं परमैश्वर्यद्वयं तस्यैव दिद्युते । वाचैकं जनितं चान्यदसाधारणया श्रिया ।।५।।
तस्यैव विश्वसेनस्य पुत्रश्चक्रायुधाख्यया । आसीत्सुरेन्द्रचन्द्रोऽपि यशस्वत्यां यशस्करः ।।६।।

चतुर्दश सर्ग

अथानन्तर अपने प्रभाव से और देवों के प्रयत्न से शान्ति जिनेन्द्र भव्यजीवों के मनोरथों के साथ बढ़ने लगे ।।१।। जो शरीर से स्वेद रहित थे, निर्मल थे, हरिचन्दन के समान सुगन्धित थे, दूध के समान सफेद रुधिर से युक्त थे, समस्त शुभ लक्षणों से सहित थे, आद्यसंहनन—वज्रवृषभ नाराच संहनन से युक्त थे, समचतुरस्र—संस्थान से सुशोभित थे, सौन्दर्य से अनुपम थे, अनन्त बल शाली थे, प्रियभाषी थे, चालीस धनुष ऊंचे थे, कनेर के फूल के समान प्रभा से सहित थे, और बहुत भारी सामर्थ्य से सहित थे ऐसे शान्ति जिनेन्द्र देदीप्यमान यौवन को प्राप्त हुए ।।२-४।। दो प्रकार का पारमैश्वर्य उन्हीं का सुशोभित हो रहा था एक तो वाणी से उत्पन्न हुआ और दूसरा असाधारण लक्ष्मी से उत्पन्न हुआ ।।५।।

तदनन्तर दृढरथ का जीव जो सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था वह भी उन्हीं विश्वसेन राजा की यशस्वती रानी से चक्रायुध नामका यशस्वी पुत्र हुआ ।।६।। शान्ति जिनेन्द्र उसे छोड़कर

---

१ देवानाम् २ दुग्धवद्गौर रुधिरेण ३ वज्रवृषभनाराचसंहननयुक्तः, ४ समचतुरस्रसंस्थानशोभितः
५ चत्वारिंशद्धनुःप्रमाणोत्तुङ्गकायः ।

क्षणमप्यपहायेशो[1] नावतिष्ठेत जातु तम् । [2]ज्ञातेयं तस्य च स्वस्य प्राक्तनं वा प्रकाशयन् ॥७॥
उपमातीतसौन्दर्यविद्याविभवसंयुतः । प्रभाद्भगवतः सोऽपि प्रतिच्छन्द[3] इवापरः ॥८॥
स्वचतुर्भागसंयुक्तं [4]शरदामयुतद्वयम् । गताद्भगवतस्तस्य कुमारस्थितिशालिनः ॥९॥
राजलक्ष्म्यास्ततः पाणिं जनकस्तमजिग्रहत् । क्रमोऽयमिति शान्तीशं शासितारमपि श्रियाम् ॥१०॥
जजागार न षाड्गुण्ये न च प्रकृतिरञ्जने । यथेष्टं वर्तमानोऽपि ययौ मण्डलनाभिताम् ॥११॥
न शत्रुरभवत्तस्य नोदासीनो न मध्यमः । लोकातिशायिनी कापि तस्याराजज्जिगीषुता ॥१२॥
[5]चारहीनोऽपि निःशेषां विवेद भुवनस्थितिम् । वृद्धानसेवमानोऽपि बभूव विनयान्वितः ॥१३॥
साम्नि दाने च शक्तोऽपि न [6]मृषोद्यो न चाल्पदः । [7]अनिस्त्रिंशोऽप्यभूच्चित्रं राजधर्मप्रवर्तकः ॥१४॥
स्वपोषमपुषत्सर्वानन्तरज्ञोऽपि सेवकान् । [8]अनुत्सिक्तोऽपि माहात्म्यमात्मनः ख्यापयन्निव ॥१५॥
[9]अनीतिर्नाभवत्कश्चिदपि नाम पृथग्जनः । [10]अनीतिर्वसुधा सर्वा सर्वर्तुभिरलंकृता ॥१६॥
[11]स्नेहाद्दग्ध[12]दशोपेता दीपा एव दिवाभवन् । न चान्ये कामुकाः कामं जालमार्गे व्यवस्थिताः ॥१७॥

कभी क्षण भर के लिए भी अकेले नहीं रहते थे इससे जान पड़ता था मानों वे अपना और उसका पूर्वभव सम्बन्धी ज्ञाति सम्बन्ध को प्रकट कर रहे थे ॥७॥ अनुपम सौन्दर्य, विद्या और वैभव से सहित वह चक्रायुध भी भगवान् शान्ति जिनेन्द्र के दूसरे प्रतिबिम्ब के समान सुशोभित हो रहा था ॥८॥ कुमार स्थिति से शोभायमान उन भगवान् का जब पच्चीस हजार वर्ष का कुमार काल बीत गया तब पिता ने उन्हे राजलक्ष्मी का पाणिग्रहण कराया तथा 'यह क्रम है' ऐसा कहकर उन्हें लक्ष्मी का शासक बनाया ॥९-१०॥ शान्ति जिनेन्द्र न सन्धि विग्रह आदि छह गुणों मे सावधान रहते थे और न मन्त्री आदि प्रकृति वर्ग के प्रसन्न रखने का ध्यान रखते थे, इच्छानुसार प्रवृत्ति करते थे तो भी वे राजमण्डल की प्रधानता को प्राप्त थे ॥११॥ न कोई उनका शत्रु था, न उदासीन था, न मध्यम था फिर भी उनकी कोई लोकोत्तर अनिर्वचनीय विजयाभिलाषा सुशोभित हो रही थी ॥१२॥ वे यद्यपि गुप्तचरों से रहित थे तो भी लोककी सपूर्ण स्थिति को जानते थे और वृद्धों की सेवा नहीं करते थे तो भी विनय से सहित थे ॥१३ ।

वे साम और दान उपाय में समर्थ होकर भी न तो असत्य बोलते थे और न अल्प प्रदान करते थे । इसी प्रकार अनिस्त्रिंश—तलवार से रहित होकर भी (पक्ष में क्रूरता रहित होकर भी) राजधर्म के प्रवर्तक थे यह आश्चर्य की बात थी ॥१४॥ वे अन्तर के ज्ञाता होते हुए भी समस्त सेवकों का अपने समान पोषण करते थे और अहंकार से रहित होकर भी मानों अपना माहात्म्य प्रकट कर रहे थे ॥१५॥ उनके राज्य में कोई भी मनुष्य अनीति—नीति से रहित तथा अशिष्ट नहीं था । समस्त ऋतुओं से सुशोभित पृथिवी ही अनीति—अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि ईतियों से रहित थी ॥१६॥

---

१ शान्ति जिनेन्द्रः २ ज्ञाति सम्बन्धम् ३ प्रतिबिम्बमिव ४ वर्षाणाम् ५ चरन्तीति चराः तैर्हीनोऽपि रहितोऽपि ६ मृषावादी ७ कृपाणरहितोऽपि ८ अगर्वोऽपि ९ नीतिरहितः १० इति रहितः ११ तैलात् प्रेम्णः १२ दग्धवर्तिकासहिता, हीनदशायुक्ता ।

[1]शिलीमुखौघसंपातः पुष्पितासु लतास्वभूत् । पाशिकानां निवासेषु विकारोपचयस्थितिः ॥१८॥
कपोला एव [2]नागानां [3]दानोत्सेकेन संयुताः । वश्यात्मानः सदाभूवन्नपस्मारविकारकाः ॥१९॥
प्रासादेषु भ्रमो दृश्यः खड्गेषु कलहासिका । फलितेषु द्रुमेष्वेव [4]वियोगः प्रकटः परम् ॥२०॥
दृश्यते परिहार्येषु[5] परदार[6]करग्रहः । विचार[7]स्तर्कविद्यासु [8]नैर्गुण्यं [9]शक्रकार्मुके ॥२१॥
सर्वदैव सतामासीत्समरागमनःस्थितिः । विधूयन्ते स्म वक्त्राणि लालितान्यपि योषिताम् ॥२२॥
[10]शाब्दिकाननतः स्मार्तं श्रूयेते सन्धिविग्रहौ । कथ्यमानं तथान्यायदुर्गती च कथान्तरे ॥२३॥
[11]आशाभ्रमणमत्रे च कार्मुके [12]मार्गणालम्बनम् । द्विरदे पांसुला क्रीडा दृश्यते स्म घटे भिदा ॥२४॥

दीपक ही दिन के समय स्नेह—तैल से जली हुयी बत्ती से सहित थे प्रतारण के मार्ग में अच्छी तरह संलग्न अन्य कामी मनुष्य स्नेह—प्रेम से पतित अवस्था से युक्त नहीं रहते थे ॥१७॥ शिलीमुखौघसंपात—भ्रमर समूह का सब ओर से पड़ना फूली लताओं पर ही होता था वहा के मनुष्यों पर शिलीमुखौघसंपात—वाण समूह की वर्षा नहीं होती थी। विकार समूह की स्थिति पाश फैलाने वाले लोगों के निवास स्थानों में ही थी अन्य मनुष्यों में नहीं ॥१८॥ दानोत्सेक—मदजल के उत्सेचन से सयुक्त हाथियों के गण्डस्थल ही थे वहां के मनुष्य दानोत्सेक—दान सम्बन्धी अहंकार से सहित नहीं थे। वश्यात्मा—जितेन्द्रिय मनुष्य ही सदा अपस्मार विकारका:—काम सम्बन्धी विकार से रहित थे वहां के मनुष्य अपस्मार—मूर्च्छा की बीमारी से सहित नही थे ॥१९॥ भ्रम—पर्यटन महलों में ही दिखायी देता था वहा के मनुष्यों में भ्रम—सदेह नही दिखायी देता था। कलहासिका—चन्द्रमा जैसी चमक दमक तलवारो में ही थी। वहां के मनुष्यो में कलहासिका—कलह प्रियता नही थी। वियोग—पक्षियों का योग फले हुए वृक्षों पर ही प्रकट रूप से था वहां के मनुष्यो में वियोग—विरह प्रकट रूप से नही था ॥२०॥ पर दार कर ग्रह—उत्तम स्त्रियों के हाथ का ग्रहण आभूषणों में ही था वहां के मनुष्यों में पर स्त्रियों के हाथ का ग्रहण नही था। विचार—तर्क वितर्क न्याय विद्या मे ही था वहां के मनुष्यों मे विचार—गुप्तचरों का अभाव नही था। नैर्गुण्य—डोरी का अभाव इन्द्र धनुष में ही था वहां के मनुष्यों में दया दाक्षिण्य अथवा सन्धि विग्रह आदि गुणों का अभाव नहीं था ॥२१॥ समरागमनः स्थिति—सम—माध्यस्थ्यभाव रूपी राग से सहित मन की स्थिति सदा सत् पुरुषों की ही थी अन्य मनुष्यों की समरागमनस्थिति—युद्ध प्राप्ति की स्थिति नहीं थी अर्थात् युद्ध करने का अवसर नहीं आता था। यदि कोई कम्पित होते थे तो स्त्रियों के लालित—प्रीतिपूर्ण मुख ही कम्पित होते थे वहां के मनुष्य भय से कम्पित नहीं होते थे ॥२२॥ सन्धि और विग्रह शब्द—वर्णों का परस्पर मेल और समास का प्राग् रूप वैयाकरणों के मुख से ही सुनायी पड़ते थे अन्यत्र सन्धि—मेल और विग्रह—विद्वेष अथवा युद्ध के शब्द सुनायी नहीं पड़ते थे। इसी प्रकार अन्याय और दुर्गति ये शब्द कही जाने वाली कथाओं के बीच ही सुनायी पड़ते थे अन्यत्र नहीं ॥२३॥ आशाभ्रमण—दिशाओं में

---

१ भ्रमरसमूहसंपातः वाणसमूहसंपातः, २ हस्तिनाम्, ३ मदजलसेचनेन, दान जन्यगर्वेण ४ पक्षियोगः, विरहः, ५ आभूषणेषु ६ उत्कृष्ट स्त्रीकरग्रहणम्, परस्त्रीकरग्रहणम्, ७ विमर्शः गुप्तचराभावः ८ प्रत्यञ्चारहितत्वम्, गुणरहितत्वञ्च ९ इन्द्रधनुषि, १० वैयाकरणमुखात् ११ दिग्भ्रमणं, तृष्णाभ्रमणम्, १२ धनुः याचनाश्रय।

इत्येवमादिकामन्यां स्थितिं तस्मिन्वितन्वति । न मार्गोल्लङ्घनं चक्रू राज्ञि सुप्रजसः प्रजाः ॥२५॥
तस्यात्मानुगतोत्साहनिर्बन्धेनैव तोषितः । युवराजपदे राजा चक्रायुधमतिष्ठिपत् ॥२६॥
भर्तुः सप्रश्रयां दृष्टिं तस्मिन्वीक्ष्य निरन्तरम् । तयोः प्राक्तनसम्बन्धो लोकेनाप्यनुमीयते ॥२७॥
भोगान्नि[1]विशतस्तस्य पार्थिवस्याप्य[2]पार्थिवान् । सांवरत्रिकयासीतु: पञ्चकृत्या मिताः [3]समाः ॥२८॥
अथान्यदा सभान्तःस्थं शान्तीशं शान्तविद्विषम् । इत्यानम्यायुधाध्यक्षो दिष्ट्याविष्टो व्यजिज्ञपत् ॥२९॥
उदपादि प्रभो चक्रं स्फुरद्धामचकभासुरम् । किं तेऽतिभास्करं धाम चक्रीभूय बहिःस्थितम् ॥३०॥
जातमात्रस्य ते जातं त्रैलोक्यमपि किङ्करम् । तेन [4]साध्या [5]धरेत्येषा वार्तान्येष्वेव शोभिका ॥३१॥
अन्तर्गतसहस्रारं स्वर्गान्तरमिवापरम् । सेव्यमानं सदा यक्षैः कौबेरमिव तत्पदम् ॥३२॥
यथोक्तोत्सेधसंयुक्तमपि प्रांशुतयान्वितम् । अपि प्रत्यक्षमाभाति विदूरीकृतविग्रहम् ॥३३॥

भ्रमण करना मेघ में ही था वहां के मनुष्यों में आशाभ्रमण—तृष्णा से भ्रमण करना नहीं था । मार्गणागमन—धनुष धनुर्धारी के पास ही था वहां के मनुष्यों में याचना का आश्रय नहीं था । पांसुला क्रीड़ा—धूलि उछालने की क्रीड़ा हाथी मे ही थी वहां के मनुष्यों मे पापपूर्ण क्रीड़ा नहीं थी । भिदा—फूट जाना घड़े में ही दिखाई देता था वहां के मनुष्यों में भिदा—भेदनीति नही दिखायी देती थी ॥२४॥ इस प्रकार जब राजा शान्तिनाथ पूर्वोक्त स्थिति को आदि लेकर अन्य स्थिति—विभिन्न शासन पद्धति को विस्तृत कर रहे थे तब उत्तम संतान से युक्त प्रजा मार्ग का उल्लङ्घन नही करती थी ॥२५॥ राजा विश्वसेन ने शान्तिनाथ के स्वकीय उत्साह तथा आग्रह से ही सतुष्ट हो कर चक्रायुध को युवराज पद पर अधिष्ठित किया ॥२६॥ चक्रायुध पर शान्तिनाथ भगवान् की निरन्तर स्नेह पूर्ण दृष्टि रहती है यह देख लोग भी यह अनुमान करते थे कि इन दोनों का पूर्वभव का सम्बन्ध है ॥२७॥ इस प्रकार पार्थिव—पृथिवी के होकर भी अपार्थिव—देवोपनीत स्वर्गीय भोगों को भोगते हुए शान्तिनाथ भगवान् के समभाव से पच्चीस वर्ष व्यतीत हो गये ॥२८॥

अथानन्तर किसी अन्य दिन शत्रुरहित शान्तिनाथ भगवान् सभा के बीच में विराजमान थे उसी समय शस्त्रों के अध्यक्ष ने बडी प्रसन्नता से नमस्कार कर यह सूचना दी ॥२९॥ कि हे प्रभो ! फैलती हुई कान्ति के समूह से देदीप्यमान चक्र रत्न उत्पन्न हुआ है और उसे देख ऐसा सशय होता है कि सूर्य को पराजित करने वाला आपका तेज ही क्या चक्र होकर बाहर स्थित हो गया है ॥३०॥ आपके उत्पन्न होते ही तीनों लोक किंकर हो गए थे अत: उस चक्ररत्न के द्वारा पृथिवी वश मे की जायगी । यह कथा तो दूसरे लोगो के लिए ही भली मालुम होती है ॥३१॥ वह चक्र अन्य स्वर्ग के समान है क्योंकि जिस प्रकार अन्य स्वर्ग अन्तर्गत सहस्रार—सहस्रार नामक स्वर्ग को अपने अन्तर्गत किये हुए है उसी प्रकार वह चक्र भी हजार अरो को अपने अन्तर्गत किए हुए है । अथवा वह चक्र कुबेर के स्थान के समान है क्योंकि जिस प्रकार कुबेर के स्थान की सदा यक्ष सेवा किया करते हैं उसी प्रकार उस चक्र की भी यक्ष सदा सेवा किया करते है ॥३२॥ वह यथोक्त ऊंचाई से संयुक्त होने पर भी प्रांशुतया—प्रकृष्ट किरणावली से सहित है तथा विदूरीकृत विग्रह—शरीर से रहित होने पर

---

१ भुक्तवत २ स्वर्गसम्बन्धिन: ३ वर्षाणि ४ वशीकरणीया ५ पृथिवी ।

असिरिन्दीवरश्यामः पद्मरागमयत्सरुः । प्रजनिष्टाधिबालार्कं जलंमत्स्य इवायतः ॥३४॥
मन्ये निःशेषिताशेषजगत्तापस्य ते प्रभोः । प्रभावोद्यातपत्रेण दिव्येनापि निरर्थकम् ॥३५॥
सत्पथे वर्तमानासु सकलासु प्रजास्वपि । तथाप्याविरभूद्दण्डश्चित्ररत्नमयः स्वयम् ॥३६॥
त्वद्गन्धस्पर्द्धयेवाशाः सुगन्धयदथाखिलाः । प्रजनि प्रसर्पि संहारि चर्म मर्मप्रभं प्रभो ॥३७॥
उदगात्काकिणी रत्नं प्रत्यग्रार्ककरोपमैः । द्यामभी[1]घुभिरालोकैः प्रावृण्वदिव पल्लवैः ॥३८॥
यो लोकभूषणस्यापि भूषणं ते भविष्यति । तस्य चूडामणेर्देव माहात्म्यं केन वर्ण्यते ॥३९॥
सर्वर्तु कमनीयाङ्गी प्रकामफलदायिनी । आनीता [2]व्योमगैः कन्या कापि कल्पलतेव ते ॥४०॥
कामगः कामरूपी च प्रहितो व्यन्तरेशिना । सुमेरुरिव संचारी द्विरदो द्वारि वर्तते ॥४१॥
अनन्यजवयोपेतस्तुरगः कार्मुको यथा । चतुरस्रः सुरैर्न्यस्तस्तव वासगृहाजिरे ॥४२॥
विक्रमेणाधरीकुर्वन् प्रोत्तुङ्गानपि भूभृतः । कश्चित्सिंह इवागत्य सहसाभूच्चमूपतिः ॥४३॥

भी (पक्ष में युद्ध को दूर करने वाला होकर भी) प्रत्यक्ष सुशोभित होता है ॥३३॥ जिसकी मूठ पद्मरागमणि की है ऐसा नील कमल के समान श्याम वर्ण वाला खड्ग भी उत्पन्न हुआ है। वह खड्ग बालसूर्य—प्रातःकालीन सूर्य से सहित जल में आये हुए मच्छ के समान जान पड़ता है ॥३४॥ एक देवोपनीत छत्र भी प्रकट हुआ है परन्तु समस्त जगत् के सताप को दूर करने वाले आपके लिये वह दिव्य छत्र भी निरर्थक है ऐसा मानता हूं ॥३५॥ यद्यपि समस्त प्रजा समीचीन मार्ग में वर्तमान है तथापि नाना प्रकार के रत्नों से तन्मय दण्ड स्वयं प्रकट हुआ है ॥३६॥ हे नाथ ! जो आपकी गन्ध से स्पर्द्धा होने के कारण ही मानों समस्त दिशाओं को सुगन्धित कर रहा है तथा संकोचित और विस्तृत होना जिसका स्वभाव है ऐसा सुवर्ण के समान प्रभावाला चर्म रत्न उत्पन्न हुआ है ॥३७॥ जो बाल सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान किरणों के द्वारा आकाश को लाल लाल पल्लवों से आच्छादित करता हुआ सा जान पड़ता है ऐसा काकिणी रत्न प्रकट हुआ है ॥३८॥ हे देव ! जो लोक के आभूषण स्वरूप आपका भी आभूषण होगा उस चूडामणि की महिमा किसके द्वारा कही जा सकती है ? ॥३९॥ जिसका शरीर सब ऋतुओं में सुन्दर है, तथा जो प्रकामफल दायिनी—प्रकृष्ट काम रूपी फल को देने वाली है (पक्ष में इच्छित फल को देने वाली है) ऐसी कल्पलता के समान कोई अनिर्वचनीय कन्या विद्याधरों के द्वारा आपके लिये लायी गयी है ॥४०॥ जो इच्छानुसार गमन करता है, इच्छानुसार रूप धारण करता है, व्यन्तरेन्द्र के द्वारा भेजा गया है और चलते फिरते सुमेरु पर्वत के समान जान पड़ता है ऐसा हाथी-गजरत्न द्वार पर विद्यमान है ॥४१॥ जो धनुष के समान अन्यत्र न पाये जाने वाले वेग से सहित है तथा सुडौल है ऐसा घोड़ा देवों ने आपके निवास गृह के आंगन में खड़ा कर दिया है ॥४२॥ जो विक्रम—पराक्रम (पक्ष में ऊंची छलांग) के द्वारा प्रोत्तुङ्ग—श्रेष्ठ (पक्ष में ऊंचे) भूभृतों—राजाओं (पक्ष मे पर्वतों) को भी नीचे कर रहा है ऐसा सिंह के समान कोई सेनापति सहसा आ कर उपस्थित हुआ है ॥४३॥ जो समस्त शिल्पों से तन्मय है

---

१ किरणैः २ विद्याधरैः ।

स्थपतिः कर्मशालायां सर्वशिल्पमयो मयः । अनिगुह्यात्ममाहात्म्यमास्ते सह गुह्यकैः ।।४४।।
अन्तर्लोमसहस्राक्षिभुजव्यापारराजितः । सन्निधाता कुतोऽप्येत्य कोशगेहे प्रकाशते ।।४५।।
मन्त्री दीप इवादीपि मन्त्रशालामधिष्ठितः । हिताय सर्वसत्त्वानां त्वद्बोध इव मूर्तिमान् ।।४६।।
इति रत्नानि भूलोके दुर्लभानि चतुर्दश । नवभिर्निधिभिः सार्धमभूवन्भुवनेश्वर ।।४७।।
एवमुक्तवतस्तस्य पुरापूर्य मनोरथान् । चक्रायुधेन लोकेशः पश्चाच्चक्रमपूपुजत् ।।४८।।
तस्यानुपदमागत्य ततश्चक्रं जगत्पतिम् । त्रिःपरीत्य ननामाराद्रत्नैश्च निधिभिः समम् ।।४९।।
ततो जयजयेत्युच्चैर्वदन्तो विस्मयाकुलाः । प्रादुरासन्सुरा व्योम्नि लीलानम्रितमौलयः ।।५०।।
सर्वे चक्रभृतश्चक्रं नमन्ति महयन्ति च । एतदेव महच्चित्रं [1]तदेवैनं[2] नमस्यति ।।५१।।
लक्ष्मीः कापि वसत्यस्मिन्सर्वलोकातिशायिनी । [3]मरुतः केचिदित्यूचुः परितस्तत्समान्तरम् ।।५२।।
प्रणम्य मन्त्रिसेनान्यौ किरीटघटिताञ्जली । तौ व्यजिज्ञपतामित्थं तत्कालोचितमीश्वरम् ।।५३।।
चत्वारश्चक्रिणोऽतीता भरते भरतादयः । कृच्छ्रादिव वशं कृत्स्नं सति चक्रेऽपि चक्रिरे ।।५४।।
नेतुस्ते धर्मचक्रस्य त्रैलोक्यास्खलितायतेः । देव बालोऽपि साम्राज्यमिदमित्यानुषङ्गिकम् ।।५५।।

ऐसा मय नामका स्थपति अपने माहात्म्य को न छिपाता हुआ गुह्यकों—देवविशेषों (सहायकों) के साथ कर्म शाला में बैठा है ।।४४।। जो भीतर छिपे हुए हजार नेत्र तथा हजार भुजाओं के व्यापार से सुशोभित है ऐसा कोषाध्यक्ष कहीं से आ कर कोषगृह में प्रकाशित हो रहा है ।।४५।। जो आपके मूर्तिमान् ज्ञान के समान जान पड़ता है ऐसा मन्त्री सब जीवों के हित के लिये मन्त्र शाला में बैठा हुआ दीपक के समान देदीप्यमान हो रहा है ।।४६।। इसप्रकार हे जगत्पते ! पृथिवी लोक में दुर्लभ चौदह-रत्न नौ निधियों के साथ प्रकट हुए है ।।४७।। इस प्रकार कहने वाले आयुधाध्यक्ष के मनोरथों को पहले पूर्ण कर—उसे इच्छित पुरस्कार देकर पश्चात् शान्ति जिनेन्द्र ने चक्रायुध के साथ चक्ररत्न की पूजा की ।।४८।। तदनन्तर उनके पीछे आ कर चक्र ने रत्नों और निधियों के साथ तीन प्रदक्षिणाएं दे कर जगत्पति—शान्तिनाथ जिनेन्द्र को समीप से नमस्कार किया ।।४९।।

तदनन्तर जो उच्च स्वर से जय जय शब्द का उच्चारण कर रहे थे, आश्चर्य से परिपूर्ण थे और जिनके मस्तक लीला से—अनायास ही नम्रीभूत थे ऐसे देव आकाश में प्रकट हुए ।।५०।। सब चक्रवर्ती चक्ररत्न को नमस्कार करते है तथा पूजते हे परन्तु यही बड़ा आश्चर्य था कि वह चक्ररत्न ही शान्ति जिनेन्द्र को नमस्कार करता है ।।५१।। इन शान्ति जिनेन्द्र में समस्त लोक से बढ़कर कोई अनिर्वचनीय लक्ष्मी निवास करती है ऐसा कितने ही देव सभा के भीतर चारो ओर कह रहे थे ।।५२।। जिन्होंने हाथ जोड़कर मस्तक से लगा रक्खे थे ऐसे मन्त्री और सेनापति ने प्रणाम कर शान्तिनाथ जिनेन्द्र से उस समय के योग्य इस प्रकार निवेदन किया ।।५३।। इस भरत क्षेत्र में भरत आदि चार चक्रवर्ती हो चुके है उन्होने चक्र के रहते हुए भी कठिनाई से ही मानों सब को वश में किया था ।।५४।। परन्तु आप तो जिसका पुण्य प्रभाव तीनो लोकों में अस्खलित है ऐसे धर्म चक्र के नेता हैं। आपके

---

१ चक्ररत्नमेव, २ चक्रवर्तिनम्, ३ देवाः।

तथापि चक्रिणामेष क्रमो दिग्विजयादिकः । त्वया विधीयतामस्य चक्रस्यैवोपरोधतः ॥५६॥
इति विज्ञाप्य [1]लोकेशं तदनुज्ञामवाप्य तौ । भेरीं दिग्विजयायोच्चैस्ताडयामासतुस्ततः ॥५७॥
श्रूयमाणो ध्वनिस्तस्याः षट्खण्डं [2]व्यानशे समम् । यत्र यत्र स्थितैर्लोकैस्तत्र तत्र भवो यथा ॥५८॥
वारणेन्द्रमथारुह्य पुरश्चक्रपुरःसरः । निर्गत्योपवने प्राच्यां प्रस्थानमकरोत्प्रभुः ॥५९॥
रत्नदारुमयं सौधं स तत्र मयनिर्मितम् । प्रावसन्मान्यराजन्यसैन्यावासपरिष्कृतम् ॥६०॥
तत्रास्थानगतः शृण्वन् वृद्धेभ्यः पूर्वचक्रिणाम् । कथां [3]प्राकृतवद्रेमे धीरस्त्रिज्ञानवानपि ॥६१॥
वासरस्यावसानेऽथ [4]बाह्यास्थानीं यथोचितम् । सम्मान्य [5]राजकं मुक्त्वा विवेशाभ्यन्तरीं सभाम् ॥६२॥
तस्यां पूर्वस्थितामात्यसेनान्यादिभिरादरात् । आरात्प्रत्युद्गतो भेजे नृसिंहः[6] सिंहविष्टरम्[7] ॥६३॥
अपि रत्नानि ते तेन स्वयमाध्वमितीरिताः । रत्नीभूतमिवात्मानं तत्काले बहुमेनिरे ॥६४॥
प्रस्तुतोचितमालप्य चिरादिव विसर्ज्य तान् । वासगेहमगान्नाथः प्रविगाढे तमीमुखे[8] ॥६५॥

लिये यह साम्राज्य आनुषङ्गिक अर्थात् गौण है यह बालक भी समझता है । भावार्थ—इस साधारण चक्ररत्न से आपकी महिमा नहीं है क्योंकि आप उस धर्म चक्र के नेता है जिसका प्रभाव षट् खण्ड में ही नहीं तीनों लोकों में भी अस्खलित है । यह साम्राज्य आपके लिए आनुषङ्गिक—अनायास प्राप्त होने वाला गौण है । यह बालक भी जानता है ॥५५॥ फिर भी इस चक्ररत्न के उपरोध से ही आपको चक्रवर्तियों का क्रम जो दिग्विजय आदि है वह करना चाहिये ॥५६॥

इस प्रकार शान्ति जिनेन्द्र से निवेदन कर तथा उनकी आज्ञा प्राप्त कर मन्त्री और सेनापति ने दिग्विजय के लिए जोर से भेरी बजवा दी ॥५७॥ भेरी का शब्द छह खण्डो में एक साथ व्याप्त हो गया । वह शब्द जहां जहां स्थित लोगों के द्वारा सुना गया था वहां वहां उत्पन्न हुआ सा सुना गया था ॥५८॥ तदनन्तर जिनके आगे आगे चक्र चल रहा था ऐसे प्रभु ने गजराज पर आरूढ हो नगर से निकल कर पूर्व दिशा के उपवन मे प्रस्थान किया ॥५९॥ वहां उन्होंने माननीय राजाओं तथा सेना के निवास से सुशोभित, मय के द्वारा निर्मित रत्न और लकड़ी से बने हुए महल में निवास किया ॥६०॥ वहां सभा में बैठे हुए धीर वीर भगवान् यद्यपि तीन ज्ञान के धारक थे तो भी वृद्धजनो से पूर्व चक्रवर्तियो की कथा को सुनते हुए साधारण जन के समान आनन्द लेते रहे ॥६१॥

तदनन्तर दिन समाप्त होने पर राजाओं का यथा योग्य सन्मान कर वे बाह्य सभा को छोड़ अभ्यन्तर सभा में प्रविष्ट हुए ॥६२॥ वहां पहले से बैठे हुए मन्त्री और सेनापति आदि के द्वारा आदर पूर्वक दूर से ही जिनकी अगवानी की गयी थी ऐसे नरोत्तम—शान्ति जिनेन्द्र सिंहासन पर बैठे ॥६३॥ 'आप लोग बैठिए' इस प्रकार भगवान् ने जिनसे स्वय कहा था उन मन्त्री तथा सेनापति आदि रत्नों ने उस समय अपने आपको रत्न जैसा ही बहुत माना था ॥६४॥ तदनन्तर प्रकरण के अनुरूप वार्तालाप कर तथा चिरकाल बाद उन्हें विदा कर रात्रि का प्रारम्भ भाग सघन होने पर भगवान् निवास गृह में गये ॥६५॥

---

१ शान्तिजिनेन्द्रं २ व्याप ३ साधारणजन इव ४ बाह्यसभायाम् ५ राजसमूहं ६ नृश्रेष्ठः शान्तिजिनेन्द्रः ७ सिंहासनम् ८ रजनीमुखे ।

[1]निशायामत्रयेऽतीते प्रयाणक्रोशसंख्यया । दध्वान वैभवी[2] भेरी सेनान्याादेशतस्ततः ॥६६॥
शिबिरं युगपत्सर्वं तस्या ध्वनिरबोधयत् । अकरोत्सोत्सवोत्साहं तिरश्चामपि मानसम् ॥६७॥
शङ्खकाहलतूर्याणि स्वस्वचिह्नान्वितान्यलम् । नेदुरुत्तालतालानि भूक्षितामुपतोरणम् ॥६८॥
प्रयाणपरिहृष्टस्य कटकस्य महीयसि । क्रमात्कलकले विश्वं व्यश्नुवाने निरन्तरम् ॥६९॥
अनाहूतागतानेक[3]कार्मप्रारब्धकर्मणि । अनुष्ठानाकुलीभूतभवनव्यवहारिणि ॥७०॥
दूरं निरस्यमानेऽथ तत्काले काकिणीत्विषा । प्रत्यावासं बहिर्ध्वान्ते नीलकाण्डपटे यथा ॥७१॥
भूमेरुत्कील्यमानेभ्यः स्थूलेभ्यो [4]वीवधोद्वहैः । निःकास्यमानपेटाभिः पीड्यमाननृपाजिरे ॥७२॥
कोणिकापरिमस्त्राविकण्ठालैः कण्ठलम्बिभिः । उत्प्लुत्योत्प्लुत्य सर्वत्र धावमानक्रमेलके ॥७३॥
सौन्दर्यविभवोत्सेकाद्धृतभूरिप्रसाधनैः । साधनैरिव [5]पुष्पेषोर्विहारैरभिनन्दिते ॥७४॥
पुरः [6]प्रस्थाप्यमानानश्चक्रचक्रोरुचीत्कृतैः । अश्रुतान्योन्यसंवादाद्विसंवाहितधूर्गते ॥७५॥
[7]तुन्दीप्रियशतालापात्सहासैः प्रातिवेशिकैः । संवाह्यमानवारस्त्रीशयनादिपरिच्छदे ॥७६॥

तत्पश्चात् प्रस्थान के कोशों की संख्या से जब रात्रि के तीन पहर व्यतीत हो गये तब सेनापति की आज्ञा से भगवान् की भेरी शब्द करने लगी ॥६६॥ उस भेरी के शब्द ने एक साथ समस्त शिविर को जागृत कर दिया और तिर्यञ्चों के भी मन को उत्सव तथा उत्साह से भर दिया ॥६७॥ तोरण के समीप राजाओं के अपने अपने चिह्नों से सहित, जोरदार शब्द करने वाले शङ्ख काहल और तुरही अत्यधिक शब्द करने लगे ॥६८॥

प्रयाण से हर्षित सेना का बहुत भारी कल कल शब्द जब क्रम से निरन्तर विश्व को व्याप्त कर रहा था, बिना बुलाये आये हुए अनेक सेवकों ने जब कार्य प्रारम्भ कर दिया था, जब भवन के व्यवस्थापक लोग अनुष्ठानों--कार्यकलापों से व्यग्र हो रहे थे, जब प्रत्येक डेरे का बाह्य अन्धकार नीले रङ्ग के परदे के समान काकिणी रत्न की कान्ति के द्वारा तत्काल दूर किया जा रहा था, भूमि से ऊपर उठाये जाने वाले बड़े ढेरों से कहारों द्वारा निकाली जाने वाली पेटियों से जब राज मन्दिर का आंगन संकीर्ण हो रहा था, गले में लटकने वाले वाद्य विशेष, धोंकनी आदि तथा कण्ठालों (?) से जब ऊट ऊंचे उछल उछल कर सर्वत्र दौड़ रहे थे, सौन्दर्य रूप सम्पदा के गर्व से जिन्होंने बहुत भारी आभूषण धारण किये थे तथा जो कामदेव के साधन के समान जान पड़ती थी ऐसी वेश्याओं के समूह से जिसका अभिनन्दन किया जा रहा था, आगे चलाये जाने वाली गाड़ियों के पहियों के समूह की बहुत भारी चित्कार से परस्पर का वार्तालाप न सुन सकने से जब भार वाहक लोग विसंवाद को प्राप्त हो रहे थे, जब बड़ी थोंद वाले मनुष्यों के सैकड़ो वार्तालापों से हंसने वाले पड़ौसी लोग वेश्याओं के शयन आदि उपकरणों को ले जा रहे थे, जब नगाड़ों के शब्द को रोकने वाले शृङ्खला के शब्द से

---

१ रात्रिप्रहरत्रये २ विभोरियं वैभवी ३ कर्मकर ४ उभयतो बद्धशिक्ये स्कन्धवाह्ये काष्ठ विशेषे विवध वीवध शब्दौ निपात्येते । वीवधं उद्वहन्ति वीवधोद्वहास्तैः । ५ मदनस्य ६ प्रस्थाप्यमानानाम् अनसां शकटानां यानि चक्राणि रथाङ्गानि तेषां चक्रस्य समूहस्य यानि उरुचीत्कृतानि तैः ७ तुन्दीप्रिया। स्थूलोदरा जनाः ।

दूरायन्दू¹निनादेन डिण्डिमध्वनिरोधिना । क्षीबहास्तिक²संचारत्रासादपसरज्जने ॥७७॥
अनन्तरज्ञे सेनानीनिदेशमवहेलया । कर्तुं कथमपि स्वैरं प्रक्रान्तनवसेवके ॥७८॥
यथेष्ट वाहनारूढै राजन्यैः सैन्यसंयुतैः । आपूर्यमाणराजेन्द्रभवनद्वारपक्षके ॥७९॥
सेनान्यः पुरतो गच्छद्दण्डरत्नसमीकृते । प्रकृते पथि निर्व्याजं प्रयाणसमये जनैः ॥८०॥
लोकनाथस्ततो बुद्धो ³वैबोधिकविबोधनैः । सम्मान्याशेषराजन्यान्यथोक्तप्रतिपत्तिभिः ॥८१॥
जयपर्वतमारुह्य विजयाय दिशां ततः । प्रस्थानोचितमाकल्पं⁴ प्रतस्थे लीलया वहन् ॥८२॥

चतुर्दशभिः कुलकम्

⁵भूभृतां मुकुटालोका बालामपि दिनश्रियम् । प्रवृद्धामिव तत्काले चक्रुराक्रान्तदिङ्मुखाः ॥८३॥
ततः प्रचलिते तस्मिंश्चक्रा⁶युधपुरःसरे । ⁷चक्रायुधे तदा ⁸जज्ञे कृत्स्ना सैन्यमयीव भूः ॥८४॥
अरोधि हरितां⁹ चक्रं¹⁰ हरिभिः¹¹ ¹²शीघ्रपातिभिः । न पुनस्तत्खुरोत्खातपांसुभिर्भुवनोदरम् ॥८५॥
हास्तिकाडम्बरध्वानसम्मूर्च्छद्रथनिःस्वनः । व्यानशे हिमवत्कुक्षीनं पुनर्जनताश्रुतीः ॥८६॥

उन्मत्त हस्ति समूह के संचार के भय से लोग दूर भाग रहे थे, जब अन्तर को न जानने वाले नये सेवक सेनापति की आज्ञा को स्वेच्छावश अनादर से किसी तरह सम्पन्न करने के लिए तत्पर हो रहे थे, जब इच्छानुसार वाहनों पर बैठे हुए सेनाओं सहित राजकुमारों के द्वारा राजाधिराज शान्ति जिनेन्द्र के भवन सम्बन्धी द्वारों के दोनों ओर के प्रदेश व्याप्त हो रहे थे, और जब सेवकजन सेनापति के आगे चलने वाले दण्ड रत्न के द्वारा आगे का मार्ग निश्छल रूप से समान कर रहे थे ऐसा प्रस्थान का समय आने पर स्तुतिपाठक चारणों के जागरण—गीतों से जागे हुए त्रिलोकीनाथ शान्ति जिनेन्द्र ने यथायोग्य सत्कारो से राजाओं का सन्मान कर तथा जयपर्वत नामक हाथी पर सवार हो दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। उस समय वे प्रस्थान के योग्य वेष को लीला पूर्वक धारण कर रहे थे ॥६९—८२॥

उस समय यद्यपि दिन की लक्ष्मी बालरूप थी—प्रात कालीन थी तो भी दिशाओ के अग्रभाग को व्याप्त करने वाले राजाओं के मुकुटों के प्रकाश उसे मानों अत्यन्त वृद्धिगत कर रहे थे—मध्याह्न के समान सुविस्तृत कर रहे थे ॥८३॥ तदनन्तर चक्रायुध नामक भाई जिनके आगे चल रहा था ऐसे चक्रायुध—चक्ररूप शस्त्र के धारक चक्रवर्ती शान्ति जिनेन्द्र के चलने पर समस्त पृथिवी सेना से तन्मय जैसी हो गयी ॥८४॥ शीघ्रगामी घोड़ों के द्वारा न केवल दिशाओं का समूह भर गया था किन्तु उनकी टापों से खुदी हुई धूलि के द्वारा संसार का मध्यभाग भर गया था ॥८५॥ हस्तिसमूह के जोर दार शब्द से बढ़ते हुए रथों के शब्द ने न केवल जनसमूह के कानों को व्याप्त किया था किन्तु हिमवत् पर्वत की गुफाओं को भी व्याप्त कर लिया था ॥८६॥ 'यह क्या है ?' इस प्रकार घबड़ाये हुए मागधदेव के

---

१ बन्धनशृङ्खला २ हस्तिसमूह ३ वैबोधिकैः जागरण कार्ये नियुक्तजनैः कृतानि विबोधनानि तैः ४ वेषं ५ राज्ञाम् ६ चक्रायुधोनामभ्रातापुरस्सरोऽग्रगामी यस्य तस्मिन् ७ शान्तिजिनेन्द्रे ८ जाता ९ दिशानां १० समूहः मण्डलमित्यर्थः ११ अश्वैः १२ शीघ्रगामुकैः ।

किमेतदिति संभ्रान्तैर्मार्गपार्श्ववर्तिभिः । शङ्खानां शुश्रुवे घोषः पत्तिकोलाहलैः सह ।।८७।।
पूरिताखिललोकाशं सैन्यमाशानिरोध्यपि । रुरुधे ध्वनिनाक्रान्तरोदोरन्ध्रमयाध्वनी ।।८८।।
प्रयाणमध्यभाजोऽपि छेका[1] इव मृगद्विजाः । यत्रारण्या न वित्रेसुस्तत्र का वा बिभीषिका ।।८९।।
न च प्रबल[2]पङ्कान्तर्निमज्जद्दुर्बलोक्षकम् । नापि संघट्टसंमर्दोच्छलदुद्धतौष्ट्रकम् ।।९०।।
[3]पदगैरपि समासेदे नाध्वनीनः परिश्रमः । अदृष्टपूर्वराजेन्द्रभूरिभूतिविलोकनात् ।।९१।।
(युगलम्)
प्रयाणं चक्रिणो द्रष्टुमृतवोऽपि कुतूहलात् । समं जनपदैस्तस्थुरारुह्योपवनद्रुमान् ।।९२।।
सैन्यावगाहनेनापि चुक्षुभे न जलाशयैः । तादृशस्योद्यमो भर्तुर्न हि क्षोभाय कस्यचित् ।।९३।।
षडङ्गबलमालोक्य क्रान्ताम्बरमहीतलम् । इति भ्रात्रा[4] निजगदे [5]जगदेकपतिस्ततः ।।९४।।
अनेक[6]पत्रसंपत्ति नेत्रानन्दि[7] विकण्टकम्[8] । चक्रेश चक्रमेतत्ते[9] लक्ष्मीलीलाम्बुजायते ।।९५।।

समीपवर्ती लोगों ने पैदल सैनिकों के कोलाहल के साथ शङ्खों का शब्द सुना ।।८७।। आशानिरोधि—दिशाओं को रोकने वाली (पक्ष में अभिलाषाओं को रोकने वाली) होकर भी जो पूरिताखिललोकाश—संपूर्ण लोक की दिशाओं को पूर्ण करने वाली (पक्ष में सब लोगों की अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली) थी ऐसी उस सेना ने अपने शब्द के द्वारा आकाश और पृथिवी रूप दोनों मार्गों को रोक लिया था-व्याप्त कर लिया था ।।८८।। जहां प्रयाण के बीच आये हुए जङ्गल के हरिण और पक्षी भी चतुर मनुष्यों के समान भयभीत नहीं हुए थे वहां भय की बात ही क्या थी ? ।।८९।। उस सेना में न तो दुर्बल बैलों का समूह बहुत भारी कीचड़ के भीतर निमग्न हुआ था, न उद्दण्ड ऊंटों का समूह ही अत्यधिक भीड़ से उछला था और न पैदल सैनिकों ने भी शान्ति जिनेन्द्र की अदृष्ट पूर्व बहुत भारी विभूति के देखने से मार्गसम्बन्धी परिश्रम प्राप्त किया था ।।९०-९१।।

चक्रवर्ती का प्रयाण देखने के लिये ऋतुएं भी कुतूहल वश देशवासी लोगों के साथ उपवन के वृक्षों पर आरूढ होकर स्थित हो गयी थी ।।९२।। सैनिकों के अवगाहन—भीतर प्रवेश करने से भी जलाशय क्षोभ को प्राप्त नही हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि उसप्रकार के प्रभु का उद्यम किसी के क्षोभ के लिये नही था ।।९३।। तदनन्तर आकाश और पृथिवीतल को व्याप्त करने वाली षडङ्गसेना को देख कर भाई चक्रायुध ने जगत् के अद्वितीय स्वामी शान्ति जिनेन्द्र से कहा ।।९४।।

हे चक्रपते ! आपकी यह सेना लक्ष्मी के क्रीडाकमल के समान आचरण कर रही है क्योंकि जिस प्रकार लक्ष्मी का क्रीडाकमल अनेक पत्र सम्पत्ति—अनेक दलों से युक्त होता है उसीप्रकार यह सेना भी अनेक वाहनों से युक्त है, जिस प्रकार लक्ष्मी का क्रीडाकमल नेत्रानन्दि—नेत्रों को आनन्द देने वाला होता है उसीप्रकार यह सेना भी नेतृ+आनन्दि—नायकों को आनन्द देने वाली है और

---

१ विदग्धा इव २ प्रचुरकर्दम मध्यनिमग्नीभवन्निर्बलबलीवर्दकम् ३ पदचारिभिः ४ चक्रायुधेन ५ शान्ति जिनेन्द्रः ६ अनेकवाहनयुक्तम्, अनेकदलसहितम् ७ नायकानन्दि नेतॄन् आनन्दयतीति नेत्रानन्दि, पक्षे नेत्राणि नयनानि आनन्दयतीति तथाभूत । ८ क्षुद्रशत्रु रहित पक्षे कण्टक रहित ९ सैन्य ।

[1]उद्दामदानलोभेन [2]मत्तमातङ्गसंगतिम् । [3]रूपाजीवेव [4]भृङ्गाली करोत्येषा निरन्तरम् ।।९६।।
अमात्यैरिव नागेन्द्रैर्धृतशिक्षैः स्वविग्रहैः । परभेदननिष्णातैर्दिशो रुद्धाश्चकासति ।।९७।।
नेतृभिः [5]प्रग्रहाभिज्ञैः कृच्छ्रादिव वशीकृताः । [6]आजानेयाः प्रवीराश्च व्रजन्त्येते मनस्विनः ।।९८।।
क्षीबः शून्यासनोऽप्येष पश्चान्मेण्ठ[7]मुपागतम् । अधारोहयते हस्ती वदन्वा [8]तद्विधेयताम् ।।९९।।
नो दधाति रजःक्षोभं यथेष्टं व्रजतामपि । स्यन्दनानामहो गत्या[9] चिरायात्मवतामिव ।।१००।।
निम्नगाः पूर्वभागेन भवन्त्येव सुनिम्नगाः । सैन्योत्तरणरोधेन पश्चार्धेन प्रतीपगाः ।।१०१।।
निधिभिर्दीयमानार्थैर्न कश्चिदिह [10]दुर्गतः । आयान्ति नन्तुमेते त्वां नृपा निर्गत्य दुर्गतेः ।।१०२।।
विजिगीषुस्त्वमेवैको यातव्यश्चासि भूभुजाम् । [11]संगच्छते तथापीश भवत्येव नयज्ञता ।।१०३।।
स्वपुष्पफलभारेण विनतास्तरुवीरुधः । प्रकाशयन्ति सर्वत्र सार्थ सर्वर्तुसंपदम् ।।१०४।।

जिसप्रकार लक्ष्मी का क्रीडा कमल विकण्टक—कांटों से रहित होता है उसी प्रकार यह सेना भी विकण्टक–क्षुद्र शत्रुओं से रहित है ।।९५।। यह भ्रमरों की पक्ति वेश्या के समान उद्दामदान—बहुत भारी मद (पक्ष में बहुत भारी धन प्राप्ति) के लोभ से निरन्तर मत्तमातङ्ग—मदोन्मत्त हाथियों (पक्ष में उन्मत्त चाण्डालों) की सगति करती है ।।९६।। मन्त्रियों के समान सुशिक्षित और स्वविग्रह—अपने शरीरों (पक्ष में अपने द्वारा आयोजित युद्धों) के द्वारा शत्रुओं के भेदन करने में (शत्रुओं को फोड़ने में) निपुण गजराजों के द्वारा रुकी हुई दिशाए सुशोभित हो रही हैं ।।९७।। लगाम के प्रयोग करने में कुशल (पक्ष में वशीकरणक्रिया में चतुर) नेताओं के द्वारा जो बडी कठिनाई से वश में किये गये है ऐसे ये तेजस्वी घोडे और श्रेष्ठ योद्धा जा रहे हैं ।।९८।। यह उन्मत्त हाथी शून्यासन होकर भी पीछे से आये हुए महावत को उसकी अनुकूलता को कहते हुए के समान चढ़ा रहा है ।।९९।। रथ यद्यपि इच्छानुसार चल रहे हैं तो भी चिरकाल के जितेन्द्रिय मनुष्यों की चाल के समान उनकी चाल रजःक्षोभ—धूलि के क्षोभ को (पक्ष में पाप के क्षोभ को) नहीं कर रही है ।।१००।। नदियाँ पूर्वभाग से तो निम्नगा—नीचे की ओर ही बहने वाली हैं परन्तु सेना के उतरने सम्बन्धी रुकावट से पिछले भाग से उल्टी बहने लगी हैं । भावार्थ—नीचे की ओर जाने के कारण नदी का नाम निम्नगा है । उनका सेना उतरने के पूर्व पहले का जो भाग था वह तो नीचे की ही ओर जा रहा था परन्तु सेना उतरने के कारण ऊपर का प्रवाह रुक गया अतः वह ऊपर की ओर जाने लगा है ।।१०१।। निधियों के द्वारा दिये जाने वाले धन से यहां कोई दरिद्र नहीं रहा है ये राजा दरिद्रता से निकल कर आपको नमस्कार करने के लिये आ रहे हैं ।।१०२।। हे नाथ ! यद्यपि एक आप ही विजिगीषु राजा हैं तथा अन्य राजाओं के लिये एक आप ही यातव्य–प्राप्त करने योग्य हैं तथापि नीतिज्ञता एक आप मे ही संगत हो रही है ।।१०३।। हे सर्वहितकर्ता ! अपने पुष्प और फलों के भार से नम्रीभूत वृक्ष और लताएं सब ऋतुओं की संपत्ति को प्रकट कर रही हैं ।।१०४।। मन्द वायु से कम्पित पल्लव रूपी

---

१ अत्यधिकधनप्राप्तिलोभेन पक्षे प्रचुरमदजललोभेन २ मत्तगजराजसंगति पक्षे क्षीवचाण्डाल समागमम् ३ वेश्या इव ४ भ्रमरपंक्तिः ५ रश्मिप्रयोगकुशलैः ६ उच्चस्तरीयाः अश्वाः ७ 'महावतिण्ठ' इति प्रसिद्धम्, ८ मेण्ठानुकूलताम् ९ गतिः १० दरिद्रः ११ संगता भवति ।

एता मन्दानिलोद्धूतपल्लवाञ्जलिभिर्लताः । किरन्त्यः पुष्पधान्यार्घं भान्ति पौरस्त्रियो यथा ॥१०५॥
न्यायचिख्या[1]सयैवाराद्विकसद्रुचिमुखाम्बुजैः । सर्वतो द्रष्टुमायान्ति त्वामिमाः सुप्रजाः प्रजाः ॥१०६॥
अभावात्प्रतिपक्षस्य शस्त्रे शास्त्रे च कौशलम् । अप्रयोगतया नूनं तदभिज्ञैर्विनिन्द्यते ॥१०७॥
इदमन्यायनिर्मुक्त[2]मन्यायसहितं परम् । तथामुना प्रयाणेन नाथ चित्रीयते जगत् ॥१०८॥
अनवद्याङ्गरागेण राजमानाः पदातयः । अनवद्याङ्गरागेण प्रदीप्ता इव यान्त्यमी ॥१०९॥
समव्यायाम्ययोर्योनिः षाड्गुण्यं यदुदीरितम् । नेतरि त्वयि भूपानां तदादावेव वर्तते ॥११०॥
प्रसूतरत्नाकरान्भूमिः सर्वतोऽपि विवृण्वती । वसुन्धरा[3] न नाम्नैव क्रिययापि वसुन्धरा[4] ॥१११॥
इत्यध्वन्यां[5] प्रकुर्वाणे वाणीं चक्रायुधे प्रभुः । दृश्यमानो मुदा सैन्यैः सैन्यावासं समासदत् ॥११२॥
अन्तरैव निदेशस्थैर्विसृष्टानुगराजकः । स्वावासं प्राविशन्नाथो [6]वासवावाससन्निभम् ॥११३॥

अञ्जलियों के द्वारा पुष्प मिश्रित अर्घ को बिखेरती हुई ये लताएं लाई की वर्षा करने वाली नागरिक स्त्रियों के समान सुशोभित हो रही हैं ॥१०५॥ न्याय के कथन करने की इच्छा से ही जो खिले हुए मुख कमलों से सहित हैं तथा जो उत्तम सन्तति से युक्त हैं ऐसे ये प्रजाजन सब ओर से आपका दर्शन करने के लिये दूर दूर से आ रहे हैं ॥१०६॥ प्रतिपक्ष—शत्रु का अभाव होने से जो शस्त्र विषयक कौशल प्रयोग से रहित होता है उसे उसके ज्ञाता मनुष्य अच्छा नही मानते । इसी प्रकार प्रतिपक्ष—शङ्का पक्ष का अभाव होने से जो शास्त्र विषयक कौशल हेतु प्रयोग से रहित होता है उसे वाद कलाके पारगामी पुरुष अच्छा नही मानते ॥१०७॥

हे नाथ ! यह जगत् आपके इस प्रयाण से अन्याय निर्मुक्त होता हुआ भी अन्याय से सहित है यह आश्चर्य की बात है (परिहार पक्ष में अन्य आयों से सहित है) ॥१०८॥ हे अनवद्याङ्ग ! हे निर्मल शरीर के धारक ! शान्ति जिनेन्द्र ! राग-लाल रङ्ग के निर्दोष अङ्गराग—विलेपन से शोभायमान ये पैदल सैनिक देदीप्यमान होते हुए के समान जा रहे है ॥१०९॥ जो सन्धि विग्रह आदि छह गुणों का समूह योगक्षेम का कारण कहा गया है वह राजाओं के नेतास्वरूप आप में प्रारम्भ से ही वर्तमान है ॥११०॥ सभी ओर रत्नों की खानों को प्रकट करने वाली वसुन्धरा-पृथिवी न केवल नाम से वसुन्धरा है किन्तु क्रिया से भी वसुन्धरा-धन को धारण करने वाली है ॥१११॥ इस प्रकार जब चक्रायुध मार्ग-सम्बन्धी वाणी को प्रकट कर रहे थे तब सैनिकों द्वारा हर्ष पूर्वक देखे गये प्रभु सेना के पड़ाव को प्राप्त हुए ॥११२॥ आज्ञा मे स्थित द्वारपालो के द्वारा जिनके अनुगामी राजाओं को बीच मे ही विदा कर दिया गया था ऐसे शान्तिप्रभु ने इन्द्रभवन के तुल्य अपने निवासगृह में प्रवेश किया ॥११३॥

शान्ति जिनेन्द्र की सेना सुमेरु शिखर की शोभा को धारण कर रही थी क्योंकि जिसप्रकार सुमेरु शिखर कल्याणमय—सुवर्णमय होता है उसी प्रकार सेना भी कल्याणमय—मङ्गलमय थी,

---

१ ख्यातुमिच्छा चिख्यासा २ अन्ये च ते आयाश्च अन्यायास्तै. सहितम् ३ पृथिवी ४ धनधारिणी
५ अध्वनि मार्गे भवा अध्वन्या ताम् ६ इन्द्रभवनसदृशम् ।

[1]कल्याणमयमत्युद्ध[2] महाभागैः समन्वितम् । बभार कटकं[3] भर्तुः सुमेरोः [4]कटकश्रियम् ।।११४।।
स्वामिभृत्यादिसंबन्धमाश्रित्यान्येव भोगभूः । तत्सैन्यवसती रेजे भूरिराजकभूतिभिः ।।११५।।
ख्यातं [5]वसुभिरष्टाभिरमेयवसुसम्पदा । अधश्चकार या स्वर्गमुपरिष्टादपि स्थितम् ।।११६।।
ख्यात[6]पुण्यजनाधारा [7]राजराजान्विताप्यलम् । अलकामहसत्कान्त्या [8]दात्रिभिर्निधिभिर्युता ।।११७।।
सा षण्णवतिगव्यूतिप्रमाणापि समन्ततः । अनन्त[9]भोगिसम्बन्धान्नागलोकस्थितिं दधौ ।।११८।।
विबुधैरपि विस्मित्य वीक्ष्यमाणा समन्ततः ।[10]ग्रामेयैः कौतुकादेत्य [11]न्याधायीत्यत्र का कथा ।।११९।।
स्फुरन्मरकतच्छायावन्तुरीभूतशाड्वलाः । पुष्पद्रुमलताकीर्णविविक्तपरिषद्वलाः ।।१२०।।
उपशल्यभुवस्तस्या मनोभू[12]जन्मभूमयः । अभूवन्पर्यभावीव तत्कान्त्या भोगभूमयः ।।१२१।।
सर्वतः सौधसान्निध्यात्पुरा साङ्केतिकैर्ध्वजैः । सेनाचरैर्निजावासास्तत्र कृच्छ्रात्प्रतीयिरे ।।१२२।।

जिसप्रकार सुमेरु शिखर अत्युद्ध—अत्यन्त प्रशस्त होता है उसीप्रकार सेना भी अतिशयप्रशस्त थी, और सुमेरु शिखर जिस प्रकार महाभाग—देव विद्याधर आदि महा पुरुषों से सहित होता है उसी प्रकार सेना भी उत्कृष्ट महानुभावों से सहित थी ।।११४।। उनकी सेना की निवास भूमि, बहुत भारी राजाओं की विभूति से ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों स्वामी और सेवक के सम्बन्ध का आश्रय कर होने वाली दूसरी भोग भूमि ही हो ।।११५।। जिसने अपरिमित धन सम्पदा के द्वारा आठ वसुओं से प्रसिद्ध तथा ऊपर स्थित स्वर्ग को भी अधःकृत—नीचा कर दिया था ।।११६।। दानशील निधियों से सहित जो वसति यद्यपि ख्यातपुण्य जनाधारा—प्रसिद्ध यक्षों के आधार से प्रसिद्ध थी (पक्षमें प्रसिद्ध पुण्य शाली जीवों के आधार से प्रसिद्ध थी) तथा राजराज—कुवेर (पक्ष में चक्रवर्ती) से सहित थी तो भी वह कान्ति से अलकापुरी की अच्छी तरह हँसी करती थी ।।११७।।

वह सब ओर से यद्यपि छियानवे कोश विस्तृत थी तो भी अनन्तभोगी—शेषनाग के सम्बन्ध से (पक्ष मे बहुत अधिक भोगीजनों के संबंध से) नाग लोक पाताल लोक की स्थिति को धारण कर रही थी ।।११८।। उस निवास भूमि को देव भी आश्चर्यचकित होकर चारों ओर से देखते थे फिर ग्रामीण लोग कौतुक से आकर देखते थे इसकी कथा ही क्या है ? ।।११९।। देदीप्यमान मरकत मणियों की कान्ति से जहां हरे हरे घास के मैदान नतोन्नत हो रहे थे तथा जहां की एकान्त अथवा पवित्र भूमियां पुष्पित वृक्षों और लताओं से व्याप्त थीं ऐसी उसकी समीपवर्ती भूमियां काम की जन्म भूमिया बन रही थी अथवा उसकी कान्ति से मानों भोग भूमियां तिरस्कृत हो रही थी ।।१२०-१२१।। वहां राजभवन के चारों ओर पहले से जो सांकेतिक ध्वजाएं लगायीं गयीं थीं उनके द्वारा ही सैनिक लोग बड़ी कठिनाई से अपने अपने डेरों की ओर जा रहे थे ।।१२२।। जिनका हृदय परोपकार में लीन

---

१ श्रेयोमयं सुवर्णमयं च २ अतिप्रशस्तं ३ सैन्यं ४ शिखरशोभाम् ५ स्वर्गः अष्टाभिः वसुभिः ख्यातः, सैन्यवसतिस्तु अपरिमेयवसुसम्पदा-धनसंपत्त्या ख्याता ६ ख्यातः प्रसिद्धः पुण्यजनानां पुण्यशालिजनानां पक्षे यक्षाणा माधारो यस्यां सा ७ राजराजेन चक्रवर्तिना पक्षे धनाधिपेन अन्विता सहिता ८ दानशीलैः ९ अनन्तश्चासौ भोगी च अनन्त भोगी-शेषनागस्तस्य संबन्धात् पक्षे अनन्ताः अपरिमिता ये भोगिनो भोगयुक्ताः तेषां सम्बन्धात् १० ग्रामीण जनैः ११ अवलोकिता । १२ कामोत्पत्ति भूमयः

प्रजासु कृतकृत्यासु निधीनामनुभावतः । जातासु मुमुदे नाथः परार्थनिरताशयः ॥१२३॥
निरुद्धकरसंपातैश्चलद्भिः कटकध्वजैः । अवातरदथाकाशात्प्रेर्यमाण इवार्यमा[1] ॥१२४॥
अनुरक्तमिवालोक्य भर्तुः [2]प्रकृतिमण्डलम् । [3]चण्डांशुश्चण्डतां[4] त्यक्त्वा [5]मण्डलं स्वमरञ्जयत् ॥१२५॥
शोभां सेनानिवेशस्य दिदृक्षुरिव भानुमान् । पश्चिमाद्रेः शिरस्युच्चैः क्षणमात्रं व्यलम्बत ॥१२६॥
प्रतितोयाशयं भानो प्रतिबिम्बमदृश्यत । गमायापृच्छमानं वा पद्मिनीं प्लवकूजितैः ॥१२७॥
सहसैवाम्बर[6]त्यागस्तेजो[7]हानिः सुरागता[8] । वारुणी[9]सेवनादस्था भास्वताप्यन्वभूयत ॥१२८॥
प्रत्यक्संप्रेरितस्याह्ना वन्येभेन महातरोः । दीर्घमूलैरिवास्थायि भानोरूर्ध्वमभीषुभिः ॥१२९॥
यः प्राभूत्सूर्यकान्तेभ्यः[10] स एवाग्निर्दिनात्यये। सूर्यकान्ता[11]निति व्यापत्कोका[12]न्वाक्यच्छलादिव ।१३०॥

था ऐसे शान्ति जिनेन्द्र निधियों के प्रभाव से प्रजा के कृतकृत्य होने पर हर्षित हो रहे थे ॥१२३॥

तदनन्तर जिन्होंने किरणों के संचार को रोक लिया था ऐसी फहराती हुई सेना की ध्वजाओं से प्रेरित होकर ही मानों सूर्य आकाश से नीचे उतरा अर्थात् अस्त होने के सन्मुख हुआ ॥१२४॥ शान्ति जिनेन्द्र के प्रजामण्डल को अनुरक्त - लाल (पक्षमें प्रेम से युक्त) देखकर ही मानो सूर्य ने तीक्ष्णता को छोड़ कर अपने मण्डल-बिम्ब को अनुरक्त—लाल कर लिया था ॥१२५॥ सेना निवास की शोभा को देखने के लिये इच्छुक होकर ही मानों सूर्य ने अस्ताचल की ऊंची शिखर पर क्षणभर का विलम्ब किया था ॥१२६॥ प्रत्येक जलाशय में सूर्य का प्रतिबिम्ब ऐसा दिखायी देता था मानों वह तरङ्गों की ध्वनि के बहाने जाने के लिये कमलिनी से पूछ ही रहा हो—प्रेयसी से आज्ञा ही प्राप्त कर रहा हो ॥१२७॥ वारुणी— पश्चिम दिशा (पक्ष मे मदिरा) के सेवन से सूर्य ने भी शीघ्र ही अम्बर त्याग— आकाश त्याग (पक्ष मे वस्त्र त्याग) तेजोहानि—प्रताप हानि (पक्षमें प्रभावहानि) और सुरागता—अत्यधिकलालिमा (पक्षमे अत्यधिक प्रीति) का अनुभव किया था । भावार्थ—जिस-प्रकार मदिरा का सेवन करने से मनुष्य शीघ्र ही अम्बरत्याग, तेजोहानि और सुरागता को प्राप्त होता है उसी प्रकार पश्चिम दिशा का सेवन करने से सूर्य भी अम्बरत्याग—आकाशत्याग, तेजोहानि—प्रतापहानि और सुरागता—अतिशय लालिमा को प्राप्त हुआ था ॥१२८॥ जिसप्रकार जगली हाथी के द्वारा उल्टे उखाड़े हुए महावृक्ष की लम्बी लम्बी जड़ ऊपर की ओर हो जाती है उसी प्रकार दिन के द्वारा पश्चिम दिशा में प्रेरित सूर्य की किरणें ऊपर की ओर रह गयी थीं । भावार्थ—अस्तोन्मुख सूर्य की किरणें ऊपर की ओर ही पड़ रही है नीचे की ओर नही ॥१२९॥ जो अग्नि सूर्यकान्त मणियों से उत्पन्न हुयी थी वह सायंकाल के समय 'ये सूर्यकान्त हैं—सूर्यकान्त मणि हैं (पक्ष में सूर्य के प्रेमी हैं) इस वाक्यच्छल से ही मानों चकवों को प्राप्त हुयी थी । भावार्थ—सूर्यास्त होनेसे चकवा चकवी परस्पर वियुक्त होकर शोकनिमग्न हो गये ॥१३०॥ उस समय एक कमल वन ऐसी · सूर्य सम्बन्धी (पक्ष में

---

१ सूर्यः २ अमात्यादिवर्गम् ३ सूर्यः ४ तीक्ष्णतां ५ बिम्बं ६ गगनत्यागः पक्षे वस्त्रत्यागः ७ प्रतापहानिः, प्रभुत्वहानिः ८ सुलोहितता, सुष्ठु रागसहितता, ९ पश्चिमदिशा, मदिरा च १० सूर्यकान्तमणिभ्यः ११ सूर्यः कान्तो येषां तान् १२ चक्रवाकान् ।

[1]पादसेवामनाप्यैनीं [2]तदैकः कमलाकरः । संचुकोच समासाद्य विचकासापरः पराम् ॥१३१॥
दिश्यदृश्यत वारुण्यां संध्या, सौगन्धिकद्युतिः । रक्तराजीवराजीव[3] मार्गलग्ना विवस्वतः ॥१३२॥
उत्थाय पद्मषण्डेभ्यः पेते भृङ्गैरितस्ततः । बीजैरिवोप्यमानस्य कालेन तमसस्तदा ॥१३३॥
विहृत्य स्वेच्छया क्वापि निर्विष्टदिवसक्रियैः । प्रापिरे पुनरावासा जल्पाकैर्देशिकैः खगैः ॥१३४॥
अपरार्णवकल्लोलशीकरैरूर्ध्वपातिभिः । प्रक्षालित इवाशेषः संध्यारागोऽगलत्क्षणात् ॥१३५॥
भूमिपान्प्रापुरुत्क्षिप्तैः प्रदीपैर्दीपिकाभृतः । मालाकाराश्च तत्काले शेखरैश्चम्पकोज्ज्वलैः ॥१३६॥
शनैः सर्वात्मना रुद्धा दिशस्तास्वप्यमादिव । व्यजृम्भत तमः प्राप्य मानिनीमानसान्यपि ॥१३७॥
मुखेभ्यो निर्गतैर्दूरं बहिर्दीपप्रभोत्करैः । उद्गिरन्त इवावासा रेजुरैरावतीं द्युतिम् ॥१३८॥
कामिभिः शुश्रुवे भीतैस्तमश्छन्नालिहुङ्कृतिः । पततां कामबाणानां पक्षसूत्कारशङ्कया ॥१३९॥

स्वामि सम्बन्धी) पाद सेवा—चरण सेवा (पक्ष में किरणों की सेवा) को न प्राप्त कर संकोचित हो गया था और दूसरा (कुमुद वन) अत्यधिक पाद सेवा चरण सेवा को प्राप्त कर विकसित हो गया था। भावार्थ—यहां इन का अर्थ सूर्य और स्वामी है तथा पाद का अर्थ किरण और चरण है। सायंकाल के समय सूर्य की किरणों को न पाकर कमल वन संकोचित हो गया था और कुमुद वन स्वामी के चरणों की सेवा प्राप्त कर अत्यन्त हर्षित हो गया था ॥१३१॥

पश्चिम दिशा में लाल लाल संध्या ऐसी दिखायी देती थी मानों सूर्य के मार्ग में लगी हुयी लाल कमलों की पक्ति ही हो ॥१३२॥ उस समय भौंरे कमल वन से उडकर इधर उधर मंडराने लगे थे जिससे ऐसे जान पड़ते थे मानों काल के द्वारा बोये जाने वाले अन्धकार के बीज ही हों ॥१३३॥ अपनी इच्छा से कहीं घूमकर दिन सम्बन्धी भोजनादि क्रिया को पूर्ण करने वाले तत्तद्देशीय पक्षी परस्पर वार्तालाप करते हुए अपने अपने निवास स्थानों को पुनः प्राप्त हो गये ॥१३४॥ क्षण भर में सध्या की संपूर्ण लालिमा समाप्त हो गयी जिससे ऐसा जान पड़ता था मानों पश्चिम समुद्र की लहरों के जो छींटे ऊपर की ओर जा रहे थे उनसे धुल गयी हो ॥१३५॥

उस समय दीपिकाओं को धारण करने वाले मनुष्य ऊपर उठाये हुये दीपकों के साथ राजाओं के पास पहुँचे और मालाकार चम्पा के फूलों से उज्ज्वल सेहरों के साथ राजाओं के पास पहुँचे। भावार्थ—दीपक जलाने का काम करने वाले लोग दीपक ले लेकर राजाओं के पास पहुंचे और मालाकार चंपा के फूलों से निर्मित सेहरा लेकर उनके पास गये ॥१३६॥ धीरे धीरे अन्धकार ने समस्त दिशाओं को रोक लिया और जब मानों उनमें भी नहीं समा सका तब वह मानवती स्त्रियो के मनों को भी प्राप्त कर विस्तृत हो गया ॥१३७॥ द्वारों से निकलकर दूर तक फैले हुए बाह्य दीपकों की प्रभा समूह से डेरे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों ऐरावत हाथी की कान्ति को ही प्रकट कर रहे हों ॥१३८॥ अन्धकार से आच्छादित भ्रमरों का जो हुंकार हो रहा था उसे कामीजनों ने पड़ते हुए कामबाणों के पक्षों की सूत्कार की शङ्का से डरते डरते सुना था ॥१३९॥ उस समय लोगों को काम

---

१ चरणसेवां किरणसेवां च २ इनस्य इयं ऐनी ताम् सूर्य सम्बन्धिनीं ३ रक्तकमलपंक्तिरिव ।

लोकानां मन्मथः कान्तो द्वेष्योऽभूत्तिमिरोद्गमः । अविवेकविधायित्वं तुल्यमप्युभयोस्तदा ।।१४०।।
मिथो विरोधिनीं बिभ्रद्वियज्ज्योतिस्तमःस्थितिम् । महत्तां प्रथयामास लोकातीतामिवात्मनः ।।१४१।।
अन्धकारस्य पर्यन्तं ज्ञातुं चन्द्रेण योजिताः । [1]अवसर्पा इव स्पष्टं प्रासर्पन्गगने ग्रहाः ।।१४२।।
अथान्धतमसात्त्रातुं जगद्वेगाविवेष्यतः[2] । इन्दोः [3]पादरजोभिः प्राक् प्राची विधूसराभवत् ।।१४३।।
विधोः कराङ्कुरं रेजे निर्यद्भिरुदयाचलः । केतकीसूचिभिः क्लृप्तां मालामिव समुद्वहन् ।।१४४।।
अलक्ष्यत कला [4]चान्द्री ततो [5]विद्रुमलोहिनी । मनोभूकल्पवृक्षस्य प्रथमेवाङ्कुरोद्गतिः ।।१४५।।
निगुह्य विजिगीषुत्वं को न शत्रुं प्रतीहते । लोहितोऽभितमो भूत्वा धवलोऽप्युदगाद्विधुः ।।१४६।।
चन्द्रात्पलायमानस्य तमसो लोकविद्विषः । अपसारभुवो दुर्गा जाता गिरिगुहास्तदा ।।१४७।।

तो प्रिय था परन्तु अन्धकार का उद्गम अप्रिय था जब कि दोनों ही समान रूप से अविवेक को उत्पन्न करते हैं । भावार्थ—जिसप्रकार काम अविवेक को करता है अर्थात् हिताहित का विवेक नहीं रहने देता उसी प्रकार अन्धकार भी अविवेक करता है अर्थात् काले पीले छोटे बड़े आदि के भेद को नष्ट कर देना है सबको एक सदृश कर देता है इस तरह काम और अन्धकार में समानता होने पर भी लोगों को काम इष्ट था और अन्धकार का उद्गम अनिष्ट ।।१४०।।

उस समय परस्पर विरोध करने वाली ज्योति और अन्धकार की स्थिति को धारण करने वाला आकाश मानों अपनी लोकोत्तर महत्ता को ही प्रकट कर रहा था । भावार्थ—जिस प्रकार महान् पुरुष शत्रु और मित्र—सबको स्थान देता हुआ अपना बड़प्पन प्रकट करता है उसी प्रकार आकाश भी परस्पर विरोध करने वाली तारापक्ति और अन्धकार दोनो को स्थान देता हुआ अपना सर्व श्रेष्ठ बड़प्पन प्रकट कर रहा था ।।१४१।। अन्धकार का अन्त जानने के लिए चन्द्रमा के द्वारा नियुक्त किए हुए गुप्तचरों के समान ग्रह आकाश में स्पष्ट रूप से फैल गये ।।१४२।।

तदनन्तर गाढ अन्धकार से जगत् की रक्षा करने के लिए ही मानों वेग मे जो चन्द्रमा आने वाला है उसकी चरण धूलि से पूर्व दिशा पहले ही धूसरित हो गयी ।।१४३।। चन्द्रमा के निकलते हुए किरण रूपी अंकुरों से उदयाचल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो केतकी के अग्रभागों से निर्मित माला को ही धारण कर रहा हो ।।१४४।। तदनन्तर मूंगा के समान लाल लाल चन्द्रमा की कला दिखायी देने लगी जो ऐसी जान पड़ती थी मानों काम रूपी कल्प वृक्ष की प्रथम अंकुर की उत्पत्ति हो ।।१४५।। चन्द्रमा शुक्ल होने पर भी लाल होकर अन्धकार के सन्मुख उदित हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि विजिगीषु भाव को छिपाकर शत्रु के प्रति कौन नहीं उद्यम करता है ? अर्थात् सभी करते है ।।१४६।। उस समय पर्वतों की दुर्गम गुफाएं चन्द्रमा से भागते हुए लोक विरोधी अन्धकार की अपसार भूमियां हुई थीं । भावार्थ—जिस प्रकार राजा के भय से भागने वाले लोक विरोधी शत्रु को जब कोई शरण नही देता है तब वह पर्वतों की गुफाओं में छिपकर अपने विपत्ति के दिन काटता

---

१ चरा इव २ आगमिष्यतः ३ चरणधूलिभिः ४ चन्द्रस्येयं चान्द्री ५ विद्रुम इव प्रवाल इव लोहिनी रक्तवर्णा ।

निःशेषितान्धकारेण प्रसेदे श्वेतभानुना[1]। अभावात्प्रतिपक्षस्य सन्तो हि न विकुर्वते ॥१४८॥
ओषधीनामधीशस्य [2]कराग्रस्पर्शनात्ततः। आसन्नपेततिमिरा[3] दिशस्तरलतारकाः ॥१४९॥
उदिते यामिनी[4]नाथे चुक्षुभे वारिराशिना। अन्तःक्षोभाय नो केषां भवेद्दोषा[5]करोदयः ॥१५०॥
करैस्तमोपहैरिन्दोरबोधि कुमुदाकरः। अन्तरार्द्रो मुनेर्वाक्यैर्यथा भव्यजनः शुचिः ॥१५१॥
ततः प्रकाशयन्नाशा व्यलगद्व्योम [6]सारसः। कामिनां च मनः सद्यो मदनो [7]मानसारस ॥१५२॥
अपेक्ष्य शक्तिसामर्थ्यं कुशला [8]वारयोषितः। कामुकेष्वर्थसिद्ध्यर्थं वितेनुः सन्धिविग्रहौ ॥१५३॥
दूतिकां कान्तमानेतुं विसृज्यापि समुत्सुका। प्रतस्थे स्वयमप्येका दुःसहो हि मनोभवः[9] ॥१५४॥

है उसी प्रकार चन्द्रमा के भय से भागने वाले लोकविरोधी अन्धकार को जब किसी ने शरण नहीं दी तब वह पर्वत की दुर्गम गुफाओं में रह कर अपना विपत्ति का समय व्यतीत करने लगा ॥१४७॥

जिसने अन्धकार को समाप्त कर दिया था ऐसा चन्द्रमा प्रसन्न हो गया—पूर्णशुक्ल हो गया सो ठीक ही है क्योंकि शत्रु का अभाव हो जाने से सत्पुरुष क्रोध नहीं करते हैं। भावार्थ—अन्धकार रूप शत्रु के रहने से पहले चन्द्रमा क्रोध के कारण लाल था परन्तु जब अन्धकार नष्ट हो चुका तब वह क्रोधजन्य लालिमा से रहित होने के कारण शुक्ल हो गया ॥१४८॥ तदनन्तर चन्द्रमा के हाथ के स्पर्श से (पक्ष में किरणों के स्पर्श से जिनका वस्त्रतुल्य अन्धकार स्खलित हो गया है ऐसी दिशाएं तरलतारका—आँख की चञ्चल पुतलियों से सहित (पक्ष में चञ्चल ताराओं से सहित) हो गयीं। भावार्थ—यहां स्त्रीलिङ्ग होने से दिशाओं में स्त्री का आरोप किया है जिसप्रकार पति के हाथ के स्पर्श से कामातुर स्त्रियों का वस्त्र स्खलित हो जाता है और उनके नेत्रों की पुतलियां चञ्चल हो जाती हैं उसी प्रकार चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से दिशाओं का अन्धकार रूप वस्त्र स्खलित हो गया और तारारूपी पुतलियां चञ्चल हो उठी ॥१४९॥ चन्द्रमा का उदय होने पर समुद्र क्षोभ को प्राप्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि दोषाकर—दोषों की खान (पक्ष में निशाकर-चन्द्रमा) का उदय किनके हार्दिक क्षोभ के लिए नही होता? ॥१५०॥ अन्धकार को नष्ट करने वाली चन्द्रमा की किरणों से कुमुदाकर—कुमुदों का समूह उस तरह बोध विकास को प्राप्त हो गया जिस तरह कि मुनिराज के अज्ञानापहारी वचनों से करुण हृदय वाला पवित्र भव्यसमूह बोध—ज्ञान को प्राप्त हो जाता है ॥१५१॥

तदनन्तर आशाओं—दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ चन्द्रमा आकाश में संलग्न हो गया—आकाश के मध्य में जा पहुँचा और आशाओं—आकाङ्क्षाओं को प्रकाशित करता हुआ मानापहारी काम शीघ्र ही कामी पुरुषों के मन में सलग्न हो गया अर्थात् कामीजनों के मन काम से विह्वल हो गये ॥१५२॥ चतुर वेश्याएं शक्ति-सामर्थ्य की अपेक्षा कर कामीजनों में अर्थ की सिद्धि के लिये सन्धि और विग्रह का विस्तार करने लगीं। भावार्थ—चतुर वेश्याएं धन की प्राप्ति के लिए कुपित प्रेमियों से सन्धि और प्रसन्न प्रेमियों से विग्रह—विद्वेष करने लगीं ॥१५३॥ कोई एक उत्कण्ठिता स्त्री पति

---

१ चन्द्रमसा २ हस्ताग्रस्पर्शनात्, किरणाग्रस्पर्शनात् ३ अपेतं तिमिरं यासां ताः ४ चन्द्रे ५ दोषखन्युदयः पक्षे चन्द्रोदय. ६ चन्द्रः 'सारसः पक्षिचन्द्रयोः' इति विश्वलोचनः ७ गर्वापहारकः ८ वेश्याः ९ कामः।

विप्रलब्धा[1] मुहुर्गाढं तत्संकल्पसमागमैः । काचिन्न श्रद्दधे मुग्धा साक्षादभ्यागतं प्रियम् ।।१५५।।
किं वा मयि विरक्तोऽभूत्किं कयाचिद् बलाद्धृतः । किं वा [2]जिज्ञासते धूर्तश्चेतोवृत्तिं ममामुना ।।१५६।।
अनायाति प्रिये काचिदिति हेतुं वितन्वती । तं विलोक्य सकामापि ययौ निर्वृति[3]मञ्जसा ।।१५७।।

(युग्मम्)

करोति विप्रियं भूयो नमत्येव च तत्क्षणात् । पातुं हातुं च मत्प्रीतिं तरलो यो न शक्नुयात् ।।१५८।।
अव्यवस्थितचित्तेन तेन कार्यं न मे सखि । [4]मानिता किं सचित्ताभ्यां स्त्रीपुंसाभ्यां न मानिता[5] ।।१५९।।
इति वाचं ब्रुवाणान्या कान्ते तत्राप्युपागते । अन्यापदेशतोऽ[6]हासीदहासीन्न[7] च धीरताम् ।।१६०।।
अन्धोऽप्युद्देशमात्रेण भवानेतावतीं भुवम् । अगात्कथमपीत्येका गोत्रस्खलितमभ्यधात् ।।१६१।।
अतिदूरं किमायातः केयं ते कांदिशीकता[8] । न वदास्युत्तरं कस्मात्प्रत्ययस्थो मुनिव्रतम् ।।१६२।।
एभिः सहचरैर्नूनमानीतोऽप्यन्यमानसः । परप्रार्थनया प्रेम यद्भवेत्तत्कियच्चिरम् ।।१६३।।

को लाने के लिए दूती को भेजकर भी स्वयं चल पड़ी सो ठीक ही है क्योंकि काम दुःख से सहन करने के योग्य होता है ।।१५४।।

जो पति के द्वारा संकल्पित समागमों से बार बार अच्छी तरह ठगी गयी थी अर्थात् जिसका पति आश्वासन देकर भी नहीं आता था ऐसी कोई भली स्त्री साक्षात् आये हुए भी पति का विश्वास नहीं कर रही थी ।।१५५।। क्या वह मुझमें विरक्त हो गया है ? या किसी स्त्री ने उसे बलपूर्वक रोक लिया है ? अथवा वह धूर्त इस समय मेरी मनोवृत्ति को जानना चाहता है ? इस प्रकार पति के न आने पर जो कारण का विचार कर रही थी ऐसी कोई स्त्री पति को आया हुआ देख सकामा—काम सहित होने पर भी वास्तविक रूप से निर्वृत्ति—निर्वाण को प्राप्त हुई थी (पक्ष में सुख को प्राप्त हुई थी) ।।१५६–१५७।। बार बार विरुद्ध आचरण करता है और तत्काल नमस्कार भी करने लगता है इस प्रकार जो इतना अस्थिर है कि न तो मेरी प्रीति को सुरक्षित रखने में समर्थ है और न छोड़ने में ही समर्थ है । हे सखि ! उस अव्यवस्थित चित्त वाले पति से मुझे कार्य नहीं है । क्या समनस्क स्त्री पुरुषों के द्वारा मानिता—मानवत्ता—मान से सहितपना मानिता—स्वीकृत नहीं है ? अर्थात् स्वीकृत है । इस प्रकार के वचन कहने वाली कोई अन्य स्त्री पति के वहां आने पर भी अन्य के बहाने हँसने लगी थी परन्तु उसने धीरता को नहीं छोड़ा था ।।१५८–१६०।।

आप अन्धे होने पर भी उद्देश मात्र से किसी तरह इतनी भूमि तक—इतने दूर तक आये हैं ऐसा एक स्त्री ने नाम भूलकर कहा ।।१६१।। अधिक दूर कैसे आ गये ? यह आपका भीरुपन क्या है ? उत्तर क्यों नहीं देते ? क्या मुनिव्रत—मौनव्रत ले रक्खा है ।।१६२।। आपका मन तो दूसरे की ओर लग रहा है, जान पड़ता है यहां आप इन मित्रों के द्वारा लाये गये हैं । जो प्रेम दूसरे की प्रार्थना से

---

१ प्रतारिता २ ज्ञातुमिच्छति ३ निर्वाणं पक्षे सुखम् ४ मानवत्ता ५ स्वीकृता ६ हास्यं चकार ७ न जहाति स्म 'ओहाक् त्यागे' इत्यस्य लुङिरूपम् ८ भीरुता ।

इत्युदारमुदीर्यैका वाणीं वासरखण्डिता । सखीवाक्योपरोधेन भूयः प्रत्यग्रहीत्प्रियम् ॥१६४॥
इति दंपतिलोकेन प्रस्तुतान्योन्यसंगमाम् । अतिवाह्य निशां नाथः प्रतस्थे मागधं प्रति ॥१६५॥
वेदिकां [1]बलसंपातैः पातयन् सौरसैन्धवीम्[2] । प्रयाणैः प्रमितैः प्रापदुप[3]कण्ठं महोदधेः ॥१६६॥
यावद्वेलावनोपान्ते नाधितिष्ठन्ति सैनिकाः । तावत्प्रत्युद्ययौ नाथं [4]मागधः सह वेलया ॥१६७॥
स विस्मापयमानस्तत्सैन्यं सेनासमन्वितः । राजद्वारं समासाद्य [5]द्वारस्थाय न्यवेदयत् ॥१६८॥
भूपान्दर्शयमानः स प्राप्य संसद्गतं ततः । दौवारिकः प्रणम्येति राजराजं[6] व्यजिज्ञपत् ॥१६९॥
कृच्छ्रेण वशमानायि यः पुरा भरतादिभिः । सोऽग्रद्वारं समासाद्य मागधो [7]मागधायते ॥१७०॥
कस्त्वां दिदृक्षमाणस्य प्रस्तावोऽस्य भविष्यति । कदा देवेति विज्ञाप्य व्यरंसीद् द्वारपालकः ॥१७१॥
किञ्चित्कालमिवान्योक्त्या तिष्ठन्सभ्यैः समं विभुः । प्रवेशयैनमित्याह भूयस्तेन प्रचोदितः ॥१७२॥
स वाक्यानन्तरं भर्तुर्गत्वा मागधमादृतः । प्रावेशयत्प्रहृष्यन्तमचिरात्प्राप्तदर्शनात् ॥१७३॥

होता है वह कितनी देर तक स्थिर रहता है ? अर्थात् बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता है । इसप्रकार उदारता पूर्वक वाणी कह कर किसी एक वासरखण्डिता ने सखी वाक्य के अनुरोध से पति को फिर से स्वीकृत कर लिया ॥१६३-१६४॥ इसप्रकार स्त्री पुरुषों के द्वारा जहां परस्पर का संगम प्रारम्भ किया गया था ऐसी रात्रि को व्यतीत कर शान्ति जिनेन्द्र ने मगध देश की ओर प्रस्थान किया ॥१६५॥ सेना के आक्रमण से गङ्गा नदी की वेदिका को गिराते हुए शान्ति जिनेन्द्र कुछ ही पड़ावों के द्वारा महासागर के समीप जा पहुंचे ॥१६६॥

जब तक सैनिक वेलावन के समीप नहीं ठहरते हैं तब तक मागध देव वेला—जोरदार लहर के साथ शान्ति प्रभु की अगवानी के लिये आ गया ॥१६७॥ शान्ति जिनेन्द्र की सेना को आश्चर्य चकित करते हुए उस मागधदेव ने सेना सहित राजद्वार को प्राप्त कर द्वारपाल से निवेदन किया—अपने आने की सूचना दी ॥१६८॥ तदनन्तर राजाओं को दर्शन कराता हुआ वह द्वारपाल सभा में स्थित राजाधिराज शान्ति जिनेन्द्र के पास पहुंचा और प्रणाम कर इस प्रकार कहने लगा ॥१६९॥ जो पहले भरत आदि के द्वारा बड़ी कठिनाई से वश मे किया गया था वह मागध देव अग्रिम द्वार पर आकर चारण के समान आचरण कर रहा है ॥१७०॥ वह आपके दर्शन करना चाहता है अतः हे देव ! उसके लिये कब कौन अवसर दिया जायगा, इतना निवेदन कर द्वारपाल चुप हो गया ॥१७१॥ कुछ समय तक तो प्रभु सभासदों के साथ अन्य वार्तालाप करते हुए बैठे रहे । पश्चात् उन्होंने द्वारपाल को आज्ञा दी कि इसे प्रविष्ट कराओ । शान्ति जिनेन्द्र से प्रेरित हुआ द्वारपाल उनके कहने के अनन्तर ही बड़े आदर से मागध देव को भीतर ले गया । शीघ्र ही दर्शन प्राप्त हो जाने से मागध देव हर्षित हो रहा था ॥१७२-७३॥ जो प्रत्येक द्वार पर नमस्कार करके जा रहा था, सब ओर रत्नमयी वृष्टि

---

१ सेनाक्रमणैः २ सुरसिन्धोः इयं सौरसैन्धवी ताम् उभयपदवृद्धिः गङ्गासम्बन्धिनीम् ३ समीपं ४ मागधदेवः ५ द्वारपालाय ६ शान्तिजिनेन्द्रं ७ स्तुतिपाठक इवाचरति ।

¹नामं नामं प्रतिद्वारं ²क्षेपं क्षेपं समन्ततः । वृष्टिं रत्नमयीं भूपैः प्रेक्षितः कौतुकोत्थितैः ॥१७४॥
आनर्च स सभां प्राप्य ³प्राभवीं पादपीठिकाम् । वर्धयन्मुकुटालोकैर्घृष्टां भूपालमौलिभिः ॥१७५॥
यद्देयं चक्रवर्तिभ्यः क्लृप्तमभ्यधिकं ततः । वितीर्येति जगन्नाथं ⁴प्राचीनाथो व्यजिज्ञपत् ॥१७६॥
भवदागमनस्यास्य चक्रोत्पत्तिर्न कारणम् । अवैमि सुकृतं हेतुं मामकीनं महोदयम् ॥१७७॥
अभूदतीतसम्राजां प्रस्थानेन ⁵रजस्वला । सेयं तवोपयानेन प्राची दिक्पावनीकृता ॥१७८॥
अवदातं पुराकर्म प्रजाभिः किमकारि तत् । अपि लोकद्वये भर्ता येनावापि भवान्पतिः ॥१७९॥
पञ्चमोऽप्यनुभावेन ज्येष्ठस्त्वमसि चक्रिणाम् । भूतमेकं⁶ तवान्यच्च भावि चक्रं यतः प्रभोः ॥१८०॥
आचक्षे तव लोकेश बहुधापि प्रियं वदन् । न ⁷मृषोद्यो जनो जातु यतोऽनन्तगुणो भवान् ॥१८१॥
इति प्रेयो⁸ निगद्योच्चैर्निषेव्य सुचिरं विभुम् । विसृष्टस्तेन सम्मान्य स्वावासं मागधोऽगमत् ॥१८२॥
वेलावनोपभोगेन तोषिताशेषसैनिकः । ततोऽनुसागरं⁹ नाथः प्रतस्थे दक्षिणां दिशम् ॥१८३॥

करता जाता था और कौतुक से खड़े हुए राजा लोग जिसे देख रहे थे ऐसे मागधदेव ने सभा में पहुंच कर राजाओं के मुकुटों से घिसी हुई प्रभु की पादपीठिका को मुकुटों के आलोक से बढ़ाते हुए उसकी पूजा की ।।१७४-१७५।। चक्रवर्तियों के लिये जो कुछ देने योग्य निश्चित है उससे अधिक देकर मागध देव ने जगत्पति से इस प्रकार कहा ।।१७६।।

आपके इस आगमन का कारण चक्र की उत्पत्ति नहीं है । मैं तो महान् अभ्युदय से सहित अपने पुण्य को ही कारण मानता हूं ।।१७७।। अतीत चक्रवर्तियों के प्रस्थान से यह पूर्व दिशा रजस्वला—धूलिधूसरित (पक्ष में ऋतु धर्म से युक्त) हो गयी थी सो आपके शुभागमन से पवित्र हो गयी है ।।१७८।। प्रजाओं ने पहले दोनों लोकों में कौन पुण्य कर्म किया था जिससे उसने आप जैसे स्वामी को प्राप्त किया ।।१७९।। यद्यपि आप चक्रवर्तियों में पञ्चम हैं तो भी प्रभाव से प्रथम चक्रवर्ती हैं क्योंकि आप प्रभु का एक चक्र तो यह हो चुका है, दूसरा चक्र (धर्म चक्र) आगे होगा ।।१८०।। हे लोकेश ! आपके विषय में कोई कितना ही अधिक प्रिय क्यों न बोले परन्तु वह कभी असत्यवादी नहीं होता क्योंकि आप अनन्त गुणों से सहित हैं ।।१८१।। इस प्रकार उत्कृष्ट प्रिय वचन कह कर तथा बहुत काल तक प्रभु की सेवा कर प्रभु के द्वारा सन्मान पूर्वक विदा को प्राप्त हुआ मागधदेव अपने निवास स्थान को चला गया ।।१८२।।

तदनन्तर वेलावन—तटवर्ती वन के उपभोग से जिनके समस्त सैनिक संतुष्ट थे ऐसे प्रभु ने समुद्र के किनारे किनारे दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया ।।१८३।। निश्चय से मेघों को जीतने

---

१ नत्वा नत्वा २ क्षिप्त्वा क्षिप्त्वा ३ प्रभोरियं प्राभवी ताम् ४ मागधदेवः ५ धूलियुक्ता, आर्तवयुक्ता च, ६ एकं चक्रं चक्रवर्तिचक्रं भूतं समुत्पन्नं, अन्यत् चक्रं धर्मचक्रं भावि भविष्यत् ७ असत्यवादी ८ प्रियतरम् ९ सागरस्य तटेन ।

करिणां [1]वैजयन्तीभिर्वै[2] [3]जयन्तीभिरम्बुदान् । वैजयन्तं[4] चमूः प्रापद् द्वारं [5]लावणसैन्धवम् ।।१८४।।
परया संपदाऽभ्येत्य धरां वरतनुः प्रभोः । अवितायर्चितिं[6] कृत्वा यथोक्तादधिकं करम् ।।१८५।।
अनीनमत्ततोऽन्वब्धि[7] प्राप्य [8]प्राचेतसीं दिशम् । दूरादेव प्रभासं[9] च [10]प्रभासंचयभासुरम् ।।१८६।।
प्रमोदाद् वसतीः काश्चिदनुयान्तं विसर्ज्य तम् । [11]अनुकूलं ततः सिन्धोर[12]नुकूलं समापतत् ।।१८७।।
संप्राप्य विजयार्धस्य तद्बलं वनवेदिकाम् । तस्या मनोरमोपान्तं तोरणद्वारमावसत् ।।१८८।।
विजयार्द्धकुमारेण दत्तार्घादिकसत्क्रियः । ततो निवृत्य संप्रापत् स तमिस्रागुहामुखम् ।।१८९।।
तत्रानन्दभरव्यग्रः कृतमालाभिधः सुरः । स्वहस्तकृतमालाभिरानर्च विभुमादृतः ।।१९०।।
गुहामुखं समुद्घाट्य सेनापतिरनेहसा[13] । विधेयं पश्चिमं खण्डं विधायारान्न्यवर्तत ।।१९१।।
प्रातिष्ठत ततो नाथः शान्तोष्मणि गुहामुखे । उत्तरं भरतं जेतुं प्रतापानतमप्यलम् ।।१९२।।
उदंशुद्वादशामित्यकाकिण्या ब्रध्न[14]मण्डलम् । तमो व्यपोहयामास सेनानाथो गुहोदरात् ।।१९३।।
[15]धुनीं निमग्नसलिलां तत्रोन्मग्नजलामपि । सेनामतीतरत्तक्ष्णा तत्क्षणाद्बद्धसंक्रमः ।।१९४।।

वाली हाथियों की पताकाओं से उपलक्षित वह सेना लवण समुद्र के वैजयन्त द्वार को प्राप्त हुई ।।१८४।। वरतनु नामक देव ने बहुत भारी संपदा के साथ प्रभु की भूमि के सम्मुख आकर उनकी पूजा की और यथोक्त कर से अधिक कर दिया ।।१८५।। तदनन्तर उन्होने समुद्र के किनारे किनारे पश्चिम दिशा में जा कर प्रभा के समूह से देदीप्यमान प्रभास नामक देव को दूर से ही नम्रीभूत किया ।।१८६।। हर्ष से कितने ही पड़ाव तक साथ आने वाले उस अनुकूल—अनुगामी देव को विदा कर समुद्र के किनारे चलती हुई प्रभु की सेना विजयार्ध की वनवेदिका को प्राप्त हुई और उसके मनोहर तोरण द्वार के समीप ठहर गयी ।।१८७-१८८।।

तदनन्तर विजयार्द्धकुमार देव के द्वारा जिन्हे अर्घादिक सत्कार दिया गया था ऐसे शान्ति प्रभु वहा से लौटकर तमिसा गुहा के द्वार पर आये ।।१८९।। वहां आनन्द के भार से व्यग्र कृतमाल नामक देव ने बड़े आदर के साथ अपने हाथ से निर्मित मालाओं के द्वारा प्रभु की पूजा की ।।१९०।। गुहामुख को खोल कर सेनापति कुछ समय के लिए पश्चिम खण्ड में चला गया और उस खण्ड को अनुकूल कर वहां से लौट आया ।।१९१।। तदनन्तर गुहामुख की गर्मी शान्त हो चुकने पर प्रभु ने प्रताप से नम्रीभूत होने पर भी उत्तर भारत को जीतने के लिये प्रस्थान किया ।।१९२।। जिस प्रकार सूर्य मण्डल अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार सेनापति ने प्रचण्ड किरणों से युक्त सूर्य के समान शोभावाले काकिणी रत्न के द्वारा गुहा के मध्य से अन्धकार को दूर हटा दिया ।।१९३।। स्थपति के द्वारा जिन्होंने तत्काल पुल की रचना करायी थी ऐसे प्रभु ने उस गुफा के भीतर मिलने

---

१ पताकाभिः २ वै-निश्चयेन ३ अम्बुदान् जयन्तीभिः पराभवन्तीभिः ४ एतन्नामधेयं ५ लवण सिन्धोरिदं लावणसैन्धवं ६ पूजाम् ७ अब्धिमनु अन्वब्धि सागरतटेन ८ पश्चिमाम् ९ प्रभासदेवं, १० प्रभायाः संचयेनसमूहेन भासुरं देदीप्यमानं ११ अनुकूलता युक्तं १२ अनुतटम् १३ कालेन १४ सूर्यमण्डलम् १५ नदीम् ।

विवरस्यान्तर[1]ध्वानं सा [2]सध्वानपताकिनी । प्रतीत्य तरसाध्यास्त रूप्याद्रेर्वनवेदिकाम् ।।१९५।।
[3]परागते पराजित्य पाश्चात्यं खण्डमोजसा । सेनानाथे जगन्नाथो मध्यमं खण्डमभ्यगात् ।।१९६।।
अथावर्तचिलाताख्यौ तत्रत्यनृपनायकौ । अभ्येत्यानमतां नाथं समं मेघमुखैः सुरैः ।।१९७।।
अकृत्वा शरसम्पातं[4] सहसा नतयोस्तयोः । अव्यक्तं शक्तिमाहात्म्यमभवच्छत्रचर्मणोः ।।१९८।।
व्यन्तरैर्मुदितैरग्रे किरद्भिर्वन्यमञ्जरीः । ऋषभाद्रिं प्रति प्रायाच्चक्री चक्रपुरस्सरः ।।१९९।।
तीर्थकृच्चक्रवर्ती च कौरव्यः शान्तिराख्यया । गोत्रेण काश्यपः सूनुरैराविश्वसेनयोः ।।२००।।
इति तत्र स्वहस्तेन लिलेख परमेश्वरः । पूर्वां पूर्वक्रमोपेतां यशो हि महतां धनम् ।।२०१।।
हिमवत्कूटदेवोऽपि गङ्गासिन्धुसमन्वितः । सिषेवे प्राप्य लोकेशं पार्वतीयैरुपायनैः ।।२०२।।
ततो निवृत्य रूप्याद्रि [5]निकषा वासितं विभुम् । उपासाञ्चक्रिरे प्राप्य प्रज्ञप्त्या खेचरेश्वराः ।।२०३।।
खण्डपातगुहाद्वारमुत्कील्य बलनायकः । आनमय्याचिरात्खण्डं प्राच्यं निववृते ततः ।।२०४।।
पूर्ववत्तद्बलं जिष्णोर्निर्गत्य विवरोदरात् । अपाचीं विजयार्द्धस्य वेदिकां प्रापदञ्जसा ।।२०५।।

वाली निमग्न सलिला और उन्मग्न सलिला नामक नदियों से सेना को पार उतारा था ।।१९४।। वह कोलाहल से युक्त सेना वेग से गुफा के भीतर का मार्ग पार कर विजयार्ध पर्वत की वनवेदिका में जा ठहरी ।।१९५।।

जब सेनापति प्रताप से पश्चिम खण्ड को पराजित कर वापिस लौट आया तब प्रभु मध्यम खण्ड की ओर गये ।।१९६।। तदनन्तर वहां के राजाओं के नायक आवर्त और चिलात ने मेघमुख देवों के साथ आ कर प्रभु को नमस्कार किया ।।१९७।। क्योंकि वे दोनों राजा बाण वर्षा न कर शीघ्र ही नम्रीभूत हो गये थे इसलिए छत्ररत्न तथा चर्मरत्न की शक्ति का माहात्म्य प्रकट नहीं हो सका ।।१९८।। जिनके आगे आगे चक्ररत्न चल रहा था ऐसे शान्ति प्रभु ने अग्रभाग में वन की पुष्प मञ्जरियों को बिखेरने वाले प्रसन्न व्यन्तरों के साथ ऋषभाचल की ओर प्रयाण किया ।।१९९।। तदनन्तर वहां 'ऐरा और विश्वसेन का पुत्र कौरव वंशी, काश्यप गोत्री शान्तिनाथ, तीर्थंकर और चक्रवर्ती हुआ' इस प्रकार राजराजेश्वर शान्ति जिनेन्द्र ने पूर्व परम्परा से चला आया प्रशस्ति लेख अपने हाथ से लिखा सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषों का धन यश ही होता है ।।२००—२०१।। गङ्गा सिन्धु देवियों से सहित हिमवत्कूट के देव ने भी आकर पर्वत सम्बन्धी उपहारों से शान्ति प्रभु की सेवा की ।।२०२।। वहां से लौटकर विजयार्ध पर्वत के निकट ठहरे हुए प्रभु के पास आकर विद्याधर राजाओं ने प्रज्ञप्ति नामक विद्या के द्वारा उनकी सेवा की ।।२०३।। सेनापति खण्डपातनामक गुफा के द्वार को खोलकर तथा शीघ्र ही पूर्वखण्ड को नम्रीभूत कर वहां से लौट आया ।।२०४।। तदनन्तर विजयी शान्ति जिनेन्द्र की वह सेना पहले के समान गुफा के मध्य से निकल कर अच्छी तरह विजयार्ध की दक्षिण वेदिका को प्राप्त हुई ।।२०५।। अखण्ड पराक्रम का धारक तथा अश्रान्त—न

---

१ अन्तर्मार्गं २ सशब्दसेना ३ प्रत्यावृत्ते सति, ४ बाणवृष्टि ५ विजयार्धस्य समीपे ।

प्रखण्डविक्रमो गत्वा पूर्वखण्डं बलाधिप: । [1]साधयित्वा न्यवर्तिष्ट वेगादश्रान्तसैनिक: ।।२०६।।
इति चक्रोपरोधेन विजित्य सकलां धराम् । कुरून्कुरूद्वह: प्रापत्प्रीत्या प्रोत्थापितध्वजान्[2] ।।२०७।।

शार्दूलविक्रीडितम्

स्वामी न: सकलां प्रसाध्य[3] वसुधामायात इत्यादरा-
दत्तार्घ: सुमनो[4]भवद्भिरभित: पौरै: पुराभ्युत्थितै: ।
[5]राजेन्द्रो नगरं विवेश परया भूत्या सुरैरन्वित:
प्रासादात्प्रमदाजनै: समुदितैरालोक्यमानोदय: ।।२०८।।
मातुर्गर्भगतेन येन सकलं लोकत्रयं नामितं
तस्यैवं कियती परापि नितरां साम्राज्यसंपत्प्रभो: ।
विज्ञायेति समग्रभव्यजनताभ्युद्धारकारी जनै-
श्छद्मस्थोऽपि स भाविभिर्जिनगुणैर्वन्दारुभिस्तुष्टुवे ।।२०९।।

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे दिग्विजयवर्णनो नाम
* चतुर्दश: सर्ग: *

थकने वाले सैनिकों से सहित सेनापति पूर्व खण्ड में गया और उसे वश कर शीघ्र ही लौट आया ।।२०६।। इस प्रकार चक्ररत्न के उपरोध से समस्त पृथिवी को जीतकर शान्ति जिनेन्द्र प्रीतिपूर्वक फहरायी हुई ध्वजाओं से युक्त कुरुदेश आ पहुँचे ।।२०७।।

हमारे स्वामी समस्त पृथिवी को जीतकर आये हैं, इसलिये पहले से संमुख आ कर सब ओर खड़े हुए प्रसन्न चित्त नागरिक जनों ने जिन्हें अर्घ दिया था ऐसे राजाधिराज शान्ति जिनेन्द्र ने देवों सहित बड़ी विभूति के साथ नगर मे प्रवेश किया। उस समय महलों पर एकत्रित हुई स्त्रियां उनके अभ्युदय को देख रही थीं ।।२०८।। जिन्होंने माता के गर्भ में आते ही समस्त तीनों लोकों को नम्रीभूत किया था उन प्रभु के लिए इस प्रकार की यह चक्रवर्ती की संपदा अत्यन्त उत्कृष्ट होने पर भी कितनी है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है ऐसा जानकर वन्दनाशील भव्यजनों ने समस्त भव्यजनों का उद्धार करने वाले उन शान्ति प्रभु की वर्तमान में छद्मस्थ होने पर भी आगे प्रकट होने वाले अरहन्त के गुणों की कल्पना कर स्तुति की थी ।।२०९।।

इस प्रकार असग महाकवि द्वारा विरचित शान्ति पुराण में दिग्विजय का वर्णन करने वाला चौदहवां सर्ग समाप्त हुआ ।।१४।।

---

१ वशीकृत्य २ उन्नमितपताकान् ३ वशीकृत्य ४ शुचित्तैर्भवद्भि: ५ चक्रवर्ती शांति जिनेन्द्र: ।

पञ्चदशः सर्गः

卐

अथानुभवतस्तस्य चक्रवर्तिसुखामृतम् । भर्तुः [1]शरत्सहस्राणि व्यतीयुः पञ्चविंशतिः ।।१।।
अन्यदा मतिमालम्ब्य समालम्बितसत्पथाम् । मोक्षमाणो निवृत्य स्वं संसृतेरित्यचिन्तयत् ।।२।।
अहो नु बालिशस्येव हिताहितविदोऽपि मे । व्यर्थं महीयसानापि कालेन सुखलिप्सया ।।३।।
स लोकान्तिकसंघेन ततो लोकैकनायकः । अनुजिज्ञासता बोधिं प्रापे प्रस्ताववेदिना ।।४।।
भक्त्या नत्वा तमीशानं स देवयमिनां[2] गणः । ऊचे [3]सरस्वतीं[4]मर्थ्यामित्थं [5]सारस्वतादिक ।।५।।
[6]पारिनिःक्रमणस्यायं कालस्ते नाथ वर्तते । अप्रबुद्धो हि संदिग्धे स्थेयो भव्यात्मनां भवान् ।।६।।

पञ्चदश सर्ग

अथानन्तर चक्रवर्ती के सुख रूपी अमृत का उपभोग करते हुए उन शान्तिप्रभु के पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हो गये ।।१।। किसी अन्य समय समीचीन मार्ग का अवलम्बन करने वाली बुद्धि का आलम्बन कर वे शान्ति जिनेन्द्र संसार से निवृत्त हो अपने आप को मुक्त करने की इच्छा से इस प्रकार विचार करने लगे ।।२।। अहो, बड़े आश्चर्य की बात है कि हित अहित का ज्ञाता होने पर भी अज्ञानी जन के समान मेरा बहुत बडा काल सुख प्राप्त करने की इच्छा से व्यर्थ ही व्यतीत हो गया ।।३।। तदनन्तर लोक के अद्वितीय स्वामी शान्ति जिनेन्द्र, अवसर के ज्ञाता तथा विरक्ति के समर्थक लौकान्तिकदेवों के समूह द्वारा बोधि—रत्नत्रय को प्राप्त हुए ।।४।। सारस्वतादिक देवर्षियों के समूह ने उन प्रभु को भक्ति पूर्वक नमस्कार कर इस प्रकार की अर्थपूर्ण वाणी कही ।।५।।

हे नाथ ! यह आपका गृह परित्याग का काल है क्योंकि अज्ञानी जीव ही संशय करता है आप तो भव्यजीवों में अग्रेसर हैं ।।६।। इस प्रकार प्रभु से इतनी वाणी कह कर लौकान्तिक देवों का

---

१ वर्षसहस्राणि २ देवर्षीणां-लौकान्तिकदेवानाम् ३ वाणीम् ४ अर्थादनपेताम् ५ 'सारस्वतादित्य वह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च' इतिलौकान्तिक देव समूहः ६ दीक्षा धारणस्य ।

एवमेतावतीं वाचमुदीर्यावसितं विभोः । लोकान्तिकसमाजेन वाचाला न हि साधवः ॥७॥
इति तद्वचसा तेन स्वबोधेन च भूयसा । मुमुक्षुरभवद्भर्ता प्रव्रज्यायां[1] समुत्सुकः ॥८॥
लौकान्तिकान्विसर्ज्येशो [2]लोकान्तस्थयशोनिधिः । सूनौ नारायणाख्ये स्वां वंशलक्ष्मीं समर्पयत् ॥९॥
साम्राज्यं तादृशं तस्मिञ्जिहासौ[3] बालिशैरपि । तपस्यैव हिता पुंसां न लक्ष्मीरित्यमन्यत ॥१०॥
ततश्चतुःप्रकाराणां देवानां भूरिसंपदा । अनेकविधवाहानां सहसापूरि तत्पुरम् ॥११॥
निकीर्णमुपशल्येषु विमानैर्विबुधैः[4] परम् । भूमिस्थमपि नाकस्य तन्मध्यस्थमिवाभवत् ॥१२॥
शङ्खदुन्दुभिनिःस्वानप्रध्वानितदिगन्तरम् । सुरराजन्यपौरौघैरभ्यषेचि क्रमात्प्रभुः ॥१३॥
कृतावतरणः पूर्वं कुशदूर्वायवाक्षतैः । विधृतोद्गमनीयोऽगात्सभां शक्रपुरःसरः ॥१४॥
चन्दनेन समालभ्य स्वयशोराशिशोचिषा । शरच्चन्द्रांशुनीकाशे दुकूले पर्यधान्नवे ॥१५॥
मुक्तालंकारसंपन्नो धृतकुब्जकशेखरः । स शोभां कामपि प्रापत्तपोलक्ष्मीवधूवरः ॥१६॥
सौभाग्यभङ्गसंभूतत्रपयेव तिरोदधे । तपस्यामुत्सुके तस्मिन्प्रभौ साम्राज्यपद्मया ॥१७॥

समूह चुप हो गया सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन वाचाल—व्यर्थ बहुत बोलने वाले नहीं होते हैं ॥७॥ इस प्रकार मोक्ष के इच्छुक शान्तिप्रभु लौकान्तिक देवों के उस वचन से तथा बहुत भारी आत्मज्ञान से दीक्षा लेने के लिये उत्सुक हो गये ॥८॥ जिनकी कीर्तिरूपी निधि लोक के अन्त तक विद्यमान थी ऐसे स्वामी शान्तिनाथ ने लौकान्तिक देवों को विदा कर नारायण नामक पुत्र पर अपनी वंश लक्ष्मी को समर्पित किया अर्थात् राज्य पालन का भार नारायण नामक पुत्र के लिये सौंपा ॥९॥ जब शान्ति जिनेन्द्र उस प्रकार के साम्राज्य को छोड़ने की इच्छा करने लगे तब अज्ञानी जनों ने भी यह मान लिया कि तपस्या ही प्राणियों के लिये हितकारी है लक्ष्मी नही ॥१०॥

तदनन्तर अनेक प्रकार के वाहनों से सहित चार प्रकार के देवों की बहुत भारी संपदा से वह नगर शीघ्र ही परिपूर्ण हो गया ॥११॥ समीपवर्ती प्रदेशों में देवों के विमानों से अत्यन्त भरा हुआ वह नगर भूमि पर स्थित होता हुआ भी स्वर्ग के मध्य में स्थित के समान हो गया था ॥१२॥ शङ्ख और दुन्दुभियों के शब्दों से दिशाओं का अन्तराल जिस तरह शब्दायमान हो उस तरह देवों, राजाओं और नगर वासियों के समूह ने क्रम से प्रभु का अभिषेक किया ॥१३॥

कुश, दूर्वा, जौ और अक्षतों के द्वारा जिनकी पहले आरती की गयी थी, जिन्होंने उज्ज्वल वेष धारण किया था तथा इन्द्र जिनके आगे आगे चल रहा था ऐसे शान्ति प्रभु सभा में गये ॥१४॥ अपनी यशोराशि के समान शुक्ल चन्दन के द्वारा लेप लगा कर उन्होंने शरच्चन्द्र की किरणों के समान दो नवीन वस्त्र धारण किये ॥१५॥ जो मोतियों के आभूषणों से सहित थे, जिन्होंने छोटा सेहरा धारण किया था तथा जो तपोलक्ष्मी रूपी वधू के वर थे ऐसे शान्तिप्रभु कोई अनिर्वचनीय शोभा को प्राप्त हुए ॥१६॥ वे प्रभु जब तपस्या के लिये उत्सुक हुए तब सौभाग्य भङ्ग से उत्पन्न लज्जा के कारण ही मानों साम्राज्य लक्ष्मी तिरोहित हो गयी—कहीं जा छिपी ॥१७॥ जिनका मुख ऊपर की ओर था ऐसे

---

१ दीक्षायां २ लोकान्तस्थो यशोविधिर्यस्य सः ३ हातुमिच्छौ ४ विबुधानां सम्बन्धिभिः ।

निर्गत्य सदसः स्वैरं चरणाभ्यामुदङ्मुखः । स्वामी भुवमिवास्प्रष्टुं [1]पञ्चषाणि पदान्यगात् ॥१८॥
इति व्यवसिते तस्मिन्हन्तुमन्तर्द्विषां गणम् । आनन्देन जगत्पूर्णं रराज सचराचरम् ॥१९॥
नृत्तमय्यो दिशः सर्वा पुष्पवृष्टिमयं वियत् । सृष्टिः सुरमयीवासीत्तूर्यध्वनिमयी मही ॥२०॥
आरुरोह ततो नाथः शिबिकां [2]शिवकीर्तनः । पश्चादुन्नमितां किञ्चित्सौधर्माद्यैः सुरेश्वरैः ॥२१॥
तस्य चक्रायुधः पश्चान्निरैद्[3] दृष्ट्या समन्वितः । मुमुक्षुः सुरसङ्घेन वीक्ष्यमाणः सकौतुकम् ॥२२॥
देवैरारूढयानेन कुर्वंस्तेजोमयं वियत् । सहस्राम्रवनं प्रापद्गीर्वाणैः सर्वतो वृतम् ॥२३॥
स नन्दिद्रुतलं नाथस्तत्रेन्द्रैरवतारितः । अध्यास्योदङ्मुखः सिद्धान्ववन्दे शुद्धया धिया ॥२४॥
ज्येष्ठासितचतुर्दश्यां भरणिस्थे निशाकरे । अपराह्णे प्रवव्राज [4]कृतषष्ठोऽभिनिष्ठितः ॥२५॥
मध्येपटलिकं न्यस्य भर्तुः केशानलिद्युतीन् । वासवः सुमनोवासान्निदधौ क्षीरवारिधौ ॥२६॥
सहस्रसम्मितैर्भूपैर्भव्यताप्रेरितात्मभिः । सार्धं शमपरो दक्षां दीक्षां चक्रायुधोऽग्रहीत् ॥२७॥
[5]प्रव्रज्यानन्तरोद्भूतसप्तलब्धिविभूषितः । स मनःपर्ययं नाथः संप्रापदवि[6]पर्ययम् ॥२८॥

शान्तिप्रभु सभा से निकल कर इच्छानुसार चरणों के द्वारा पृथिवी का स्पर्श करने के लिये ही मानों पांच छह डग पैदल चले थे ॥१८॥ इस प्रकार जब वे अन्तःशत्रुओं के समूह को नष्ट करने के लिये उद्यत हुए तब चराचर सहित सम्पूर्ण जगत् आनन्द से सुशोभित होने लगा ॥१९॥ उस समय सब दिशाएं नृत्यमय हो गयी थीं, आकाश पुष्पवृष्टिमय हो गया था, सृष्टि देवमयी हो गयी थी और पृथिवी वादित्रों के शब्द से तन्मय हो गयी थी ॥२०॥

तदनन्तर प्रशस्त यश से युक्त शान्तिनाथ उस पालकी पर आरूढ हुए जो सौधर्म आदि इन्द्रों के द्वारा पीछे की ओर से कुछ ऊपर की ओर उठायी गयी थी ॥२१॥ जो सम्यग्दर्शन से सहित था, मोक्ष का इच्छुक था और देव समूह जिसे कौतुक से देख रहा था ऐसा चक्रायुध शान्ति जिनेन्द्र के पीछे ही घर से निकल पडा ॥२२॥ देवों के द्वारा धारण की हुई पालकी से आकाश को तेजोमय करते हुए शान्ति जिनेन्द्र उस सहस्राम्र वन में पहुंचे जो देवों से सब ओर घिरा हुआ था ॥२३॥ वहां इन्द्रों के द्वारा उतारे हुए शान्ति प्रभु ने नन्दीवृक्ष के नीचे बैठकर तथा ऊपर की ओर मुख कर शुद्ध बुद्धि से सिद्धों को नमस्कार किया ॥२४॥ उन्होने ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन जब कि चन्द्रमा भरणी नक्षत्र पर स्थित था अपराह्ण समय दो दिन के उपवास का नियम लेकर निष्ठा पूर्वक दीक्षा धारण की ॥२५॥ इन्द्र ने भ्रमर के समान काले तथा फूलों से सुवासित भगवान् के केशों को पिटारे में रख कर क्षीर समुद्र में क्षेप दिया ॥२६॥ जिनकी आत्मा भव्यत्व भाव से प्रेरित हो रही थी ऐसे एक हजार राजाओं के साथ प्रशमभाव में तत्पर चक्रायुध ने (कर्म शत्रुओं के नष्ट करने में) समर्थ दीक्षा ग्रहण की ॥२७॥

जो दीक्षा के अनन्तर प्रकट हुई सात ऋद्धियों से विभूषित थे ऐसे उन शान्तिनाथ स्वामी ने सम्यक् मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त किया । भावार्थ—उन्हें दीक्षा लेते ही सात ऋद्धियों के साथ मनःपर्यय

---

१ पञ्च षड्वा इति पञ्चषाणि २ प्रशस्तयशाः ३ निरगच्छत् ४ कृतदिनद्वयोपवासः ५ दीक्षानन्तर प्रकटित बुद्धिविक्रियादिसप्तर्द्धिविभूषितः ६ सम्यग् ।

अपरेद्यु र्यथाकालं [1]कार्यस्थित्यर्थमर्थवित् । मन्दिराख्यं पुरं स्वामी प्राविशच्चारुमन्दिरम् ॥२९॥
सुमित्रपरिवारित्वात्सुमित्रो नाम तत्पतिः । श्रद्धादिगुणसम्पन्नो विधिना तमभोजयत् ॥३०॥
तस्य प्रपञ्चयामासुः पञ्चाश्चर्यं महीभुजः । सुराः सुरसरिद्वारिपरिशुद्धयशोनिधेः ॥३१॥
संयमेन विशुद्धात्मा सामायिकविशुद्धिना । अतप्यत तपो नाथः परं षोडश वत्सरान् ॥३२॥
सहस्राम्रवने शुद्धां शिलां नन्दितरोरधः । अध्यास्य शुक्लमध्यासीद्घातुकं [2]घातिकर्मणाम् ॥३३॥
दशम्यामपराह्णेऽथ पौषे मासि समासदत् । भरण्यां केवलज्ञानं लोकालोकप्रकाशकम् ॥३४॥
अनन्तज्ञानदृग्वीर्यसुखैरन्तः समन्वितः । अनन्तज्योतिरित्यासीदनन्तचतुराननः ॥३५॥
कृतार्थोऽपि परार्थाय प्रवृत्ताभ्युदयस्थितिः । स्वान्तस्थाखिलभावोऽपि व्यरुचन्निः परिग्रहः ॥३६॥
घनप्रभा प्रभामूर्तिरालोक इति मूर्तिभिः । तिसृभिस्त्रिजगन्नाथस्तवैकोऽप्यत्यभासत ॥३७॥
चतुर्गोपुरसंपन्नं रत्नशालत्रयान्वितम् । कामदं कामिनां सेव्यैर्बाह्यैरुद्यानमण्डलैः ॥३८॥

ज्ञान प्राप्त हो गया ॥२८॥ अन्य दिन प्रयोजन के ज्ञाता भगवान् ने समयानुसार आहार प्राप्ति के लिये सुन्दर भवनों से सहित मन्दिर नामक नगर में प्रवेश किया ॥२९॥ सुमित्र—अच्छे मित्र रूप परिवार से युक्त होने के कारण जो सुमित्र नामका धारक था तथा श्रद्धा आदि गुणों से संपन्न था ऐसे वहां के राजा ने उन्हे विधि पूर्वक आहार कराया ॥३०॥ गङ्गा के जल के समान निर्मल यश के भाण्डार स्वरूप उस राजा के देवों ने पञ्चाश्चर्य विस्तृत किये ॥३१॥ सामायिक की विशुद्धि से सहित संयम के द्वारा जिनकी आत्मा अत्यन्त विशुद्ध थी ऐसे उन भगवान् ने सोलह वर्ष तक उत्कृष्ट तप तपा ॥३२॥

तदनन्तर सहस्राम्रवन मे नन्दिवृक्ष के नीचे शुद्ध शिला पर आरूढ होकर उन्होंने घातिया कर्मों का क्षय करने वाले शुक्ल ध्यान को धारण किया ॥३३॥ पश्चात् पौष शुक्ल दशमी के दिन अपराह्ण काल में भरणी नक्षत्र के रहते हुए उन्होंने लोका—लोक को प्रकाशित करने वाला केवल-ज्ञान प्राप्त किया ॥३४॥ अन्तरङ्ग में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त वीर्य से सहित वे भगवान् अनन्तज्योति और अनन्त चतुरानन इस नाम से प्रसिद्ध हुए ॥३५॥ जो कृतकृत्य होकर भी पर प्रयोजन के लिए प्रवृत्त अभ्युदय की स्थिति से सहित थे—ज्ञान कल्याणक महोत्सव से युक्त थे और जो समस्तपदार्थों को हृदय में धारण करते हुए भी परिग्रह से रहित थे ऐसे वे शान्ति जिनेन्द्र अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥३६॥ उस समय वे त्रिलोकीनाथ एक होकर भी घनप्रभा, प्रभामूर्ति और आलोक इन तीन मूर्तियों से अत्यधिक सुशोभित थे। भावार्थ—उनका दर्शन करने वाले को पहले अनुभव होता था कि भगवान् के शरीर से सघन प्रभा प्रकट हो रही है, पश्चात् अनुभव होता था कि प्रभा ही उनका शरीर है और अन्त में ऐसा जान पड़ता था कि एक प्रकाश ही है इस प्रकार एक होने पर भी वे तीन शरीरों से युक्त प्रतीत होते थे ॥३७॥

जो चार गोपुरों से सहित था, रत्नमय तीन कोटों मे युक्त था, सेवनीय बाह्य उपवनों के समूह से कामी मनुष्यों को काम का देने वाला था, भीतर कामशाला आदि से युक्त तथा मनुष्य देव

---

१ आहारार्थम् २ ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायाणां ।

कान्तमन्तर्वनैरन्तः कामशालाविशालिभिः । नृसुरासुरसंभोगसंविभागोपशोभितैः ।।३९।।
चतुरस्रश्रिया युक्तमपि वृत्तं समन्ततः । द्विनवक्रोशविस्तीर्णमप्याकीर्णत्रिविष्टपम् ।।४०।।
आसीत्त्रिलोकसाराविशताह्वयमनुत्तमम् । उत्तमं तस्य नाथस्य पुरन्दरकृतं पुरम् ।।४१।।

[चतुष्कलम्]

तस्मिन्गन्धकुटीसौधमध्यस्थं [1]हरिनिर्मितम् । [2]हरिविष्टरमध्यास्त प्राङ्मुखः परमेश्वरः ।।४२।।
तस्थयोजनविस्तीर्णं शाखामण्डलमण्डपम् । प्रादुरासीदशोक[3]द्रुर्विद्रु[4]मस्तबकानतः ।।४३।।
पुष्पवृष्टिर्दिवोऽपप्तत् कथं ते पुष्पकेतुता । इति निर्भर्त्सयन्तीव [5]मारं [6]मधुलिहां रुतैः ।।४४।।
त्रिच्छत्री[7]व्याजमादाय रत्नत्रयमिवामलम् । उपर्याविरभूद्भर्तुर्मुक्तिसोपानलीलया ।।४५।।
अयमेव त्रिलोकीशः [8]पुष्पकेतुजयोन्नतः । इतीव घोषयन्नुच्चैर्दध्वान दिवि दुन्दुभिः ।।४६।।
चतुःषष्टिर्बलक्षाणि[9] चामराण्यभितो विभुम् । यक्षाहीन्द्रधुतान्यूहुर्ज्योत्स्नाकल्लोलविभ्रमम् ।।४७।।
परावरान् भवान्भव्यो यस्मिन् स्वान् सप्त वीक्षते । तद्भामण्डलमत्युद्धमतीतज्योतिरुद्ययौ ।।४८।।
याने योजनविस्तीर्णं स्थाने क्षत्त्रयसंमितम् । धर्मचक्रं पुरो भर्तुः सुधर्माङ्कवदाबभौ ।।४९।।

और असुरों के संभोग कक्षों से सुशोभित वनों से सुन्दर था, चौकोर शोभा से युक्त होने पर भी जो सब ओर से गोल था (पक्ष में विविध शोभा से सहित होकर गोलाकार था), अठारह कोश विस्तृत होकर भी जिसमें तीनों लोक समाये हुए थे, जो त्रिलोकसार आदि सैकड़ों नामों से सहित था, जिससे उत्तम और दूसरा नहीं था, तथा जो इन्द्र के द्वारा निर्मित था ऐसा उन भगवान् का उत्कृष्ट नगर—समवसरण था ।।३८-४१।।

उस समवसरण में गन्धकुटी रूपी भवन के मध्य में स्थित जो इन्द्र निर्मित सिंहासन था उस पर शान्ति जिनेन्द्र पूर्वाभिमुख होकर विराजमान हुए ।।४२।। जो एक योजन विस्तृत शाखामण्डल रूप मण्डप को धारण कर रहा था तथा मूंगाओं के गुच्छों से नम्रीभूत था ऐसा अशोक वृक्ष प्रकट हुआ ।।४३।। आकाश से वह पुष्पवृष्टि पड़ रही थी जो भ्रमरों के शब्दों से कामदेव को मानों यह कहती हुई डांट रही थी कि हमारे रहते तेरा पुष्प केतु पन कैसे रह सकता है ? ।।४४।। भगवान् के ऊपर छत्रत्रय का बहाना लेकर मानों वह निर्मल रत्नत्रय प्रकट हुआ था जो मुक्ति की सीढ़ियों के समान जान पड़ता था ।।४५।। आकाश में दुन्दुभि शब्द कर रहा था मानों वह उच्च स्वर से इस प्रकार की घोषणा कर रहा था कि यह त्रिलोकीनाथ ही कामदेव पर विजय प्राप्त करने से सर्वोत्कृष्ट है ।।४६।। प्रभु के दोनों ओर यक्षेन्द्र और धरणेन्द्र के द्वारा ढोले गये चौसठ सफेद चमर चांदनी की लहरों की शोभा को धारण कर रहे थे ।।४७।। जिसमें भव्यजीव अपने आगे पीछे के सात भव देखते है वह अतिशय श्रेष्ठ अत्यधिक ज्योति सम्पन्न भामण्डल प्रकट हुआ ।।४८।। जो गमन काल में एक योजन

---

१ इन्द्रनिर्मितम् २ सिंहासनम् ३ अशोकवृक्षः ४ प्रवालगुच्छकावनतः ५ कामं ६ भ्रमराणां ७ त्रयाणां छत्राणां समाहारः त्रिछत्री तस्या व्याजं छलं ८ मदनविजयोन्नतः ९ धवलानि ।

पूर्वदक्षिणभागादिस्थित्यासीनं परीत्य तम् । द्वादश द्वादशाङ्गाभा गणा गणधरादिकाः ॥५०॥
[1]धर्मधरा गुणाधाराश्चक्रायुधपुरस्सराः । तं धर्मचक्रिणं नाथमुपासांचक्रिरे क्रमात् ॥५१॥
सुविशुद्धविकल्पोत्थसम्यक्त्वाकल्पशोभिताः । आनेमुः कल्पवासिन्यस्तं स्वसंकल्पसिद्धये ॥५२॥
तपःश्रियो यथा मूर्ताः क्षान्त्यादिगुणभूषणाः । [2]आर्याशयास्तमार्येशमार्यिकाः पर्युपासिरे ॥५३॥
ज्योतिर्लोकनिवासिन्यस्तत्त्वज्योतिषि सादराः । आसेदुरादरात्नाथमुप[3]नाथितमुक्तयः ॥५४॥
मुकुलीकृत हस्ताग्रपल्लवोत्तंसितालिकाः[4] । विस्मयात्तं नमन्ति स्म वानव्यन्तरयोषितः ॥५५॥
प्रासेवन्त नमस्कृत्य सौम्यमानसवृत्तयः । विशदीभूततद्भक्तिभावना [5]भावनाङ्गनाः ॥५६॥
विशुद्धिपरिणामेन प्रणम्रमणिमौलयः । उपास्थिषत भव्येशं भावना[6] भवहानये ॥५७॥
व्यन्तरा तं नमन्ति स्म शुद्धान्तःकरणक्रियाः । विमुक्तये विमुक्तेशं मुक्तालंकारसुन्दराः ॥५८॥

विस्तृत होता है और ठहरने के स्थान में तीन धनुष अर्थात् बारह हाथ विस्तृत रहता है ऐसा धर्मचक्र भगवान के आगे उत्तम धर्म के अङ्ग के समान सुशोभित हो रहा था ॥४९॥ विद्यमान भगवान् को प्रदक्षिणा रूप से घेर कर पूर्व दक्षिण भाग आदि के रूप में स्थित गणधर आदिक बारह गण थे जो द्वादशाङ्ग के समान जान पड़ते थे। भावार्थ—भगवान् शान्तिनाथ गन्ध कुटी के बीच में विद्यमान थे और उन्हें घेर कर प्रदक्षिणा रूप में बारह सभाएं बनी हुई थी जिनमें गणधर आदि बैठते थे ॥५०॥

गुणों के आधारभूत चक्रायुध आदि मुनि, धर्मचक्र से युक्त उन शान्ति प्रभु की क्रम से उपासना करते थे ॥५१॥ अत्यन्त विशुद्ध विकल्प से उत्पन्न सम्यग्दर्शन रूपी आभूषणों से सुशोभित कल्प वासिनी देवियां अपना संकल्प सिद्ध करने के लिए उन भगवान् को नमस्कार करती थीं ॥५२॥ जो मूर्तिधारिणी तपोलक्ष्मी के समान थीं तथा क्षमा आदि गुण ही जिनके आभूषण थे ऐसीं निर्मल अभिप्राय वालीं आर्यिकाएं आर्यजनों के स्वामी श्री शान्तिनाथ भगवान् की उपासना करती थी ॥५३॥ तदनन्तर जो तत्त्वज्ञान रूपी ज्योति में आदर भाव से सहित थीं तथा मुक्ति की याचना कर रही थीं ऐसी ज्योतिष लोक की निवासिनी देवियां आदरपूर्वक भगवान् के समीप बैठी थीं ॥५४॥ जिनके ललाट कुड्मलाकार हाथों के अग्रभाग रूपी पल्लवों से सुशोभित हैं अर्थात् जिन्होंने हाथ जोड़ कर ललाट से लगा रक्खे हैं ऐसी व्यन्तर देवाङ्गनाएं आश्चर्य से उन प्रभु को नमस्कार करती थीं ॥५५॥ जिनकी मनोवृत्ति सौम्य थी तथा जिनकी भगवद् विषयक भक्ति भावना अत्यन्त निर्मल थीं ऐसी भवनवासी देवाङ्गनाएं नमस्कार कर उन शान्ति जिनेन्द्र की सेवा कर रही थीं ॥५६॥ विशुद्धि रूप परिणामों से जिनके मणिमय मुकुट अत्यन्त नम्रीभूत हो रहे थे ऐसे भवनवासी देव संसार की हानि के लिए उन भव्यों के स्वामी शान्ति प्रभु के निकट स्थित थे अर्थात् उनकी उपासना कर रहे थे ॥५७॥ जिनके अन्तःकरण की क्रिया शुद्ध थी तथा जो मोतियों के अलंकार से सुन्दर थे ऐसे व्यन्तर देव मुक्ति प्राप्त करने के लिए उन विमुक्त जीवों के स्वामी शान्ति प्रभु को नमस्कार कर रहे थे ॥५८॥ जो अपनी देदीप्यमान प्रभारूपी माला को धारण कर रहे थे तथा जिन्हें तत्त्व विषयक रुचि

---

१ मुनयः २ उत्तमाभिप्रायाः ३ याचितमुक्तयः ४ ललाटाः ५ भवनवासिदेव्यः । ६ भवनवासिनो देवाः

ज्योतिषां पतयो भास्वत्स्वप्रभाभासभारिणः । संजाततत्त्वरुचयो निषेदुर्निकषा[1] विभुम् ॥५९॥
तद्वीक्ष्य कौतुकेनेव निश्चलाक्षा[2] दिवौकसः । सहस्राक्षादयस्तस्थुः समया[3] तं समानताः ॥६०॥
दानशीलोपवासेज्याक्रियाभिः प्रथितास्तदा । नमन्तस्तं विभान्ति स्म नृपा नारायणादयः ॥६१॥
त्यक्त्वा शाश्वतिकं वैरं तिर्यञ्चोऽञ्चितवृत्तयः । [4]हरीभाद्याः स्म सेवन्ते स्मरन्तः स्वं पुराभवम् ॥६२॥
एवं द्वादशवर्गीयैः परीतं परमेश्वरम् । ततः संक्रन्दनो धर्मं पृच्छति स्म कृताञ्जलिः ॥६३॥
ततः पृष्टस्य तेनेति भाषा प्रावर्तत प्रभोः । सर्वभाषात्मिका [5]सार्वी सर्वतत्त्वैकमातृका ॥६४॥
सम्यक्त्वज्ञानवृत्तानि धर्मं इत्यवगम्यताम् । सम्यक्त्वमथ तत्त्वार्थश्रद्धानमभिधीयते ॥६५॥
निसर्गाधिगमौ तस्य स्यातां हेतू सुनिश्चितौ । तत्र प्रशमसंवेगास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणम् ॥६६॥
जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरौ निर्जरा परा । अपवर्गा इति ज्ञेयास्तत्त्वार्थाः सप्त सूरिभिः ॥६७॥
चेतनालक्षणो जीवोऽजीवस्तल्लक्षणेतरः । कर्मणामागमद्वारमास्रवः परिकीर्तितः ॥६८॥
परस्परप्रदेशानुप्रवेशो जीवकर्मणोः । बन्धोऽप्यास्रवसंरोधलक्षणः संवरोऽपरः ॥६९॥

उत्पन्न हुई थी ऐसे ज्योतिषी देवों के स्वामी भगवान् के समीप बैठे थे ॥५९॥ यह देख कौतुक से ही मानों जिनके नेत्र निश्चल हो गये थे ऐसे सौधर्मेन्द्र आदि कल्पवासी देव नम्रीभूत होकर भगवान् के निकट बैठे थे ॥६०॥ जो उस समय दान शील उपवास तथा पूजा आदि की क्रियाओं से प्रसिद्ध थे ऐसे नारायण आदि राजा उन्हें नमस्कार करते हुए सुशोभित हो रहे थे ॥६१॥ उत्तम मनोवृत्ति से युक्त सिंह तथा हाथी आदि तिर्यञ्च शाश्वतिक वैर को छोडकर अपने पूर्वभव का स्मरण करते हुए उन भगवान् की सेवा कर रहे थे ॥६२॥ तदनन्तर इस प्रकार की बारह सभाओं से घिरे हुए भगवान् शान्तिनाथ से इन्द्र ने हाथ जोडकर धर्म का स्वरूप पूछा ॥६३॥

तदनन्तर इन्द्र के द्वारा इस प्रकार पूछे हुए भगवान् की वह दिव्यभाषा प्रवृत्त हुयी जो सर्व-भाषा रूप थी, सब का कल्याण करने वाली थी और समस्त तत्त्वों की अद्वितीय माता थी ॥६४॥ उन्होंने कहा—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र धर्म है यह जानना चाहिए। इसके अनन्तर तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥६५॥ उस सम्यग्दर्शन के निसर्ग और अधिगम—गुरुदेशना आदि सुनिश्चित हेतु है। उस सम्यक्त्व के सराग और वीतराग के भेद से दो भेद हैं उनमें प्रशमसंवेग तथा आस्तिक्य आदि गुणों की अभिव्यक्ति होना सराग सम्यक्त्व का लक्षण है और आत्मा की विशुद्धि मात्र होना वीतराग सम्यक्त्व है ॥६६॥

जीव अजीव आस्रव बन्ध सवर उत्कृष्ट निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ विद्वज्जनों के द्वारा जानने के योग्य है ॥६७॥ जीव चेतना लक्षण वाला है, अजीव अचेतना लक्षण से सहित है, कर्मों के आगमन का द्वार आस्रव कहा गया है ॥६८॥ जीव और कर्म के प्रदेशों का परस्पर अनुप्रवेश—क्षीर नीर के समान एक क्षेत्रावगाह होना बन्ध है। आस्रव का निरोध होना संवर है ॥६९॥ एक देश कर्मों

---

१ निकटे　२ निर्निमेषनयनाः　३ निकटे　४ सिंहगजप्रभृतयः　५ सर्वहितकरी।

विज्ञेया निर्जराप्येकदेशसंक्षयलक्षणा । अशेषकर्मणां मोक्षो मोक्ष इत्यभिधीयते ॥७०॥
[1]अभिधास्थापनाद्रव्यभावैर्भावा[2] यथायथम् । न्यस्या[3] जीवादयः सम्यक् तत्स्वरूपावबोधिना ॥७१॥
निर्देशात्स्वामित्वाच्च साधनाच्च विधानतः । स्थितेरप्यधिकरणादनुयोज्याश्च नित्यशः ॥७२॥
तेषामधिगमः कार्यः प्रमाणाभ्यां नयैरपि । प्रमाणं द्विविधं तच्च मत्यादिज्ञानपञ्चकम् ॥७३॥
मतिः श्रुतं चावधिश्च मनःपर्ययनाम च । केवलेन समं विद्यात् पञ्च ज्ञानान्यनुक्रमात् ॥७४॥
आद्ये परोक्षमित्युक्तं प्रत्यक्षमितरत्रयम् । जिनैरर्थेन्द्रियस्वान्तनिमित्ता मतिरिष्यते ॥७५॥
अवग्रहो विदां वर्यैरीहावायश्च धारणा । परिनिर्धारितो भेदो मतेरिति चतुर्विधः ॥७६॥
अथेन्द्रियार्थसंपातसमनन्तरमेव च । अवग्रहणमाद्यं यत्तदवग्रहणमुच्यते ॥७७॥
ईहा चाव[4]गृहीतेऽर्थे तद्विशेषाभिकाङ्क्षणम् । अर्थे विशेषविज्ञातेऽवायो याथात्म्यवेदनम् ॥७८॥
अवेताद्वस्तुनस्तस्मादविस्मरणकारणम् । अपि कालान्तरात्सम्यग्धारणेत्यवगम्यताम् ॥७९॥
बहुर्बहुविधः क्षिप्रोऽनुक्तश्चानिःसृतो ध्रुवः । इत्येतेऽवग्रहादीनां भेदा द्वादश सेतराः[5] ॥८०॥

का क्षय होना निर्जरा का लक्षण जानना चाहिए तथा समस्त कर्मों का छूट जाना मोक्ष कहलाता है ॥७०॥

वे जीवादिक पदार्थ, उनका स्वरूप जानने वाले मनुष्य के द्वारा नाम स्थापना द्रव्य और भाव निक्षेपों से यथायोग्य अच्छी तरह व्यवहार करने के योग्य हैं ॥७१॥ निर्देश स्वामित्व साधन, विधान, स्थिति और अधिकरण के द्वारा भी निरन्तर चर्चा के योग्य है ॥७२॥ प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार के प्रमाण तथा नैगमादि अनेक नयों के द्वारा उनका ज्ञान करना चाहिए। प्रमाण दो प्रकार का है और मतिज्ञानादि पञ्चज्ञान रूप है ॥७३॥ मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल, अनुक्रम से ये पांच ज्ञान जानना चाहिए ॥७४॥ आदि के दो ज्ञान परोक्ष है और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष है। जिनेन्द्र भगवान् ने मतिज्ञान की उत्पत्ति इन्द्रिय और मन की निमित्त से मानी है ॥७५॥ श्रेष्ठ ज्ञानियो ने अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इस प्रकार मतिज्ञान के चार भेद निर्धारित किये है ॥७६॥

इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने के बाद ही जो प्रथम ग्रहण होता है वह अवग्रह कहलाता है ॥७७॥ अवग्रह के द्वारा गृहीत पदार्थ में जो उसके विशेष रूप को जानने की इच्छा है वह ईहा ज्ञान है। विशेष रूप से जाने हुए पदार्थ का जो यथार्थ जानना है वह अवाय कहलाता है ॥७८॥ अवाय के द्वारा जाने हुए पदार्थ को कालान्तर में भी न भूलने का जो कारण है वह धारणा ज्ञान है ऐसा अच्छी तरह जानना चाहिए ॥७९॥ बहु बहु विध क्षिप्र अनुक्त अनिःसृत तथा इनसे छह विपरीत इस प्रकार ये सब मिलकर अवग्रहादिक के बारह बारह भेद होते हैं ॥८०॥ अर्थ के

---

१ नामस्थापनाद्रव्यभावैः २ पदार्थाः ३ व्यवहारयोग्याः ४ अवग्रहगृहीते ५ एकैकविधाक्षिप्रोक्त निःसृताध्रुवपदार्थैः सहिताः ।

अवग्रहादयोऽर्थस्य कृत्स्नाः स्युर्व्यञ्जनस्य च । एकोऽवग्रह एव स्यान्न चक्षुर्मनसोश्च सः ॥८१॥
मतेरिति विकल्पोऽयं षट्त्रिंशत्त्रिशतं भवेत् । इन्द्रियावग्रहादीनां प्रपञ्चेन प्रपञ्चितम् ॥८२॥
मतिपूर्वं श्रुतं ज्ञेयं द्व्यनेकद्वादशात्मकम् । पर्यायादिस्वरूपेण विविधेनोपलक्षितम् ॥८३॥
अथावधिः [1]सुमेधोभिः क्षयोपशमसंभवः । भवप्रत्ययजश्चेति द्विप्रकारोऽभिधीयते ॥८४॥
देवानां नारकाणां च भवप्रत्ययजोऽवधिः । षड्विकल्पस्तु शेषाणां क्षयोपशमजो भवेत् ॥८५॥
अनुगोऽननुगामी च तदवस्थोऽनवस्थितः । प्रवृद्धो हीयमानश्च स्यादित्थं षड्विधोऽवधिः ॥८६॥
मनःपर्ययबोधो हि द्विप्रकारस्तथाख्यया । भवेदृजुमतिः पूर्वो विपुलादिमतिः परः ॥८७॥
कालादृजुमतिर्न्यूनात्स्वस्यान्येषां च सन्ततम् । भवान् [2]द्वित्रांस्तथोत्कर्षात्सप्ताष्टानवगच्छति ॥८८॥
जघन्येनापि गव्यूतिपृथक्त्वं क्षेत्रतस्तथा । स योजनपृथक्त्वं च समुत्कर्षेण वीक्षते ॥८९॥

अवग्रहादिक सभी भेद होते हैं परन्तु व्यञ्जन का एक अवग्रह ही होता है। वह व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मन से नहीं होता है ॥८१॥ मतिज्ञान का यह विकल्प तीनसौ छत्तीस होता है जो कि इन्द्रियावग्रहादि के विस्तार से विस्तृत होता है। भावार्थ—बहु बहुविध आदि बारह प्रकार के पदार्थों के अवग्रहादि चार ज्ञान पांच इन्द्रियों और मन के निमित से होते है इसलिए १२×४×६=२८८ दो सौ अठासी भेद होते हैं उनमें व्यञ्जनावग्रह के १२×४=४८ अड़तालिस भेद मिला देने से मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं ॥८२॥

जो ज्ञान मतिपूर्वक होता है उसे श्रुतज्ञान जानना चाहिए। यह श्रुत दो अनेक तथा बारह प्रकार का होता है। इन के सिवाय यह पर्याय आदि विविध भेदों से भी सहित है। भावार्थ—श्रुत ज्ञान के मूल में अङ्ग बाह्य और अङ्ग प्रविष्ट के भेद से दो भेद हैं। पश्चात् अङ्ग बाह्य के अनेक भेद हैं और अङ्गप्रविष्ट के आचाराङ्ग आदि बारह भेद हैं। श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के तारतम्य से इसके पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास आदि बीस भेद भी होते हैं ॥८३॥

अब अवधिज्ञान का वर्णन किया जाता है विद्वज्जनों के द्वारा अवधिज्ञान, क्षयोपशमनिमित्तक और भवप्रत्यय के भेद से दो प्रकार का कहा जाता है ॥८४॥ भवप्रत्ययज—भवरूप कारण से होने वाला अवधिज्ञान देव और नारकियों के होता है तथा क्षयोपशमज—अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होने वाला अवधिज्ञान छह प्रकार का है और वह मनुष्य तथा तिर्यञ्चों के होता है ॥८५॥ अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान और हीयमान इस तरह क्षयोपशमज अवधि ज्ञान छह प्रकार का है ॥८६॥

मतिज्ञान दो प्रकार का है पहला ऋजुमति और दूसरा विपुलमति ॥८७॥ ऋजुमतिज्ञान जघन्य रूप से काल की अपेक्षा अपने तथा दूसरों के दो तीन भवों को निरन्तर जानता है और उत्कृष्ट रूप से सात आठ भवों को जानता है ॥८८॥ क्षेत्र की अपेक्षा जघन्य रूप से दो तीन कोश और उत्कृष्ट रूप से सात आठ योजन की बात को जानता है ॥८९॥ विपुलमति मनःपर्ययज्ञान काल की

---

१ सुबुद्धियुक्तैः २ द्वौ वा त्रयो वा इति द्वित्रास्तान् ।

विपुलो वेत्ति सप्ताष्टाञ्जघन्येनापि कालतः । उत्कर्षेणाप्यसंख्येयान्गत्यागत्यादिभिर्भवान् ॥९०॥
स योजनपृथक्त्वं च हीनेन क्षेत्रतः सदा । आमानुषोत्तराद्वारादुत्कर्षेणापि पश्यति ॥९१॥
विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषोऽवगम्यते । शुद्धिक्षेत्रेशवस्तुभ्यः स्याद्विशेषोऽस्य चावधेः ॥९२॥
द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्वाहुः सर्वेषु सर्वतः । मतेः श्रुतस्य च प्राज्ञा विषयेषु निबन्धनम् ॥९३॥
अवधे रूपिषु प्रोक्तो निबन्धो निर्निबन्धनः[1] । अथास्यानन्तभागे च स्यान्मनःपर्ययस्य च ॥९४॥
त्रैकाल्यसकलद्रव्यपर्यायेषु निबन्धनम् । केवलस्य भवेत्तच्च क्षायिकं सर्वतोमुखम् ॥९५॥
ज्ञानत्रितयमाद्यं स्याद्विपर्ययसमन्वितम् । यदृच्छयाविशेषेण भावानामुपलम्भतः ॥९६॥
नैगमः संग्रहो नाम्ना व्यवहारर्जुसूत्रकौ । शब्दः समभिरूढैवंभूतावित्ति नया इमे ॥९७॥
[2]हेत्वर्पणादनेका[3]त्मन्यविरोधेन वस्तुनि । प्रयोगः साध्ययाथात्म्यप्रापणप्रवणो नयः[4] ॥९८॥

अपेक्षा जघन्य रूप से सात आठ भवों को और उत्कृष्ट रूप से असंख्यात भवों को गति आगति आदि के द्वारा जानता है ॥९०॥ क्षेत्र की अपेक्षा जघन्यरूप से सात आठ योजन और उत्कृष्ट रूप से मानुषोत्तर पर्वत तक की बात को देखता है ॥९१॥ विशुद्धि और अप्रतिपात की अपेक्षा ऋजुमति और विपुलमति में विशेषता जानी जाती है तथा विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषयभूत वस्तु की अपेक्षा अवधि और मनःपर्ययज्ञान में विशेषता होती है ॥९२॥

विद्वज्जन मति और श्रुतज्ञान का विषय निबन्ध समस्त पर्यायों से रहित समस्त द्रव्यों में कहते हैं। अर्थात् मति श्रुतज्ञान जानते तो सब द्रव्यों को हैं परन्तु उनकी सब पर्यायों को नहीं जानते ॥९३॥

अवधिज्ञान का विषय निबन्ध रूपी द्रव्यों में कहा गया है। अवधिज्ञान का विषय प्रतिबन्ध से रहित होता है अर्थात् वह अपने विषय क्षेत्र में आगत पदार्थों को भित्ति आदि का आवरण रहते हुए भी जानता है। मनःपर्ययज्ञान का विषय अवधिज्ञान के विषय से अनन्तवें भाग सूक्ष्म विषय में होता है ॥९४॥ केवल ज्ञान का विषय निबन्ध तीन काल सम्बन्धी समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों में होता है। वह केवल ज्ञान क्षायिक तथा सर्वतोमुख—सभी ओर के विषयों को ग्रहण करने वाला है ॥९५॥ आदि के तीन ज्ञान विपर्यय से सहित होते हैं अर्थात् मिथ्यारूप भी होते हैं क्योंकि उनसे पदार्थो की उपलब्धि स्वेच्छानुसार सामान्य रूप से होती है ॥९६॥

नैगम संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात नय हैं ॥९७॥ अनेकान्तात्मक—परस्पर विरोधी अनेक धर्मों से सहित वस्तु में विरोध के बिना हेतु की विवक्षा से साध्य की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग नय कहलाता है ॥९८॥ वह नय दो प्रकार का होता है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। पहले कहे हुए नैगम आदि भेद इन्हीं दो नयों के भेद हैं।

---

१ विविधप्रतिबन्धरहितः २ हेतुविवक्षया ३ अनेकधर्मात्मके ४ 'सामान्य लक्षणं तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्य विरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः' सर्वार्थसिद्धि प्रथमाध्याय सूत्र ३३ ।

द्विधा द्रव्यार्थिकः स स्यात्पर्यायार्थिक इत्यपि । तयोरेव प्रकाराश्च पूर्वोक्ता नैगमादयः ॥९९॥
अनिवृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही स नैगमः । काष्ठाद्यानयनोत्थस्य पचाम्यन्नं यथा वचः ॥१००॥
आक्रान्तभेदान्पर्यायानैकत्वमुपनीय च । स्वजातेरविरोधेन समस्तग्रहणादिभिः ॥१०१॥
उच्यते संग्रहो नाम नयो नयविशारदैः । सद्द्रव्यम् घट इत्यादि यथा लोके व्यवस्थितम् ॥१०२॥
(युग्मम्)
संग्रहाक्षिप्तवस्तूनां क्रमशो विधिपूर्वकम् । अर्थावहरणं तद्धि व्यवहार इतीरितः ॥१०३॥
सदित्युदितसामान्याद्विशेषानुत्तरोत्तरान् । व्यवहारः परिच्छिन्दन्ना[1]विभागं प्रतिष्ठते ॥१०४॥
अतीतानागतौ त्यक्त्वा वर्तमानं प्रपद्यते । ऋजुसूत्रो विनष्टत्वादजातत्वात्तथा तयोः[2] ॥१०५॥

भावार्थ—नैगम, संग्रह और व्यवहार द्रव्यार्थिक नय के भेद है और शेष चार पर्यायार्थिक नय के भेद हैं ॥९९॥ अनिष्पन्न पदार्थ के सकल्प मात्र को ग्रहण करने वाला नय नैगम नय है जैसे कि लकड़ी आदि लाने के लिए खड़े हुए मनुष्य का 'मैं अन्न पकाता हूं' ऐसा कहना। यहा अन्न का पाक यद्यपि अनिष्पन्न है तो भी उसका संकल्प होने से 'पकाता हूं' ऐसा कहना सत्य है ॥१००॥ त्रिविध भेदों से सहित पर्यायों को एकत्व प्राप्त कर जो अपनी जाति का विरोध न करता हुआ समस्त पदार्थों का ग्रहण आदि करता है वह नय के ज्ञाता पुरुषों के द्वारा संग्रह नय कहा जाता है जैसे सद्, द्रव्य, घट आदि लोक में व्यवस्थित है भावार्थ—जो नय पदार्थों में भेद उत्पन्न करने वाली विशेषता को गौण कर सामान्य अश को ग्रहण करता है वह सग्रह नय कहलाता है। जैसे सत्। यहां सत् के भेद जो द्रव्य, गुण और पर्याय हैं उन्हें गौण कर मात्र सत् रूप सामान्य अंश को ग्रहण किया गया। इसी प्रकार द्रव्य के भेद जो जीव पुद्गल धर्म आदि है उन्हे गौण कर मात्र उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण से युक्त सामान्य अंश को ग्रहण किया गया। इसी प्रकार घट के भेद जो मिट्टी, तांबा, पीतल आदि से निर्मित घट हैं उन्हें गौण कर मात्र कम्बुग्रीवादिमान् सामान्य अश को ग्रहण किया गया ॥१०१—१०२॥

संग्रह नय के द्वारा गृहीत वस्तुओं में क्रम से विधिपूर्वक जो भेद किया जाता है वह व्यवहार नय कहा गया है। जैसे 'सत्' इस प्रकार कहे हुए सामान्य अंश से उत्तरोत्तर विशेषों को ग्रहण करने वाला नय व्यवहार नय है। यह नय वस्तु में तब तक भेद करता जाता है जब तक कि वह वस्तु विभाग रहित न हो जावे। भावार्थ—संग्रह नय ने 'सत्' इस सामान्य अंश को ग्रहण किया था तो व्यवहार नय उसके द्रव्य, गुण पर्याय इन भेदों को ग्रहण करेगा। संग्रह नय ने यदि 'द्रव्य' इस सामान्य अंश को ग्रहण किया तो व्यवहार नय उसके जीव पुद्गल आदि विशेष भेदों को ग्रहण करेगा। तात्पर्य यह है कि संग्रह नय विविध भेदों में बिखरे हुए पदार्थों में एकत्व स्थापित करता है और व्यवहार नय एकत्व को प्राप्त हुए पदार्थों में विविध भेदों द्वारा नाना रूपता स्थापित करता है। ॥१०३—१०४॥

जो नय, नष्ट हो जाने से अतीत को और अनुत्पन्न होने के कारण अनागत पर्याय को छोड़कर मात्र वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजु सूत्र नय है ॥१०५॥ जो नय अन्य पदार्थों का अन्य

---

१ विभागपर्यन्तं २ अतीतानागतयोः ।

शब्दोऽथ लिङ्गसंख्यादिव्यभिचारान्न चेच्छति । अन्यार्थानामथान्यार्थैः संबन्धानुपपत्तितः ॥१०६॥
समतीत्य च नानार्थानेकमर्थं सुनिश्चितम् । सम्यक्सदाभिमुख्येन रूढः समभिरूढकः ॥१०७॥
नानार्थानथवा सिद्धान्भवेत्समभिरोहणात् । तस्मिन्समभिरूढो वा रूढो यत्राभिमुख्यतः ॥१०८॥
यथा गौरित्ययं शब्दो वागादिषु विनिश्चितः । अधिरूढः पशावेवमिन्द्रादिश्चात्मनि स्थितः ॥१०९॥
अथ येनात्मना भूतं तेनैवाध्यवसाययेत् । एवंभूतो यथा शक्रः शकनादेव नान्यथा ॥११०॥
पूर्वपूर्वविरुद्धोरुविषया नैगमादयः । अनुकूलाल्पविषयाश्चोत्तरोत्तरतस्तथा ॥१११॥

पदार्थों के साथ सम्बन्ध संगत न होने के कारण लिङ्ग संख्या आदि के दोषों को स्वीकृत नहीं करता है वह शब्द नय कहलाता है। भावार्थ—लिङ्ग संख्या तथा साधन आदि के व्यभिचार की निवृत्ति करने वाला नय शब्द नय कहलाता है। जैसे 'पुष्य, तारका और नक्षत्र'। ये भिन्न भिन्न लिङ्ग के शब्द हैं इनका मिलाकर प्रयोग करना लिङ्ग व्यभिचार है। जलं, आपः, वर्षाः ऋतु, आम्रा वनम्, वरणा नगरम्, इन एक वचनान्त और बहुवचनान्त शब्दों का विशेषण विशेष्य रूप से प्रयोग करना संख्याव्यभिचार है। 'सेना पर्वत मधि—वसति'—सेना पर्वत पर निवास करती है– यहां अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति न होकर द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त हुई है इसलिए यह साधन व्यभिचार है। 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि यातस्ते पिता'—'आओ तुम समझते हो कि मैं रथ से जाऊंगा, परन्तु नहीं जाओगे, तुम्हारे पिता गये'। यहां 'मन्यसे' के स्थान में 'मन्ये' और 'यास्यामि' के स्थान में 'यास्यति' क्रिया का प्रयोग होने से पुरुष व्यभिचार है। 'विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता'—इसका विश्वदृश्वा—जिसने विश्व को देख लिया है ऐसा पुत्र होगा। यहां 'विश्वदृश्वा' कर्ताका 'जनिता' इस भविष्यत्कालीन क्रिया के साथ प्रयोग किया गया है अतः कालव्यभिचार है। 'संतिष्ठते प्रतिष्ठते, विरमति, उपरमति,'। यहां सम् और प्र उपसर्ग के कारण स्था धातुका आत्मनेपद प्रयोग और वि तथा उप उपसर्ग के कारण रम धातुका परस्मैपद प्रयोग हुआ है-यह उपग्रहव्यभिचार है। यद्यपि व्यवहार मे ऐसे प्रयोग होते हैं तथापि शब्दनय इसप्रकार के व्यवहार को स्वीकृत नहीं करता है। क्योंकि पर्यायार्थिक नय की दृष्टि में अन्य अर्थ का अन्य अर्थ के साथ सम्बन्ध नही बन सकता ॥१०६॥

जो नाना अर्थों का उल्लङ्घन कर सदा मुख्य रूप से अच्छी तरह एक सुनिश्चित अर्थ को ग्रहण करता है वह समभिरूढ नय है। अथवा एक शब्द के जो नाना अर्थ प्रसिद्ध है उनमें से जो मुख्य रूप से एक अर्थ में अच्छी तरह अभिरूढ होता है वह समभिरूढ नय है। जैसे 'गो' यह शब्द वचन आदि अर्थों में प्रसिद्ध है परन्तु विशेषरूप से पशु अर्थ मे रूढ है। इसी प्रकार इन्द्र आदि शब्द आत्मा अर्थ में रूढ हैं ॥१०७–१०९॥

जो वस्तु जिस काल में जिस रूप से परिणत हो रही है उस काल मे उसका उसी रूप से निश्चय करना एवंभूत नय है जैसे शक्ति रूप परिणत होने के कारण इन्द्र को शक्र कहना अन्य प्रकार से नहीं। भावार्थ—जिस शब्द का जो वाच्य है उस रूप क्रिया के परिणमन के समय ही उस शब्द का प्रयोग करना उचित है अन्य समय नही। जैसे लोकोत्तर शक्तिरूप परिणमन करते समय ही इन्द्र को शक्र कहना और लोकोत्तर ऐश्वर्य से संपन्न होते समय ही इन्द्र कहना अन्य समय नहीं ॥११०॥ ये नैगमादि नय अन्तिम भेद से लेकर पूर्व पूर्व भेदों में विरुद्ध तथा विस्तृत विषय को ग्रहण करने वाले हैं

वस्तुनोऽनन्तशक्तेस्तु प्रतिशक्ति विकल्पना । एते बहुविकल्पाः स्युर्गुणमुख्यतयाहिताः ॥११२॥
तदतद्वद्वितयाद्वैतविशेषणविशेष्यजैः । भेदैर्नानाविधैर्युक्तं वस्तुतत्त्वं प्रतीयते ॥११३॥
स्वात्मेतरद्वयातीतसाधारणसुलक्षणाः । पदार्थाः सकलाः सम्यक् [1]सप्तभङ्गीत्वमुह्यताम् ॥११४॥
सिद्धाः संसारिणश्चेति जीवा भेदद्वयान्विताः । सिद्धास्त्वेकविधा ज्ञेयाः शेषा बहुविधास्ततः ॥११५॥
स्वरूपपिण्डप्रवृत्त्यप्रवृत्तय इतीरिताः । सामान्यं च विशेषश्च सामर्थ्यं च मनीषिभिः ॥११६॥
असामर्थ्यं च जीवस्य प्रकाशनमपि क्रमात् । अप्रकाशनमित्येते दशान्वययुजो गुणाः ॥११७॥
असादृश्याधिका एते क्रमाद्व्यतिरेकिकाः । एकादश गुणा ज्ञेयाः प्राज्ञैरध्यात्मवेदिभिः ॥११८॥
अथौपशमिको भावः क्षायिको व्यतिमिश्रितः । जीवस्यौदयिकोभावो विज्ञेयः पारिणामिकः ॥११९॥

और प्रथम भेद से लेकर आगे आगे अनुकूल तथा अल्प विषय को ग्रहण करने वाले हैं ॥१११॥ चूंकि वस्तु अनन्त शक्त्यात्मक है और प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा विविध विकल्प उत्पन्न होते है इसलिये ये नैगमादि नय बहुत विकल्पों—अनेक अवान्तर भेदों से सहित है तथा गौण और मुख्य मे उनका प्रयोग होता है ॥११२॥

तद्भाव अतद्भाव, द्वैतभाव, अद्वैतभाव, तथा विशेषण और विशेष्यभाव से उत्पन्न होने वाले नाना भेदो से वस्तु तत्त्व की प्रतीति होती है। भावार्थ—यतश्च द्रव्य सब पर्यायों में अन्वयरूप से विद्यमान रहता है इसलिये द्रव्य दृष्टि से वस्तु तद्भाव से सहित है परन्तु एक पर्याय अन्य पर्याय से भिन्न है अतः पर्याय दृष्टि से वस्तु अतद्भाव से सहित है। सामान्य द्रव्य की अपेक्षा वस्तु अद्वैत–एक रूप है और विशेष–पर्याय की अपेक्षा द्वैत रूप है अथवा गुण और गुणी में प्रदेश भेद न होने से वस्तु अद्वैतरूप है और संज्ञा, संख्या तथा लक्षण आदि में भेद होने से द्वैत रूप है। 'आत्मा ज्ञानवान्' है यहा 'ज्ञानवान्' विशेषण है और 'आत्मा' विशेष्य है परन्तु ज्ञान और आत्मा के प्रदेश जुदे जुदे नही है इसलिये ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है इसप्रकार आत्मा विशेषण विशेष्यभाव से रहित है। वस्तु के भीतर इन उपर्युक्त भेदों की प्रतीति होती है इसलिये वस्तु अनन्त भेदरूप है ॥११३॥ समस्त पदार्थ निज और पर के विकल्प से रहित साधारण -सामान्य लक्षण से युक्त है। इन सब पदार्थों के परिज्ञान के लिये स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यादस्ति नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्ति-अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य और स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य इस सप्तभङ्गी को अच्छी तरह समझना चाहिये ॥११४॥

सिद्ध और संसारी इसप्रकार जीव दो भेदो से सहित है। उनमें सिद्ध एक प्रकार के और संसारी अनेक प्रकार के जानना चाहिये ॥११५॥ स्वरूप, पिण्ड, प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति, सामान्य, विशेष, सामर्थ्य, असामर्थ्य, प्रकाशन और अप्रकाशन ये जीव के क्रम से दश अन्वय—द्रव्य से सम्बन्ध रखने वाले गुण है और असादृश्य को मिलाने से ग्यारह व्यतिरेकी गुण क्रम से अध्यात्म के ज्ञाता विद्वानों के द्वारा जानने योग्य हैं ॥११६—११८॥

---

[1] समाना भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गी तस्या भावस्तत्त्वम् स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादास्तिनास्ति, स्यादवक्तव्यम्, स्यादस्ति अवक्तव्यं, स्यान्नास्तिमवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्यम् इत्येतेसप्तभङ्गाः ।

द्विभेदो नवभेदश्च तथाष्टादशभेदकः । एकविंशतिभेदश्च त्रिभेदश्च यथाक्रमम् ॥१२०॥
भेदौ सम्यक्त्वचारित्रे पूर्वस्य क्षायिकस्य च । ज्ञानदृग्दानलाभोपभोगभोगातिवृत्तकः ॥१२१॥
चत्वारि त्रीणि च ज्ञानाज्ञानान्यपि यथाक्रमम् । दर्शनानि तथा त्रीणि प्रसिद्धाः पञ्चलब्धयः ॥१२२॥
उक्ते संयमचारित्रे संयतासंयतस्थितिः । क्षायोपशमिकस्यैवं भेदोऽष्टादशधा भवेत् ॥१२३॥
चतस्रो गतयोऽसिद्धस्त्रीणि लिङ्गान्यसंयतः । मिथ्यादर्शनमज्ञानं चत्वारश्च कषायकाः ॥१२४॥
[1]समा षड्भिश्च लेश्याभिरिति स्यादेकविंशतिः । भावस्यौदयिकस्यापि भेदाः कर्मोदयाश्रयः ॥१२५॥
जीवभव्याभव्यत्वैस्त्रिविधः पारिणामिकः । भावः षष्ठोऽपि षट्त्रिंशद्भेदोऽन्यः सांनिपातिकः ॥१२६॥
अजीवाः पुद्गलाकाशधर्माधर्माः प्रकीर्तिताः । कालश्चेत्यस्तिकायाश्च पञ्च कालेन वर्जिताः ॥१२७॥
जीवादयोऽथ कालान्ताः षड् द्रव्याणि भवन्ति ते । गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति जैनाः प्रचक्षते ॥१२८॥
नित्यावस्थितान्यरूपाणि रूपिणः पुद्गला मताः । एकद्रव्याण्यथाव्योम्नः कथ्यन्ते निःक्रियाणि च ॥१२९॥

अब जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक भाव जानने के योग्य है ॥११९॥ औपशमिक भाव दो भेद वाला, क्षायिकभाव नौभेद वाला, क्षायोपशमिक भाव अठारह भेद वाला, औदयिकभाव इक्कीस भेद वाला और पारिणामिकभाव तीन भेद वाला क्रम से जानना चाहिए ॥१२०॥ सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिकभाव के भेद हैं। क्षायिकज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, और चारित्र, ये क्षायिकभाव के नौ भेद हैं ॥१२१॥ चार ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि, मन: पर्यय, तीन अज्ञान—कुमति कुश्रुत कुअवधि, तीन दर्शन—चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन, पञ्चलब्धियां—दान लाभ भोग उपभोग, वीर्य, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र, और संयमासंयम इस प्रकार क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद हैं ॥१२२—१२३॥ चार गतियां—नरक तिर्यञ्च मनुष्य देव, असिद्धत्व, तीन लिङ्ग—स्त्री पुरुष नपुंसक वेद, असंयत, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, चार कषाय—क्रोध मान माया लोभ, और छह लेश्याएं—कृष्ण नील कापोत पीत पद्म और शुक्ल इस प्रकार औदयिकभाव के इक्कीस भेद है। यह भाव कर्मोदय के आश्रय से होता है ॥१२४—१२५॥ जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व के भेद से पारिणामिक भाव तीन प्रकार का है। इनके सिवाय छत्तीस भेद वाला एक सांनिपातिक नामका छठवां भाव भी होता है ॥१२६॥

अजीव के पांच भेद कहे गये हैं—पुद्गल, आकाश, धर्म, अधर्म, और काल। इनमें से काल को छोड़कर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच अस्तिकाय कहलाते हैं ॥१२७॥ जीव को आदि लेकर काल पर्यन्त छह द्रव्य होते हैं। जो गुण और पर्याय से युक्त हो वह द्रव्य है इस प्रकार जैनाचार्य द्रव्य का लक्षण कहते हैं ॥१२८॥ ये सभी द्रव्य नित्य अवस्थित और अरूपी हैं परन्तु पुद्गल द्रव्य रूपी माने गये हैं। धर्म अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य एक एक हैं। जीव और पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्य क्रिया—रहित हैं ॥१२९॥ धर्म अधर्म और एक जीवद्रव्य के असंख्यात

---

१ सह।

असंख्येयाः प्रदेशाः स्युर्धर्माधर्मैकदेहिनाम् । अनन्ता वियतः संख्येयासंख्येयाश्च रूपिणाम् ॥१३०॥
अप्रदेशो ह्यणुर्ग्राह्यो गुणैर्वर्णादिभिः स्वकैः । लोकाकाशेऽवगाहः स्यादमीषामिति निश्चितम् ॥१३१॥
स्वप्रतिष्ठमथाकाशमनन्तं सर्वतः स्थितम् । धर्मादयो विलोक्यन्ते यस्मिन्लोकः स उच्यते ॥१३२॥
स्याद्धर्माधर्मयोर्व्यक्तं तस्मिन् कृत्स्नेऽवगाहनम् । एकादिषु प्रदेशेषु पुद्गलानां च भाजयेत् ॥१३३॥
जीवानामप्यसंख्येयभागादिषु विकल्पयेत् । तत्र प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१३४॥
अथ गन्धरसस्पर्शवर्णवन्तश्च पुद्गलाः । शब्दबन्धनसंस्थानसूक्ष्मस्थौल्यभिदाः स्थिताः ॥१३५॥
तमश्छायातपोद्योतवन्तश्चोक्तास्तथाणवः । स्कन्धाश्च भेदसंघातहेतवोऽणुस्तु भेदतः ॥१३६॥
स्निग्धरूक्षतया बन्धः पुद्गलानामुदाहृतः । न जघन्यगुणैः सार्धं द्व्यधिकादिगुणैर्भवेत् ॥१३७॥
बन्धेऽधिकगुणौ नित्यं भवेतां पारिणामिकौ । वर्तनालक्षणः कालः सोऽनन्तसमयः स्मृतः ॥१३८॥
यदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तत्सदितीरितम् । तद्भावाव्ययं नित्यमर्पितानर्पिताश्रयात् ॥१३९॥

प्रदेश हैं, आकाश के अनन्त प्रदेश है, पुद्गल के सख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं परन्तु परमाणु प्रदेश रहित है। वह परमाणु अपने वर्णादिगुणों के द्वारा ग्रहण करने योग्य है अर्थात् रूप रस गन्ध और स्पर्श से सहित है। इन सब द्रव्यों का अवगाह लोकाकाश में है यह निश्चित है ॥१३०—१३१॥ आकाश स्वप्रतिष्ठ है तथा सब ओर से अनन्त है। जिसमें धर्मादिक द्रव्य देखे जाते हैं—पाये जाते हैं वह लोक कहलाता है ॥१३२॥ धर्म और अधर्म द्रव्य का स्पष्ट अवगाहन समस्त लोक में है। पुद्गलों का अवगाहन एक आदि प्रदेशों में विभाग करने के योग्य है। जीवों का अवगाहन भी लोक के असंख्यातवें भाग को आदि लेकर समस्त लोक मे जानना चाहिए। दीपक के समान प्रदेशों के सकोच और विस्तार के कारण जीवों का अवगाहन लोक के असंख्येयभागादिक मे होता है ॥१३३—१३४॥

अब पुद्गल का लक्षण कहते हैं जो स्पर्श रस गन्ध और वर्ण से सहित हों वे पुद्गल हैं। शब्द, बन्ध, संस्थान, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, तम, छाया, आतप और उद्योत से सहित पुद्गल होते हैं अर्थात् ये सब पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं। अणु और स्कन्ध ये पुद्गल द्रव्य के भेद हैं। स्कन्ध की उत्पत्ति भेद, संघात तथा भेद संघात से होती है परन्तु अणु की उत्पत्ति मात्र भेद से होती है ॥१३५—१३६॥ पुद्गलों का बन्ध स्निग्ध और रूक्षता के कारण कहा गया है। जघन्य गुण वाले परमाणुओं के साथ बन्ध नहीं होता है किन्तु दो अधिक गुण वालों के साथ होता है ॥१३७॥ बन्ध होने पर अधिक गुण वाले परमाणु हीन गुण वाले परमाणुओं को अपने रूप परिणमा लेते हैं। काल द्रव्य वर्तना लक्षण वाला है तथा अनन्त समय से युक्त माना गया है ॥१३८॥ उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त हो वह सत् कहा गया है। द्रव्य का अपने रूप से नष्ट नहीं होना नित्य कहलाता है। विवक्षित और अविवक्षित के आश्रय से द्रव्य नित्या नित्यात्मक होता है ॥१३९॥

इस प्रकार जब शान्ति जिनेन्द्र ने द्रव्यों के लक्षण के साथ साथ छहों द्रव्यों के स्वरूप का क्रम से कथन किया तब वह समवसरण सभा अत्यन्त श्रद्धा से युक्त हो गयी। प्रबोध प्राप्त करने में दक्ष

शार्दूलविक्रीडितम्

द्रव्याणां सह लक्षणेन सकलं षण्णां स्वरूपं क्रमात्
पत्यावेवमुदीरयत्यतितरां तस्मिन्प्रतीतावहत् ।
सा संसन्मनसा प्रबोधपटुना व्याभासमानानना
प्रत्यग्रार्ककरैकपातविकसत्पद्माकरस्य श्रियम् ॥१४०॥

द्रव्याण्येवमुदीर्य भव्यजनताकार्ये प्रबन्धोद्यमाः [प्रबद्धोद्यमं]
वक्तुं प्रक्रममाणमीशमपरं सत्संपदां तं पदम् ।
सभ्याः केचन तुष्टुवुः प्रतिपदं केचित्प्रणेमुर्मुदा
नामोन्नामसमेतमौलिमकरीविन्यस्तहस्ताम्बुजाः ॥१४१॥

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे भगवतः केवलोत्पत्तिर्नाम
* पञ्चदशः सर्गः *

हृदय से उसका मुख कमल खिल गया और वह प्रातःकाल के सूर्य की किरणों के पड़ने से खिलते हुए कमल वन की शोभा को धारण करने लगी ॥१४०॥ इस प्रकार द्रव्यों का निरूपण कर जो भव्यजनों के कार्य—हित साधना में तत्पर थे, शेष तत्वों का निरूपण करने के लिए उद्यत थे, तथा समीचीन संपदाओं—अष्ट प्रातिहार्य रूप श्रेष्ठ संपदाओं के अद्वितीय स्थान थे ऐसे उन शान्ति प्रभु की कोई सदस्य स्तुति कर रहे थे, और कोई हर्ष से झुकते तथा ऊंचे उठते हुए मुकुटों के अग्रभाग पर हस्त कमल को रखकर पद पद पर प्रणाम कर रहे थे ॥१४१॥

इस प्रकार असग महाकवि द्वारा विरचित शान्तिपुराण मे भगवान् के केवलज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन करने वाला पन्द्रहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१५॥

卐
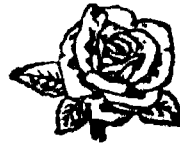
अथ [1]वागीश्वरो वक्तुमास्रवं विगतास्रवः । पुण्यास्रवाय भव्यानां क्रमेणेत्थं प्रचक्रमे ।।१।।
यः कायवाङ्मनःकर्म योगः स स्यादथास्रवः । शुभः पुण्यस्य निर्दिष्टः पापस्याप्यशुभस्तथा ।।२।।
सकषायोऽकषायश्च स्यातां तत्स्वामिनावुभौ । स साम्परायिकाय स्यात्तयोरीर्यापथाय च ।।३।।
इन्द्रियाणि कषायाश्च प्रथमस्यावतक्रियाः । उक्ताः पञ्चचतुः पञ्चपञ्चविंशतिसम्मिताः ।।४।।
देहिनां स्पर्शनादीनि हृषीकाणि[2] कषायकान् । क्रोधादीनव्रतान्याहुर्हिंसादीनि मनीषिणः ।।५।।
गुरुचैत्यागमादीनां पूजास्तुत्यादिलक्षणा । सा सम्यक्त्वक्रिया नाम ज्ञेया सम्यक्त्ववर्धिनी ।।६।।
अन्यदृष्टिप्रशंसादिरूपा मिथ्यात्वहेतुका । प्रवृत्तिः परमार्थेन सा मिथ्यात्वक्रियोच्यते ।।७।।

षोडश सर्ग

अथानन्तर आस्रव से रहित तथा वचनों के स्वामी श्री शान्तिजिनेन्द्र भव्यजीवों के पुण्यास्रव के लिये इस प्रकार आस्रव तत्त्व का क्रम से कथन करने के लिये उद्यत हुये ।।१।। जो काय वचन और मन की क्रिया है वह योग कहलाता है । वह योग ही आस्रव है । शुभयोग पुण्य कर्म का और अशुभ योग पाप कर्म का आस्रव कहा गया है ।।२।। आस्रव के स्वामी जीव सकषाय और अकषाय के भेद से दो प्रकार के हैं । उपर्युक्त योग सकषाय जीवों के सांपरायिक आस्रव और अकषाय जीवों के ईर्यापथ आस्रव के लिये होता है ।।३।। पांच इन्द्रियां, चार कषाय, पांच अव्रत और पच्चीस क्रियाएं ये सांपरायिक आस्रव के भेद हैं ।।४।। विद्वज्जन प्राणियों की स्पर्शन आदि को पांच इन्द्रिय, क्रोधादिक को चार कषाय और हिंसादिक को पांच अव्रत कहते हैं ।।५।।

गुरु प्रतिमा तथा आगम आदि की पूजा स्तुति आदि लक्षण से सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली जो क्रिया है वह सम्यक्त्व क्रिया है ।।६।। मिथ्यात्व के कारण अन्य दृष्टियों की प्रशंसादि रूप जो जीव की प्रवृत्ति है वह परमार्थ से मिथ्यात्व क्रिया कही जाती है ।।७।। शरीर आदि के द्वारा अपनी तथा अन्य

---

१ शान्तिजिनेन्द्रः २ इन्द्रियाणि ।

कायाद्यैः स्वस्य चान्येषां गमनादिप्रवर्तनम् । सा प्रयोगक्रियेत्युच्चैः प्रयोगज्ञैरुदाहृता ॥८॥
संयमाधारभूतस्य साधोरविरतिं प्रति । आभिमुख्यं समादानक्रियेति परिकीर्त्यते ॥९॥
ईर्यापथक्रिया नाम स्यादीर्यापथहेतुका । क्रोधावेशादथोद्भूता क्रिया प्रादोषिकी क्रिया ॥१०॥
अभ्युद्यमः प्रदुष्टस्य स्यात्ततः कायिकी क्रिया । हिंसोपकरणादानादथाधारक्रियोच्यते ॥११॥
असुखोत्पत्तितन्त्रत्वात्सा क्रिया पारितापिकी । हिंसात्मिका च विज्ञेया क्रिया प्राणातिपातिकी ॥१२॥
रागार्द्रीभूतभावस्य संयतस्य प्रमादिनः । रम्यरूपनिरीक्षाभिप्रायः स्याद्दर्शनक्रिया ॥१३॥
उत्पादनादपूर्वस्य स्वतोऽधिकरणस्य तु । प्रात्ययिकी क्रिया नाम प्रत्येतव्या[1] मनीषिणा ॥१४॥
प्रमादवशतः किञ्चित्सतो द्रष्टव्यवस्तुनि । संचेतनानुबन्धः स्यात्प्रसिद्धाभोगिनी क्रिया ॥१५॥
स्त्रीपुंसादिकसंपातिप्रदेशेऽन्तर्मलोद्घृतिः । क्रिया भवति सा नाम्ना समन्तादुपतापिनी ॥१६॥
धरण्यामप्रमृष्टायामदृष्टायां च केवलम् । शरीरादिकनिक्षेपस्त्वनाभोगक्रिया स्मृता ॥१७॥
क्रियां परेण निर्वर्त्यां[2] स्वयं कुर्यात्प्रमादतः । सा स्वहस्तक्रिया नाम प्रयतात्मभिरुच्यते ॥१८॥
विशेषेणाभ्यनुज्ञानं पापादानप्रवृत्तिषु । सा निसर्गक्रियेत्युक्ता विमुक्तिरतमानसैः ॥१९॥
पराचरितसावद्यप्रक्रमादिप्रकाशनम् । विदारणक्रिया ज्ञेया सा समन्ता[3]ददारुणैः ॥२०॥

पुरुषों की जो गमन आदि में प्रवृत्ति होती है उसे उत्कृष्ट प्रयोग के ज्ञाता पुरुषों ने प्रयोग क्रिया कहा है ॥८॥ सयम के आधारभूत साधु असयम की ओर सन्मुख होना समादान क्रिया कही जाती है ॥९॥ ईर्यापथ के कारण जो क्रिया होती है वह ईर्यापथ नामकी क्रिया है । तथा क्रोध के आवेश से जो क्रिया उत्पन्न होती है वह प्रादोषिकी क्रिया कहलाती है ॥१०॥ अत्यन्त दुष्ट मनुष्य का हिंसादि के प्रति जो उद्यम है वह कायिकी क्रिया है तथा हिंसा के उपकरण आदि का ग्रहण करना आधार क्रिया कहलाती है ॥११॥ दुःखोत्पत्ति के कारण जो परिताप होता है वह पारितापिकी क्रिया है तथा हिंसात्मक जो क्रिया है उसे प्राणातिपातिकी क्रिया जानना चाहिए ॥१२॥ राग से आर्द्र अभिप्राय वाले प्रमादी साधु का सुन्दर रूप को देखने का जो अभिप्राय है वह दर्शन क्रिया है ॥१३॥ स्वयं अपूर्व अधिकरण के उत्पन्न करने से—विषयोपभोग के नये नये साधन जुटाने से प्रात्ययिकी क्रिया होती है ऐसा विद्वज्जनों को जानना चाहिये ॥१४॥ प्रमाद के वशीभूत होकर किसी देखने योग्य वस्तु का बार बार चिन्तन करना भोगिनी क्रिया प्रसिद्ध है ॥१५॥ स्त्री पुरुषों के आवागमन के स्थान में भीतरी मलों का छोड़ना समन्तादुपतापिनी (समन्तानुपातिनी) क्रिया है ॥१६॥ बिना मार्जन की हुयी तथा बिना देखी हुई भूमि में मात्र शरीरादिक का रखना—उठना बैठना अनाभोग क्रिया मानी गयी है ॥१७॥ दूसरे के द्वारा करने योग्य कार्य को जो प्रमाद वश स्वयं करता है उसका ऐसा करना प्रयत्नशील पुरुषो के द्वारा स्वहस्त क्रिया कही जाती है ॥१८॥ पाप को ग्रहण करने वाली प्रवृत्तियों मे विशेषरूप से समति देना निसर्ग क्रिया है ऐसा मुक्ति में लीनहृदय वाले पुरुषो ने कहा है ॥१९॥ दूसरे के द्वारा आचरित सावद्य कार्यों का प्रकट करना विदारण क्रिया है ऐसा दयालु पुरुषों को

---

१ ज्ञातव्या २ करणीयां ३ सदयपुरुषैः ।

यथोक्तं मोहतः कर्तुं मार्गमावश्यकादिषु । अशक्तस्यान्यथाख्यानमाज्ञाव्यापादिकी क्रिया ॥२१॥
शाठ्यादिना[1]ऽगमोद्दिष्टक्रियानिर्वृत्यनादरः । अनाकांक्षा क्रियेत्युक्ता निराकांक्षामलाशयैः ॥२२॥
परेण क्रियमाणासु क्रियासुच्छेदनादिषु । प्रमोदः संयमस्थस्य सा प्रारम्भक्रिया भवेत् ॥२३॥
परिग्रहग्रहासक्तेरविनाशार्थमुद्यमः । सा पारिग्राहिकीत्युक्ता क्रिया त्यक्तपरिग्रहैः ॥२४॥
स्यात्सम्यक्त्वावबोधादिक्रियासु निकृतिः सतः । मायाक्रियेति विज्ञेया माया[2]मयविवर्जितैः ॥२५॥
यथा साधु करोषीति परं दृढयति स्तवैः । मिथ्यात्वकारणाविष्ट सा मिथ्यादर्शनक्रिया ॥२६॥
सततं संयमोच्छेदिकर्मोदयवशात्सतः । अनिवृत्तिर्बुधैरित्यप्रत्याख्यानक्रियोच्यते ॥२७॥
तीव्रानुभयमन्दोत्थविज्ञाताज्ञातभावतः । तथाधिकरणाद्वीर्यात्तद्विशेषोऽवगम्यते ॥२८॥
तस्याधिकरणं सद्भिर्जीवाजीवाः प्रकीर्तिताः । आद्यस्याष्टशतं भेदा इति प्राहुर्मनीषिणः ॥२९॥
हिंसादिषु समावेशः संरम्भ इति सूरिभिः । साधनानां समभ्यासः समारम्भोऽभिधीयते ॥३०॥
आरम्भः प्रक्रमः सम्यगेवमेते त्रयो मताः । कायवाङ्मनसां[3]स्पन्दो योगः स त्रिविधो भवेत् ॥३१॥

जानना चाहिए ॥२०॥ आवश्यक आदि के विषय में मोह वश यथोक्त मार्ग को करने में असमर्थ मनुष्य का अन्यथा व्याख्यान करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है ॥२१॥ शठता आदि के कारण आगम प्रतिपादित क्रिया के करने में अनादर भाव का होना आकांक्षारूपी मल से रहित अभिप्राय वाले पुरुषों के द्वारा अनाकांक्षा क्रिया कही गयी है ॥२२॥ दूसरे के द्वारा की जाने वाली छेदन भेदनादि क्रियाओं में संयमी मनुष्य का हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है ॥२३॥ परिग्रह रूपी पिशाच से आसक्ति रखने वाले पुरुष का परिग्रह का नाश न होने के लिये जो उद्यम है उसे परिग्रह के त्यागी पुरुषों ने पारिग्राहिकी क्रिया कहा है ॥२४॥ सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान आदि की क्रियाओं में सत् पुरुष की जो माया रूप प्रवृत्ति है उसे माया रूपी रोग से रहित पुरुषों को माया क्रिया जानना चाहिये ॥२५॥ मिथ्यात्व के कारणों से युक्त अन्य पुरुष को जो 'तुम अच्छा कर रहे हो' इस प्रकार के प्रशंसात्मक शब्दों द्वारा दृढ करता है उसका वह कार्य मिथ्यादर्शन क्रिया है ॥२६॥ निरन्तर संयम का घात करने वाले कर्मों के उदय से सत्पुरुष का जो त्याग रूप परिणाम नहीं होता है वह विद्वज्जनों के द्वारा अप्रत्याख्यान क्रिया कही गयी है ॥२७॥

तीव्रभाव, मध्यमभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण तथा वीर्य से उस आस्रव में विशेषता जानी जाती है ॥२८॥ आस्रव का जो अधिकरण है उसके सत्पुरुषों ने जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण इसप्रकार दो भेद कहे हैं। उनमें विद्वज्जन जीवाधिकरण के एक सौ आठ भेद हैं ऐसा कहते हैं ॥२९॥ हिंसादि के विषय में अभिप्राय का होना संरम्भ है तथा साधनों का अच्छी तरह अभ्यास करना समारम्भ है, ऐसा विद्वज्जनों के द्वारा कहा जाता है। कार्य का प्रारंभ कर देना आरम्भ है, इस प्रकार ये तीन माने गये हैं। काय वचन और मन का जो सचार है वह तीन प्रकार का योग है ॥३०—३१॥ स्वतन्त्रता की प्रतिपत्ति जिसका प्रयोजन है वह ज्ञानीजनों के द्वारा कृत कहा

---

१ शास्त्रोक्तक्रियाकरणेऽनादरः २ मायारोगरहितैः —माया एव आमयः तेन विवर्जितैः ३ सञ्चलनम्।

स्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं कृतमित्युच्यते बुधैः । सदा परप्रयोगार्थं कारितग्रहणं तथा ॥३२॥
प्रायः प्रयोजकस्यान्तःपरिणामः प्रदर्श्यते । यथानुमतशब्देन त्रिकमेतदितीष्यते ॥३३॥
क्रोधो मानश्च माया च लोभश्चेति कषायकान् । संरम्भादित्रिवर्गेण प्रत्येकं गुणयेत्क्रमात् ॥३४॥
निर्वर्तना च निक्षेपः संयोगश्च मनीषिभिः । जीवेतराधिकरणं निसर्गश्चेति कथ्यते ॥३५॥
द्विचतुर्द्वित्रिभेदास्ते यथाक्रममुदीरिताः । एवमेकादशैकत्र तद्विद्भिः परिपिण्डिताः ॥३६॥
मूलोत्तरगुणाभ्यां तु द्विधा निर्वर्तना मता । मूलं सचेतनं विद्यात्काष्ठादिकमथोत्तरम् ॥३७॥
अप्रत्यवेक्षितो नित्यं दुःप्रमृष्टश्च केवलम् । सहसा चानाभोगश्च स्यान्निक्षेपश्चतुर्विधः ॥३८॥
भक्तोपकरणाभ्यां स्यात्संयोगो द्विविधो मतः । योगभेदान्निसर्गस्य त्रैविध्यं परिकल्प्यते ॥३९॥
प्रदोषो निह्नुतिर्मात्सर्यान्तरायौ च पूर्वयोः । आसादनोपघातौ च कर्मणोः [1]स्रुतिहेतवः ॥४०॥
कीर्तने मोक्षमार्गस्य कस्यचिच्चाभिजल्पतः । यश्चान्तः पिशुनो भावः स प्रदोषः प्रकीर्तितः ॥४१॥
कुतश्चित्कारणान्नास्ति न वेद्मीत्यादि कस्यचित् । ज्ञानस्य निह्नुतिर्योग्ये या सा निह्नुतिरीर्यते ॥४२॥

जाता है। दूसरे से कराना जिसका प्रयोजन है वह कारित कहलाता है। और प्रेरक मनका जो परिणाम है वह अनुमत शब्द से दिखाया जाता है। इस प्रकार यह कृत-कारित और अनुमोदना का त्रिक है ॥३२—३३॥ क्रोध मान माया और लोभ ये चार कषाय हैं इन्हें संरम्भादिक त्रिवर्ग के द्वारा क्रम से गुणित करना चाहिये। अर्थात् संरम्भादिक तीनका तीनयोगों में गुणा करने से नौ भेद होते हैं। नौ का कृत कारित और अनुमोदना में गुणा करने से सत्ताईस होते हैं और सत्ताईस का क्रोधादि चार कषायों में गुणा करने से जीवाधिकरण के एक सौ आठ भेद होते हैं ॥३४॥

निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग यह विद्वज्जनों के द्वारा अजीवाधिकरण आस्रव कहा गया है ॥३५॥ इनमें यथाक्रम से निर्वर्तना के दो, निक्षेप के चार, संयोग के दो और निसर्ग के तीन भेद कहे है। इस प्रकार अजीवाधिकरण आस्रव के ज्ञाता पुरुषों ने अजीवाधिकरण के एकत्रित ग्यारह भेद कहे है ॥५६॥ मूलगुण और उत्तर गुणों के भेद से निर्वर्तना दो प्रकार की मानी गयी है। सचेतन को मूल गुण और काष्ठादिक को उत्तर गुण जानना चाहिए ॥३७॥ अप्रत्यवेक्षित निक्षेप, दुष्प्रमृष्ट निक्षेप, सहसा निक्षेप और अनाभोग निक्षेप, इस प्रकार निक्षेप चार प्रकार का होता है ॥३८॥ भक्तपान—संयोग और उपकरण संयोग के भेद से संयोग दो प्रकार का माना गया है तथा योगों के भेद से निसर्ग तीन प्रकार का कहा जाता है ॥३९॥

प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्म के आस्रव के हेतु हैं ॥४०॥ मोक्ष मार्ग का व्याख्यान होने पर कोई मनुष्य कहता तो कुछ नहीं है परन्तु अन्तरङ्ग में उसके दुष्ट भाव होता है। उसका वह दुष्ट भाव प्रदोष कहा गया है ॥४१॥ किसी कारण से नही है, नहीं जानता हूं इत्यादि शब्दों द्वारा किसी का देने योग्य विषय में ज्ञान का जो छिपाना है वह निह्नुति कहलाती है ॥४२॥ योग्य पुरुष के लिए भी जो अभ्यास किया हुआ भी

---

१ आस्रवहेतवः ।

यदभ्यस्तमपि ज्ञानं योग्यायापि न दीयते । तन्मात्सर्यमिति प्राहुराचार्याः कार्यशालिनः ॥४३॥
ज्ञानवृत्तिव्यवच्छेदकरणं परिकीर्त्यते । अन्तराय इति प्राज्ञैः प्रज्ञामदविवर्जितैः ॥४४॥
अवहेलमिति ज्ञाने प्राहुरासदनां बुधाः । उपघातमिति ज्ञानविनाशन समुद्यतिः ॥४५॥
दुःखं शोकश्च कथ्यन्ते तापश्चाक्रन्दनं वधः । परिदेवनमित्येतान्यसातास्रवहेतवः ॥४६॥
स्वपरोभययुक्तानि तानि ज्ञेयानि धीमता । आधिर्दुःखमितिप्रोक्तं शोकोऽन्यविरहासुखम् ॥४७॥
तापो विप्रतिसारः स्यादाक्रन्दनमितीर्यते । संतापजाश्रुसंतानं प्रलापादिभिरन्वितम् ॥४८॥
आयुरक्षबलप्राणवियोगकरणं वधः । हेतुः परानुकम्पादेः परिदेवनमुच्यते ॥४९॥
भूतव्रत्यनुकम्पा च त्यागः शौचं क्षमा परा । सरागसंयमादीनां योगश्चेत्येवमादिकम् ॥५०॥
सद्वेद्यास्रवहेतुः स्यादिति विद्भिरुदाहृतम् । सत्त्वाक्षेष्वशुभोत्थस्य विरतिः संयमो मतः ॥५१॥
संसारकारणत्यागं प्रत्यागूर्णो[1] निरन्तरः । स चाक्षीणाशयः सद्भिः सराग इति कथ्यते ॥५२॥
केवलिश्रुतसङ्घानां धर्मस्य च दिवौकसाम् । हेतुस्त्व[2]वर्णवादः स्याद् दृष्टिमोहास्रवस्य च ॥५३॥

ज्ञान नहीं दिया जाता है उसे कार्य से सुशोभित आचार्य मात्सर्य कहते हैं ॥४३॥ ज्ञान की वृत्ति का विच्छेद करना, प्रज्ञा के मद से रहित ज्ञानीजनों के द्वारा अन्तराय कहा जाता है ॥४४॥ ज्ञान के विषय में जो अनादर का भाव होता है उसे विद्वज्जन आसादना कहते हैं और ज्ञान को नष्ट करने का जो उद्यम है उसे उपघात कहते है ॥४५॥

दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन ये असातावेदनीय के आस्रव के हेतु है ॥४६॥ ये दुःख शोकादि निज, पर और दोनो के लिए प्रयुक्त होते हैं ऐसा बुद्धिमान जनों को जानना चाहिए। मानसिक व्यथा को दुःख कहा गया है। अन्य के विरह से जो दुःख होता है उसे शोक कहते है ॥४७॥ पश्चात्ताप को ताप कहते है। जिसमें सन्ताप के कारण अश्रुओं की सतति चालू रहती है तथा जो प्रलाप आदि से सहित होता है वह आक्रन्दन कहलाता है ॥४८॥ आयु, इन्द्रिय, बल तथा श्वासोच्छ्वास का वियोग करना वध है। और ऐसा विलाप करना जो दूसरों को दया आदि का कारण हो परिदेवन कहलाता है ॥४९॥

भूतव्रत्यनुकम्पा, दान, शौच, उत्तम क्षमा, और सराग सयमादि का योग इत्यादिक साता-वेदनीय के आस्रव के हेतु हैं ऐसा ज्ञानीजनों ने कहा है। प्राणियों तथा इन्द्रियों में अशुभोपयोग का जो त्याग है वह संयम माना गया है ॥५०-५१॥ जो संसार के कारणों का त्याग करने के प्रति निरन्तर तत्पर रहता है परन्तु जिसकी सराग परिणति क्षीण नही हुयी है वह सत्पुरुषों के द्वारा सराग कहा जाता है ॥५२॥

केवली, श्रुत, सङ्घ, धर्म और देवों का अवर्णवाद—मिथ्या दोष कथन दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव का हेतु है ॥५३॥ कषाय के उदय से प्राणियों का जो तीव्र परिणाम होता है वह चारित्र मोह

---

१ समुद्यत: २. अविद्यमान दोषकथनम् ।

यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः स देहिनाम् । चारित्रमोहनिष्यन्दहेतुरित्यवगम्यताम् ॥५४॥
कषायोत्पादनं स्वस्यान्येषां वा साधुदूषणम् । संक्लिष्टलिङ्गशीलादिधारणादिकमप्यलम् ॥५५॥
कषायवेदनीयस्य हेतुरित्यभिधीयते । निःशेषोन्मूलिताशेषकषायारिकदम्बकैः ॥५६॥
धर्मोपहसनं विज्ञास्तथा दीनाभिहासनम् । बहुप्रलापहास्यादि हास्यवेद्यस्य कारणम् ॥५७॥
नानाक्रीडासु तात्पर्यं व्रतशीलेषु चारुचिः । इत्येवमादिकं हेतू रतिवेद्यस्य जायते ॥५८॥
अन्यस्यारतिकारित्वं परारतिविकत्थनम् । स्यादीदृशमथान्यच्चारतिवेद्यस्य कारणम् ॥५९॥
स्वशोकमूकभावत्वं परशोकप्लुतादिकम् । निमित्तं शोकवेदस्य वीतशोकाः प्रचक्षते ॥६०॥
स्वाभीत्यध्यवसायान्यभीतिहेतुक्रियादिकम् । कारणं भयवेद्यस्य विभयैरित्युदाहृतम् ॥६१॥
जुगुप्सा च परीवादः[1] कुलाचारक्रियादिषु । जुगुप्सावेदनीयस्य प्राहुरास्रवकारणम् ॥६२॥
अतिसंधान[2]तात्पर्यमलीकालापकौशलम् । विद्धात्प्रवृद्धरागादि नारीवेदस्य* कारणम् ॥६३॥
स्तोकक्रोधोऽनुत्सिक्तत्वञ्च भवेत्सूत्रितवादिता[3] । संतोषश्च स्वदारेषु पुंवेदास्रवकारणम् ॥६४॥
कषायाधिक्यमन्यस्त्रीसङ्गो गुह्यादिकर्तनम् । स्यान्नपुंसकवेदस्य कारणं चातिमायिता ॥६५॥
सबह्वारम्भमूर्च्छादि नारकस्यायुषस्तथा । तैर्यग्योनस्य माया च कारणं परिकथ्यते ॥६६॥

के आस्रव का हेतु है यह जानना चाहिए ॥५४॥ निज और पर को कषाय उत्पन्न करना, साधुओं को दूषण लगाना, सक्लिष्ट लिङ्ग तथा शीलादि को धारण करना यह सब कषाय वेदनीय के आस्रव का हेतु है ऐसा सपूर्ण रूप से समस्त कषायरूपी शत्रुओ को उन्मूलित करने वाले आचार्यों के द्वारा कहा जाता है ॥५५-५६॥ धर्म की हँसी उड़ाना, दीन जनों का उपहास करना, बहुत बकवास और बहुत हास्य आदि करना; इन सब को हास्य वेदनीय कर्मका कारण जानना चाहिये ॥५७॥ नाना क्रीडाओं मे तत्परता, तथा व्रत और शीलों में अरुचि होना, इत्यादि रतिवेदनीय का आस्रव है ॥५८॥

दूसरों को अरति उत्पन्न करना, दूसरो की अरति को अच्छा समझना—उसकी प्रशंसा करना, तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य अरतिवेदनीय के कारण है ॥५९॥ अपने शोक में चुप रहना तथा दूसरे के शोक मे उछल कूद करना हर्ष मनाना इसे शोक रहित श्रीगुरु शोकवेदनीय का आस्रव कहते है ॥६०॥ अपने आप के अभय रहने का संकल्प करना और दूसरों को भय उत्पन्न करने वाले कार्यो का करना भयवेदनीय के कारण हैं ऐसा भय रहित मुनियों ने कहा है ॥६१॥ कुलाचार की क्रियाओं में ग्लानि तथा उनकी निन्दा करने को जुगुप्सा वेदनीय के आस्रव का कारण कहते है ॥६२॥ अत्यधिक धोखा देने में तत्परता, मिथ्या भाषण की कुशलता और बहुत भारी रागादि का होना यह स्त्रीवेद का कारण है ॥६३॥ अल्प क्रोध होना, अहंकार का न होना, आगम के अनुसार कथन करना, तथा स्वस्त्री में सतोष रखना पुंवेद के आस्रव का कारण है ॥६४॥ कषाय की अधिकता, परस्त्री संगम, गुह्य अङ्गों का छेदना और अधिक मायाचार नपुंसकवेद का कारण है ॥६५॥

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह आदि नरकायु का तथा मायाचार तिर्यञ्च आयु का कारण कहा जाता है ॥६६॥ निःशीलव्रतपना, स्वभाव से कोमल होना और विनय की अधिकता यह सब

---

१ निन्दा २ प्रतारणतत्परत्वम् * नारीवेदस्य ब० ३ अल्पभाषित्वम् ।

निःशीलव्रतताहेतुः कथिता मनुजायुषः । स्वभावमार्दवत्वञ्च प्रश्रयाधिकता तथा ॥६७॥
सरागसंयमः पूर्वः संयमासंयमस्तथा । अकामनिर्जराबालतपांस्येतानि हेतवः ॥६८॥
प्रोक्ता देवायुषस्तज्ज्ञैः सम्यक्त्वं च तथा परम् । अन्यत्र कल्पवासिभ्यः सम्यक्त्वं च विकल्पयेत् ॥६९॥
योगानां वक्रता नाम्नो विसंवादनमप्यलम् । अशुभस्य शुभस्यापि हेतुः स्यात्तद्विपर्ययः ॥७०॥
अथ सम्यक्त्वशुद्ध्याद्यास्तीर्थकृन्नामकर्मणः । हेतवः षोडश ज्ञेया भव्या भव्यात्मनां सदा ॥७१॥
स्वस्तुतिः परनिन्दा च सद्गुणोच्छादनं तथा । नीचैर्गोत्रस्य हेतुः स्यादप्यसद्गुणकीर्तनम् ॥७२॥
उच्चैर्गोत्रस्य हेतुः स्यात्पूर्वोक्तस्य विपर्ययः । अन्तरायस्य दानादिप्रत्यूहकरणं तथा ॥७३॥
व्रतादीनि शुभान्याहुः सत्कर्माणि मनीषिणः । तानि पुण्यास्रवस्य स्युः कारणानि [1]तनूभृताम् ॥७४॥
मिथ्यात्वाविरती योगाः प्रमादाश्च कषायकाः । बन्धस्य हेतवो ज्ञेयास्तेषु मिथ्यात्वमुच्यते ॥७५॥
सक्रियस्य प्रमाणं स्यादशीतिशतमेवकम् । अक्रियस्य च भेदाः स्यादशीतिश्चतुरुत्तरा ॥७६॥
सप्तषष्टिरबुद्धानां[2] भेदा वैनयिकस्य च । द्वात्रिंशत्सर्वमेकत्र त्रिषष्ठित्रिशताधिकम् ॥७७॥
द्वादशाविरतेर्भेदाः प्राणीन्द्रियविकल्पतः । षड्विधानि हृषीकाणि प्राणिनश्चापि षड्विधाः ॥७८॥

मनुष्यायु का कारण है ॥६७॥ पहले कहा हुआ सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बाल तप और सम्यक्त्व ये सब ज्ञानी पुरुषों के द्वारा देवायु के आस्रव कहे गये हैं । विशेषता यह है कि सम्यक्त्व कल्पवासी देवों को छोड कर अन्य देवों का कारण नहीं है ॥६८–६९॥

योगों की वक्रता और विसंवाद अशुभ नाम कर्म का कारण है तथा इनसे विपरीत भाव शुभ-नाम कर्म का कारण है ॥७०॥ तदनन्तर दर्शन विशुद्धि आदि सोलह उत्तम भावनाएं भव्यजीवों को सदा तीर्थंकर नाम कर्म का कारण जानना चाहिये ॥७१॥

अपनी प्रशंसा करना, पर की निन्दा करना, दूसरे के विद्यमान गुणों का आच्छादन करना और अपने अविद्यमान गुणों का कथन करना नीचगोत्र कर्म का हेतु है ॥७२॥ पूर्वोक्त परिणति से विपरीत परिणति, उच्च गोत्र का हेतु है । तथा दान आदि में विघ्न करना अन्तराय कर्म का आस्रव है ॥७३॥ विद्वज्जन व्रत आदि सत्कार्यों को शुभ भाव कहते हैं । ये शुभभाव प्राणियों के पुण्यास्रव के कारण होते हैं ॥७४॥

मिथ्यात्व, अविरति, योग, प्रमाद और कषाय ये बन्ध के हेतु जानने योग्य हैं । इनमें मिथ्यात्व का कथन किया जाता है ॥७५॥ क्रियावादियों के एक सौ अस्सी, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ, वैनयिकों के बत्तीस तथा सब के एकत्र मिलाकर तीन सौ त्रेसठ प्रकार का मिथ्यात्व है ॥७६–७७॥

प्राणी और इन्द्रिय के विकल्प से अविरति के बारह भेद हैं । पांच इन्द्रियों और मन को मिला-कर छह इन्द्रियां होती हैं तथा पांच स्थावर और एक त्रस के भेद से जीव भी छह प्रकार के हैं ॥७८॥

---

१ प्राणिनाम् २ अज्ञानिनाम् ।

योगश्च त्रिविधो ज्ञेयो मनोवाक्कायभेदतः । शुद्ध्यष्टकादिभेदेन प्रमादा बहुधा मताः ॥७९॥
क्रोधो मानश्च माया च लोभ इत्युदिताः क्रमात् । चतुर्विधाः कषायाश्च प्रत्येकं ते चतुर्विधाः ॥८०॥
अनन्ताननुबध्नन्ति भवान्संयोजयन्ति च । इत्यनन्तानुबन्ध्याख्याः पूर्वे संयोजनाश्च ते ॥८१॥
अप्रत्याख्याननामानः प्रत्याख्यानाह्वयास्तथा । क्रमात्संज्वलनाख्याश्च विज्ञेयाः स्वहितैषिभिः ॥८२॥
[1]चत्वारस्ते क्रमाद् घ्नन्ति सम्यक्त्वं देशसंयमम् । संयमं सुविशुद्धिं च कषायाः कायधारिणाम् ॥८३॥
दृषद्भूमिरजोवारिराजिभिः सदृशः सदा । क्रमाच्चतुर्विधः क्रोधो विज्ञेयो ज्ञानवेदिभिः ॥८४॥
शिलास्तम्भास्थिकाष्ठाग्रिवल्लरीभिः समो मतः । मानश्चतुर्विधो लोके चतुर्वर्गफलार्गलः ॥८५॥
माया स्ववसारमूलाविभृङ्गगोमूत्रचामरैः । तुल्या चतुःप्रकारापि सन्मार्ग परिपन्थिनी ॥८६॥
लोभश्च कृमिरागांशुनीलीकर्दमरात्रिभिः[2] । समश्चतुर्विकल्पोऽपि सत्संकल्पस्य नाशकः ॥८७॥
मायालोभकषायौ च क्रोधमानौ च तत्त्वतः । रागद्वेषाविति द्वन्द्वं ताभ्यामात्मा कदर्थ्यते ॥८८॥
प्रकृतिः प्रथमो बन्धो द्वितीयः स्थितिरुच्यते । अनुभागस्तृतीयः स्यात्प्रदेशस्तुर्य इष्यते ॥८९॥
योगाः प्रकृतिबन्धस्य प्रदेशस्य च हेतवः । कषायाश्च परिज्ञेया विद्भिः स्थित्यनुभागयोः ॥९०॥

मन वचन काय के भेद से योग तीन प्रकार का जानना चाहिये तथा शुद्ध्यष्टक आदि के भेद से प्रमाद बहुत प्रकार का माना गया है ॥७८-७९॥ क्रोध, मान, माया और लोभ इसप्रकार क्रम से चार कषाय कही गयी हैं । ये चारों कषाय अनन्तानुबन्धी आदि के भेद से चार चार प्रकार की होती हैं ॥८०॥ जो अनन्तभवों तक अपना अनुबन्ध—संस्कार रखती हैं अथवा अनन्तभवों को प्राप्त कराती हैं वे अनन्तानुबन्धी अथवा अनन्तसंयोजन नामक कषाय हैं ॥८१॥ अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन नामक कषाय भी आत्महित के इच्छुक मनुष्यों के द्वारा जानने योग्य हैं ॥८२॥ वे अनन्तानुबन्धी आदि चार कषाये क्रम से जीवों के सम्यक्त्व, देश संयम, संयम और यथाख्यातचारित्र रूपी विशुद्धता को घातती है ॥८३॥ ज्ञान के जानने वाले मनुष्यों को सदा क्रम से पाषाण भेद सदृश, भूमिभेद सदृश, रजोभेद सदृश और जल रेखा सदृश के भेद से चार प्रकार का क्रोध जानने योग्य है ॥८४॥ लोक में चतुर्वर्ग रूपी फल को रोकने के लिए आगल के समान जो मान है वह शिलास्तम्भसम, अस्थिसम, काष्ठसम और लतासम के भेद से चार प्रकार का माना गया है ॥८५॥ सन्मार्ग की विरोधिनी माया भी वंशमूलसम, मेषशृङ्गसम, गोमूत्रसम और चामरसम के भेद से चार प्रकार की है ॥८६॥ समीचीन सकल्प को नष्ट करने वाला लोभ भी कृमिरागसम, नीलीसम, कर्दमसम और हरिद्रासम के भेद से चार प्रकार का है ॥८७॥ माया और लोभ कषाय राग तथा क्रोध और मान कषाय द्वेष इस प्रकार राग द्वेष का द्वन्द्व है । इन राग द्वेष के कारण ही आत्मा दुखी होता है ॥८८॥

प्रकृति बन्ध पहला स्थितिबन्ध दूसरा, अनुभाग बन्ध तीसरा और प्रदेश बन्ध चौथा इस प्रकार बन्ध चार प्रकार का माना जाता है ॥८९॥ ज्ञानीजनों को योग प्रकृति और प्रदेश बन्ध के तथा कषाय स्थिति और अनुभाग बन्ध के हेतु जानना चाहिए ॥९०॥ ज्ञानावरण के पांच भेद हैं,

---

१ सम्मत्तदेस संयम   २ हरिद्रा 'हल्दी' इति प्रसिद्धः ।

भेदा ज्ञानावृतेः पञ्च नव स्युर्दर्शनावृतेः । भेदद्वयं तथा प्रोक्तं वेदनीयस्य कर्मणः ।।९१।।
अष्टाविंशतिभेदः स्यान्मोहनीयस्य चायुषः । चतुर्विधोऽभवेन्नाम्नो भेदास्त्रिनवतिः स्मृताः ।।९२।।
द्विभेदं गोत्रमिच्छन्ति विघ्नः पञ्चविधः स्मृतः । पिण्डिता द्विगुणा ज्ञेयाः सप्ततिश्चतुरुत्तरा ।।९३।।
अथ बन्धोदयौ कर्मप्रकृतीनामुदीरणा । सत्ता चेति चतुर्भेदो ज्ञेयो निःश्रेयसार्थिना ।।९४।।
[1]चतु पञ्चकृती ज्ञेयो [2]पूर्वयोरव्रते दश । चतस्रः षट् तथैका च संयतासंयतादिषु ।।९५।।
[3]उभे त्रिसदपूर्वस्थे चतस्रश्च तथोदिताः । अनिवृत्तिगुणस्थाने पञ्च सूक्ष्मेऽपि षोडश ।।९६।।
एका सयोगिनि जिने सातारव्या परिकीर्त्यते । आयान्त्येता गुणेष्वेषु बन्धं प्रकृतयः क्रमात्[4] ।।९७।।
ततः पञ्च नवैका च दश सप्ताधिकास्तथा । अष्टौ पञ्च चतस्रश्च षट्षैका च तथा द्वयम् ।।९८।।
उदयं षोडश त्रिंशद् द्वादशैता यथाक्रमम् । यांति प्रकृतयः सम्यगयोगान्तेषु [5]धामसु ।।९९।।
ततः पञ्च नवैका च दश सप्ताधिकास्तथा । अष्टावष्टौ चतस्रश्च षट्षडेका तथा द्वयी ।।१००।।
षोडश त्रिंशदधिका नवभिर्यान्त्युदीरणाम् । सयोगिजिनपर्यन्तेष्वादितः क्रमशोऽध्वसु[6] ।।१०१।।

दर्शनावरण के नौ भेद है और वेदनीय कर्म के दो भेद कहे गये हैं ।।९१।। मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार और नाम कर्म के तेरानवे भेद माने गये हैं ।।९२।। गोत्र कर्म के दो भेद है, अन्तराय कर्म के पांच भेद हैं और सबके मिलकर एक सौ आठ भेद जानना चाहिए ।।९३।।

अथानन्तर मोक्षाभिलाषी जीव को कर्म प्रकृतियो के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता ये चार भेद ज्ञातव्य है—जानने के योग्य है ।।९४।। प्रथम-द्वितीय गुणस्थान में क्रम से चार का वर्ग अर्थात् सोलह और पाच का वर्ग अर्थात् पच्चीस, अव्रतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में दश, संयता संयतादि तीन गुणस्थानों मे क्रम से चार, छह और एक, अपूर्वकरण गुणस्थान में दो तीस और चार मिलाकर छत्तीस, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में पांच, सूक्ष्म साम्पराय में सोलह और सयोगी जिनमें एक साता वेदनीय कही जाती है । ये प्रकृतियां इन गुणस्थानों में ही क्रम से बन्ध को प्राप्त होती हैं उपरितन गुणस्थानों में इनकी बन्धव्युच्छित्ति होती है ।।९५-९७।।

तदनन्तर पाच, नौ, एक, सत्तरह, आठ, पांच, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह, तीस और बारह ये प्रकृतियां क्रम से अयोगि केवली पर्यन्त गुणस्थानों में उदय को प्राप्त होती हैं अर्थात् अग्रिम गुणस्थानो में इनकी उदयव्युच्छित्ति होती है ।।९८-९९।।

तदनन्तर पांच, नौ, एक, सत्तरह, आठ, आठ, चार, छह, छह, एक, दो, सोलह और उनतालीस ये प्रकृतियां प्रारम्भ से लेकर सयोगि जिन पर्यन्त गुणस्थानों मे क्रम से उदीरणा को प्राप्त होती हैं अर्थात् उपरितन गुणस्थानों में इनकी उदीरणा व्युच्छित्ति हो जाती है ।।१००-१०१।।

---

१ चतुःकृतिः —षोडश, पञ्चकृतिः —पञ्चविंशतिः २ प्रथमद्वितीयगुणस्थानयोः ३ सर्वा मिलिताः षट्त्रिंशत् ४ सोलस पण बीस णभं दस चउछक्केक्क बंध वोच्छिण्णा । दुगतीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ।। कर्मकाण्ड ९४ गाथा ५ गुणस्थानेषु, पण णव इगि सत्तरसं अड पंच च चउर छक्क छच्चेव । इगि दुग सोलसतीसं बारस उदये अजोगंता ।।२६४।। कर्मकाण्डे । ६ पण णव इगि सत्तरसं अट्ठट्ठ य चदुर छक्क छच्चेव । इगि दुग सोलुगदालं उदीरणा होंति जोगंता ।।२८१।। कर्मकाण्डे ।

मिथ्यात्वं मिश्रसम्यक्त्वे यान्ति संयोजनान्यपि । अव्रताद्यप्रमत्तान्तस्थानेष्वेकत्र संक्षयम् ॥१०२॥
तिर्यङ्नरकदेवायुः स्वे स्वे जन्मनि निश्चितम् । परिक्षयं समभ्येति तत्रत्यानां तनूभृताम् ॥१०३॥
[1]षोडशाष्टावथैकैका षट् चैकैका तथैकका । अनिवृत्तौ तथैका च सूक्ष्मे चैका विनश्यति ॥१०४॥
क्षीणे षोडश चायोगे द्वासप्ततिरुपान्तिमे । समये च तथान्त्ये च विनश्यन्ति त्रयोदश ॥१०५॥
आद्ये द्वे मोहविघ्ने च दुःखदायीनि देहिनाम् । शेषाणि सुखदुःखस्य कारणानि विनिर्दिशेत् ॥१०६॥
एभिर्विवर्तमानस्य परिवर्तनपञ्चकम्[2] । संसार इति जीवस्य ज्ञेयः संसारभीरुभिः ॥१०७॥
एकेन पुद्गलद्रव्यं यत्तत्सर्वमनेकशः । उपभुज्य परित्यक्तमात्मना द्रव्यसंसृतौ[3] ॥१०८॥
लोकत्रयप्रदेशेषु समस्तेषु निरन्तरम् । भूयोभूयो मृतं जातं जीवेन क्षेत्रसंसृतौ[4] ॥१०९॥

मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व सम्यक्त्वप्रकृति और विसंयोजना को प्राप्त होने वाली अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, ये सात प्रकृतियां अव्रत सम्यग्दृष्टि को आदि लेकर अप्रमत संयत तक गुण स्थानों में से किसी एक में क्षय को प्राप्त होती है भावार्थ—उन सात प्रकृतियों में से सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी चतुष्क का अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों के अन्त समय में एक ही बार विसंयोजन—अप्रत्याख्यानावरणादि रूप परिणमन होना है तथा अनिवृत्तिकरणकाल के बहुभाग को छोड़कर शेष संख्यातवें एक भाग में पहले समय से लेकर मिथ्यात्व, मिश्र तथा सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय होता है ॥१०२॥ तिर्यञ्च आयु, नरक आयु और देवायु अपनी अपनी गति में वहां उत्पन्न होने वाले जीवों के नियम से क्षय को प्राप्त होती है। भावार्थ–तिर्यञ्च आयु का अस्तित्व पञ्चम गुणस्थान तक और नरक तथा देवायु का अस्तित्व चतुर्थ गुणस्थान तक ही रहता है आगे नही ॥१०३॥ अनिवृत्ति करण गुणस्थान में क्रम से सोलह, आठ, एक, एक, छह, एक, एक, एक, एक और सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान में एक प्रकृति नाश को प्राप्त होती है। भावार्थ—अनिवृत्ति करण के नौ भागों में क्रम से सोलह आठ आदि प्रकृतियों का क्षय होकर उनकी सत्त्वव्युच्छित्ति होती है ॥१०४॥ क्षीणमोह गुणस्थान में सोलह और अयोगकेवली के उपान्त्य समय में बहत्तर तथा अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियां क्षय को प्राप्त होती हैं ॥१०५॥

प्रारम्भ के दो कर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा मोह और अन्तराय ये चार कर्म जीवों को दुःख देने वाले हैं। शेष चार कर्म सुख दुःख के कारण उपस्थित करते है ॥१०६॥ इन कर्म प्रकृतियों से विविध पर्यायों को धारण करने वाले जीव के जो पांच परिवर्तन होते है उन्हें संसार से भयभीत मनुष्यों को संसार जानना चाहिये। भावार्थ—कर्मों के कारण जीव नानारूप धारण करता हुआ द्रव्य क्षेत्र काल भव और भाव इन पांच परिवर्तनों को करता है। उन परिवर्तनों का करना ही संसार है ॥१०७॥ जितना कुछ पुद्गल द्रव्य है उस सब को एक जीव ने द्रव्य परिवर्तन में अपने आपके द्वारा अनेकों बार ग्रहण करके छोड़ा है ॥१०८॥ इस जीव ने क्षेत्र परिवर्तन के बीच तीनों लोकों के समस्त प्रदेशों में बार बार जन्म मरण किया है ॥१०९॥ उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में वे समयावलियां नही

---

1 सोलट्ठेक्किगिछक्कं चदुसेक्कं बादरे अदो एक्कं। खीणे सोलस जोगे बायत्तरि तेरुवत्तंते ॥३३७॥ कर्मकाण्डे
2 द्रव्य क्षेत्र काल भवभावभेदेन परिवर्तनं पञ्चविधम् 3 द्रव्यपरिवर्तने 4 क्षेत्रपरिवर्तने ।

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः समयावलिका न ताः । यासु मृत्वा न संजातमात्मना [1]कालसंसृतौ ॥११०॥
असंख्येयजगन्मात्रा भावाः सर्वे निरन्तरम् । जीवेनादाय मुक्ताश्च बहुशो [2]भावसंसृतौ ॥१११॥
नर नारक तिर्यक्षु देवेष्वपि समन्ततः । मृत्वा जीवेन संजातं बहुशो [3]भवसंसृतौ ॥११२॥
इति बन्धात्मको ज्ञेयः संसारः सारवर्जितः । अभव्यानामनादिः स्यादवसानविवर्जितः ॥११३॥
अनादिरपि भव्यानां [4]सविरामो भवेदयम् । तत्त्वार्थरुचयो भव्यास्तत्त्वार्थद्विषणोऽपरे ॥११४॥
आस्रवनिरोधैकलक्षणः संवरो मतः । भावद्रव्यविकल्पेन द्वैविध्यं तस्य कल्प्यते ॥११५॥
क्रियाणां भवहेतूनां निवृत्तिर्भावसंवरः । द्रव्यकर्मास्रवाभावो भण्यते द्रव्यसंवरः ॥११६॥
तिस्रोऽथ गुप्तयः पञ्च पराः समितयस्तथा । धर्मो दशविधो नित्यमनुप्रेक्षा [5]द्विषड्विधाः ॥११७॥
द्वाविंशतिविधा ज्ञेयाः सद्भिः सम्यक्परीषहाः । विजयश्च सदा तेषां चारित्राण्यथ पञ्च च ॥११८॥
एतानि हेतवो ज्ञेयाः संवरस्य मुमुक्षुभिः । यत्नेन भावनीयानि भवविच्छेदनोद्यतैः ॥११९॥
गुप्तिरित्युच्यते सद्भिः सम्यग्योगनिग्रहः । मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिरितीर्यते ॥१२०॥
समितिः सम्यगयनं ज्ञेयाः समितयश्च ताः । ईर्याभाषैषणादानं—निक्षेपोत्सर्गपूर्विकाः ॥१२१॥

हैं जिनमें काल परिवर्तन के बीच यह जीव मरण कर उत्पन्न नहीं हुआ हो ॥११०॥ भाव परिवर्तन में इस जीव ने असख्यात लोक प्रमाण समस्त भावों को बहुत बार ग्रहण कर छोड़ा है ॥१११॥ इसी-प्रकार भवपरिवर्तन के बीच यह जीव नर नारक तिर्यञ्च और देवों में भी अनेकों बार मर कर उत्पन्न हुआ है ॥११२॥ इसप्रकार यह बन्धरूप संसार सार रहित जानना चाहिये । यह ससार अभव्य जीवों का अनादि और अनन्त होता है तथा भव्यजीवों का अनादि होने पर भी सान्त होता है । तत्त्वार्थ की श्रद्धा रखने वाले जीव भव्य हैं और तत्त्वार्थ से द्वेष रखने वाले अभव्य है ॥११३-११४॥

अथानन्तर आस्रव का निरोध हो जाना ही जिसका एक लक्षण है वह संवर माना गया है । भाव संवर और द्रव्य संवर के भेद से वह दो प्रकार का कहा जाता है ॥११५॥ संसार की कारणभूत क्रियाओं की निवृत्ति होना भावसंवर है और द्रव्यकर्मों के आस्रव का अभाव होना द्रव्य संवर कहलाता है ॥११६॥ तीन गुप्तियां, पांच उत्कृष्ट समितियां, दश धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएं, बाईस परीषहों का जीतना, और पांच चारित्र ये सवर के हेतु हैं । ससार का विच्छेद करने के लिये उद्यत मुमुक्षु जनों को इनकी निरन्तर भावना करना चाहिये ॥११६-११९॥ सम्यक् प्रकार से योगों का निग्रह करना सत्पुरुषों के द्वारा गुप्ति कही जाती है । उसके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीन भेद कहलाते हैं ॥१२०॥

सम्यक्—प्रमादरहित प्रवृत्ति को समिति कहते हैं । इसके पांच भेद जानना चाहिये—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग ॥१२१॥ क्षमा, मार्दव, शौच, आर्जव, सत्य, संयम, ब्रह्मचर्य,

---

१ कालपरिवर्तने २ भावपरिवर्तने ३ भवपरिवर्तने ४ सान्तः ५ द्वादशप्रकाराः ।

[1]तितिक्षा मार्दवं शौचमार्जवं सत्यसंयमौ । ब्रह्मचर्यं तपस्त्यागाकिञ्चन्यं धर्म उच्यते ॥१२२॥
कालुष्यसंनिधानेऽपि हिंसाक्रोशनादिभिः । अकालुष्यं मुनेः सद्भिस्तितिक्षेति विवक्षिता ॥१२३॥
जात्याद्यष्टमदावेशविनाशः खलु मार्दवम् । शुचिभिः सर्वतो लोभान्निवृत्तिः शौचमुच्यते ॥१२४॥
अभिमाननिरासश्च योगस्यावक्रतार्जवम् । अपि सत्सु प्रशस्तेषु साधुवाक्सत्यमुच्यते ॥१२५॥
प्राण्यक्षपरिहारः स्यात्संयमो यमिनां मतः । वासो गुरुकुले नित्यं ब्रह्मचर्यमुदीर्यते ॥१२६॥
परं कर्मक्षयार्थं यत्तप्यते तत्तपः स्मृतम् । त्यागः सुधर्मशास्त्रादिविश्राणन[2]मुदाहृतम् ॥१२७॥
शरीरादिकमात्मीयमनपेक्ष्य प्रवर्तनम् । निर्ममत्वं मुनेः सम्यगाकिञ्चन्यमुदाहृतम् ॥१२८॥
रूपादीनामनित्यत्वं धर्मान्न शरणं परम् । संसारान्न परं कष्टमेकोऽहं सुखदुःखभाक् ॥१२९॥
अन्योऽहं मूर्तितोऽमूर्तिरशुचिस्त्वेवमास्रवः । गुप्त्यादिःसंवरोपायः तपसा कर्मनिर्जरा ॥१३०॥
सुप्रतिष्ठसमस्थित्या जगदेवमवस्थितम् । धर्मो जगद्धितायोच्चैर्जिनैरयमुदाहृतः ॥१३१॥
श्रद्धादिभ्योऽपि जीवस्य दुर्लभो बोधिरञ्जसा । इत्येतेषामनुध्यानमनुप्रेक्षाः प्रचक्षते ॥१३२॥
सदा संवरसन्मार्गाच्यवनार्थं परीषहाः । निर्जरार्थं च सोढव्याः क्षुत्पिपासादयो बुधैः ॥१३३॥

तप, त्याग, और आकिञ्चन्य ये दश धर्म कहलाते हैं ॥१२२॥ शत्रुओं के कुवचन आदि के द्वारा कलुषता के कारण रहते हुए भी मुनि को जो कलुषता उत्पन्न नहीं होती है वह सत्पुरुषों से विवक्षित क्षमा है ॥१२३॥ जाति आदि आठ प्रकार के अहंकारभाव का नाश होना निश्चय से मार्दव है और लोभ से सर्वप्रकार की निवृत्ति होना निर्मल पुरुषों के द्वारा शौच धर्म कहा जाता है ॥१२४॥ अभिमान का निराकरण करना तथा योगों की कुटिलता का न होना आर्जव है । उत्तम सत्पुरुषों के साथ निर्दोष वचन बोलना सत्य कहलाता है ॥१२५॥ प्राणिघात तथा इन्द्रिय विषयों का परिहार करना मुनियों का सयम माना गया है तथा गुरुकुल में अर्थात् दीक्षाचार्य आदि के साथ सदा निवास करना ब्रह्मचर्य कहलाता है ॥१२६॥ कर्मों का क्षय करने के लिये जो अत्यधिक तपा जाता है वह तप माना गया है । उत्तम धर्म तथा शास्त्र आदि का देना त्याग कहा गया है ॥१२७॥ अपने शरीरादिक की अपेक्षा न कर मुनि की जो ममता रहित प्रवृत्ति है वह समीचीन आकिञ्चन्य धर्म कहा गया है ॥१२८॥

रूपादिक की अनित्यता है, धर्म से अतिरिक्त कोई दूसरा शरण नहीं है, संसार से बढ़ कर दूसरा कष्ट नहीं है, मैं अकेला ही सुख दुःख भोगता हूं, मैं मूर्ति रहित हू तथा शरीर से भिन्न हूं, इसी-प्रकार शरीर अपवित्र है, कर्मों का आस्रव हो रहा है, गुप्ति आदि संवर के उपाय हैं, तप से कर्मों की निर्जरा होती है, सुप्रतिष्ठक—मोंदरा–ठौना के समान यह लोक स्थित है, जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ यह उत्कृष्ट धर्म ही जगत् के हित के लिए है तथा जीव को परमार्थ से आत्मज्ञान—आत्मानुभूति होना श्रद्धा आदि की अपेक्षा भी दुर्लभ है, इस प्रकार इन सबके बार बार चिन्तवन करने को अनुप्रेक्षा कहते है ॥१२९–१३२॥ विद्वज्जनों को संवर के मार्ग से च्युत नहीं होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिए सदा क्षुधा तृषा आदि परिषह सहन करना चाहिए ॥१३३॥

---

१ क्षमा २ त्यागः ।

आद्यं सामायिकं प्राहुश्चारित्रं द्विविधं पुनः । कालेनानियतेनैकं नियतेनान्यसंयुतम् ॥१३४॥
छेदोपस्थापनं नाम चारित्रमिति कथ्यते । निवृत्तिः प्रविभागेन विच्छेदे वा प्रतिक्रिया ॥१३५॥
परिहारविशुद्ध्याख्यं परिहारविशुद्धितः । स्यात्सूक्ष्मसांपरायश्च सूक्ष्मीकृतकषायतः ॥१३६॥
चारित्रमोहनीयस्य क्षयेणोपशमेन च । याथात्म्यसमवस्थानं यथाख्यातं प्रचक्ष्यते ॥१३७॥
तपसा निर्जरां विद्यात् द्विप्रकारं तपश्च तत् । बाह्यमाभ्यन्तरं चेति प्रत्येकं तच्च षड्विधम् ॥१३८॥
संयमादिप्रसिद्ध्यर्थं रागविच्छेदनाय च । कर्मनिर्मूलनायाहुराद्यं त्वनशनं तपः ॥१३९॥
दोषप्रशमसंतोषस्वाध्यायादिप्रसिद्धये । द्वितीयमवमोदर्यं तपः सद्भिः प्रशस्यते ॥१४०॥
एकागारादिविषयः संकल्पश्चित्तरोधकः । तद्वृत्तिपरिसंख्यानं तृतीयं कथ्यते तपः ॥१४१॥
स्वाध्यायसुखसिद्ध्यर्थमक्षदर्पप्रशान्तये । तपो रसपरित्यागस्तुर्यमार्यैः प्रधार्यते ॥१४२॥

सामायिक नामक प्रथम चारित्र को दो प्रकार का कहते है—एक अनियत काल से सहित है और दूसरा नियत काल से युक्त है। भावार्थ—जिसमें समय की अवधि न रखकर सदा के लिए समताभाव धारण कर सावद्य कार्यों का त्याग किया जाता है वह अनियतकाल सामायिक चारित्र है और जिसमें समय की सीमा रख कर त्याग किया जाता है वह नियतकाल सामायिक चारित्र है ॥१३४॥ जिसमें छेद विभाग पूर्वक हिंसादि पापों से निवृत्ति की जाती है अथवा व्रतभङ्ग होने पर उसका निराकरण पुनः शुद्धता पूर्वक व्रत धारण किया जाता है वह छेदोपस्थापना नामका चारित्र कहा जाता है। भावार्थ—छेदोपस्थापना शब्द की निरुक्ति दो प्रकार से होती है 'छेदेन उपस्थापना छेदोपस्थापना' अर्थात् मैं हिंसा का त्याग करता हू, असत्य भाषण का त्याग करता हूँ इस प्रकार विभाग पूर्वक जिसमें सावद्य कार्यों का त्याग होता है वह छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा 'छेदे सति उपस्थापना छेदोपस्थापना' अर्थात् व्रत मे छेद—भङ्ग होने पर पुन. अपने आपको व्रताचरण मे उपस्थित करना छेदोपस्थापना है ॥१३५॥ परिहार विशुद्धि से—तपश्चरण से प्राप्त उस विशिष्ट शुद्धि से जिसके कारण जीव राशि पर चलने पर भी जीवों का घात नहीं होता है, होने वाला चारित्र परिहार विशुद्धि नामका चारित्र कहलाता है। अतिशय सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त हुयी कषाय से जो होता है वह सूक्ष्मसापराय नामका चारित्र है ॥१३६॥ चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम से आत्मा के यथार्थ स्वरूप में जो अवस्थिति है वह यथाख्यात चारित्र कहलाता है ॥१३७॥

तपसा निर्जरा को जानना चाहिये अर्थात् तप के द्वारा संवर और निर्जरा दोनों होते है। बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से वह तप दो प्रकार का है तथा प्रत्येक के छह छह भेद होते है ॥१३८॥ संयमादि की सिद्धि के लिये, राग का विच्छेद करने के लिए और कर्मों का क्षय करने के लिये जो आहार का त्याग किया जाता है वह अनशन नामका प्रथम बाह्य तप है ॥१३९॥ दोषों का प्रशमन, सतोष तथा स्वाध्याय आदि की प्रसिद्धि के लिये सत्पुरुषों द्वारा दूसरे अवमोदर्य (निश्चित आहार से कम आहार लेना) तप की प्रशसा की जाती है ॥१४०॥ 'मै एक घर तक या दो घर तक आहार के लिए जाऊंगा' इस प्रकार मन को रोकने वाला संकल्प करना वृत्ति परिसंख्यान नामका तृतीय तप कहलाता है ॥१४१॥ स्वाध्याय की सुख पूर्वक सिद्धि के लिए तथा इन्द्रियों का दर्प शान्त करने के लिए जो घी दूध आदि रसों का परित्याग किया जाता है वह आर्य पुरुषों द्वारा रस परित्याग नामक

शून्यागारादिषु स्थेयं साधु शय्यासनादिकम् । पञ्चमं तत्तपः साधोर्विविक्तशयनासनम् ॥१४३॥
योगैस्त्रैकालिकैर्नित्यमुपवासादिषूद्यमः । साधोः साधुभिरित्युक्तं तपः षष्ठमनिन्दितम् ॥१४४॥
आलोचनाथ गुरवे स्यात्प्रमादनिवेदनम् । प्रतिक्रमणमित्युक्तमभिव्यक्तप्रतिक्रिया ॥१४५॥
प्राहुस्तदुभयं जैनाः संसर्गे सति शोधनम् । भक्तोपकरणादीनां विवेको भजनं तथा ॥१४६॥
व्युत्सर्गः कथ्यते कायोत्सर्गादिकरणं परम् । तपश्चाप्युपवासावमोदर्यादिकलक्षणम् ॥१४७॥
¹प्रव्रज्याहापनं ²वेलाविना पक्षादिना भवेत् । परिहारो वर्जनं स्यात्पक्षमासादिसंख्यया ॥१४८॥
पुनर्दीक्षासमाधानमुपस्थापनमुच्यते । इत्थं नवविधं प्रायश्चित्तं विज्ञवतां मतम् ॥१४९॥
मोक्षार्थं वाङ्मयाभ्यासस्मरणग्रहणादिकम् । नित्यं सबहुमानेन स ज्ञानविनयो मतः ॥१५०॥
शङ्कादिदोषरहिता तत्त्वार्थरुचिरञ्जसा । सम्यक्त्वविनयश्चेति कथ्यते विनयार्थिभिः ॥१५१॥
चारित्रेषु समाधानं सद्वृत्तः शुद्धचेतसा । चारित्रविनयो ज्ञेयश्चारित्रालंकृतात्मभिः ॥१५२॥
अभ्युत्थानप्रणामादिराचार्यादिषु भक्तितः । अथोपचारविनयो विनयः स्याच्चतुर्विधः ॥१५३॥

चतुर्थ तप निश्चित किया जाता है ॥१४२॥ पर्वत की गुफा आदि शून्य स्थानों में जो अच्छी तरह शयनासन किया जाता है वह साधु का विविक्त शय्यासन नामका पञ्चमतप जानना चाहिए ॥१४३॥ तीन काल— ग्रीष्म वर्षा और शीत काल सम्बन्धी योगों के द्वारा उपवासादि के समय साधुओं के द्वारा जो उद्यम किया जाता है वह कायक्लेश नामका छठवां प्रशंसनीय तप कहा गया है ॥१४४॥

गुरु के लिए अपने प्रमाद का निवेदन करना आलोचना है। दोषों को प्रकट कर उनका प्रतिकार करना प्रतिक्रमण कहा गया है ॥१४५॥ गुरुजनों की संगति प्राप्त होने पर अपराध को शुद्ध करना तदुभय— आलोचना और प्रतिक्रमण है। आहार तथा उपकरणादिक का पृथक् करना विवेक है ॥१४६॥ कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग कहलाता है। उपवास तथा ऊनोदर आदिक तप कहा जाता है। पक्ष आदि समय की अवधि द्वारा दीक्षा का छेदना छेद होता है। एक पक्ष तथा एक माह आदि के लिए संघ से अलग कर देना परिहार है और पुनः दीक्षा देना उपस्थापन कहलाता है। इस प्रकार यह नौ प्रकार का प्रायश्चित तप ज्ञानीजनों को इष्ट है ॥१४७—१४९॥

मोक्ष के लिए आगम का अभ्यास स्मरण तथा ग्रहण आदिक निरन्तर बहुत सम्मान से करना ज्ञानविनय माना गया है ॥१५०॥ शङ्का आदि दोषों से रहित तत्त्वार्थ की वास्तविक रुचि होना सम्यक्त्व विनय है ऐसा विनय के इच्छुक जनों के द्वारा कहा जाता है ॥१५१॥ चारित्र के धारक मनुष्यों को शुद्ध हृदय से चारित्र में समाहित करना—वैय्यावृत्य के द्वारा स्थिर करना चारित्र से अलंकृत आत्मा वाले मुनियों द्वारा चारित्र विनय जानना चाहिए ॥१५२॥ आचार्य आदि के आने पर भक्तिपूर्वक उठकर उनके सामने जाना तथा प्रणाम आदि करना उपचार विनय है। इस प्रकार यह चार प्रकार का विनय तप है ॥१५३॥

---

१ दीक्षाच्छेदः २ समयावधिना ।

स्वकायेनाथवा वाचा सांधु द्रव्यान्तरेण वा । आर्ते प्रतिक्रियामाहुर्वैयावृत्त्यं मनीषिणः ॥१५४॥
तच्चाचार्यादिविषयभेदाद् दशविधं भवेत् । विचिकित्सा¹विनाशार्थं भावनीयं भवच्छिदे ॥१५५॥
ग्रन्थार्थोभयदानं स्याद्वाचना पृच्छना तथा । परस्परानुयोगो हि संशयच्छेदनाय च ॥१५६॥
अभ्यासो निश्चितार्थस्य मानसे च मुहुर्मुहुः । अनुप्रेक्षेत्यनुप्रेक्षाप्रसृतैरभिधीयते ॥१५७॥
परिवर्तनमाम्नायो घोषशुद्ध्यावसीयते । क्षेत्रकालादिसंशुद्धिमङ्गीकृत्य यथोचितम् ॥१५८॥
भवेद्धर्मकथादीनामनुष्ठानं समन्ततः । धर्मोपदेश इत्येवं स्वाध्यायः पञ्चधोदितः ॥१५९॥
स बाह्याभ्यन्तरोपध्योस्त्यागो व्युत्सर्ग उच्यते । बाह्यं क्षेत्रादि विज्ञेयं कोपाद्याभ्यन्तरं तथा ॥१६०॥
उत्कृष्टकायबन्धस्य: साधोरन्तर्मुहूर्तकम् । ध्यानमाहुरथैकाग्रचिन्तारोधं बुधोत्तमाः ॥१६१॥
आर्तं रौद्रञ्च तद्धर्म्यं शुक्लं चेति चतुर्विधम् । संसृतेः कारणं ²पूर्वे स्यातां मुक्तेस्तथा ³परे ॥१६२॥
आद्यं चतुर्विधं विद्यादमनोज्ञ⁴समागमे । स्मृतेस्तद्विप्रयोगाय समन्वाहारमुच्यते ॥१६३॥
विपरीतं मनोज्ञस्य वेदनायाश्च तद्वतः । निदानं चेति विद्वद्भिरार्तभेदाः प्रकीर्तिताः ॥१६४॥

अपने शरीर, वचन अथवा अन्य द्रव्य के द्वारा दुःखी जीव के दुःख का प्रतिकार करने को विद्वज्जन वैयावृत्त्य कहते हैं ॥१५४॥ वह वैयावृत्त्य आचार्य आदि विषय के भेद से दश प्रकार का होता है ग्लानि का निराकरण करने तथा संसार का छेद करने के लिए इस तप की निरन्तर भावना करना चाहिए ॥१५५॥

ग्रन्थ, अर्थ और दोनों का देना वाचना है। संशय का छेद करने के लिए परस्पर पूछना प्रच्छना है ॥१५६॥ निर्णीत अर्थ का मन में बार बार अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है ऐसा अनुप्रेक्षा में संलग्न मुनियों के द्वारा कहा जाता है ॥१५७॥ उच्चारण की शुद्धि पूर्वक पाठ करना आम्नाय कहलाता है क्षेत्र तथा कालादि की शुद्धि को लेकर धर्मकथा आदि का यथायोग्य सर्वत्र अनुष्ठान करना—उपदेशादिक देना धर्मोपदेश कहलाता है। इस प्रकार यह पांच तरह का स्वाध्याय कहा गया है ॥१५८—१५९॥

बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना व्युत्सर्ग कहलाता है। क्षेत्र आदिक बाह्य परिग्रह और क्रोधादिक अन्तरङ्ग परिग्रह जानना चाहिए ॥१६०॥

उत्कृष्ट संहनन के धारक मुनि का अन्तर्मुहूर्त तक किसी एक पदार्थ में जो चिन्ता का निरोध होता है उसे श्रेष्ठ विद्वान् ध्यान कहते हैं ॥१६१॥ वह ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल इस तरह चार प्रकार का होता है। इनमें पहले के दो ध्यान—आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं तथा आगे के दो ध्यान—धर्म्य और शुक्ल ध्यान मुक्ति के कारण हैं ॥१६२॥ पहला आर्त्तध्यान चार प्रकार का जानना चाहिए। अनिष्ट पदार्थ का समागम होने पर उसे दूर करने के लिए स्मृति का बार बार उस ओर जाना अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान कहलाता है ॥१६३॥ इष्ट वस्तु का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए स्मृति का बार बार उस ओर जाना इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान है।

---

१ ग्लानिनिराकरणार्थं २ आर्त्तरौद्रे ३ धर्म्यशुक्ले ४ अनिष्टसंयोगे ।

[1]अव्यक्तदेशविरतप्रमत्तास्तत्प्रयोजकाः । चत्वारोऽव्यक्तशब्दोक्ता मिथ्यादृष्ट्यादयस्तथा ॥१६५॥
हिंसानृतोरुचौर्यार्थसंरक्षणेभ्यः प्रसूयते । रौद्रध्यानं च तस्येशावव्यक्तश्रावकौ मतौ ॥१६६॥
आज्ञापायौ विपाकश्च लोकसंस्थानमित्यपि । एतेषां विचयेनोक्तं धर्मध्यानं चतुर्विधम् ॥१६७॥
सौक्ष्म्यात्समस्तभावानां स्वजाड्याच्च यथागमम् । सम्यक्चिन्तानिरोधश्च तत्राज्ञाविचयो भवेत् ॥१६८॥
सन्मार्गमनवाप्यैते बत ताम्यन्ति दुर्हृशः । अपायविचयोऽप्येवं सन्मार्गापायचिन्तनम् ॥१६९॥
ईदृशः कर्मणामेषां परिपाकोऽतिदुःसहः । एवं विपाकविचयो विपाकपरिचिन्तनम् ॥१७०॥
जगदूर्ध्वमधस्तिर्यक् चैवमेतद्व्यवस्थितम् । इति चिन्तानिरोधो यः स लोकविचयः स्मृतः ॥१७१॥
आद्ये पूर्वविदः स्यातां शुक्ले केवलिनः परे । श्रेण्यधिरोहणाद्धर्म्यं प्राक्ततः शुक्लमिष्यते ॥१७२॥

वेदना—पीड़ा सहित मनुष्य का उस पीड़ा को दूर करने के लिए बार बार उपयोग जाना वेदनाजन्य आर्त्तध्यान है और आगामी भोगों की इच्छा होना निदान नामका आर्त्तध्यान है। इस प्रकार विद्वानों ने आर्त्तध्यान के चार भेद कहे हैं ॥१६४॥ अत्यक्त, देशविरत और प्रमत्त सयत गुणस्थानवर्ती जीव आर्त्तध्यान के प्रयोजक है। मिथ्यादृष्टि आदि चार गुणस्थानवर्ती जीव अत्यक्त शब्द से कहे गये हैं ॥१६५॥

हिंसा, असत्यभाषण, चौर्य और परिग्रह के सरक्षण से जो ध्यान उत्पन्न होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है। इस रौद्रध्यान के स्वामी अत्यक्त—प्रारम्भ को चार गुणस्थानों मे रहने वाले जीव तथा श्रावक—पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीव माने गये है ॥१६६॥

आज्ञा, उपाय, विपाक और लोक संस्थान इनके विचय मे जो ध्यान होता है वह चार प्रकार का धर्म्यध्यान कहा गया है ॥१६७॥ समस्त पदार्थों की सूक्ष्मता और अपनी जडता–अज्ञान दशा से आगम के अनुसार सम्यक् प्रकार से चिन्ता का निरोध होना आज्ञा विचय धर्म्यध्यान है। भावार्थ—पदार्थ सूक्ष्म हो और अपनी अज्ञान दशा हो तब आगम में जो कहा है वह ठीक है ऐसा चिन्तवन करना आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान है ॥१६८॥ खेद है कि ये मिथ्यादृष्टि जीव सन्मार्ग को न पाकर दुखी हो रहे हैं इस प्रकार सन्मार्ग के अपाय का चिन्तन करना अपाय विचय नामका धर्म्यध्यान है ॥१६९॥ इन कर्मो का ऐसा परिपाक अत्यन्त दुःसह है इसप्रकार विपाक—कर्मोदय का विचार करना विपाक विचय नामका धर्म्यध्यान है ॥१७०॥ यह जगत् ऊपर नीचे और समान धरातलपर इस प्रकार व्यवस्थित है ऐसा चिन्ता का जो निरोध करना है वह लोक विचय—संस्थान विचय नामका धर्म्यध्यान माना गया है ॥१७१॥

शुक्लध्यान के चार भेद है उनमे आदि के दो भेद पूर्वविद्—पूर्वों के ज्ञाता मुनि के होते हैं और अन्त के दो भेद केवली के होते है। श्रेणी चढ़ने के पूर्व धर्म्यध्यान होता है और उसके बाद शुक्लध्यान माना जाता है। भावार्थ—कही कषाय का सद्भाव रहने से दशवे गुणस्थान तक धर्म्यध्यान और उसके बाद शुक्लध्यान माना गया है ॥१७२॥ जो पृथक्त्व वितर्क है वह पहला शुक्लध्यान कहा

---

१ अविरत ।

यत्पृथक्त्ववितर्कं तत्पूर्वं शुक्लमुदाहृतम् । यदेकत्ववितर्कं च द्वितीयमवसीयताम् ॥१७३॥
तृतीयं च तथा सूक्ष्मक्रियासु प्रतिपातनात् । नाम्ना सूक्ष्मक्रियापूर्वं प्रतिपातीति कथ्यते ॥१७४॥
तुरीयं च समुच्छिन्नक्रियासु प्रतिपातनात् । समुच्छिन्नक्रियापूर्वं प्रतिपाति तथाख्यया ॥१७५॥
त्रियोगस्य भवेत्पूर्वमेकयोगस्य चापरम् । तृतीयं काययोगस्य तुर्यं स्यादयोगिनः ॥१७६॥
व्यक्तमेकाश्रये पूर्वे ध्याने ध्यानरतात्मनि । तथा वितर्कवीचारसंयुते चाभिकथ्यते ॥१७७॥
अवीचारं द्वितीयं स्याद्वितर्कः श्रुतमुच्यते । अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः परिवर्तनम् ॥१७८॥
द्रव्यं स्यात्पर्ययो वार्थो व्यञ्जनं वचनं तथा । योगोऽङ्गवाङ्मनःस्पन्दः संक्रान्तिः परिवर्तनम् ॥१७९॥
वृत्तगुप्त्यादिसंयुक्तः संसारविनिवृत्तये । प्रयत्नेन यतिर्ध्यातुमिति कायादिकां स्थितिम् ॥१८०॥
द्रव्याणुमथवा ध्यायन्भावाणुं वा समाहितः । गच्छन्वितर्कसामर्थ्यमर्थव्यञ्जने तथा ॥१८१॥
शरीरवचसो वापि पृथक्त्वेनाभिगच्छता । मनसा कुण्ठशस्त्रेण छिन्दन्निव महातरुम् ॥१८२॥
अथोपशमयन्मोहप्रकृतीः क्षपयन् शनैः । यतिर्ध्यायन्भवेदेवं स पृथक्त्ववितर्कभाक् ॥१८३॥

गया है और जो एकत्व वितर्क है उसे दूसरा शुक्लध्यान जानना चाहिए ॥१७३॥ सूक्ष्म क्रियाओं में प्रतिपातन से जो होता है—काययोग की अत्यन्त सूक्ष्म परिणति रह जाने पर जो होता है वह सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान कहलाता है ॥१७४॥ और समुच्छिन्न क्रियाओं मे प्रतिपातन से—योग जन्य परिष्पन्द के सर्वथा नष्ट हो जाने से जो होता है वह समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाति नामका चौथा शुक्लध्यान कहा जाता है ॥१७५॥ पहला भेद तीन योग वालों के होता है, दूसरा भेद तीन में से किसी एक योग वाले के होता है, तीसरा भेद काययोग वाले के होता है और चौथा भेद अयोग केवली के होता है ॥१७६॥ जिसकी आत्मा ध्यान में लीन है ऐसे मुनि के पहले के दो ध्यान—पृथक्त्व वितर्क वीचार तथा एकत्व वितर्क होते है ये दोनों ध्यान स्पष्ट ही एक आश्रय मे होते है और वितर्क तथा वीचार से सहित रहते है । परन्तु दूसरा शुक्लध्यान वीचार से रहित होता है । वितर्क श्रुत कहलाता है । अर्थ, व्यञ्जन और योगों में जो परिवर्तन होता है वह वीचार कहलाता है ॥१७७—१७८॥ द्रव्य और पर्याय अर्थ कहलाता है, व्यञ्जन वचन को कहते है, काय वचन और मन का जो परिष्पन्द है वह योग कहलाता है और संक्रान्ति का अर्थ परिवर्तन है ॥१७९॥ चारित्र तथा गुप्ति आदि से संयुक्त मुनि को संसार की निवृत्ति के लिए शरीरादि की स्थिति का ध्यान करने का यत्न करना चाहिए ॥१८०॥ तदनन्तर जो समाहित—ध्यान योग्य मुद्रा से बैठकर द्रव्याणु अथवा भावाणु का ध्यान करता हुआ वितर्क - श्रुत की सामर्थ्य को प्राप्त होता है और द्रव्य अथवा पर्याय अथवा शरीर और वचन योग को पृथक् रूप से प्राप्त होने वाले मन के द्वारा कुण्ठित शस्त्र से महावृक्ष के समान मोहकर्म की प्रकृतियों का जो धीरे धीरे उपशमन अथवा क्षपण करता है इस प्रकार ध्यान करने वाला वह मुनि पृथक्त्व वितर्क नामक शुक्लध्यान को धारण करने वाला होता है । भावार्थ—इस ध्यान में मोहजन्य इच्छा का अभाव हो जाने से अर्थ व्यञ्जन और योगों की संक्रान्ति - परिवर्तन का अभाव हो जाता है इसलिए जिस योग से आगम के जिस वाक्य या पद का ध्यान शुरू करता है उसी पर अन्तर्मुहूर्त तक रुकता है । यहां ध्यान करने वाला मुनि पर्याप्त बल तथा उत्साह से रहित होता है इसलिए जिस प्रकार कोई मनुष्य मोथरे शस्त्र के द्वारा किसी बड़े वृक्ष को बहुत काल में छेद

रुन्धानो मोहनीयस्य बन्धं ह्रासक्षयावपि । कुर्वन्नाधुरपर्याप्तश्रुतज्ञानावलम्बनः ॥१८४॥
त्यक्तार्थादिकसंक्रान्तिः परिनिश्चलमानसः । ततः क्षीणकषायः सन् सद्ध्यानान्न निवर्तते ॥१८५॥
इत्येकत्ववितर्काग्निदग्धघातिमहेन्धनः । यतिस्तीर्थकृदन्यो वा केवलज्ञानमाप्नुयात् ॥१८६॥
कर्मत्रितयमायुष्काद्भूयस्त्वधिकं यदि । ततो गच्छेत् समुद्घातं तत्समीकरणाय सः ॥१८७॥
समानस्थितिसंयुक्तं यद्यघातिचतुष्टयम् । अवलम्ब्य तदा सूक्ष्मं काययोगं स केवली ॥१८८॥
तृतीयं शुक्लमाध्याय ध्यात्वा तुर्यं ततः क्रमात् । अयोगी स यथाख्यातचारित्रेणातिभासते ॥१८९॥
सिद्धः सन् याति निर्वाणं ततः पूर्वप्रयोगतः । असङ्गाद्बन्धविच्छेदात्स्वस्वभावाच्च तादृशात् ॥१९०॥
संपूर्णज्ञानदृग्वीर्यसुखा नित्या निरञ्जनाः । अनुत्कृष्टभवाः सिद्धा भवन्त्यष्टगुणा इति ॥१९१॥
नासत्पूर्वाश्च पूर्वा नो निर्विशेषविकारजाः । स्वाभाविकविशेषाश्च ह्यभूतपूर्वाश्च तद्गुणाः ॥१९२॥

पाता है उसी प्रकार वह मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का धीरे धीरे बहुत समय—दीर्घ अन्तर्मुहूर्त में उपशमन अथवा क्षपण कर पाता है। उपशम श्रेणी वाला मुनि उन प्रकृतियों का उपशमन करता है और क्षपक श्रेणी वाला क्षपण करता है ॥१८१–१८३॥ जिसने मोहकर्म के बन्ध को रोक दिया है, जो प्रकृतियों के ह्रास और क्षय को भी कर रहा है, जिसे श्रुतज्ञान का अवलम्बन प्राप्त नहीं है, जिसने अर्थ-व्यञ्जन आदि की संक्रान्ति—परिवर्तन का त्याग कर दिया है तथा जिसका मन अत्यन्त निश्चल हो गया है। ऐसा मुनि क्षीण कषाय होता हुआ समीचीन ध्यान से निवृत्त नहीं होता—पीछे नहीं हटता। भावार्थ एकत्व वितर्क नामक शुक्लध्यान के द्वारा यह मुनि क्षीण कषाय नामक उस गुण-स्थान को प्राप्त होता है जहां से फिर पतन होना संभव नहीं होता ॥१८४—१८५॥ इस प्रकार एकत्व वितर्क नामक शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा जिसने घातिया कर्मरूपी बहुत भारी ईंधन को भस्म कर दिया है वह तीर्थंकर हो चाहे सामान्य मुनि हो केवलज्ञान को प्राप्त होता है ॥१८६॥

यदि वेदनीय नाम और गोत्र इन तीन अघातिया कर्मों की स्थिति आयु कर्म की स्थिति से अधिक हो तो उनका समीकरण करने के लिए वह समुद्घात करता है ॥१८७॥ यदि चारों अघातिया कर्म समान स्थिति से सहित है तो सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन लेकर वे केवली तृतीय शुक्लध्यान का चिन्तन कर उसके अनन्तर चतुर्थ शुक्लध्यान को प्राप्त होते है। चतुर्थ शुक्लध्यान के धारक केवल अयोगी—योग रहित होते है। और परम यथाख्यात चारित्र से अत्यधिक शोभायमान होते हैं ॥१८८—१८९॥ तदनन्तर सिद्ध होते हुए पूर्व प्रयोग, असङ्ग बन्ध विच्छेद अथवा उस प्रकार के स्वभाव से निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥१९०॥ वहां वे सिद्ध सम्पूर्ण—अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य और सुख से सहित होते हैं, नित्य होते हैं, निरञ्जन—कर्मकालिमा से रहित होते है, सर्वोत्कृष्ट पर्याय से युक्त होते हैं और सम्यक्त्व आदि आठगुणों से सहित होते है ॥१९१॥ वहां उनके वे गुण असत्पूर्व नहीं थे अर्थात् ऐसे नहीं थे कि पहले न हों नवीन ही उत्पन्न हुए हों किन्तु द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा शक्तिरूप से अनादिकाल से विद्यमान थे। तथा ऐसे भी नहीं थे कि पहले विद्यमान हों अर्थात् पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वे गुण अपनी नवीन पर्याय के साथ ही प्रकट हुये थे। सामान्यरूप से समस्त विकारों का अभाव होने से उत्पन्न हुये थे, स्वाभाविक विशेषता को लिये हुये थे तथा अभूतपूर्व थे ॥१९२॥ निर्जरा

निर्जरायास्तपो हेतुर्मोक्षः पूर्वोक्तलक्षणः । शक्रायेति निवेद्यासौ व्यरंसीद्धर्ममञ्जसा ॥१६३॥

उपजातिः

ततो हितार्थं जगतां विहारे प्रावर्ततासौ [1]विगताभिसन्धिः ।
[2]करैर्निरस्याक्रमते [3]विवस्वांस्तमिस्र[4]राशिं स हि तत्स्वभावः ॥१६४॥

आनन्दभारानतभव्यराशीन्वोढुं मही तत्क्षणमक्षमेव ।
चचाल जिष्णोरथवाप्रमाणां दिदृक्षमाणेव महामहर्द्धिम् ॥१६५॥

वृथैव वैयाकरणा वदन्ति संरक्षणान्मां धनदं धनानाम् ।
तन्मत्सरेणेव तदा समन्ताद्धनानि लोके धनदो व्यसारीत् ॥१६६॥

प्रादुर्बभूवे त्रिदशैरशेषैरापादयद्भिः सकलाभ्रकाण्डे ।
प्रणामपर्यस्तकिरीटभाभिः सौदामिनीदाममयीमिव द्याम् ॥१६७॥

चतुर्णिकायैरमरैर्निकीर्णा विश्वंभराभूरिति सार्थकाऽभूत् ।
[5]आलोकशब्दस्तदुदीर्यमाणः प्राध्वनद्दिग्वलयानि मन्द्रः ॥१६८॥

स्वैभावरोधेन तदा समेतं भक्त्या स्वहस्तोद्धृतमङ्गलेन ।
तत्कालयोग्यामलवेषभावं ससंभ्रमं राजकमाजगाम ॥१६९॥

का हेतु तप है और मोक्ष का लक्षण पहले कहा जा चुका है इस प्रकार इन्द्र के लिये यथार्थ धर्म का उपदेश देकर वे शान्ति जिनेन्द्र विरत हो गये—रुक गये ॥१६३॥

तदनन्तर इच्छा से रहित शान्ति जिनेन्द्र जगत् के हित के लिये विहार में प्रवृत्त हुये। यह ठीक ही है क्योंकि सूर्य किरणों के द्वारा अन्धकार के समूह को नष्ट कर जो उदित होता है उसका वह स्वभाव ही है ॥१६४॥ उस समय पृथिवी आनन्द के भार से नम्रीभूत भव्य जीवों के समूह को धारण करने के लिये मानों असमर्थ हो गयी थी अथवा जिनेन्द्र देव की अपरिमित महाप्रभाव रूपी संपदा को मानों देखना चाहती थी इसलिये चञ्चल हो उठी थी ॥१६५॥ धन का संरक्षण करने से वैयाकरण मुझे व्यर्थ ही धनद कहते हैं सच्चे धनद तो ये शान्ति जिनेन्द्र हैं इसप्रकार उनके मात्सर्य से ही मानों धनद—कुबेर लोक में सब ओर धन का वितरण कर रहा था ॥१६६॥ प्रणाम से नम्रीभूत मुकुटों की प्रभा से जो समस्त आकाश को असमय में बिजली रूपी मालाओं से तन्मयता को प्राप्त करा रहे थे ऐसे समस्त देव प्रकट हो गये ॥१६७॥ चतुर्णिकाय के देवों से व्याप्त पृथिवी उससमय 'विश्वम्भरा'—सब को धारण करने वाली, इस सार्थक नाम से युक्त हो गयी थी। उन देवों के द्वारा उच्चारण किये हुए जोरदार जय जय कार के शब्द ने समस्त दिशाओं को शब्दायमान कर दिया था ॥१६८॥ उससमय भक्ति पूर्वक अपने हाथ से मङ्गल द्रव्यों को धारण करने वाली अपनी स्त्रियों से जो सहित था तथा उस समय के योग्य निर्मल वेष आदि भाव से युक्त था ऐसा राजाओं का समूह संभ्रम सहित आ रहा था ॥१६९॥ त्रिलोकीनाथ शान्ति जिनेन्द्र के चारों ओर लोगों को हटाने के लिये जितेन्द्रिय

---

१ विगतस्पृहः २ किरणैः ३ सूर्यः ४ ध्वान्तसमूह [5] जयशब्दः ।

लोकेश्वरं तं परितोऽपि लोकानिन्द्र: समुत्सारयितुं जितात्मा ।
दौवारिकत्वं प्रतिपद्य तस्थावुल्लासयन्वेत्रलतां सलीलम् ॥२००॥
अलक्ष्यतादर्शतलोपमाना दिव्या मही [1]कामदुघा प्रजानाम् ।
अतीतमप्युत्तमभोगभूत्वं भर्तुर्महिम्नैव पुनर्दधाना ॥२०१॥
तारापथात्सौमनसीं[2] पतन्तीं वृष्टिं विलोक्येव समन्ततोऽपि ।
निरामयं निर्गतवैरबन्धं जगत्समस्तं सुमनायते स्म ॥२०२॥
पूर्वेतरे द्वे भवत स्म पंक्ती प्रोत्फुल्लहेमाब्जसहस्रयोर्वे ।
तन्मध्यभाक्पद्मसहस्रपद्मं भूयोषित: कण्ठगुणायमानम् ॥२०३॥
देदीप्यमानंद्युतिपद्मरागमयं विचित्रोज्ज्वलरत्नचित्रम् ।
संभावितानन्दवशेन नृत्यत्पद्माधिरूढप्रतिपत्रभागम् ॥२०४॥
कुतूहलक्षिप्तसुरेश्वराणां नेत्रालिवृन्देन निषेव्यमाणम् ।
स्वसौरभामोदितसर्वदिक्कं दिव:पृथिव्योस्तिलकायमानम् ॥२०५॥
समन्ततो योजनविस्तृतं यत्तत्कर्णिका तच्चतुरंशमात्रा ।
अथाविरासीद्दिवि पद्मयुग्मं तस्यैव योग्यं दिवि पद्मयोने: ॥२०६॥

(कलापकम्)

इन्द्र द्वारपालपने को प्राप्त हो लीला पूर्वक छड़ी को घुमाता हुआ खड़ा था ॥२००॥ दर्पणतल की उपमा से सहित, प्रजाओं के मनोरथ को पूर्ण करने वाली दिव्य भूमि उस समय ऐसी जान पड़ती थी मानों प्रभु की महिमा से, बीते हुए उत्तम भोगभूमि को फिर से धारण कर रही हो ॥२०१॥ आकाश से सभी ओर पड़ती हुई सौमनसवृष्टि—पुष्पवृष्टि को देखकर ही मानों समस्त जगत् नीरोग और वैरबन्धसे रहित होता हुआ सुमन-पुष्प के समान आचरण कर रहा था (पक्ष में प्रसन्न चित्त हो रहा था) ॥२०२॥

तदनन्तर आकाश में खिले हुए हजारों सुवर्ण कमलों की जो आगे पीछे दो पंक्तियां थीं उनके बीच में वह पद्मयान प्रकट हुआ जो हजारो सुन्दर कमलों से सहित था, पृथिवी रूपी स्त्री के कण्ठहार के समान जान पड़ता था, देदीप्यमान कान्ति से युक्त था, पद्मराग मणियों से निर्मित था, नाना प्रकार के उज्ज्वल रत्नों से चित्र विचित्र था, जिसकी प्रत्येक कलिका पर हर्षवश नृत्य करती हुई लक्ष्मी अधिरूढ थी, कुतूहल से युक्त इन्द्रों के नेत्र रूपी भ्रमर समूह से जो सेवित था, अपनी सुगन्ध से जिसने समस्त दिशाओं को सुगन्धित कर दिया था, जो आकाश और पृथिवी के अन्तराल में तिलक के समान जान पड़ता था, सब ओर एक योजन चौड़ा था, जिसकी कर्णिका पाव योजन प्रमाण थी, तथा जो उन शान्तिजिनेन्द्र के ही योग्य था ॥२०३—२०६॥

---

१ मनोरथप्रपूरिका २ सुमनसां पुष्पाणामिय सौमनसी ।

ये वीतरागाः शशिरश्मिगौरा लोकेश्वरस्येव गुणाः प्रकाशाः ।
स वासवास्ते वसवस्ततोऽष्टौ सारस्वताद्या वरिवस्ययैत्य ॥२०७॥
जय प्रसीदाप्रतिमप्रताप वेला विभो लोकहितोद्यमे ते ।
जातेति विज्ञाप्य नमन्ति ते स्म लोकेश्वरं लोकगुरो क्रमोऽयम् ॥२०८ ।
ततः क्रमात्प्रक्रमते स्म शम्भुरारोढुमग्रे गत[1]मब्जयानम् ।
विस्रंसमानाम्बुधिवारिवासा भूस्तत्क्षणं सप्रमदा ननर्त ॥२०९॥
शान्तिर्जिनेन्द्रो विहरत्ययं च प्रवर्ततां शान्तिरशेषलोके ।
व्याघोषयन्दिक्ष्विति घोरनादः [2]प्रास्थानिकस्तत्पटहो ररास[3] ॥२१०॥
प्रवर्तितानां प्रमथैः प्रमोदाद्गीताट्टहासस्तुतिमङ्गलानाम् ।
उच्चावचध्वैर्मिलितनादमिश्रो रवस्त्रिलोकीविवरं जगाहे ॥२११॥
गान्धर्वमुख्यैर्दिवि वाद्यमानैरातोद्यवर्गैरनुगम्यमानाः ।
सुराङ्गना व्यञ्जितसत्त्वभावाः शरीरयोगान्ननृतुः सलीलम् ॥२१२॥
आकर्ण्यमाना विहितावधानैः श्रुतापि देवैर्मुहुरश्रुतेव ।
भर्तुर्यशोगर्भतया विशुद्धा रक्ताप्यभूत्किन्नरमुख्यगीतिः ॥२१३॥

तदनन्तर जो वीतराग थे, चन्द्रमा की किरणों के समान गौर वर्ण थे, और शान्ति जिनेन्द्र के गुणों के समान प्रकाशमान थे ऐसे सारस्वत आदि आठ लौकान्तिक देव इन्द्र सहित आ कर तथा पूजा कर कहने लगे कि हे अतुल्य प्रताप के धारक ! प्रभो ! जय हो, प्रसन्न होओ, यह आपका लोक हित के उद्यम का समय आया है । ऐसा कहकर उन्होंने जगत् के स्वामी शान्तिप्रभु को नमस्कार किया तथा यह भी कहा कि हे लोकगुरो ! यह एक क्रम है । भावार्थ—हे भगवन् ! आप स्वयं लोकगुरु हैं—तीनों लोकों के गुरु है इसलिये आपको कुछ बतलाने की बात नही है मात्र यह क्रम है—हम लोगो के कहने का नियोग मात्र है इसलिये प्रार्थना कर रहे हैं ॥२०७–२०८॥

तदनन्तर भगवान् आगे स्थित पद्मयान पर क्रम से आरूढ होने के लिये उद्यत हुए । उससमय जिसका समुद्रसम्बन्धी जल रूपी वस्त्र खिसक रहा था ऐसी पृथिवी हर्ष से नृत्य करने लगी ॥२०९॥ 'अब यह शान्ति जिनेन्द्र विहार कर रहे है इसलिये समस्तलोक में शान्ति प्रवर्तमान हो' इसप्रकार की दिशाओं में घोषणा करता हुआ विशाल शब्द वाला प्रस्थान कालिक नगाड़ा शब्द कर रहा था ॥२१०॥ प्रमथ जाति के देवों के द्वारा हर्ष से प्रवर्तित गीत अट्टहास तथा स्तुतिरूप मङ्गलगानों के ऊंचे नीचे शब्दों से मिला हुआ वह नगाडा का शब्द तीनों लोकों के मध्य में व्याप्त हो गया ॥२११॥

मुख्य गन्धर्वों के द्वारा आकाश मे बजाये जाने वाले बाजों के समूह के अनुसार चलने वाली देवाङ्गनाए शरीर के योग से सात्त्विकभावों को प्रकट करती हुई लीलापूर्वक नृत्य कर रही थी ॥२१२॥ मुख्य किन्नरों का गान यद्यपि देवों ने बार बार सुना था परन्तु उस समय वह पहले न सुने हुए के

---

१ पद्मयानम् २ प्रस्थानकालभवः ३ शब्दं चकार ।

वन्दारुभिर्नन्दिजनैः समेतैः स्वयं च भक्त्या स्तुतिमङ्गलानि ।
उच्चारयद्भिः पुरतः प्रतस्थे लौकान्तिकैर्द्योतितविश्वलोकैः ॥२१४॥
[1]पद्मा परीवारयुतापि रागात्पद्मातपत्रं स्वयमुद्वहन्ती ।
तस्थौ स्वसौभाग्यगुणेन लोकान्विलोभ्य शेषान्परमेश्वराय ॥२१५॥
सरस्वती लोकमनोरमेण विद्यागुणेनानुगता निकामम् ।
चतुःप्रकारामलवाग्विभूतिरानर्च वागीश्वरमेत्य वाग्भिः ॥२१६॥
प्रसीद भर्तर्विजयस्व देव स्वामिन्नितः साधय साधयेति ।
आभाषमाणः सह तत्क्षितीशैः पुरन्दरः [2]पूर्वसरो बभूव ॥२१७॥
ततस्त्रिलोकीपतिभिः समन्ताद्विधीयमानामलमङ्गलेन ।
ललामभूतं भुवनस्य वन्द्यं भर्त्रा समारुह्यत पद्मयानम् ॥२१८॥
आशाः प्रसेदुर्ववृषुश्च रत्नान्यानन्दभेर्यो दिवि नेदुरुच्चैः ।
वसुन्धरा रञ्जितरत्नसारा [3]सस्योत्तरीयं बिभरांबभूव ॥२१९॥

समान था इसीलिये वे उसे बड़ी सावधानी से सुन रहे थे। वह गान रक्त-लाल (पक्ष में राग रागिनीयों से युक्त) होने पर भी भगवान् के यश को मध्य में धारण करने के कारण विशुद्ध— शुक्ल (पक्ष में उज्ज्वल) था ॥२१३॥ जो वन्दना करने वाले नन्दि जनों से सहित थे, भक्तिपूर्वक स्तुतिरूप मङ्गलों का उच्चारण कर रहे थे तथा समस्त लोक को जिन्होंने प्रकाशित कर रक्खा था ऐसे लौकान्तिक देव आगे चल रहे थे ॥२१४॥

इनके अतिरिक्त जो अपने परिकर से युक्त थी तथा प्रीति वश स्वयं ही परमेश्वर—शान्ति-जिनेन्द्र को कमल का छत्र लगाये हुयी थी ऐसी लक्ष्मी देवी अपने सौभाग्य गुण से अन्य समस्त लोगों को लुभा कर स्थित थी ॥२१५॥ जो लोगों के मन को रमण करने वाले—लोकप्रिय विद्या गुण से अनुगत थी तथा चार प्रकार के निर्मल वचन रूपी विभूति से सहित थी ऐसी सरस्वती देवी आकर वचनों के स्वामी श्री शान्ति जिनेन्द्र की वचनों के द्वारा अर्चा कर रही थी ॥२१६॥ हे स्वामिन् ! प्रसन्न होओ, हे देव ! आप विजयी हों, हे नाथ ! इधर पधारो पधारो इस प्रकार तत्तद्देश के राजा के साथ बार बार कहता हुआ इन्द्र आगे आगे चल रहा था ॥२१७॥

तदनन्तर तीनों लोकों के स्वामियों के द्वारा सब ओर से जिनका निर्मल मङ्गलाचार किया गया था ऐसे शान्तिप्रभु लोक के आभूषण स्वरूप उस वन्दनीय पद्मयान पर अच्छी तरह आरूढ थे ॥२१८॥ दिशाएं निर्मल हो गयी थी, रत्न बरस रहे थे, आकाश में आनन्दभेरियां उच्च शब्द कर रही थीं तथा देदीप्यमान श्रेष्ठ रत्नों से सहित पृथिवी धान्य रूपी उत्तरीय—वस्त्र को धारण कर रही थी ॥२१९॥

---

१ लक्ष्मीः २ अग्रेसरः ३ धान्योत्तरवस्त्रम् ।

सम्मार्जयन्तः परितो धरित्र्यां रजांसि दूरं सुरभीकृताशाः ।
अबाधकाः स्थावरजङ्गमानामग्रे प्रयाणं मरुतः प्रयान्ति ॥२२०॥
पुरः सलीलं परिनर्तयन्तो विद्युद्वधूं मेघकुमारवर्गः ।
सपारिजातप्रसवाभिरद्भिरुक्षां[1] बभूव क्षितिमक्षि[2]रम्याम् ॥२२१॥
विचित्ररङ्गावलिभक्तियुक्ता चित्रीयमाणा [3]पदवी सचित्रा ।
उपेयमानापि जनैः सरागैरनेकवेषैर्विरजा[4] विरेजे ॥२२२॥
अशोकचूतक्रमुकेक्षुरम्भाप्रियंगुनारङ्गसमन्वितानि ।
वनानि रम्याण्यभितोऽपि मार्गं प्रादुर्बभूवू रतये जनानाम् ॥२२३॥
विस्तारलक्ष्म्या सहितः स मार्गस्त्रियोजनैः सन्मितया व्यराजत् ।
सीमन्तरेखाद्वितयी च तस्य गव्यूतिमात्रद्वयविस्तृता स्यात् ॥२२४॥
स तोरणैर्मङ्गलवर्गयुक्तैरुत्तम्भितै रत्नमयैरनेकैः ।
अभ्रंकषैर्व्योम्नि निर[5]भ्रकेऽपि चित्रं विचित्रं तनुते स्म चित्रम् ॥२२५॥
विचित्रपुष्पैरथ पुष्पमण्डपो व्यधायि [6]वानेयसुरैर्मनोरमः ।
नरामराणामिव पुण्यसंचयः स्थितः समूर्तिर्दिवि स द्वियोजनः ॥२२६॥

जो चारों ओर पृथिवी की धूलि को झाड़ रहे थे, दूर दूर तक दिशाओं को सुगन्धित कर रहे थे, तथा चर अचर जीवों को बाधा नहीं पहुंचा रहे थे ऐसे पवन कुमार देव आगे आगे प्रयाण कर रहे थे ॥२२०॥ जो अपनी बिजली रूपी वधू को लीला सहित नचा रहा था ऐसे मेघकुमार देवों का समूह आगे आगे नयनाभिराम पृथिवी को कल्पवृक्ष के फूलों से युक्त जल के द्वारा सींच रहा था ॥२२१॥ जो रांगोलियों की विविध रचनाओं से युक्त था, अनेक चित्रों से सजाया गया था, आश्चर्य उत्पन्न कर रहा था, प्रेमसे भरे नाना वेषों को धारण करने वाले लोग जहां आ रहे थे तथा जो धूलि से रहित था ऐसा मार्ग सुशोभित हो रहा था ॥२२२॥ मनुष्यों की प्रीति के लिये मार्ग के दोनों ओर अशोक, आम, सुपारी, ईख, केला, प्रियङ्गु और नारंगी के वृक्षों से सहित सुन्दर वन प्रकट हो गये ॥२२३॥ वह मार्ग तीन योजन विस्तृत लक्ष्मी से सुशोभित हो रहा था और उसकी दोनों ओर की सीमान्त रेखाएं एक कोश चौड़ी थी ॥२२४॥ वह मार्ग मङ्गल द्रव्यों से युक्त, खड़े किये हुए अनेक रत्नमय गगनचुम्बी तोरणों के द्वारा मेघरहित आकाश में भी नाना प्रकार के चित्र विस्तृत कर रहा था यह आश्चर्य की बात थी ॥२२५॥

तदनन्तर व्यन्तर देवों ने आकाश में नाना प्रकार के फूलों से मनोहर दो योजन विस्तार वाला वह पुष्प मण्डप बनाया जो मनुष्यों और देवों के शरीरधारी पुण्य समूह के समान स्थित था ॥२२६॥ उस पुष्प मण्डप के बीच में एक ऐसा चँदेवा प्रकट हुआ जो गुच्छों से बना हुआ था, जिसके

---

१ सेचयामास २ नयनप्रियाम् ३ मार्गः ४ धूलिरहिता ५ मेघरहितेऽपि ६ व्यन्तरदेवैः।

उत्पलमालभारिणी

स्तबकमयमुन्मयूखमुक्तास्तबकितमध्यमनेकभक्तियुक्तम् ।
सुरधृतमणिदण्डकं तदन्तर्निरुपममाविरभूत्परं वितानम् ॥२२७॥

प्रहर्षिणी

तस्यान्तस्त्रिभुवनभूतये जिनेन्द्रो याति स्म प्रतिपदमेत्य नम्यमानः ।
संभ्रान्तैः करधृतमङ्गलाभिरामैर्देवेन्द्रैर्दिवि भुवि भूमिपैश्च भक्त्या ॥२२८॥

इन्द्रवंशा

तपोधनाः शिथिलितकर्मबन्धना महोदयाः सुरनतधीमहोदयाः ।
तमन्वयुर्विधुमिव शान्तविग्रहा ग्रहाः शुभाः शुभरुचयस्तमोपहम् ॥२२९॥

वियोगिनी

ननृते जयकेतुभिः पुरः परितर्ज्येव विवादिनः परान् ।
यशसः प्रकरैरिवेशितुः शरदिन्दुद्युतिकान्तकान्तिभिः ॥२३०॥

वसन्ततिलका

उत्थापिता सुरवरैः पथि वैजयन्ती मुक्ताफलप्रकरभिन्नदुकूलक्लृप्ता ।
रेजे घनान्ततरलीकृतचारुतारा दिग्नागनाथपदवी स्वयमागतेव ॥२३१॥

बीच में किरणावली से सुशोभित मोतियों के गुच्छे लटक रहे थे, जो अनेक प्रकार के बेल बूटों से सहित था, जिसके मणिमय दण्डों को देव धारण किये हुए थे तथा जो अत्यन्त श्रेष्ठ और अनुपम था ॥२२७॥ हर्ष से भरे तथा हाथों में धारण किये हुए मङ्गल द्रव्यों से सुशोभित इन्द्र जिन्हें आकाश में और पृथिवी पर राजा डग डग पर आकर नमस्कार कर रहे थे ऐसे शान्ति जिनेन्द्र त्रिभुवन की विभूति के लिये—तीन लोक का गौरव बढ़ाने के लिये उस पुष्प मण्डप के भीतर विहार कर रहे थे ॥२२८॥ जिनके कर्मबन्धन शिथिल हो गये हैं जो बड़ी बड़ी ऋद्धियों के धारक हैं तथा जिनकी बुद्धि का अभ्युदय देवों के द्वारा नमस्कृत है ऐसे तपस्वी मुनि उन शान्ति जिनेन्द्र के पीछे उस प्रकार चल रहे थे जिस प्रकार अन्धकार को नष्ट करने वाले चन्द्रमा के पीछे शान्ताकार तथा शुभकान्ति से युक्त शुभ ग्रह चलते हैं ॥२२९॥

शरद ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान सुन्दर कान्ति से युक्त विजय पताकाएं उन प्रभु के आगे ऐसा नृत्य कर रही थीं मानों अन्य वादियों को पराजित कर भगवान् के यशःसमूह ही नृत्य कर रहे हों ॥२३०॥ मार्ग में इन्द्रों के द्वारा उठायी हुयी तथा मोतियों के समूह से खचित रेशमी वस्त्र से निर्मित विजय पताका ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों मेघों के अन्त में चमकते हुए सुन्दर तारों से युक्त ऐरावत हाथी का मार्ग ही स्वयं आ गया हो ॥२३१॥

अनुष्टुप्

तत्प्रतापयशोराशी मूर्ताविव मनोरमौ । धर्मचक्रं पुरोधाय पुष्प[1]वन्तावगच्छताम् ॥२३२॥

उपजातिः

पुरःसरा धूपघटान्वहन्तो वैश्वानरा [2]विश्वसृजो विरेजुः ।
फणामणिस्फारमरीचिदीपैरदीपि मार्गः फणिनां गणेन ॥२३३॥

वसन्ततिलका

लाजाञ्जलीर्विचिकिरुः परितो दिगन्तं दिक्कन्यकाः सुललितं प्रमदाल्ललन्त्यः ।
दिव्याङ्गनाघनकुचांशुकपल्लवानां [3]धोता ववौ सुरभयन्भुवनं समीरः ॥२३४॥

हीनेन्द्रियैरपि जनैः समवापि सद्यः स्पष्टेन्द्रियत्वमधनैश्च परा समृद्धिः ।
चक्रे परस्परविरोधिभिरप्यजर्यं[4] कल्याणमर्हजिनपतेर्महिमा ह्यचिन्त्या ॥२३५॥

उत्पलमालभारिणी

परिबोधयितुं चिराय भव्यान्विजहारेति विभुः स भूरिभूत्या ।
अयुतद्वयवत्सरान्सशेषांस्तपसा प्राग्गतषोडशाब्दयुक्तान् ॥२३६॥

वसन्ततिलका

निर्वाणमीयुरजितप्रमुखा जिनेन्द्रा यस्मिन् स तेन जनितानतसम्मदेन ।
सम्मेद इत्यभिहितः प्रभुणापि[5] शैलः [6]शैलेयनद्धसुविशालशिलावितानः ॥२३७॥

जो भगवान् के मूर्त प्रताप और यश की राशि के समान थे ऐसे सूर्य और चन्द्रमा धर्म चक्र को आगे कर चल रहे थे ॥२३२॥ जो धूपघटों को धारण कर भगवान् के आगे आगे चल रहे थे ऐसे अग्नि कुमार देव सुशोभित हो रहे थे तथा नागकुमार देवों के समूह द्वारा वह मार्ग फणामणियों की देदीप्यमान किरण रूपी दीपकों से प्रकाशित किया जा रहा था ॥२३३॥ हर्ष से सुन्दरता पूर्वक चलती हुयीं दिक्कन्याएं दिशाओं के चारों ओर लाई की अञ्जलिया बिखेर रही थी और देवाङ्गनाओं के स्थूलस्तन वस्त्र के अञ्चलों को कंपित करने वाला पवन संसार को सुगन्धित करता हुआ बह रहा था ॥२३४॥ हीन इन्द्रिय वाले मनुष्यों ने भी शीघ्र ही पूर्णेन्द्रियपना प्राप्त किया था, निर्धन मनुष्यों ने उत्कृष्ट सम्पत्ति प्राप्त की थी, और परस्पर विरोधी मांसभोजी—हिंसकजीवों के समूह ने मित्रता की थी। यह ठीक ही है क्योंकि जिनेन्द्र की महिमा अचिन्त्य थी ॥२३५॥ इस प्रकार उन शान्ति विभु ने तपश्चरण के सोलह वर्ष सहित कुछ कम बीस हजार वर्षो तक भव्यजीवों को संबोधित करने के लिये बडे वैभव के साथ चिरकाल तक विहार किया ॥२३६॥

अन्त में नम्रीभूतजनों को हर्ष उत्पन्न करने वाले शान्तिनाथ जिनेन्द्र ने जहां अजितनाथ आदि तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा जहां की बड़ी बड़ी शिलाओं का समूह शिलाजीत से

---

१ चन्द्रसूर्यौ २ भगवतः ३ कम्पयिता ४ संगतम् ५ प्राप्तः ६ शिलाजतु ।

तस्मिन् गिरौ सकललोकललाममूते कूलेषु सन्मुनिनिवेशितधर्मसारः ।
त्यक्त्वा सभामथ स भासुरपुण्यमूर्तिरध्यात्ममास्त सकलात्मविभूति मासम् ॥२३८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

ज्येष्ठे श्रेष्ठगुणः प्रदोषसमये कृष्णे व्यतीते चतु-
र्दश्यां शीत[1]गभस्तिमालिनि गते योगं भरण्या समम् ।
व्युत्सर्गेण निरस्य कर्म[2]समितिं शेषामशेषक्रियः
शान्तिः शान्ततया परं पदमगात्सैद्धं प्रसिद्धं श्रिया ॥२३९॥
गीर्वाणैर्वरिवस्यया[3] गिरिवरः प्रापे स शक्रादिभि-
र्मूर्तौ तत्क्षणरम्यतां [4]क्षणरुचेः संप्राप्तवत्यां विभोः ।
अग्नीन्द्रा मुकुटप्रभानलशिखाज्वालारुणाम्भोरुहै-
रानर्चुर्विरचय्य तत्प्रतिनिधिं सत्सम्पदां सिद्धये ॥२४०॥

इत्यसगकृतौ शान्तिपुराणे भगवतो निर्वाणगमनो नाम

* षोडशः सर्गः *

व्याप्त था ऐसा सम्मेदाचल प्राप्त किया ॥२३७॥ तदनन्तर जिन्होंने प्राणि समूह के बीच समीचीन मुनियों में धर्म का सार अच्छी तरह से स्थापित किया था तथा जिनका पवित्र शरीर कान्ति से तन्मय था ऐसे शान्तिप्रभु समस्त संसार के आभरणस्वरूप उस सम्मेदाचल पर समवसरण सभा को छोड़कर एक मास तक सम्पूर्ण आत्मवैभव सहित अपनी आत्मा में लीन होकर विराजमान हुए अर्थात् उन्होंने एक मास का योग निरोध किया ॥२३८॥

तदनन्तर श्रेष्ठ गुणों से सहित कृतकृत्य शान्तिजिनेन्द्र ने ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्दशी के दिन प्रदोष समय के व्यतीत होने पर जब कि चन्द्रमा भरणी नक्षत्र के साथ योग को प्राप्त था, व्युत्सर्गतप—योग निरोध के द्वारा समस्त कर्मसमूह का क्षय कर शान्तभाव से लक्ष्मी द्वारा प्रसिद्ध उत्कृष्ट सिद्ध पद प्राप्त किया ॥२३९॥ इन्द्रादिक देव निर्वाणकल्याणक की पूजा के लिये उस श्रेष्ठपर्वत—सम्मेदाचल पर आये। यद्यपि भगवान् का शरीर बिजली की तत्काल सम्बन्धी रम्यता को प्राप्त हो गया – बिजली के समान तत्काल विलीन हो गया था तथापि अग्निकुमार देवों के इन्द्रों ने उनके शरीर का प्रतिनिधि बनाकर समीचीन सम्पदाओं की सिद्धि के लिये मुकुटों से निर्गत देदीप्यमान अग्नि शिखा की ज्वालारूप लाल कमलों के द्वारा उसकी पूजा की ॥२४०॥

इसप्रकार महाकवि असग द्वारा विरचित शान्तिपुराणमें भगवान् शान्तिनाथ के निर्वाण कल्याणक का वर्णन करने वाला सोलहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥१६॥

---

१ चन्द्रमसि २ कर्मसमूहम् पूजया ४ विद्युतः ।

कविप्रशस्तिपद्यानि

मालिनी

मुनिचरणरजोभिः सर्वदा भूतधात्र्यां प्रणतिसमयलग्नैः पावनीभूतमूर्धा ।
उपशम इव मूर्तः शुद्धसम्यक्त्वयुक्तः पट्टमतिरिति नाम्ना विश्रुतः श्रावकोऽभूत् ।।१।।
तनुमपि तनुतां यः सर्वपर्वोपवासैस्तनुमनुपमधीः स्म प्रापयन् संचिनोति ।
सततमपि विभूतिं भूयसीमन्नदानप्रभृतिभिरुरुपुण्यं कुन्दशुभ्रं यशश्च ।।२।।

वसन्ततिलका

भक्तिं परामविरतं समपक्षपातादातन्वती मुनिनिकायचतुष्टयेऽपि ।
वैरेतिरित्यनुपमा भुवि तस्य भार्या सम्यक्त्वशुद्धिरिव मूर्तिमती पराभूत् ।।३।।
पुत्रस्तयोरसग इत्यवदातकीर्त्योरासीन्मनीषिनिवहप्रमुखस्य शिष्यः ।
चन्द्रांशुशुभ्रयशसो भुवि नागनन्द्याचार्यस्य शब्दसमयार्णवपारगस्य ।।४।।

उपजाति

तस्याभवद्भव्यजनस्य सेव्यः सखा जिनापो जिनधर्मसक्तः ।
ख्यातोऽपि शौर्यात्परलोकभीरुर्द्विजाधि[1]नाथोऽपि विप[2]क्षपातः ।।५।।

कवि प्रशस्ति

पृथिवीतल पर झुककर नमस्कार करते समय लगी हुयी मुनियों की चरणरज से जिसका मस्तक सदा पवित्र रहता था, जो मूर्तिधारी उपशमभाव के समान जान पड़ता था और शुद्धसम्यग्दर्शन से सहित था ऐसा पट्टमति इस नाम से प्रसिद्ध एक श्रावक था ।।१।। जो समस्त पर्वों के दिन सैकड़ों उपवासों के द्वारा अपने कृश शरीर को और भी अधिक कृशता को प्राप्त करा रहा था ऐसा वह अनुपम बुद्धिमान् पट्टमति सदा आहारदान आदि के द्वारा विपुल विभूति, विशाल पुण्य और कुन्द के फूल के समान शुक्ल यश का संचय करता था ।।२।। उसकी वैरेति नामकी स्त्री थी जो मुनियों के चतुर्विध संघ में सदा समान स्नेह से युक्त भक्ति को विस्तृत करती थी और पृथिवी पर उत्कृष्ट मूर्तिमती सम्यक्त्व की शुद्धि के समान जान पड़ती थी ।।३।। निर्मल कीर्ति से युक्त उन दोनों के असग नामका पुत्र हुआ जो विद्वत् समूह मे प्रमुख, चन्द्रमा की किरणों के समान शुक्ल यश से सहित तथा व्याकरण शास्त्र रूपी समुद्र के पारगामी नागनन्दी आचार्य का शिष्य हुआ ।।४।।

उस असग का एक जिनाप नामका मित्र था जो भव्यजनों के द्वारा सेवनीय था, जिनधर्म में लीन था, पराक्रम से प्रसिद्ध होने पर भी परलोक—शत्रुसमूह (पक्ष में नरकादि परलोक) से डरता

---

१ पक्षिराजोऽपि पक्षे द्विजातीना ब्राह्मणक्षत्रियवैश्याना नाथोऽपि २ पक्षपातरहितः बहुसंचाररहितः ।

व्याख्यानशीलत्वमवेक्ष्य तस्य श्रद्धां पुराणेषु च पुण्यबुद्धेः।
कवित्वहीनोऽपि गुरौ निबन्धे तस्मिन्नधासीदसगः प्रबन्धम् ॥६॥

उत्पलमालभारिणी

चरितं विरचय्य [1]सन्मतीयं सदलंकारविचित्रवृत्तबन्धम्।
स पुराणमिदं व्यधत्त शान्तेरसगः साधुजनप्रमोहशान्त्यै ॥७॥

था और द्विजाधिनाथ—पक्षियों का राजा (पक्ष में ब्राह्मण) होकर भी विपक्षपात—पङ्खों के संचार से रहित (पक्षमें पक्षपात से रहित) था ॥५॥ उस पवित्र बुद्धि जिनाप की व्याख्यान शीलता और पुराण विषयक श्रद्धा को देख कर उसका बहुत भारी आग्रह होने पर असग ने कवित्वहीन—काव्य-निर्माण की शक्ति से हीन होने पर भी इस प्रबन्ध—शान्तिपुराण की रचना की थी ॥६॥ उस असग ने उत्तम अलंकार और विविध छन्दों से युक्त वर्धमानचारित की रचना कर साधुजनों के प्रकृष्टमोह की शान्ति के लिये यह शान्ति जिनेन्द्र का पुराण रचा था ॥७॥

---

1 वर्धमानसम्बन्धि।

टीका कर्तृ प्रशस्तिः

गल्लीलालतनूजेन जानक्युदरसंभुवा ।
पन्नालालेन बालेन सागरग्रामवासिना ॥१॥
दयाचन्द्रस्य शिष्येण समताभाव शालिनः ।
नभस्यस्यास्य मासस्य घनारावविशोभितः ॥२॥
कृष्णपक्षस्य सद्वारे गुरुवासरनामनि ।
चतुर्दश्यां तिथौ ब्राह्ममुहूर्ते वीरनिर्वृतेः ॥३॥
एकोत्तरे गते सार्ध-सहस्रद्वयसंमिते ।
काले, शान्तिपुराणस्य कृतेरसगसत्कवेः ॥४॥
टीकैषा रचिता रम्य राष्ट्रभाषामयी सदा ।
राजतां पृथिवीमध्ये टिप्पणीभिरलंकृता ॥५॥
सदा बिभेमिचित्तेऽहमन्यथाकरणाच्छ्रुतेः ।
तथाप्यज्ञानभावेन भवेयुस्त्रुटयः शतम् ॥६॥
तासां कृते क्षमां याचे विदुषो बोधशालिनः ।
विद्वान्सः किं क्षमिष्यन्ते नो मामज्ञानसंयुतम् ॥७॥
नानाश्लेषतरङ्गौघशालिन्युदधिसंनिभे ।
पुराणेऽस्मिन्प्रविष्टोऽहमस्मार्षमसगं मुहुः ॥८॥
पुराणं शान्तिनाथस्यासगेन रचितं क्षितौ ।
राजतां सततं कुर्वंस्तिमिरौघ विनाशनम् ॥९॥
जिनः श्री शान्तिनाथोऽसौ पतितं मां भवार्णवे ।
हस्तावलम्बनं दत्त्वा शीघ्रं तारयतु ध्रुवम् ॥१०॥

पद्यानुक्रमणिका

[सूचना—प्रथम अंक सर्गका, द्वितीय अंक श्लोक का और तृतीय अंक पृष्ठ का वाचक है]

अ

आ

ख

श

ष

स

जायतेऽनुक्रमणिका निर्माणे यः परिश्रमः ।
तं स एव विजानाति येनासौ रचिताक्वचित् ॥